भारतीय-चित्रकला

और

उसके मूल तत्त्व

डॉ० रघुनन्दन प्रसाद तिवारी
एम. ए., पी. एच. डी., डी. लिट्.

दिल्ली विश्वविद्यालय

भा र ती य प ब्लि शिं ग हा ऊ स

१ ९ ७ ३

भारतीय पब्लिशिंग हाउस
बी-९/४५
सुनारपुरा, वाराणसी

प्रथम संस्करण, नवम्बर १९७३

यह शोधप्रबंध सागर विश्वविद्यालय की डाक्टर ऑफ फिलासफी उपाधि के लिए स्वीकृत है।

मुद्रण
अमर प्रिंटिंग प्रेस
८/२५ विजय नगर, दिल्ली-९

दिवंगत आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी

की

पावन पुण्य स्मृति में

मैं आभार स्वीकार करता हूँ —

o रायबहादुर गौरीशंकर तिवारी
o हनुमान प्रसाद तिवारी
o द्वारका प्रसाद तिवारी

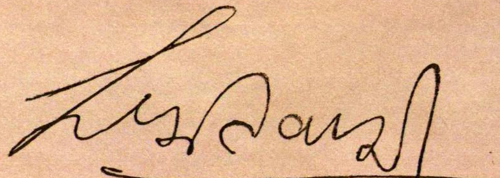
\+ आचार्य भगीरथ मिश्र
\+ डॉ० (श्रीमती) सावित्री सिन्हा
\+ डॉ० विजयेन्द्र स्नातक
\+ डॉ० हरभजन सिंह

और

श्री श्री भगवान सिंह

का

बहुमूल्य सहयोग के लिए।



विषय अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

तृतीय खण्ड

चतुर्थ खण्ड

चित्र-सूची

आमुख

मध्यकाल में समस्त कलाओं को एक दृष्टि देने का बृहत् प्रयास हुआ है। सांगीतिक अभिव्यक्ति को काव्य और चित्र विधा में अपनाया गया, इसी तरह काव्य और चित्र विधा को भी अन्य विधाओं में स्वीकारा गया है। नृत्य, मूर्ति और वास्तु को भी इनके ही परस्पर माध्यमों से देखा जाना सिद्ध होता है। खजुराहों के मंदिरों में मूर्तियों की वस्तु का चयन अंशतः काव्य साहित्य से हुआ। वास्तु में उनका आयाम अलंकरण रूप में न होकर समूचे आत्म के जीवन-व्यापार की अभिव्यंजना के रूप में हुआ जिसमें संगीत नृत्य की सापेक्षिता, सभी ललितकलाओं के एकान्वित प्रभाव की ओर उन्मुख है।

गायकों, चित्रकारों, नर्त्तकों, कवि या लेखकों के बीच रीतिकालोपरान्त हेय भावना का प्रादुर्भाव हुआ और यह भावना छूत की तरह व्याप्त हो गई। एक दूसरे से परहेज करते सदियों जीते रहे। यह संकीर्णता प्रायः सभी वर्गों में रही। इसमें किसी भी एक का नामोल्लेख नहीं किया जा सकता। यह प्रवृत्ति आज भी है। साधारणतः एक वर्ग का विद्वान् कलापारखी दूसरे वर्ग को नहीं स्वीकारते हैं और न ही उनसे किसी तरह तादान्मय स्थापित करने के प्रति उत्सुकता ही दिखाते हैं। इसके मूल में सदियों से चला आ रहा वैभिन्नय है जो कि समत गत किसी खास कला से सम्बद्ध होने के कारण से उसके प्रति हेय भावना ने जन्म लिया।

मूर्तिकला में अभिरुचि रखने वाले सहृदय यह भली तरह जानते हैं कि नृत्य की मुद्राओं का भारतीय कला में आयाम, सम्माननीय रहा है। स्वतन्त्र देव मूर्तियों में शिव की नृत्यक मुद्राएँ, भगवान तथागत की मुद्राएँ, काफी प्रचलित रही हैं। इससे स्पष्ट है कि नृत्य कला विशारदों को मूर्तिकार सम्मान की समान दृष्टि से परखते थे। इस्लामियों ने संगीत और नृत्य कला को अपनी रुचि प्रवृत्ति के कारण, वासना के प्रति उभार दिया। इन कलाओं की गहराई-उथली और लौकिक भूमि पर आ गई। प्रायः चंचलता ही आई है। छोटे ख्याल इसी तरह के हैं। भारतीय हिन्दू जीवन, धर्म प्राण होने के कारण चंचलता से हटकर रहा है। सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दी तक काव्य साहित्य में वासना के सीधे स्वर मुखरित-खुलकर होते थे। इस परिवेश में कलागत सुन्दरियाँ सुरा में मस्त हो नृत्य-संगीत-रत, अमीर-उमराव, शेख-सामंतों की माँसल भूख को तुष्ट कर रहीं थी। इसका प्रभाव सामान्य हिन्दू-समाज पर प्रतिक्रियावत घृणा और हेय के रूप में पड़ा। ये कलाएँ समाज में अपना उच्चासन खो बैठीं।

हिन्दी काव्य साहित्य में भारतेन्दु के समय से परिवर्तन प्रारम्भ हो गये थे, किन्तु इतर कलाओं के प्रति सामान्य दृष्टिकोण आजादी के उपरान्त बदलने के प्रयास प्रारम्भ हुए हैं। संगीत में भातखण्डे, पलुस्कर, नृत्य में उदय शंकर, शंभू महाराज चित्र और मूर्तिकला में शान्तिनिकेतन, देवलालीकर और उनके चार शिष्य, एम. एफ. हुसैन, एन. एस. बेन्द्रे, डी. जी. जोशी, एल. एस. राजपूत तथा रविवर्मा, अमृता शेरगिल, जामिनीराय आदि ने जन सामान्य के ध्यान को न केवल आकर्षित ही किया अपितु कलाओं को स्वस्थ रूप दिया और नैतिक परम्पराओं को परिचालित किया।

पिछले समय से ललित कलाओं के मूर्धन्य पण्डित इस दिशा की ओर प्रवृत्त हुए हैं कि इन कलाओं और कलाकारों के मध्य सम्बन्ध स्थापित होने चाहिए। इनके पूर्व हिन्दी के आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रस मीमांसा में चित्रकला की चर्चा की है। कुछ चित्र भी दिए हैं। बाबू श्यामसुन्दरदास ने चित्रकला की विधा पर कलम उठाई है और रायकृष्ण दास ने भारतीय चित्रकला का प्रारम्भिक इतिहास प्रस्तुत किया है। वाचस्पति गैरोला और डा० जगदीश गुप्त का कार्य चित्र विधा को एक नई कड़ी प्रदान करता है। हिन्दी आलोचकों में आचार्य नन्ददुलारे जी वाजपेयी चित्रकार नहीं है, पर चित्रकला के मर्मज्ञ है। कलाकार की आत्मा उनके पास है। यही कारण है कि वे नई कविता और हिन्दी साहित्य की नई दिशाओं के प्रति सहृदय हैं। नई स्वस्थ चेतना को समुचित स्थान देने में संकोच नहीं किया है।

इस प्रस्तुत प्रबंध में मध्यकालीन हिन्दी के भक्ति और रीतिकाव्य में राजस्थानी चित्रकला की समानताओं और प्रभावों का अनुशीलन किया गया है। इसमें भक्ति और रीतिकाव्य के समस्त कवियों को लिया जाना सहज संभव नहीं था इसलिए दो कवि—तुलसी और सूर, भक्ति काव्य से लिए हैं तथा ऐसे ही तीन कवि केशवदास, बिहारी और देव रीतिकाल से, प्रस्तुत अध्ययन के लिए चुने हैं। प्रधान रूप से ये पाँच कवि सम्पूर्ण साहित्यगत प्रवृत्तियों का जो कि इनके सम-सामयिक समय में थीं, का प्रतिनिधित्व करते हैं। कुछ ऐसी भी प्रवृत्तियाँ हैं जिनका कि प्रतिनिधित्व इनमें नहीं हो सका है, ऐसे कवि और उनके प्रतिपादित विषय किसी न किसी रूप में इस प्रबन्ध में विवेचित है। जैसे भक्तिकालीन सन्त परम्परा के ज्ञानाश्रयी कवि, सूफी काव्य, आदि। इसी तरह रीतिकालीन साहित्य में सभी साहित्य का सम्बन्ध राजपूत चित्र कला से नहीं आता है। सम्प्रदायों और रीतिनिरूपक काव्य का राजपूत चित्रकला से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। अतएव इस तरह का रीतिकालीन काव्य, इस प्रबंध का विषय नही रहा है। इस प्रबन्ध में रीतिकालीन श्रृंगारिक काव्य का सम्बन्ध राजपूत चित्रकला से जुड़ा है। उस साहित्य से भी जुड़ा है जो रामकथा और कृष्ण कथा को भक्ति के परिवेश में प्रस्तुत करता है। आचार्य केशवदास की रामचन्द्रिका, को राजपूत चित्रकला में स्थान मिला है। इनकी रसिकप्रिया को स्थान सर्वत्र मिला है तथा अत्यधिक रूप में चित्रित हुई है। नायक-नायिका भेद में राजपूत चित्रकारों ने भानुदत्त की रसमंजरी को आधार अधिक बनाया है। बारहमासा, षट्ऋतु, तीज-त्यौहार चित्रों के विषय रहे हैं। वस्तुतः भक्ति और रीतिकाव्य के अतिरिक्त कुछ ग्रन्थ और स्रोत ऐसे हैं जो कि समान रूप से भक्त कवियो और रीतिकालीन कवियों के भी आधार स्रोत रहे हैं और इन चित्रकारों के भी वही ग्रन्थ आधार स्रोत रहे हैं। जैसे भगवद् पुराण, सूरदास ने कथा सामग्री का चयन इसी पुराण से किया है और चित्रकारों ने भी किया है। इसी तरह भानुदत्त की रसमंजरी के विषय में है। इसके अतिरिक्त समाज के ही साथ रुचियाँ और प्रवृत्तियों में समानता है। इन कवि और चित्रकारों के दृष्टिकोणों में समानता है।

चित्र और काव्य का सम्बन्ध समाज की सापेक्षिक स्थितियों के दृष्टिकोण से, प्रगैति-युग से छठवीं शताब्दी तक किया है। राजपूत कला का आरम्भ हर्ष के उपरान्त से होता है। अतएव इसके साथ ही सांस्कृतिक और सामाजिक स्थितियों पर, इस प्रबन्ध के विषय के परिप्रेक्ष्य में प्रकाश डाला है। इस प्रबन्ध के तृतीय खण्ड में तत्कालीन काव्य और चित्रकला के विकास की आधार भूमियों का विवेचन है। राजपूत चित्रकला की पड़ौसी चित्रकलाशैलियों के साथ संबंधों को स्थापित किया है। भाव और रस की दृष्टि से भी ये दोनों अंग विवेच्य रहे हैं। इसमें यह सिद्ध किया गया है कि चित्रकला से अनिवार्यतः रस की प्राप्ति सहृदय प्रेक्षक को होती है।

इस प्रबंध का मुख्य उद्देश्य इतिहास के माध्यम से राजपूत युगीन और रीतिकालीन भूमिका पर प्रकाश डालने का रहा है जिसके फलक पर काव्य कला, चित्रकला और संगीतकला एक साथ एकान्वित होकर प्रस्तुत हो रही थी। दूसरा इसके साथ ही मूर्तिकला, चित्रकला और मध्ययुगीन सांस्कृतिक, सामाजिक परिस्थितियों के माध्यम से नारी की वास्तविकता से, इस युग का परिचय कराना चाहा है। नारी का स्वरूप उज्जवल था, वह पतित नहीं थी। सर्व-सामाजिकों

में वह सम्मानित थीं। नारी का जो वर्ग पतित था, उसके प्रति संकेत दिए हैं, तथा स्पष्ट भी किया है। यह इसलिए कि कवि और चित्रकारों का आधार नारी ही थी, अतः स्पष्ट करना जरूरी हो गया था। तीसरा पहलू यह है कि ललितकलाओं की आधार भूमियों में समानता स्थापित की है।

अंततः परम श्रद्धेय आचार्य गुरुवर नन्ददुलारे वाजपेयी के प्रति मैं अपना आभार निवेदन करता हूँ जिन्होंने कि इस प्रबन्ध की मूल प्रेरणा देकर, अपने व्यस्त क्षणों में समय-समय पर निर्देशन देकर, इसे सम्पन्न कराया।

रघुनन्दन प्रसाद तिवारी—

५-१०-१९७३

प्रथम खण्ड

अध्याय १

कलाओं का पारस्परिक अन्तरन्यास और उन
की युगीन सापेक्षिता तथा भारतीय
साहित्य परम्परा में विभिन्न
कलाओं की सापेक्षिक
स्थितियाँ।

पृथ्वी मानव का निवास है। बदलते आसमान के नीचे पृथ्वी में, जो अन्वेषण कर सकते हैं उनके लिए सौन्दर्य बिखरा हुआ है। पृथ्वी पर सूर्य की सतरंगी रश्मियों में प्राप्त रंग मानव के नेत्रों की निधि हैं। यहाँ सभी प्रकार के आकार, अनेक तरह के आभावान पदार्थ, बहता हुआ पानी, आकाश की ओर सीधी उठने वाली चट्टाने, सभी कुछ मानव के लिए है। गति और परिवर्तन समस्त पृथ्वी की अनवरत क्रिया है। कुछ व्यक्तियों के लिए पृथ्वी की इन दिशाओं का कोई अर्थ नहीं, उनका इनसे कोई तादात्म्य नहीं किन्तु बहुत कुछ ऐसे भी हैं जो इसे अपना ही सब कुछ समझते हैं। जिनके राग और लक्ष्य, पृथ्वी की गति और दिशा के साथ मेल खाते हैं।

मानव सामान्यतः दृढ़ अहंवादी है। उसने अपने चारों ओर पृथ्वी के साथ स्वत्यात्मक संबंध देखे। पृथ्वी को अनेक तरह से उसने अपने से जुड़ा देखा और इस तरह पाने से उसने यह अर्थ लगाया कि पृथ्वी का संबंध उससे स्वाभाविक है किन्तु उसका संबंध पृथ्वी के उपकरणों से उसकी स्वेच्छा पर निर्भर करता है। यथारूप समय पर मेघों का आना, उनका घोर गर्जन और पानी का बरसना, नदी नालों का सदा जलमय रहना, इसके साथ ही पर्वतों से गिरते हुए झरने, खिलते-महकते हुए फूल, सूर्य की गरमाहट, चाँद की शीतलता, यह सब मानव ने अपने अहं में भोग्य के रूप में स्वीकार लिए। ऐसा होने से मानव के अंतः बाह्य का संबंध प्रकृति से हुआ। किन्हीं विशेष उपकरणों से विशेष प्रभावित हुआ। यही प्रभाव और आकर्षण, इनकी पुनः पूर्ति साहित्य और कला के रूप में प्रस्तुत है।

मानव के विकास में प्रागैतिहासिक काल से आज तक कला जीवनगत अभावों के मूर्तिकरण, संभावनाओं की प्रतिक्रिया है। कला का उदय मानव की आदिम अवस्था में ही, मानव की स्वभावगत मूल प्रवृत्तियों से हुआ है। कला, विनोद, क्रीड़ा, विलास, अनुकरण, निर्माण और अभिव्यक्ति आदि किसी भी एक या कई प्रवृत्तियों से मिलकर उदित हो सकती हैं। आदिम अवस्था या प्रागैतिहासिक युग के संबोधन से सामान्य व्यक्ति की परिकल्पना आज के समाज से बहुत ही भिन्न है। इस संबंध में इतर कल्पना कुछ भी की जाती रहे पर अनुमानित सत्य यह है कि कला की दृष्टि से तत्कालीन स्थितियों ने अवश्य ही अनुभूतियों के लिए उन्मुक्त और उर्वर पृष्टिका तैयार की है।

सामान्यतः जीवन की परम्पराओं से प्राप्त समस्त कार्य-व्यापार ललित, उपयोगी और सामान्य कला रूपों में आते हैं। जब कहीं भी कला शब्द का प्रयोग करते हैं उस समय श्रोता या पाठक, अजंता या बाघ की चित्रात्मकता या ताजमहल के वैशिष्ट्य को ही ग्रहण करेगा। अपितु इससे व्यापक अर्थ में सौन्दर्य संवेदना की परिसीमा का बोध ही हेतु होता है।

ललित कला ने मानव मूल्यों में, एक ओर उपयोग शून्य होते हुए भी अपने सहज महत्त्व में, मानव को माधुर्य, लय, गति, सौकुमार्य, और कमनीयता का वरदान देकर ग्राह्य और चिरजीवी बनाया है। वास्तव में कला सौन्दर्य की प्रतीक है। सौन्दर्य प्रकृति में है और मनुष्य के मन में भी। सौन्दर्य बोध एक संश्लिष्ट ईकाई है। सौन्दर्यानुभूत व्यक्तिगत होती है और समाजगत भी। व्यक्ति समाज का एक अंग है, इसलिए न तो समाज निरपेक्ष व्यक्ति की सत्ता होती है न समाज निरपेक्ष सौन्दर्यानुभूत की संभावना होती है।

सौन्दर्य का बोध किसी विशेष भाव की व्यक्तिगत अनुभूति से प्रारम्भ होता है। वह वस्तु जो विशेष भाव को जागृत करती है, कलाकृति होती है। प्रायः सभी संवेदनशील सहृदय इससे एक मत होंगे कि कला कृति से विशिष्ट भाव की जागृति होती है। विशिष्ट भाव का आशय यह नहीं है कि प्रायः सभी प्रकार की कला-कृतियों से एक ही

प्रकार के भाव का स्फुरण होता है अपितु प्रत्येक का प्रभाव भिन्न होता है और उसी तरह भाव की भी जागृति भिन्न होती है। प्राय: सामान्य रूप में एक तरह की कलाकृति या कलात्मक वस्तुओं के साक्षात् से एक ही तरह के भाव का उदय होता है। जैसे चित्र, मूर्ति आदि देखकर या ताजमहल को देखकर प्राय: एक ही तरह के भाव की सृष्टि सभी संवेदनशील सहृदयों में होगी। यह बात दूसरी हो सकती है कि किसी विशेष व्यक्ति के अंत: में ताजमहल के साक्षात् से मजदूरों के खून की महक आए या सर्व सामान्य के प्रेम का उपहास माना जावे। इसमें निश्चित रूप से प्रेक्षक पूर्वापर दुराग्रहों से परे नहीं है।

यदि इस तरह से कलाकृति के साक्षात् से जागृत सौन्दर्य बोध का विशिष्ट भाव, अनेक कृतियों में समान, अल्पत: समान, रूप से पाते हैं। इसे सरल शब्दों में वस्तुगत गुण भी कह सकते हैं। कुछ कृतियाँ असामान्य भी होकर सौन्दर्य बोध को स्थिर और अनिवार्य रूप से जागृत करती हैं। ऐसी कृतियाँ स्वमेव वैशिष्टय के आधार पर स्वतंत्र दायरे में आ जाती हैं।

ऊपर कहा हुआ वस्तुगत-गुण से आशय, कलात्मक गुणों से है। इसमें जहाँ तक प्रश्न कलात्मक गुणों का उपस्थित होता है, वहाँ यह निश्चित है कि कलागत गुण के अभाव में, वस्तु कलाकृति नहीं कही जा सकती है। गुण ही वस्तु को स्थिर अस्तित्व प्रदान करते हैं।

सौन्दर्य-बोध-गम्यता में यह विचारणीय है कि वह क्या कारण है कि हिमालय की चोटियों का नवनीत सा बर्फ, साँची का स्तूप, खजुराहों के मंदिर-समूह और उनकी मूर्तियाँ, कोणार्क की मन्दिर-मूर्तियाँ, अजंता के चित्र, एलोरा के प्रस्तर खण्ड, नारी का भरा-पूरा-यौवन, एक साथ सब; समान रूप से सौन्दर्यानुभूति की वस्तु हैं। इसका उत्तर उन वस्तुओं का स्वरूप ही है। अजंता की गुफा के चित्रों में उनकी रेखाएँ, उन रेखाओं से बने हुए आकार, उनमें भरे हुए विविध रंग जो सम्यक् रूप में वैशिष्ट्य लिए हुए हैं। इस तरह का गुण प्राय: सौन्दर्य भाव को जन्म देने वाली प्रत्येक वस्तु में कला की सीमा तक होता है।

कलागत सौन्दर्यात्मकता को अनुभूति के अतिरिक्त किसी भी अन्य माध्यम से अनुभव नहीं किया जा सकता है। किसी भी वस्तु को कला की सीमा में तब तक नहीं स्वीकारा जा सकता है जब तक कि विषयगत वस्तु भावात्मक रूप से प्रभावित नहीं करती है। इसके साथ ही किसी भी कलात्मक वस्तु में किसी आवश्यक कलात्मक गुण के न रहने पर उसे कलागत श्रेणी से हटाया भी नहीं जा सकता है।

चित्रकला में रेखाओं और रंगों का सम्यक् विधान जो सौन्दर्य संवेदना को जागृत करे वह कृति कलाकृति है। कला विशेषकर चित्रकला, सौन्दर्य की अनेक चर्चाओं में केवल रूपाकार में सुन्दर या सौन्दर्य की खोज से संबध रखती है।[1] बाह्य रूपाकार में प्राय: समात्रा, सुव्यवस्था, विविधता, एकरूपता, औचित्य, जटिलता, संगति, प्रमाणाबद्धता मसृणता, कोमलता, संयम, व्यंजना, स्पष्टता, वर्ण (रंग) प्रदीप्ति आदि गुण सौन्दर्य के परिचायक हैं। इनका विस्तृत विचार इसी खण्ड के चतुर्थ अध्याय में चित्रकला और काव्यकला के समान आधारों में किया गया है।

कला के इतर अवयवों का विश्लेषण करते हुए इसे तरह कहा जा सकता है कि कल्पना सौन्दर्य उसके

---

१. 'सुन्दर' के प्रायोगिक आशय में जैसा कि अर्थ ग्रहण किया जाता है उसके दो रूप हैं। प्रथम में सुन्दर का अर्थ वासनात्मक है और दूसरा अर्थ सौन्दर्यात्मक है। 'सुन्दर' का प्रयोग यदि आम सड़क पर किसी लड़की के लिए किया जाता है तो वह निश्चित रूप से वासनात्मक भावों को जागृत करेगा जब कि इसी 'सुन्दर' का प्रयोग गोदी में खेलती बालिका के लिए या किसी चित्र के समक्ष खड़े होकर, किया जावेगा तो वह उस चित्र के, उस बालिका के, सौन्दर्य का वाचक होगा। सामान्य रूप से शब्द की प्रायोगिक परम्परा में 'सुन्दर' शब्द नारी या युवती, कुमारी के अधिक पास ठहरता है। हिन्दी जगत् में सुन्दर शब्द प्राय: नारी के साथ पुरुष वाचक भी है।

यथार्थ रूप का अनुमान नहीं कर सकती जितना कि प्रत्यक्ष साक्षात् से होता है। क्योंकि नेत्रों के माध्यम से बाह्य वस्तु की संवेदना मन के निर्णयात्मक आवेगों पर सीधी पहुँचती है। कल्पना के द्वारा सौन्दर्य या कलात्मकवस्तु का बाह्य निरूपण सम्भव नहीं होता है। उस कलागत वस्तु का निर्माण कल्पना में ही होता है और अधिक प्रभावशाली न होने पर उसका रूप वहीं क्षय भी हो जाता है। इस तरह कृति का जन्म सृजेता या कलाकार की कल्पना में होता है, तदनन्तर वह एक कुशल चित्रकार की तरह उस कल्पना का निरूपण शब्द, वाणी, लय, गति रंग, रूपादि किसी भी माध्यम से प्रस्तुत करता है। शब्द विधा में एक पूर्ण बिम्ब सहृदय के समक्ष उक्त कृति के पाठन या श्रवण से उपस्थित होता है। यहाँ एक तरह का अन्तर बहुत ही स्पष्ट है कि शब्द बिम्बों का पुनः निरूपण, चित्रकार के सदृश्य रंगरूप में प्रस्तुत काल्पनिक बिम्ब के निरूपण के सदृश्य नहीं होता है। काव्यगत निरूपण और चित्रगत निरूपण को यदि ऐसा कहें कि विषय वस्तु का काव्य में काल्पनिक चित्रण है जब कि चित्र में वह विषय वस्तु की छाया है, वरन् वह छाया से भी अधिक एक जीवन्त प्रत्याभास है। प्लेटो के विचार से चित्रकार एक दर्पण के समान है।

चित्रकला के उपकरणों का योगदान एकान्वित अथवा एक ही लक्ष्य की ओर ले जाने वाला होता है। चित्रों में रंग, रेखा, रूपाकार सभी एक दिशा की ओर प्रेक्षक की संवेदनाओं को ले जाते हैं। संगीत में उत्पन्न होने वाले समस्त स्वर गति, लय, आरोह-अवरोह, द्रुत-विलम्बित, तोड़े, टुकड़े, अलंकारों के साथ तादात्म्य करते हुए राग को चरम परिणति तक ले जाते हैं। संगीत में क्रिया श्रोता के श्रवण काल में, उसके उद्भूत रंजन, श्रवण और समझ के साथ-साथ चलती है। यह बात चित्र या इतर कलाओं के साथ नृत्य को छोड़कर लागु नहीं होती है। चित्रविधा में कलाकार कैनवास की पृष्ठिका पर ब्रश से विविध रंगों का उपयोग उसकी सार्थकता तक, उद्देश्य प्राप्ति के अंतिम क्षण तक करता है। इस क्रिया का साम्य चरम परिणति की दृष्टि से गायन, वादन और नृत्य की प्रक्रिया के सदृश्य तो अवश्य है किन्तु जहाँ गायन, वादन, श्रवणेंद्रिय और चित्र चक्षुगत हैं, वहीं नृत्य की दोनों इन्द्रियों के माध्यम से ही चरम परिणति होती है वहाँ चित्र की चरम परिणति सहृदय प्रेक्षक का वास्तविक चित्रगत आनन्द उसकी पूर्णता के उपरान्त ही काव्य, वास्तुशिल्प, मूर्तिकला के सदृश्य, अनुभव होता है।

प्रेक्षक को चित्र से प्राप्त संवेदना के विषय में यह कहा जा सकता है कि यदि चित्र किसी ऐतिहासिक संघटना को प्रस्तुत करता है तो चित्र से प्राप्त संवेदना शुद्ध चित्रगत आकर्षण न होगी। इसी तरह यदि किसी चित्र में विशेष शैली का प्रयोग किया गया है तो उसमें भी प्रेक्षक का आकर्षण या उसकी रुझान उस विशेष शिल्प विधि के कारण से होती है।

वस्तुतः माध्यम वह बीच की शक्ति है जो कि सहृदय को वस्तु के स्वरूप की संवेदना तक ले जाता है। यही विषय वस्तु से सहृदय का तादात्मय स्थापित कराता है। चित्रकला में अस्तित्व के सिद्धांत के अनुसार रंग की गणना प्रमुख रूप में कर ली जाती है। निसंदेह रूप से संगीत में ध्वनि और साहित्य में शब्द के न रहने पर इनके अस्तित्व संदिग्ध हो जाते हैं। यह इनकी अभिव्यक्ति के मूलाधार या मूल साधन हैं। रंग के सम्बन्ध में यह मान लेना उचित ही है कि वह विषयवस्तु के गन्तव्य का साधन है और उसका एक पूरकतत्व है। रंगों के सहारे जो चित्र प्रस्तुत हुआ है, उसकी अलग सत्ता है। यह ध्यान रहे कि रंग किसी भी तरह चित्र का माध्यम नहीं है। शब्द या ध्वनि साहित्य या संगीत के माध्यम हो सकते हैं किन्तु रंग चित्र का माध्यम नहीं हो सकता क्योंकि रंगों के न रहने पर भी चित्र की विषय वस्तु का संचार अल्पतः हो जाता है। इसलिए ऐसा कह सकते हैं कि रंग एक तरह से विषयवस्तु को अंतिम लक्ष्य तक पहुँचाने वाला एक उपकरण है। इसके साथ ही आज जीवितवर्ग की चित्रकला को देखते हुए एक बात और स्पष्ट होती है कि कुछ चित्र ऐसे भी उत्तम वर्ग के प्राप्त होते हैं जिनमें रंगों को प्राधान्य मिला होता है। पर वस्तुतः समीचीन यही है कि रंगों की चित्र में स्थित सत्ता उसके प्राधान्य तक ही स्वीकार है।

शब्दविधा के साथ चित्रात्मकता का सत्य इस तरह जुड़ा हुआ है कि मानवेन्द्रियाँ काव्यगत विचारों को जो

बहुत ही सहजता के साथ अपना लेती है उसका प्रधान कारण यह है कि मानव कानों पर कम और आँखों पर अधिक विश्वास करता है। विचार या भाव जब चित्र बन कर आते हैं, तब मन की आँखें उन्हें देखते ही पहचान लेती हैं और शेष इन्द्रियों को भी संतोष हो जाता है कि बात ठीक है। शब्दों में रेखांकन की शक्ति रहती है। प्रत्येक शब्द अपनी ध्वनिविचित्रता के द्वारा मानसपटल पर एक तरह का अज्ञात चित्र खड़ा कर लेता है जिसे साहित्यिक शब्दावली में बिम्ब-विधान कहते हैं। इस तरह यह निसृत है कि चित्र में भले ही साहित्य की झलक न हो, पर साहित्य में चित्रात्मकता अवश्य है।

इस तरह के चित्रों का प्रयोग कवि, लेखक केवल मनोरंजन खेल, दिखाने को नहीं करना है। वास्तव में, चित्रों के सहारे वह हमारी सृजेता-हृदय की सभी इन्द्रियों को जगाकर अपने तात्पर्य तक ले जाता है जिसका आशय यह है कि शब्द विधा में चित्र अभिव्यक्ति का अंग बन कर ही आते है। अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में ऐसा भी सत्य है कि व्यक्ति की अनुभूति का समस्त अंतरंग मुखर या शब्दार्थ मय नहीं होता है। जितना भाग शब्दार्थ के माध्यम से लौकिक होता है; उतना साहित्य बन जाता है। पर इसके साथ ही व्यक्ति की अनुभूति का एक बड़ा भाग अनुभूतिगम्य होते हुए भी अर्थ की स्पष्टता को नहीं पहुँचता, अपितु उसकी व्यक्ति के लिए, सहृदय शब्दाभाव का अनुभव करता है। यह शेष रही अनुभूति रंग, रेखा के माध्यम से भी व्यक्त होती है। ऐसा कहने से आशय स्पष्ट है कि चित्र अनुभूति की अभिव्यक्ति में शब्दविधा की सीमा को भी लाँघते हैं।

व्यापक अर्थ में कला एक तरह से न तो सामान्य मानसिक अभिव्यक्ति है, न केवल एक माध्यम ही। ऐसा होने से कला केवल मानसिक अनुभूति तक ही सीमित नहीं रहती, अपितु अभिव्यक्ति-रीति भी महती प्रतीति रखती है। इसके साथ ही कला अभिव्यक्तिगत पूर्णता की अपेक्षा रखती है। क्योंकि अभिव्यक्तिगत आत्यांतिकता ही कला है। इस आत्यांतिकता के मूल में अभिव्यक्तिगत तीव्रता रहती है जिससे कला में नवीन शैलियों की सृष्टि होती है। प्रबल अभिव्यक्ति बंधनों से मुक्त रह कर भी अपने अस्तित्व को स्थायी कर लेती है और आलोचक उसे कला मान लेता है। कला हमेशा बाह्य नियमों तथा रीतियों के प्रति कम ध्यान देती है। वस्तुतः सत्य-सिक्त-अभिव्यक्ति की तीव्रता के बल पर कलाकृतियाँ युग बोधों के रूप में इस निसृति की साक्षी हैं। शास्त्रीय कला के लिए कभी ऐसा भी मान लिया जाता है, चूँकि वह एक निश्चित परम्परा प्रसूत होती है। अतएव उसमें स्वानुभूति और व्यक्तित्व के लिए किसी भी तरह की गुंजाईश नहीं रहती तब फिर यह विचारणीय है कि क्या यह रूप शास्त्रीय कला की अनुकृति मात्र बन कर नहीं रह जाता है। जब वह अनुकृति बन जाती है तब फिर कला का तो उस पर आरोप ही होना है, वस्तुतः तो नहीं स्वीकारी जा सकती है। स्वीकार लो, यह सत्यतः एक आरोप ही है। इसके मूलाधार को इस तरह से स्पष्टता से समझा जा सकता है कि एक ओर कला का सम्बन्ध वस्तु जगत से जुड़ा हुआ है और दूसरी ओर सृष्टा से। इस तरह उसके एक भाग को वस्तु जगत दबाए हुए है और दूसरे को कलाकार, जो कि प्रकारान्तर से इस सत्य को निरावृत्त करता है कि व्यापक अर्थ में कला के क्षेत्र में यथार्थवादी धारा ज्ञात रूप में या अज्ञात रूप में प्रभावित किए बगैर नहीं रहती है, फलतः कला युगों के साये में अनेक रूपों में प्रकट हुई है, बदलते वाद इसके प्रतीक है।

चित्रकला में चित्रगत गहराई अर्थात् दूरी और समीपस्थ का चित्रण होता है। कभी आँख चित्र का अवलोकन करती हुई चित्र की एक गहरी दूरी तक चली जाती है, कभी पास आ जाती है। ऐसा होने से चित्रगत गति का अभ्यास, वस्तु के फैलाव, संकोचन, एकीकरण, उठाव, गिराव, प्रकाशित दूर के स्थल, पास की गहरी छायाएँ, आदि का चित्रण गत्यात्मकता के साथ होता है। कभी कभी चित्रों में व्याप्त ध्वनि स्फुरण भी होता है। रंगों में भी लयात्मकता प्रतीयमान होती है।

गति संगीत में विशेष स्थान रखती है। स्वर, लय के साथ कभी बिलम्बित रहते हैं, कभी यकाएक अपने समीचीन प्रभाव के लिए द्रुत हो जाते हैं। कभी ध्वनि स्वरों से ऐसा बोध होता है कि वे बहुत ही समीप के स्वर हैं और

कभी ऐसा प्रतीत होता है कि वे ध्वनित स्वर विशेष दूरी से निसृत हो रहे हैं। चढ़ाव उतार तो संगीत का सोपान ही है। इन स्वरों के माध्यम से ही विभिन्न बिम्बों का भी आयाम मन पर होता है। इन बिम्बों का बाहुल्य साहित्यिक सांगीतिक रचना में रहता है। उदाहरण के तौर पर द्रुत ख्याल राग खमाज़ में निबद्धसांगीतिक निम्न रचना को देखिए[1]। इसमें श्रुति गत्यात्मक बिम्ब शिखनख रूप को विविध रंगों के साथ नृत्य की रणनात्मकता में विविध चित्ररंगों के साथ प्रस्तुत है। एक ओर जहाँ यह पद साहित्यिक प्रगति शैली का पद है, वहीं वह शास्त्रीय संगीत में तीन ताल सोलह मात्राओं में निबद्ध राग खमाज़ का द्रुत ख्याल है। वस्तु और शब्द चयन नृत्य परम्परा को छूते हैं। चित्रविधा में इस का प्रतीयमान गतिमय चित्र निर्मित किया जा सकता है। इस पद में चित्रगत विशेषताएँ, विशेष कर शब्दों के माध्यम से व्यक्त हैं। सांगीतिक अन्विति में, भक्त का मन, भगवान कृष्ण की बाल छवि में अभिभूत हो, रात्रि के द्वितीय प्रहर में, इस ध्वनित स्वरसमूह से सहज ही तादात्म्य करता है, एतदर्थ राग अपनी चरम परिणति को पहुँचता है।

वास्तव में संगीत में ध्वनि के मूर्त माध्यम के द्वारा भावों की अभिव्यक्ति होती है। शब्द-विधा-गत साहित्य में रसों का आस्वादन, अर्थों के सहारे उत्पन्न विभाव अनुभाव, संचारी भावादि कराते हैं। उसी तरह संगीत में स्वरों की अर्थसत्ता है। शृगार रस के लिए मध्यम और पंचम स्वर प्रधान, करुण रस में गंधार स्वर प्रधान गीतों की रचना होती है। शुद्ध संगीत को ग्रहण करना सर्व सामान्य सहृदय के लिए सहज नहीं है क्योंकि उसमें अर्थ, अभिप्राय भाव, अभ्यस्त-स्रोता ही ग्रहण कर सकता है किन्तु इसका आस्वादन सहृदय गम्य रहता है। सामान्यतः सहज संगीत और ग्राम संगीत की गणना शुद्ध शास्त्रीय संगीत से परे ठहरती है।

संगीत की सीमा परिसीमा में गायन, वादन और नृत्य आ जाते हैं। नृत्य संगीत में उसी तरह से अंशतः स्थान दबाता है जिस तरह मूर्ति कला अपनी विधा में चित्रविधा से किन्हीं भूमियों पर खाती है। गायन, वादन और नृत्य के अलग-अलग प्रभाव की अनुभूति में या सम्मिलित प्रभाव की अनुभूति में सहृदय तक की गम्यता 'लय' के माध्यम से है। केवल नृत्य में गति का प्रबल प्रवाह रहता है। एक नर्तक नृत्य के दौरान गतिमय बिम्बों को प्रस्तुत करता है। इन बहुगतिमय बिम्बों में मनोरम आकर्षण प्रेक्षक में प्रतिक्रिया स्वरूप होता है। इसके साथ ही भौतिक यथार्थ में नृत्य की प्राविधि-रूप स्थान, उसका चतुर्दिक घिराव, शरीर, शरीर के अवयव, अवयवों का नियंत्रण, इसके साथ प्रकाश, ध्वनि बाद्य यंत्रादि सहायक उपकरण होते हैं। ये सब सहायक उपकरण अप्रत्यक्ष रूप से प्रेक्षक को प्रभावित करते हैं तथा नृत्य प्रक्रिया में सहयोगी हैं। प्रत्यक्ष रूप से लय के साथ गतिमय शरीर और अवयवों का संचालन अपने व्यक्त रूप में, जीवन की एक विधा की सन्निहिति, प्रेक्षक को प्रभावित व रसास्वादित करती है। भाव बोध के लिए नर्तकार हस्त मुद्रा, मण्डल, चारी, करण, खण्ड, अंगहार, नासिका, चिबुक, अधर, चक्षु, सभी एक भाव से संगतियुक्त संतुलित गति उत्पन्न कर, प्रेक्षक के हृदय में अभीष्ट भाव संचार करते हैं।

नृत्य के माध्यम से कथानक जिसमें अनेक भाव रस और घटनाएँ व्यक्त होती हैं। नृत्य की प्रक्रिया में दृश्य कला की सरलता और श्रव्य कला की लय दोनों हीं सम्मिलित होने से इसकी संचार शक्ति गायन वादन की अपेक्षा प्रखर मनोरम और आकर्षक होती है। जीवन और जगत के व्यापार अनेक प्रकार से काव्य, शिल्प, चित्र, नृत्य, संगीत

---

१. मैं तो साँवरी सूरत पर वारी रे,
घूँघट बार श्याम मुख सोहत
नैना काजर कारी रे,
शीश मुकुट गले माल विराजे,
झनन झनन पग पैंजनीं बाजे,
पीत बसन तन धारी रे॥

द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। सहृदय प्रेक्षक इन अभिव्यक्त रूपों में तन्मय तदाकार होकर रसास्वादन करता है।

कलागत आस्वाद की जहाँ चर्चा करते हैं, उसकी सीमा परिसीमा का अंकन करते हैं, उसकी सार्वकालिकता, सार्वभौमिकता, सार्वजनीनता का बोध अनुमानते हैं तो इस सदर्भ में चित्रकला का स्थान सबसे श्रेष्ठ है। प्रागैतिहासिक काल में संगीत नृत्य या इतर अन्य कलाओं का क्या स्वरूप रहा होगा इसकी केवल चित्र विधा के सहारे या अन्य अवशेषों के माध्यम से अनुमान ही किया जा सकता है। इसी तरह अन्य कला रूपों के विषय में भी सत्य है। काल की दृष्टि से ये रूप अशक्त हैं। मूर्तिकला का स्थायित्व यथारूप में दृढ़ है। चित्रकला के संबंध में ऐसा सत्य है कि चित्रकला बुद्धिगत तर्कों से दूर अनुकरणात्मक, चित्त पर पड़े हुए प्रभावों का प्रतिभावान, दक्ष्य, अभ्यस्त व्यक्तियों की निर्मिति है। जिसमें क, ख, ग, : स रे ग म, ता तत् थेई थेई, की विधाओं, उक्तियों की आवश्यकता नहीं पड़ती है। चित्रकला उस तरह की अभिव्यक्ति है जो सीमा की दृष्टि से सार्वकालिक, सार्वभौमिक और सार्वजनिक है। प्रागैतिहासिक काल का चित्र उदाहरणतः स्पेन की अल्तामारया गुफा का रंगीन सांड जिसका अनुमानतः चित्रण काल १५,००० वर्ष ईसा पूर्व का है[1], का रसास्वादन आज भी सार्वभौमिक और सार्वजनीन है। चित्र की भाषा सार्वकालिक है। चित्रकला में सहृदय-सामाजिक के आस्वादन के लिए देश काल को सीमा बाधक नहीं होती है जबकि काव्य संगीत के साथ यह बात खरी नहीं उतरती है।

प्रत्येक कलाकृति व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति, विशेष मनःस्थिति का चित्रांकन है। प्रागैतिहासिक चित्रों का मूल्यांकन करते समय हरवर्ट रीड ने आल्तामारया की चित्रात्मक कौशल को हाथ और आंख का एकात्मक रूप का परिणाम कहा है[2], जो कि अपनी यथार्थ सत्यता के कारण आज भी स्फुरणीय है। ऐसा समझते स्वीकारते हुए यह बात आज के आधुनिक कलाकारों को भी अपनी परिसीमा में ग्रहण करता है। इसकी पुष्टि पिकासों की चित्रकारिता में सहज ही देखी जा सकती है। इन दोनों के बीच के युग के लिए यह कहा जा सकता है कि सौन्दर्य बोध प्रागैतिहासिक और पिकासों के युगों में अनिवार्य रूप से तत्कालीन धारणाओं और विश्वासों में रहा है और है।

धारणा और विश्वास मानव जीवन के आवश्यक तत्व सौन्दर्य बोध की शाश्वतता की पुष्टि करते हैं। प्रत्येक कला अलग-अलग माध्यम के विशिष्ठ गुणों की सन्निहिति न केवल विशेष 'कौशल' की अपेक्षा व्यक्त करती है अपितु साथ ही एक विशिष्ट सौन्दर्य को जन्म देती है। संगीत का सौन्दर्य, साहित्य का सौन्दर्य, चित्र का सौन्दर्यादि ये सब सूक्ष्म रूप से वैभिन्न लिए हुए है। इसी तरह इनके आस्वादन में भी विशेषता है। यह सौन्दर्य युगों की सीमा में अवशेषों में, प्रस्तर और भित्ति चित्रों में, साहित्य में, मूर्तियों में बिखरा है।

चित्रकला के स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिए उसके अति आतीतिक अस्तित्व के अनुसंधान में कुछ निम्न तरह के तथ्य सामने आते हैं। अन्वेषकों द्वारा प्रस्तुत आयातित तथ्यों से यदि इसका प्रारम्भ किया जाय तो सम्भवता इतिहास के ५० हजार वर्ष गहरे गह्वर में उतर कर उसकी तलछट से ये सत्य का निरूपण करना होगा।

चित्रकला के सम्बन्ध में सबसे पहले एक वह कल्पना मस्तिष्क में जागृत होती है, एक वह युग सामने आता है जिसमें आज से कोई कई हजार वर्ष पहले एक चित्रकार संकीर्ण, प्रकाशहीन गुफा में बैठा अपने समसामयिक रूपाकृतियों को रेखाओं और रंगों में प्रस्तुत कर रहा होता है जिनके कि अधिकांश रूप आज दुनियां के सामने नहीं है। इसके प्रतीक अवशेष आज कुछ हैं जो कि पिछले युगों की चित्रकारिता की साक्षी देते हैं। सामान्यतः वर्तमान सामाजिकों की उस प्रागैतिहासिक-युगीन व्यक्ति के प्रति कुछ इस तरह की धारणाएँ होती हैं जिसमें कि उसके जीवन और व्यक्तित्व को जंगली, असभ्य, अक्खड़, बुद्धिरहित केवल स्वाभाविक भूखों तक ही अनुमाने हैं। किन्तु यह बात

१. 'केभ पेन्टिग टू कामिक स्ट्रिप' द्वारा, लान्सलाट होवबेन, पृष्ठ-३२ और १६ के सामने।
२. 'दी ग्रास रूट आफ आर्ट', हरवर्ट रीड, पृष्ठ-१८।

न केवल विश्वास करने की है वरन् एक सत्य है कि यदि अल्तामारया के सांड की आकृति उसका रूप रंग और सज्जा किसी भी तरह आज के प्रनिष्ठित कलाकार की दक्षता से कम नहीं हैं।[1] तब फिर उसे किसी भी तरह के हेय स्तर पर स्वीकारने की बात नहीं करनी चाहिए। इसी तरह जहां तक गत्यात्मक चित्रों की बात है उस संदर्भ में फ्रांस से प्राप्त प्रागैतिहासिक-युगीन रेनडियर के सीगों से बनाई हुई पट्टी पर रेनडियर के भागते हुए जो रेखाचित्र आज से कुछ ही दशकों पहले प्राप्त हुए हैं, वे रेखाचित्र आज प्रसिद्ध चित्रकारों के गतिमय चित्रो से किसी भी तरह गत्यता में हेय नहीं उतरते हैं।[2]

इन संकीर्ण प्रकाशहीन गुफाओं में जहाँ ये चित्र उपलब्ध हैं, वहाँ किसी भी तरह परिवारों का रह सकना मुश्किल है। चित्रकारों को बहुत ही कठिनाई पूर्वक यह कार्य पीठ के बल लेटकर या किसी साथी के कंधों पर खड़े होकर असुविधाओं के बीच करना पड़ा होगा। पत्थर के दीपक इन गुफाओं के पास प्राप्त हुये हैं, अतएव प्रकाश के लिए चर्बी का प्रयोग किया गया रहा है।[3]

इस तरह के तथ्यों को सामने रखते हुए यह विचार सामान्य बुद्धि द्वारा ग्राह्य हो जाता है कि चित्रकला का सम्बन्ध मानव के अति आतीत से ही पूर्ण नैपुण्य लिए हुए हैं। चित्र कला का मानव जीवन में कब आयाम हुआ, यह कुछ कल्पना और उस युग की सम्भावनाओं पर विचार करने से इस तरह प्रतीत होता है कि व्यक्ति अपने जीवन में प्राप्त हर क्षण का विकार ग्रहण करता है और उसे किन्हीं अंशों तक व्यक्त करता है। इस अभिव्यक्तिकरण की पद्धति के आधार पर संगीत, भाषा, लिपि आदि के उद्गम स्रोत अनुमाने गए हैं। किन्तु इन अर्ध वैज्ञानिक सत्यों के साथ ही, न केवल भारतीय क्षेत्र में, अपितु विश्व में मानव की इन उपलब्धियों के आदि स्रोतों के प्रति, विभिन्न मत, प्रायः धर्म पर आधारित हैं।

इन उपलब्धियों में मानव की प्रथम उपलब्धि पातजलि के योगभाष्य के आधार पर स्वर या नाद है। यही स्वर संगीत के सोपानों में अनेक देशों की रोचक कथावृत्तों के साथ संगीत के इतिहास ग्रन्थों में प्रस्तुत हुई है। भाषा और लिपि के संदर्भ में भी इसी तरह के मत-मतान्तर एक लम्बे अर्से तक आते रहे।

चित्रकला के विषय में भारतीय साहित्य के 'चित्रलक्षणम्' में एक कथा का आविर्भाव हुआ है। वह इस तरह है कि बहुत प्राचीन काल में एक धर्माचारी राजा था। उसके राज्य में उसकी समस्त प्रजा बहुत ही प्रसन्न और उन्नतिशील थी। एक समय एक ब्राह्मण चीखता हुआ आया--'ओ राजा! तेरे राज्य में निश्चित रूप से पाप है अन्यथा मेरा युवा पुत्र असमय में क्यों मरता? कृपा कर मेरे पुत्र को दूसरे लोक से वापिस ला दो।' तदनुसार राजा ने यमराज से ब्राह्मण पुत्र लौटा देने को कहा। यमराज का ऐसा न मानने से युद्ध हुआ। युद्ध में यमराज पराजित हुए। तब सृष्टि के निर्माता ब्रह्मा ने आकर राजा से कहा 'जन्म और मृत्यु' कर्म के अनुसार है। यमराज का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। तुम बहत्तर यह करो कि उस ब्राह्मण पुत्र का चित्र बना दो। राजा ने वैसा ही किया। ब्रह्मा ने उस चित्र को प्राणों का स्पंद न दिया और राजा से कहा—चूंकि तुमने नग्न प्रेत पर विजय प्राप्त की है अतएव ऐसा होगा कि तुम नग्न जित् के नाम से जाने जाओगे। तुम मेरी महत्ता से उस ब्राह्मण-पुत्र का चित्र बना सकोगे।

इस तरह सृष्टि के विकास में चित्र लक्षणम् की कथा के अनुसार यह प्रथम चित्र बना। साथ ही राजा को विधाता विश्वकर्मा के पास चित्रविधा सीखने को कहा। इसी आधार पर चित्रलक्षणम् मे चित्र विधा की शिक्षा का अविर्भाव सृष्टि में हुआ।

---

१. फ्राम केव पेन्टिग टू कामिक स्ट्रिप, लांसलेट होगबेन, पृष्ठ १६, ३२ के सामने।

२. आर्ट थ्रू दी ऐजेज : गार्डनर : पृष्ठ–३२।

३. फोन्ट-डी-गौमे (फ्रांस) की गुफा के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है। 'केव पेन्टिग' लान्सलाट हेगबेन, पृष्ठ-१७।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में इससे कुछ भिन्न कथा मिलती है जो चित्र-विधा की उत्पत्ति में इतर ढंग से प्रकाश डालती है। इसमें चित्रों की विधि या नियम ऋषि नारायण ने विश्व के कल्याण के लिए बनाए हैं। इनको ऋषि मार्कण्डेय द्वारा कहा गया है। ऐतद् ऋषि नर और नारायण बदरी आश्रम में इस विद्या का प्रारंभ करते हैं इनकी प्रारम्भिक साधना में विघ्न उपस्थित करने के लिए अप्सराएँ आती है। प्रणय विदग्धा के रूप में फूलों को एकत्र करती हुए नारायण द्वारा देखी गई जो कि सहज ही उनके प्रति आकर्षित हो गया। फलतः आम्ररस लेकर उसने मुग्धकारी बाला का अनुपम रूप चित्रित किया। चित्र रेखाओं के सहारे, सौन्दर्य के चरम को छू रहा था। चित्रित बाला के नेत्र विशाल आकार को लिए हुए थे। वह न देवी थी न गंधर्वी ही थी, न ही वह किसी असुर की पत्नी थी, न ही वह नाग क्षेत्र की कन्या और न ही उस तरह की बाला तीनों लोकों में ही थी। इस चित्रित बाला को देखकर दोनों अप्सराएँ भाग खड़ी हुई।

इस तरह ऐसा कहा जाता हैं कि महान् ऋषि नारायण ने आम्ररस की सहायता से अप्सरा को ठगकर उर्वशी का सृजन किया। चित्र की सजीवता से वह सुन्दर रूप साकार सप्राण हुआ और वह सर्व-सुन्दरी उर्वशी के नाम से ज्ञेय हुई। तथाकथित महान् ऋषि नारायण ने चित्रविधा की विधाओं को विश्व कर्मों में अभिव्यक्ति किया जो कि विष्णु-धर्मोतर पुराण में प्राप्त होता है।

ये धर्म पर प्राप्त उद्भव, इस यान्त्रिक युग के व्यक्ति की बुद्धि को यदि यह कहें कि ग्राह्य नहीं है तो समीचीन है। वैज्ञानिक युग का व्यक्ति वस्तु का ठोस आधार खोजता है। कथा या कल्पना से उसका निर्वाह नहीं होता। विचारणा के उपरान्त ऐसा सत्य प्रतीत होता है कि चित्रकला या चित्र विधा के अवयवों का आयाम क्रमशः रेखा, आकार, जगह, रंग और छाया-प्रकाश के स्वरूप में हुआ है।

मानव जीवन में रेखा के आयाम के विषय में सबसे पहली चित्र-रेखा आदम युग के उस मानव ने खींची जो अपने जीवन का रक्षण चट्टानों के तले या प्रकृत प्रस्तर गुफाओं के भीतर करता था। प्राप्त गुफाचित्रों या शिलाचित्रों पर अकित रेखाचित्रों में खींची गई रेखाएँ कला के इतिहास में आदि प्रारूप के रूप में जानी जाती है। यदि रेखा के युगीन बोध और सौन्दर्य की बात सामने आती है, या युग के साथ जब भी रेखा का मूल्यांकन होता है, तब सर्वप्रथम प्रागैतिहासिक युग को सीमा के छोर पर खींची हुई रेखा सर्वप्रथम परिच्छेद में होती है। उसके अनन्तर आती हुई सभ्यताओं और शिल्पियों की रेखाएँ आती हैं।

रेखा के विकास में प्रारम्भ से चलकर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि जब उस समय में लिपि का आविष्कार नहीं हुआ था तब इन्हीं रेखाओं के सहारे, अपने सहजातियों के प्रति सम्बोधन, आदेश, कुछ आकृतियाँ चिन्हों के रूप में बना दिए जाते रहे हैं। कालांतर में इसी पद्धति का विकास चित्रलिपि के रूप में हुआ।

इस तथ्य की आज इतिहास पुष्टि करता है। मिश्र के पिरामिडो में प्राप्त चित्रों में इस प्रारूप को देखा जा सकता है। चीन देश की लिपि में इसका परावर्तित रूप आज भी उपलब्ध है। भारतीय अंक प्रणाली में इन रेखाओं का प्रयोग देखा जा सकता है जिसका कि विकास सुगमता के आधार पर हुआ है।

रेखाओं के विकासोन्मुख प्रस्तुतीकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैसे एक के लिए एक रेखा का प्रयोग किया जाता रहा है वहीं दो, तीन, चार के लिए क्रमशः एक एक रेखा का योग होता गया है। यह कहने से आशय केवल रेखा के बहुल प्रयोग से है। इसके साथ ही इस बात पर भी ध्यान आकर्षित करना था कि ये रेखाएँ केवल कला जगत की ही संपदा नहीं रही हैं। हालांकि लोक-जीवन के व्यापारों में प्रयुक्त होने वाली रेखा का स्वरूप, उसकी सार्थकता, संबोधत्व समय विशेष तक ही सीमित रहा है, जब कि कलागत रेखा को सार्थकता सार्वकालिक और सार्वभौमिक है।

ऐतिहासिक युग या प्रागैतिहासिक युग दोनोंसे भी परे यह विश्वास कर लेना समीचीन है कि रेखा का प्रयोग

मानव की सहज प्रवृत्ति के रूप में प्रगट हुआ था। इसके आधार के लिए मनोवैज्ञानिकों द्वारा प्रतिपादित इस निम्न सत्य को स्वीकारा गया है जबकि व्यक्ति का मन विचारशून्य पूर्वापर से मुक्त, विशेष चिन्तना, विशेष भाव के अंतर्मूत रहता है, ऐसे समयों में वह अनजाने ही अंगुली से जमीन पर, रेत पर, या कुर्सी पर बैठे हुए मेज के कागजों पर पेन्सिल या पेन से रेखांकन करता है। यह रेखांकन किसी विशेष लक्ष्य को सामने रखकर नहीं किया जा सकता है। इस क्रिया को मानव की सहज जन्म जात प्रवृत्ति में सम्मिलित किया गया है। जब इस तरह यह मान लिया गया है कि रेखांकन मानव की मूलत: जन्मजात् प्रवृत्ति है तो इस प्रवृत्ति के अंतर्गत मनोवैज्ञानिक यह मानते हैं कि व्यक्ति शून्य के क्षणों में जो लक्ष्यहीन रेखांकन करता है, उसका कुछ न कुछ अर्थ अवश्य होता है और वे मनोवैज्ञानिक उस अर्थ को प्रस्तुत करते हैं। जब यह मान कर चलते हैं कि आज के सभ्य जगत के अनुसार लक्ष्यहीन रेखांकन का अर्थ होता है, तब इसी तरह उस युग की कल्पना इस तरह पुष्ट कर ली जा सकती है कि मानव समूह शिकारादि के पश्चात् या पूर्व जब भी कभी समय अवसर से कहीं बैठा होगा वहाँ किसी न किसी ने रेखांकन रेत पर या गीली जमीन पर किया होगा जिस पर समूह के व्यक्तियों का कभी न कभी ध्यान आकर्षित हुआ होगा। उसे बनाते भी देखा होगा, निर्माता के मुख की आकृति भी देखी होगी और यह भी अनुमान कर लेना समीचीन है कि उन निर्मित रेखाओं का, कुछ उस समय की जीवन—व्यापारिक जो भी क्रियाएँ रही होंगी उनके अनुसार अर्थ लगाया होगा। उन रेखाओं की सार्थकता को समझा होगा।

इस तरह के बोध के सहारे एक समूह ने अपने से बिछुड़ते हुए व्यक्तियों के लिए संकेत छोड़े होंगे। इस तरह के संकेत-बोध, रेखांकन आज भी गुफा चित्रों में देखे जाते हैं।[1] इन चित्रों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे एक समूह ने दूसरे समूह को अपनी शिकार सफलता की सूचना रेखाचित्रों के माध्यम से दी हो। क्योंकि ये समूह एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर जंगली पशुओं की शिकार की टोह करते हुए आगे बढ़ते थे। वर्षा, शीत, धूप से बचने के लिए ये समूह प्राय: जंगलों में चट्टानों के नीचे जो प्रकृत रूप में, रक्षण प्रदान करती थीं, का आश्रय लेते थे। इनके न होने पर मैदानों में वृक्षों के नीचे भी आश्रय ग्रहण करते थे। इसमें पहला तथ्य यह कि इन आश्रयों को प्रागैतिहासिक मानव के इतिवृत्त में शिलाश्रय कहा गया है। इस तरह के आश्रयों का सही आभास नर्मदाघाटी में होशंगाबाद के समीप आदमपुर के शिलाश्रय से हो जाता है। यहाँ लगभग दस शिलाश्रय हैं। सबसे बड़े शिलाश्रय के नीचे लगभग वर्षा, शीत, धूप से एक हजार व्यक्ति अपनी रक्षा कर सकते हैं। इस तरह के शिलाश्रय भारत फ्रांस, स्पेन, आफ्रीका आस्ट्रेलिया आदि देशों मे आज भी दर्शनीय हैं।

कला के दृष्टिकोण से इन शिकारी व्यक्तियों के जीवन के संबंध में इस तरह की धारणा होती है कि इन व्यक्तियों ने पृथ्वी को एकात्मक रूप से ग्रहण किया और उसमें पाए जाने वाले जीवों को चित्रित करने की प्रक्रिया में या तो उन्हें एकाकी प्रस्तुत किया है या फिर उन्हें उनके ही समूह के साथ चित्रित किया है इनके चित्रण में एक प्रकार से आश्चर्यजनक पूर्णता-सी प्रतीत होती है। यदि आप ध्यान से आस्ट्रेलिया के 'अर्नहेम अोव्यारी शिलाश्रय में चित्रित' तीन नृत्यांगनाओं को देखें तो उन तीनों के ऊपर को उठे हुए दाएँ हाथ तथा बायाँ हाथ विपरीत अधोवर्ती दिशा में, दाएँ हाथ के समानान्तर गत्यानुकूल है।[2] इसी तरह बाएँ पैरों का गति के साथ अग्रसर होना। इस सबसे तादात्मय स्थापित करता हुआ समस्त शरीर एक गति में आगे को बढ़ता-सा प्रतीयमान है। इस चित्र में जगह का सम्यक् विभाजन है, मानवाकृतियों का सम्पूर्ण जगह को गति के साथ घेर लेना, प्रेक्षक के मन पर स्थायी प्रभाव डालने में चित्रविधा आदि की दृष्टि से सूक्ष्म है।

कुछ अन्य चित्रों के आधार पर वातावरण कुछ ऐसा व्यक्त होता है कि शिकार आदि के पश्चात् रात्रि में भोजनावसरों पर प्राय: समूह नाचता-गाता-मौज मनाता था। आफ्रीकी बुशमैन के शिलाश्रयों में इस तरह के चित्रों का

१. आर्ट एण्ड सिविलाईज़ेशन : बेरनार्ड एस मैयर्स, पृष्ट ३।

२. प्री हिस्टारिक पेन्टिग बाई ब्रेडरिक पृष्ठ—

बाहुल्य है। इसी तरह के एक चित्र में कुछ व्यक्ति कनार बाँध कर दर्शकों के रूप में बैठे हुए हैं, कुछ व्यक्ति मनोरंजनीय कार्यों में नाचते-गाते उछलते कूदते से प्रतीत होते हैं। समूह के घेरे के बाहर मृत पशुओं की आकृतियाँ बनी हैं। एक ओर कुछ कुछ व्यक्ति घेरे के पास आते हुए चित्रित किए गए हैं।[1]

इस तरह इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन प्रागैतिहासिक शिलाश्रयों के प्रश्रय युग में मानव अपने जीवन क भोग के लिए प्रायः पशुवत उन्मुक्त ही था। उसके जीवन की सीमाएँ जन्म और मृत्यु तक ही सीमित थी। किन्तु इन समूहों में कुछ ऐसे भी व्यक्ति रहे हैं जिन्होंने कि शिकारादि के पश्चात् प्राप्त अवसरों पर अपना समय अन्य अति उल्लास में, नृत्यादि में, या भोग में व्यतीत न करके, अपनी अंतर्मुखी वृत्तियों का विकास किया है। उसी के परिणामतः जो कुछ उन्होंने अपने समूह के साथ देखा और समझा उसे ही पत्थरों पर अंकित किया। यह अंकन अल्प काल का प्रतीत नहीं होता। इससे यह स्पष्ट होता है कि मानव समूह अपने निवास स्थलों के प्रति प्रेम रखने लगा था। व्यक्ति में स्वअस्तित्व के साथ वातावरण और प्रकृति पर अधिकार भावना का विकास हो चला था तथा व्यक्ति अपनी निजी भावना को चित्र, स्वर या विविध तत्कालीन वाद्यों के माध्यम से व्यक्त करता था।

आगे आने वाली विकास को यदि शृंखला बद्ध इतिक्रम इन्हीं प्राप्त शिलाश्रय चित्रों के सहारे किया जाय तो इस संदर्भ में पूर्वीय स्पेन का केपशियन शिकारियों का चित्र आता है जिसमें धनुषबाणों से सन्नद्ध होकर चार शिकारी, मैदान में मोर्चों को लेकर जंगल से आते हुए हिरनों के समूह पर बाणों का प्रहार करते हैं।[2] इसके साथ ही बुशमैनों का एक चित्र उल्लेखनीय है। इसमें एक पर्वतीय उपत्थिका में पशु समूह पर धनुष-बाण, भाले, तथा कुत्तों के साथ आक्रमण किया गया है।[3]

इस तरह के सन्दर्भ प्रस्तुत करने से आशय यह है कि प्रथमतः व्यक्ति केवल अपनी शक्ति के सहारे ही अपना जीवन-यापन करता था किन्तु समय के साथ उसके साधन बढ़ते गए हैं। उसी के अनुसार उसकी अभिव्यक्तियों में अन्येतर वस्तु, उपकरणों का आयाम भी होता गया है।

इस शिकार काल की चित्रात्मक संभाव्यनीय क्रमबद्ध अभिव्यक्तियों को देखने से प्रतीत होता है कि चित्रांकन में पूर्व की अपेक्षा सुघड़ता आती गई है तथा चित्रण के विषय-वस्तुओं में बहुलता आई है।

स्पेन, फ्रान्स, दक्षिण रोडेशिया, पेरू, अलास्का, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका आदि देशों में इस तरह की चित्रांकित गुफाएँ हैं। इनका समय ५०,००० ईसवी पूर्व से १०,००० ईसवी पूर्व के बीच का है। भारत के गुफा चित्र आदमगढ़, रायगढ़, छक्रधरपुर, सिंहनपुर, मिर्जापुर-खिखुनियां, कोहवर मेलदारिया में हैं। इनका समय भी उक्त समय के सामानान्तर का ही है।

मोहनजोदड़ो की सभ्यता तक घुमक्कड़ जीवन का अन्त हो गया था। मनुष्य छोटे-छोटे गावों में जिनमें पत्थर और मिट्टी के मकान थे, रहने लगे थे। इस सभ्यता में पत्थर के हथियारों के साथ-साथ पीतल तथा तांबे की वस्तुओं का प्रयोग करते थे। इस परिवर्तन की सुन्दर झाँकी बलूचिस्तान की पहाड़ियों तथा सिन्धु नदी के निचले भाग में स्थित अवशेषो में मिलती है।

इस सभ्यता को कुछ विद्वानों ने सिन्धु घाटी की सभ्यता का सम्बोधन दिया है। आज के प्राप्त आधारों पर जैसा कि पहले यह अनुमान करते थे कि यह इस सभ्यता का विकास सिन्धुघाटी में ही हुआ है। किन्तु हाल ही में

---

१. प्री हिस्टारिंग पेन्टिग ब्रेडरिक पृष्ठ :

२. केम पेन्टिग ईस्टर्न स्पेन : आर्ट एण्ड सिविलाईशन : बेनार्ड एस मैयर्स पृ० ३।

३. (अ) बुशमैन आफ्रीका : ,, ,, ,, ,, पृ० ४।

(ब) आर्ट एण्ड दी सोसायटी : हरबर्ड रीड, प्लेट १२, १३, १४।

१९६२, सूरत के पास लोथल स्थान की खुदाई में प्राप्त अवशेषों से और बीकानेर के समीप कालीवंगा की खुदाई से भी ऐसा प्रतीत होता है कि इस सभ्यता का भी समय मोहनजोदड़ों की सभ्यता के समकालीन है। दोनों ही स्थानों के प्राप्त अवशेषों में एक भारी समानता मिलती है।

इस सभ्यता का उदथ ईसवी पूर्व २५०० वर्ष हुआ था। इसका विस्तार केवल मोहनजोदड़ो से हड़प्पा तक ही नहीं था। वरन् इस सभ्यता के अवशेष और आधार, पूर्व में रूपड़, कालीबंगा सरस्वती नदी का किनारा बीकानेर का भूभाग तथा पश्चिम दक्षिण में सूरत के समीप तक लोथल आदि प्रमाणों के आधार पर मान्य होता है। इसका स्पष्ट स्वरूप भौगोलिक ढांचे में इस तरह है। यह संस्कृति वर्तमान भारत में गंगा, यमुना, नर्मदा की घाटी तक फैली थी तथा उत्तर में बलोचिस्तान तक थी।

इस सभ्यता में ताम्र तथा मिट्टी की पट्टियों पर कई प्रकार के पशु-पक्षियों का चित्रण हुआ है। इस विशद पशु चित्रण से ज्ञात होता है कि सिन्धु प्रदेश के निवासियों का पशु-पक्षियों के प्रति एक विशेष आकर्षण रहा है। मुद्राओं में शक्ति सम्पन्न पशुओं का अधिक आयाम है।

सभी तरह के पशु-पक्षियों के चित्रण के अव्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग के कलाकार अंकन करने से पूर्व वस्तुओं का अध्ययन कर लेते थे। जंगली हिंसक पशुओं के चित्रण में ध्यान नहीं दिया गया है। इसके विषय में ऐसा अनुमान किया जाता है कि हिंसक होने के कारण इन पशुओं के निकट कलाकारों का पहुँचना संभव नहीं रहा है। इस कारण वे भलीभाँति अध्ययन व चित्रण नहीं कर पाए हैं।

कुछ मुद्राओं तथा ताम्र पट्टियों में शिकार के दृश्य पाए गए हैं। एक मुद्रा में एक मनुष्य बर्छी द्वारा भैंसे पर धावा करता दीख पड़ता है।[1] ऐसा ही एक दृश्य हड़प्पा से प्राप्त एक मिट्टी की मुद्रा पर है। इस मचान के ऊपर बैठकर एक मनुष्य बाघ के सदृश्य किसी पशु पर अस्त्र प्रहार कर रहा है। नीचे पैर के तलुओं को मिलाकर योगासन में एक आकृति बैठी है। दृश्य में कई और पशु भी है। मुद्रा की दूसरी ओर एक त्रिशूल सदृश्य स्तम्भ के पास वृषभ खड़ा है। इसके निकट ही एक देव तथा दुमंजिला मंदिर है।[2] एक अन्य मुद्रा में एक पुरुष दो व्याघ्रों के साथ द्वन्द्व कर रहा है। इस मुद्रा में विशेष यह है कि व्याघ्रों के मुख क्रोध की मुद्रा में हैं।

मोहनजोदड़ो में काँसा की ढली मूर्तियाँ भी मिली हैं। इनमें एक नर्तकी के हाथ हाव-भाव व्यक्त करने की मुद्रा में हैं। पैरों से मालूम होता है कि नर्तकी ताल के आधार पर नृत्य कर रही है। उसके हाथ कड़ों से भरे हैं और वह गले में एक हंसली पहने है। चेहरे से कुछ घृणा का भाव टपकता है। यह नग्न रूप में है।

नृत्य की मुद्राओं का चित्रण ताबीजों पर भी मिलता है। चीनी मिट्टी की एक ताबीज पर एक मनुष्य ढोल बजा रहा है। सामने कुछ मनुष्य नृत्य करते दिख रहे हैं।[3]

इन चित्रों में एवं मूर्तियों की भाव भंगिमाओं एवं मुद्राओं से प्रतीत होता है कि इनका सम्बन्ध संगीत व साहित्य से होना चाहिए। संगीत के साथ साहित्य की काव्य विधा, स्वर लहरियों के रूप में रही है। संगीत के संबध में प्राचीन भारत में इसे बहुत उच्च स्थान मिला है। वेदों का स्वर लय बद्ध होना इसका प्रमाण है। भारतीय संगीत के विषय में ऐसा मानते हैं कि कैलासपति भगवान् शंकर ने उसे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए अद्वितीय साधन बनाकर प्रसारित किया। इसमें साथ ही संगीत प्रधानतया धर्म से ही सम्बन्धित पाया जाता है।

इस सभ्यता में प्राप्त चित्रों से स्पष्ट होता है कि इस काल में गायन वादन का प्रचार था। हड़प्पा से प्राप्त

---

१. आ. सा. रि., १९३०-४ पृष्ठ १९९, (आर्कालाजीकल सर्वे आफ इंडिया)

२. वत्स, य ह., जिल्द-१, पृष्ठ-१२९-३० ।

३. ऐक्सकेवेसन आफ हरप्पा, द्वारा मैके, इं. सि-पृष्ठ-९३ ।

एक दूसरे ताबीज में बाघ के सम्मुख ढोल बजाए जाने का दृश्य है। दो मुद्राओं पर तो मृदंग जैसी वस्तु अंकित है। ढोल का चित्रण भी एक दूसरी मुद्रा में है। इसमें एक स्त्री ढोल को बगल में दबाए हुए है। मुद्राओं तथा ताबीजों के दृश्यों में अनेक ऐसी वस्तुएँ हैं जिन्हें वीणा का कोई रूप माना जा सकता है।[1]

इस बिखरी सामग्री से इस सभ्यता के मानव जीवन में कला की स्थिति का ज्ञान हो जाता है। वास्तव में मनुष्य के जीवन में जैसा कि प्रागैतिहासिक काल में चित्रणों से देख रहे हैं कि कला एक अत्यावश्यक वस्तु है। पेट भरने या अन्य भोगों के मात्र से ही केवल मानव के व्यक्तित्व का समापन नहीं हो जाता है वरन् उसे मानसिक तथा बौद्धिक भोजन की भी आवश्यकता होती है। इसकी पुष्टि के लिए भर्तृहरि का मत है कि संगीत, साहित्य तथा कला रहित मनुष्य बिना पूँछ के पशु के समान है।[2] यह ठीक है कि इस काल के मनुष्यों की प्रवृत्ति कुछ क्षेत्रों में अर्थ प्रधान रही होगी, किन्तु दैनिक जीवन में व्यवहृत वस्तुओं में उन्हें अतने कला एवं सौन्दर्य प्रेम को दिखलाने का अवसर प्राप्त था। इस कथन के आधार के लिए प्राप्त मृण्मूर्तियाँ, पत्थर की मूर्तियाँ, ताबीजें, मिट्टी के बर्तन पर्याप्त हैं। इन बर्तनों, मूर्तियों, ताबीजों पर किए गए रंग, पालिश और इनकी अलंकरण विधि इनके कला कौशल के द्योतन के लिए पर्याप्त है। अलंकरण के उदाहरणों में, बाल, आभूषण, आँख व मुँह, अलग रंगों की रेखाओं में दिखलाए गए हैं। चून्हदड़ो से प्राप्त कुछ पशुओं के शरीर पर भी रंगीन रेखाओं का अलंकरण है। चून्हदड़ों से प्राप्त हाथी का खिलौना, जिसकी पीठ पर अलंकरण है।[3]

रंगों के प्रयोग में विशेष रूप से पशुओं के खिलौनों पर हल्की लाल पालिश लगाई गई है। इसके अतिरिक्त हल्के पीले रंग भी खिलौनों पर प्रयोग में लाया गया है। पशुओं की सजावट में भी विविध रंगों का उपयोग किया जाता रहा है। रंग पकने के बाद कभी तेज कभी हल्का लाल तथा कभी नीला हो जाता था। नीले रंग के बर्तनों पर काले रंग की पालिश मिलती है। पतले सतह के बर्तनों के लिए एक प्रकार की हल्के लाल रंग की मिट्टी का प्रयोग करते थे। एक विशेष वर्ग के बर्तनों पर पतले, हल्के लाल या पीले रंग की पालिश की जाती थी। कत्थई रंग भी कुछ बर्तनों पर उपलब्ध होता है। कुछ बर्तनों पर चढ़ा कर, कलाकार या कुम्हार, उन्हें अच्छी तरह से किसी चिकनी वस्तु से बुटाई करता था। यह प्रक्रिया आज भी चित्रकार या मूर्तिकार प्रयोग में लाते हैं।

इस काल के चित्रकारों ने रंगों का प्रयोग अच्छे प्रकार की कूचियों द्वारा किया है। इन्होने प्रायः रंगों के द्वारा बेलबूटे, तथा अन्य हृदयग्राही अलंकरण चित्रित किए हैं। ये अलंकरण प्रायः रेखागणित की पद्धति पर एक दूसरे वृत्तों को काटते हुए विकासोन्मुख है। दूसरे तरह के चित्रण में वृक्ष, पत्ती, पशु हैं। यह चित्रण वृत्ताकार अंकित दो रेखाओं के मध्य हुआ है। चून्हदड़ों से प्राप्त एक पात्र पर नीचे की सतह पर काला रंग लगाया गया है। इसके ऊपर रेखागणित की पद्धति पर चौमुखी पत्तियाँ हैं। जिनके रिक्त स्थान पर दो वृत्तों के बीच एक बिंदी है। इसके ऊपर जहाँ पात्र की गोलाई क्रमशः कम होती है वहाँ आड़ी सज्जा पंक्ति है। इसके ऊपर पात्र के मुख भाग तक पेड़ों की शाखाएँ चित्रित की गई हैं। मुख पर गहरे लाल रंग की सतह है। यह चित्रण आज के पात्र-चित्रण कला के सिद्धांतों से मेल खाता हुआ खरा उतरता है। कहीं कहीं के चित्रण में दो वृत्तों के बीच एक बिंदी, डमरू की तरह जाली, पंखुड़ी जैसी आकृति, ऊपर नीचे दौड़ती रेखाएँ, चौपड़ की तख्ती पर बने सम चतुस्त्र भाग, कोण तथा तारों का अंकन विशद रूप से है।

इस सभ्यता के सन्दर्भ में प्राप्त अवशेषों, चिन्हों और विद्वानों द्वारा प्रस्तुत सम्मति से ऐसा प्रतीत होता है कि

---

१. दीक्षित, प्री. सि. इं. वे., पृष्ठ-३०

२. साहित्य संगीत कला विहीनः, साक्षात् पशुः पुच्छ विषाणहीनः।

३. वत्स, य. ह., जिल्द-१, पृष्ठ-३००।

इस युग के कलाकार यथार्थवादी कलाकार थे। जीवन और जगत से जिन तत्त्वों का इन कलाकारों से सम्पर्क रहा है उनका चित्रण इन्होंने किया है। यह बात उनके पशुओं के चित्रण से स्पष्ट होती है। कुछ मूर्तियाँ जो प्राप्त होती हैं उनसे भी यह स्पष्ट होता है। इस सन्दर्भ में मोहनजोदड़ो की नर्तकी की मूर्ति उद्रित को जा सकती है और भी अन्य उद्धरण दिए जा सकते हैं। मुद्राओं पर प्राप्त चित्रण भी यथार्थवादी है। कलाकारों ने विविध भावों, आवेगों को चित्रण में प्रस्तुत करने के प्रयास किए हैं जिनमें प्रायः सफल रहे हैं। इस युग की प्राप्त नग्न मानव आकृतियों में उन्नत लिंग या योनि के चित्रण से ऐसा प्रतीत होता है कि इन कलाकारों की कला में आदर्श का भीना आवरण जो कि भारतीय कला की विशेषता है उसे नहीं ला सके हैं या उसका आयाम इस समय तक नहीं हो सका था[1]। प्राप्त या प्रस्तुत कला में कलाकार का जो अपना वैशिष्टय होता है वह भी प्राप्त नहीं होता है। सब देखने के उपरान्त ऐसा स्पष्ट होता है कि तत्कालीन कलाकार परम्पराप्रसूत जो रूप कला को पाता गया है, उसे ही यथावत् रूप में अपनी कृतियों में प्रस्तुत करता गया है। इसकी एक रूपता मोहनजोदड़ों, हड़प्पा, चून्हदड़ों, लोथल, कालीबंगा आदि स्थलों के अवशेषों में प्राप्त होती है। कलाकार का स्वत्व या आत्म, कला में निसृत नहीं हुआ है। यह जो व्यक्ति प्रभाव का तत्त्व है, उस युग की कला में खोजने या समझने से एक यह बात भी सामने आती है कि सभी व्यक्तियों का जीवन सामान्य था। ऐसे युग में व्यक्तित्व की प्रधानता नहीं रही है और न ही ऐसा कोई व्यक्ति ही रहा है जिसका कि व्यक्तित्व राम-कृष्ण या ईसा, बौद्ध, महावीर के समान प्रखर रहा हो अन्यथा उसका कोई न कोई अनुरूपण या प्रतिचित्रण अवश्य ही अनेक भागों में किसी न किसी रूप में प्राप्त होता। यही कारण है कि प्राप्त अवशेषों में कलाकार के मनोवेगों, अनुभवों और उसके दार्शनिक विचारों का अभाव है।

वैदिक युग में चित्रकला का संबंध धार्मिक विधानों के साथ प्रस्तुत हुआ है। ऋग्वेद में चमड़े पर अग्नि का चित्र प्रस्तुत करने का उल्लेख है[2]। तथा 'ऋभु' शब्द हस्त कुशलता निपुणता के अर्थ में आया है। इस तरह के कुशल व्यक्ति वेदिकाओं का भव्य निर्माण करते थे[3]। कुछ के मतानुसार ये व्यक्ति याज्ञिक ही थे जो कि धार्मिक कार्यों में कलात्मक कार्य किया करते थे। इस तरह चित्रों, रंगों का प्रयोग धर्म परक था। यजुर्वेद में 'पुरुष मेघ' के वर्णन में इस तरह की चर्चा है[4]। इस अध्याय में तत्कालीन प्रचलित व्यवसाय, पेशा तथा कला-कौशल का परिचय है। इसका मूल रूप ऋग्वेद का 'पुरुष सूक्त' है। शतपथ ब्राह्मण के एक वर्णन में याज्ञिक को वस्त्रों पर यज्ञ रूपों को काढ़ना, यज्ञ विधा की दृष्टि से आवश्यक बताया गया है[5]। व्यवहारिक क्षेत्र में भी इस युग में गौओं को चिन्हित करने के लिए उन के कानों पर विविध प्रकार के चित्र बनाए जाते ।

इन प्राप्त संदर्भों से कला और कलाकार का यही अनुमान लगाया जा सकता है कि चित्रकला का सामंजस्य धार्मिक विधानों के साथ होने से उसकी प्रतिष्ठा समाज में श्रेष्ठ ही प्रतीत होती है। इसी तरह उसका 'सृजेता' कलाकार भी समाज में उच्च सम्मान प्राप्त था। चित्रकला समाज का एक आवश्यक अनिवार्य अंग था क्योंकि शतपथ ब्राह्मण के अनुसार इसके बगैर याज्ञिक वस्त्र और यज्ञ रूपों का प्रस्तुत किया कार्य अधूरा रहता था[6]। कला धर्म का

---

१. आर्ट एण्ड सिविलाईजेशन : बेरनार्ड एस. मैयर्स : पृष्ठ-११।
२. ऋग्वेद—१:१४५:५।
३. ऋग्वेद—१:५३:४।
४. शुक्ल यजुर्वेद, वाज सनेही संहितां, ३०वाँ अध्याय।
५. शतपथ ब्राह्मण-५, ३, ५, २०,
६. सतपथ ब्रा ५, ३, ५, २०।

अनिवार्य साधन था। इसका स्वतन्त्र अस्तित्व रहा हो इस तरह का कोई आख्यान नहीं मिलता है। अथर्ववेद के कौशिक सूत्र में अवश्य एक प्रकरण मिलता है जिसमें एक प्रेमी अपनी प्रेमिका का निर्माण मिट्टी से मूर्तिरूप में करता है[1]। इस से यह मान सकते हैं कि कला नागरिक जीवन में प्रवेश करने लगी थी।

रामायण कालीन चित्रकला की स्थिति का अनुमान बाल्मीकि रामायण के अंतःसाक्ष्य से होता है। बाल्मीकि ने चित्रकला, वास्तुकला, संगीत, रंगमंच, नृत्य और स्थापत्य कला विषयक पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की है। वास्तव में रामायण का प्रत्येक भाग भारतीय ललित कला के इतिहास की दृष्टि से अत्याधिक महत्त्व का है[2]। रामायण में प्राप्त कला विषयक संदर्भों के पहले तत्कालीन युग की कला की स्थिति जान लेना आवश्यक है। इस समय चित्रकला प्राचीन भारत में अध्ययन की जाने वाली चौसठ कलाओं के अंतर्गत थी। जिन चित्रों का बाल्मीकि ने वर्णन किया है, वे कलाकृतियाँ स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखती थीं। उनका अंकन प्रायः दीवारों, कक्षों, रथों और भवनों के अलंकरण के रूप में ही अधिक हुआ है। बाल्मीकि ने वैसे गीत, नृत्य, वाद्य, चित्र-कर्म आदि ललित कथाओं के लिए कला के अर्थ में 'शिल्प' का प्रयोग अनेक बार किया है। कला का अभ्यास जीवको-पार्जन तथा शौक दोनों ही दृष्टियों से किया जाता था। कला के माध्यम से जीवकोपार्जन करने वाले को 'शिल्पकार' कहते थे। राम 'वैहारिकाव्य शिल्पानां ज्ञाता' थे अर्थात् मनोरंजन के उपयोग में आने वाले संगीत, वाद्य, चित्रकारी आदि शिल्पों से भिज्ञ थे।

साहित्य में चित्रशाला का प्रथम उल्लेख बाल्मीकि रामायण में ही हुआ है। बाल्मीकि ने चित्रशालाओं का बहुवचन प्रयोग किया है[3]। उससे उनका आशय अनेक प्रकार की चित्रशालाओं से है। जैसा कि आगे उनके वर्णनों से स्पष्ट भी हो जाता है। जैसे राजमहलों में स्थित चित्रशाला, व्यक्तिगत चित्रशाला, तथा नगर के मध्य स्थित सार्वजनिक चित्रशाला। एक वर्णन में व्यक्त होता है कि कैकेयी का राजप्रासाद चित्रगृहों से सुशोभित था[4]। हाथियों के मस्तिष्क[5] तथा रमणियों के कपोलों[6] पर सुन्दर चित्रकारी की जाती थी। वीर पुरुष के ध्वजों पर तरह तरह की आकृतियाँ अंकित रहती थीं। राम के आवास भवन में भित्तिचित्रों का वर्णन है[7]। रावण की राजधानी के मुख्यद्वार सुन्दर बेलबूटों से सुशोभित थे[8]। रावण के पुष्पक विमान में स्वर्ण-खिचित चित्रकारी का वर्णन आया है[9]। विमान के स्तंभों पर सुन्दर रमणियों के चित्रांकन हैं। इन रमणियों के नीचे हंसों की उड़ती हुई पंक्ति चित्रित की है जिससे कि विमान की शोभा अगणित बढ़ रही थी। उक्त वर्णन से आगे उसकी भूमि पर पर्वत माला चित्रित है। पर्वतों पर वृक्षावली सुशोभित है। वृक्ष पुष्पों वाले बनाए गए हैं। पुष्पों का केसर और पंखुड़ियों से युक्त चित्रण है[10]। इसी पुष्पक विमान का राम के लंका से लौटते समय पर बाल्मीकि ने पुनः चित्रांकन शब्दों में किया है। उस समय बताया है कि उसमें दृष्टि और मन को सुख प्रदान करने वाले अनेक प्रकार के आश्चर्य जनक दृश्य हैं। विमान की दीवारों पर भक्ति-चित्रों

---

१. अथर्ववेद—३:२५:१:५:६,
२. जार्ज सी. एम. वर्डवुड—दी इंडस्ट्रियल आर्टस आफ इंडियां पाठ-१, पृष्ठ-२५
३. चित्रशाला गृहाणि. ५:६:३६,
४. २:१०:१३, बाल्मीकि रामायण
५ ३:१५:१५, ,, ,,
६. ४:३०:५५, ,, ,,
७. २:१५:३५, ,, ,,
८. ५:२:१८, ,, ,,
९. ६:१२१:२४, ,, ,,
१०. ५:२:१८, बाल्मीकि रामायण।

का अंकन किया गया है[1]। जिस पालकी पर बालि का शव श्मशान भूमि में ले जाया गया है। वह पालकी पक्षियों, वृक्षों तथा अद्‌भुत् पदातियों के चित्रों से चित्रित थी[2]। रावण का शव भी एक ऐसी पालकी से ले जाया गया था जिस में सुन्दर पुष्प चित्रित थे[3]।

रामायण काल तक धातुओं की मूर्तियों का निर्माण होने लगा था। कृशकाय चन्द्रमुखी सीता की तुलना बाल्मीकि ने मय-निर्मित किसी अद्‌भुत स्वर्ण मूर्ति से की है[4]। यज्ञ दीक्षा के निमित्त राम ने सीता की मानवाकार सोने की एक प्रतिमा बनवाई थी[5]। यह बात तो निर्विवाद सभी भारतीय जानते हैं। वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रतिमा वास्तव में अति ही सजीव रही होगी। भरत जब चित्रकूट राम को लौटाने के लिए गए हैं उस समय मार्ग में जहाँ ठहरते हैं उस स्थान के शब्द चित्रण में इंद्रनील मणि की प्रतिमाओं का वर्णन है[6]। राम के आवास गृह में स्वर्ण-प्रतिमाओं का उल्लेख मिलता है[7]।

उपर्युक्त सन्दर्भों से रामायण कालीन मूर्तिकला तथा चित्रकला की स्थिति का सहज अनुमान हो जाता है। बाल्मीकि ने रामायण की रचना में जो भी कला विषयक अभिव्यक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, वे उनके युग से मेल खाती हैं। कवि ने अपने सामयिक समय से जो प्रभाव ग्रहण किए होंगे, उनका प्रतिफलन रामायण में है। अर्थात यह संस्कृति बाल्मीकि के युग की है। बाल्मीकि का समय संस्कृत के आचार्य पाणिनी के पश्चात् और बौद्ध निर्माण के पूर्व, छठवीं से आठवीं ईसवी पूर्व का अनुमानते हैं।

इस युग के सामाजिक कलात्मक अभिरुचि सम्पन्न रहे हैं। सभ्यता और संस्कृति के परिचायक गुणों में, उनमें निपुणता परिलक्षित होती है। उनके सामान्य जीवन की घटनाओं से उनकी कलात्मक अभिरुचि व्यक्त की गई है। रामायण के अनुशीलन से ऐसा बोध होता है कि उस युग के व्यक्तियों में सौंदर्य-चेतना समृद्ध थी। अपने तत्कालीन परिवेश को सौन्दर्यात्मक, मनोरम बनाए रखने में प्रयत्न शील रहा करते थे। बाल्मीक ने बालकाण्ड में जो अयोध्या का शब्द चित्र प्रस्तुत किया है उससे यह स्पष्ट होता है कि अयोध्यावासी कितने सुसंस्कृत, कलाभिज्ञ, सौन्दर्यप्रिय एवं सहृदय नर-नारी थे। वास्तव में यह चित्रण बाल्मीकि के अपने युग का किया है। तत्कालीन नगर उस युग के कला केन्द्र थे। ये केन्द्र प्रायः राजाओं की छत्रछाया में पलते-पनपते थे।

इस युग में कला के अध्येताओं एवं कलाभिज्ञों का समाज में आदर था। कला कर्म केवल हल्का मनोरंजन नहीं समझा जाता था। वरन् वह व्यक्ति की कठिन आत्म साधना होती थी। प्रायः कलाकार का कर्म हृदय कला संप्रेषण में धर्म से प्रेरित होता था। बाल्मीकि के स्वयं के एक संदर्भ से जबकि वे राम कथा पर अपनी लेखनी प्रारम्भ करने वाले थे, तब अपनी आत्म शुद्धि की थी और योग समाधि द्वारा का ध्यान किया था[8]। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कलाकार को अपनी कृति सर्जना के पूर्व अपने विषयवस्तु से पूर्ण तदाकार हो जाने के लिए योग समाधि अभिप्रेत रही होगी। अर्थात् कलाकार अपनी चित्रित की जानी वाली वस्तु का अपनी कल्पना के भीतर पहले ध्यानस्थ

---

१. ६:१२१:२४, ,, ,,
२. ५:७:७-६, ,, ,,
३. ७:१५:३८ ,, ,,
४. ४:२५:२२ ,, ,,
५. ६:१११:१०६ ,, ,,
६. ६:१२:१४ ,, ,,
७. ७:६६:७ ,, ,,
८. १:३:२-७, बाल्मीकि रामायण।

होकर भव्य रूप अंकित कर लेता था, तब कहीं उसका चित्रण प्रारम्भ करता था। इससे यही व्यक्त होता है कि कला धर्म चतुष्टय की परम साधना थी और कलाकार एक साधक था। हालांकि रामायण में कहीं भी किसी कलाकार या शिल्पी का कोई सन्दर्भ नहीं आया है। नल और नील दो शिल्पियों के उल्लेख अवश्य हैं जो कि वास्तु शास्त्री हैं प्रवीण थे तथा जिनकी सहायता से राम ने पुलों का निर्माण कर सेना को समुद्र पार किया। नल-नील अनार्य थे। रामायण में अनार्यों को राक्षसों का सम्बोधन दिया गया है। उस समय यह पराजित जाति रही है जो कि कला कुशल थी और चूंकि अनार्य थी इसलिए इनका उल्लेख महत्ता से परे रहा प्रतीत होता है। या इससे इतर इस बात का अनुमान लगता है कि कलाकार का अस्तित्व सर्व-सामान्य-स्थापत्य-कमकारों की ही श्रेणी में रहा है। कला सम्मानित थी और कला का प्रणेता एक सामान्य सामाजिक था।

महाभारत में ध्वजाओं, पताकाओं का इन्द्रधनुष के समान रंगे जाने का उल्लेख है[1]। द्रौपदी के स्वंयवर के स्थल पर भूमि पर एक विशाल शिशुमार का चित्रांकन किया जाता है, तदनुसार ही आगुन्तकों को आसन दिए जाते हैं[2]। इससे ऐसा व्यक्त होता है कि बड़ी सभाओं में आगुन्तकों को बैठाने लिए ज्यामिति का सहारा तो लिया ही जाता था पर साथ ही विविध चित्रांकन की भी प्रणाली थी। युधिष्ठिर का रंगमहल चित्र और शिल्प की दृष्टि से अद्वितीय था। दुर्योधन उस भवन में जलस्थलों का निर्णय नहीं कर सका था। महाभारत में किंचित-क्वचित कलात्मक पट-कार्यों की चर्चा प्राप्त होती है[3]। वास्तु निर्माण के संदर्भ में इन्द्रप्रस्थ के निर्माण में हिडिम्बासुर नामक भीम के सम्बन्धी राक्षस कुल के शिल्पी से सहायता ली गई थी। वही इस नगर के निर्माण करने वाला मुख्य वास्तु-शिल्पी था। इससे यह स्पष्ट होता है कि जो स्थिति रामायण काल में शिल्प कला की थी उससे कुछ आगे ही विकास हुआ था। अनार्य अपनी विद्या में दक्ष्यता बनाए हुए थे तथा आर्य शनैः-शनैः दीक्षित होते जा रहे थे। ऐसा इसलिए कि लाखागृह विदूर ने निर्माण कराया था जो कि अपने ढंग का था। तथा विदूर ही उसके शिल्पी थे। ये सब जाने माने तथ्य हैं। एकलव्य द्वारा गुरु द्रोणाचार्य की मिट्टी की प्रतिमा बनाना, अर्जुन की बाज परीक्षा में लोहे के सुआ को निशान बनाना, इसके उद्धरण हैं। उषा की सखी द्वारा उषा को भारतवर्ष के सुन्दर युवकों के सुन्दर व्यक्ति-चित्र बनाकर दिखाना चित्रकला के चरमोत्कर्ष का प्रतीक है।

बौद्ध युग में बौद्ध साहित्य के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि चित्रकला सार्वजनिक रूप ले चुकी थी। कुम्भकारों द्वारा निर्मित बर्तनों पर विविध आलेख्य तथा चित्रांकन होता था। माली अपनी पुष्प मालाओं में लघु-पुष्प चित्रों को रूपाविष्ठ करते थे। बांस का कार्य करने वाले धानक (बसफोड़ा), पंखों पर सुन्दर चित्रों का निर्माण करते थे[4]। राजाओं के रथ रामायण काल में प्रस्तुत पुष्पक विमान के चित्रण सदृश्य, चित्रित हुआ करते थे[5]। हास्य विनोद के अवसरों पर चित्रांकन हुआ करता था। कुछ चित्र स्वयमेव मनोरंजनात्मक हुआ करते थे तथा कुछ चित्रांकन मनोरंजन के लिए होता था[6]। नित व्यवहार में आने वाले सूती वस्त्रों पर फूलों, वृक्षों, पशु-पक्षियों के चित्र बनाए जाते थे। उनसे बनाए हुए वस्त्रों पर भी चित्रांकन का प्रचलन था। भिक्षुओं के कमण्डलों के अधोभाग प्रायः रंग युक्त हुआ करते थे। घरों को दीवाली पर चित्रकारों द्वारा विविध चित्रांकित कराया जाता था। इस तरह का चित्रांकन

---

१. महाभारत-द्रोण पर्व १०५-७।

२. महाभारत आदिपर्व, १८४, १६।

३. महाभारत द्रोणपर्व-२३, ६७।

४ धम्मपद—जरावग—६,

५. चुल्ल वग—१ : १३ : २,

६. कुश जातक—पृष्ठ—५३१

बहुधा घर के व्यक्ति भी कर लिया करते थे। इसके अतिरिक्त व्यवसायी चित्र बनाने वालों द्वारा भी चित्रांकन कराया जाता था। बिहारों की दीवालों पर भिक्षु-माला लता तथा तथागत के चित्र आदि को, बनाने का कार्य पेशेवर चित्रकार ही सम्पन्न किया करते थे[1]। राजकीय चित्रशालाएँ अपना विशेष स्थान रखती थीं। जनता के चित्रागार अलग हुआ करते थे[2]। उम्मग जातक में चित्रकला का वर्णन विशेष रूप से मिलता है। इसमें सभा मण्डपों एवं राज प्रसादों के चित्रों की चर्चा है। एक स्थल विशेष के लिए लिखा है कि चतुर चितेरों ने उसमें इन्द्र के वैभव, सुमेरू मण्डल, समुद्र, चारों महाद्वीप, हिमालय, अनवतप्त, सूर्य चन्द्रमा, चारों दिकपाल, सरोवर एवं सातो भवनों के चित्र बनाए थे।

इस तरह के प्राप्त आधारों से ज्ञात होता है कि चित्रकला धार्मिक विधानों के साथ ही साथ जहाँ राजकीय पुरुषों से सम्बन्धित थी, वहाँ वह धीरे-धीरे नागरिक जीवन में प्रवेश कर रही थी। इस काल में चित्रकला स्वतन्त्र अस्तित्व में आ चुकी थी। पेशेवर चित्रकार इसके प्रतीक हैं। आम घरों में चित्रांकन का प्रचलन चित्रकला की नागरिक बहुव्याप्ति है।

मौर्यकाल के पूर्व से ही कला की स्थिति अनुमानते आ रहे हैं। इस समय तक कलाएँ नागरिक जीवन का आवश्यक अंग बन चुकी थीं। आगे आने वाले कालों में कला का स्वरूप क्रमशः निखरता जाता है। इस युग के स्त्री-पुरुषों में कला-चेतना प्रगाढ़ रूप से मिलती है। सौन्दर्य के अन्वेषण की तीव्रतम संवेदनाएँ उनकी अभिव्यक्तियों में है। इस काल में एक इस तरह की समृद्ध नागरिक सभ्यता का विकास हुआ जो कि सृष्टि और रक्षण करती थी। यह स्वरूप सम्मान की दृष्टि से विशेषता लिए हुए है। इस समय की मूर्तिकला अपने में रम्य और प्रशंसनीय है। इस समय की चित्रकला के विशेष प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु इस काल की निर्मित मूर्तियां अपनी विधा में चित्रकला से संबंध रखतीं हैं जो कि अपने सर्वोच्च आदर्श में है। इस युग की मानव-मूर्तियों का प्रथम परिचय यक्ष और यक्षिणियों की विविध स्थानों में प्राप्त मूर्तियों से मिलता है। कला का दूसरा रूप शासकीय था जिसमें विशाल स्तंभों, स्तूपों, का निर्माण हुआ। सारनाथ का सिंह, रामपुरवा-बैल इस समय की कला के प्रसिद्ध उद्धरण है। (चित्रफलक-१) का गया के पास पहाड़ियों में आजीवन निवास हेतु साधुओं के लिए गुफाओं का निर्माण कराया। अशोक की इन कृतियों से उस समय की कला का परिचय मिलता है। इस युग की विविध मृण मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं। इन उपलब्धियों से तत्कालीन चित्रकला का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। कला का राजकीय स्वरूप अति प्राञ्जल था तथा इसके साथ ही सामान्य जीवन में भी उसका स्थान था।

मौर्यों के उपरान्त ईसवी पूर्व दूसरी सदी में आमूदरिया के तट से बैक्ट्रिया के नए ग्रीक केन्द्र से भारत पर हमले हुए। देमेत्रियस ने पाटलीपुत्र तक धावा किया। इसकी पुष्टि युगपुराण के 'धर्मभीत' और खारवेल के शिलालेख 'दिमित' से हो जाती है। तत्कालीन वैयाकरण पतंजलि के 'अरुणद यवनः साकेतम् अरुणद यवनो मध्यनिकाम' आदि अंतसाक्ष्यों से यवनों का मगध पर आक्रमण माना गया है। इस काल में पाटलीपुत्र और उत्तर भारत में अत्याधिक नर संहार हुआ है। फिर भी ऐसी स्थिति में प्रस्तर कला का विकास होता गया। भारहुत, सांची, बोधगया इसके प्रतीक है।

ईसवी सन् आरम्भ होने के कुछ पूर्व से ही शकों ने भारत पर हमले किए। इनका क्रूर नेता अम्लाट' भारत की राजधानी पाटलीपुत्र तक पहुँचा और उसके द्वारा किए हुए नर संहार का आंखों देखा वर्णन 'युग पुराण' ने किया है। युग पुराण में इस तरह कहा गया है कि "नगर और प्रान्त पुरुष विहीन हो गए थे। सभी जगह नारियां ही शेष थीं। वे ही प्रायः सारे कार्य—हल जोतने से लेकर राजकीय कार्य तक करती थीं। पुरुष देखने को नहीं मिलता था। प्रायः बीस-बीस नारियां एक पुरुष से विवाह करतीं थी।" ऐसी स्थिति में भी कला के स्वरूप मथुरा कला की

१. महावग्ग—५।१०।३, ८।६, तथा ५।६।

२. चुल्लवग्ग—६।३।२।

भांति प्रौढ़ होता ही गया।

पुष्पमित्र के पौत्र वसुमित्र ने ग्रीकों को सिन्धु के उस पास तक खदेड़ दिया। साथ ही पुष्पमित्र ने बौद्धविहारों द्वारा प्रवृत्त अनाचार व उनकी अराष्ट्रीयत्र भावना से त्रस्त होकर उनका अन्त कर दिया तथा पुनः ब्राह्मण धर्म की स्थापना की। इसी काल में जीवन को आनन्द मय बनाने वाले महत्त्वपूर्ण शास्त्रों का प्रणयन हुआ। मनुस्मृति वर्णाश्रम धर्म का प्रमुख शास्त्रग्रन्थ, का सृजन हुआ। वात्सायन का कामसूत्र, भरत का नाट्य शास्त्र, इसी युग की देन है। काम सूत्र में गिनाई गई चौसठ कलाओं में चित्रकला भी है। अश्वघोष, भास, शूद्रक जैसे नाटककार, इसी युग के हैं। मौर्यकाल के समान इस युग में भी मिट्टी के ठीकरे प्रचलित थे। ये ठीकरे पहले की अपेक्षा अधिक सुघढ और विषय की दृष्टि से व्यापक भी थे। भास के प्रतिज्ञायौगंधरायण का एक ठीकरे पर दर्शाया गया है। वस्तु रूप में उदयन, उज्जयनी के राजा चण्डप्रदोत की पुत्री वासवदत्ता को हाथी पर चढ़ा कर ले भागा। ठीकरे पर प्रस्तुत चित्र इस तरह है। तेज गति से भागता हुआ हाथी, उस पर उदयन और वासवदत्ता मध्य स्थित हैं। आगे महावत हाथी को अधिक तेज भगाने के लिए अंकुश का प्रहार कर रहा है। सैनिक उदयन का पीछा कर रहे हैं। उनका ध्यान बटाने के लिए उत्कोच रूप में स्वर्ण मुद्राओं को हाथी के पीछे बैठा हुआ फेंक रहा है।

इसके अतिरिक्त भी इस काल में खिलौनों की भरमार थी। इस युग के हजारों ठीकरें व खिलौने देश के विभिन्न वस्तु संग्रहालयों में रखे, दर्शनीय हैं। सुन्दर से सुन्दर जानवर, पक्षी और जलजन्तु अपनी समूची आकृति में गोले ढाले हैं। इनके अग प्रत्यंग भरपूर कौशल से सांचे में से ढल कर निकले हैं। इस काल में उड़ीसा के उदयगिरि, खण्डगिरि में तथा दक्षिण पश्चिम में भांजा, कालि आदि में अनेक गुफाएँ खोदी गई। अजंता की अनेक गुफाएँ इसी काल की हैं[1]। सांची स्तूप की रेलिंग, तोरण का निर्माण आदि इसी युग में हुआ[2]। इस युग के साहित्य में भी चित्रकला के संदर्भों का यथेष्ट आयाम हुआ है। भास ने अपने नाटक प्रतिज्ञायौगंधरायण में, उदयन और वासवदत्ता के भाग जाने पर उनका विवाह सस्कार उन दोनों के चित्र बनाकर सम्पन्न किए गए हैं[3]। इसी काल में रचित पतंजलि के महाभाष्य कृष्ण लीला में कंसवध के चित्रो के प्रदर्शन का उल्लेख मिलता है[4]। 'दूतवाक्य' में जब भगवान कृष्ण कौरवों के यहाँ संधि का प्रस्ताव लेकर जाते हैं तो इनके पहुँचने के पूर्व दुर्योधन द्रौपदी चीर हरण मगांकर देखता है तथा उस चित्र का विश्लेषण करता हुआ प्रशंसा करता है। भरत-नाट्य-शास्त्र में चित्रकला के विषय में कहा है कि स्थायी नाट्य शालाओं की दीवारें चित्रों से अवश्य भूषित होनी चाहिए। दोवाल को सजाने के लिए पुरुष, स्त्री और लताबन्ध के चित्र होना आवश्यक माना गया है[5]। लताबन्ध में कमल और हंस अवश्य अंकित होते थे क्योंकि कमल और हंस को गृह की समृद्धि का हेतु समझा जाता था। इस युग में ऐसा प्रतीत होता है कि चित्र और नाट्य को परस्पर का मंगल जनक माना जाता था। आगे चल कर यह तो मान्य ही रहा है कि भारतीय नाटकों का एक प्रधान उपादान चित्र-कार्य भी था।

इसी समय दक्षिण में सातवाहनों की छत्रछाया में कला को श्लाघनीय योगदान मिला। सातवाहनों के प्राप्त लेखों से इस बात का पता चलता है कि चैत्य मंदिरों, गुफाओं के निर्माण में जन-कल्याण के साथ ही जन-साधारण का सहयोग होता था। सातवाहन राजा 'हाल' स्वयं एक कवि था। इनका 'गाथा-सप्त-सती' संस्कृत का प्रसिद्ध

---

१. अजन्ता द्वारा देबला मित्रा पृष्ठ-५।

२. साँची „ „ पृष्ठ-५।

३. नागरी प्रचारणी प्रति, १६८-१७५।

४. कीथ—हिस्ट्री आफ ड्रामा, पृष्ठ-२८।

५. नाट्य शास्त्र—२।८५।८६।

ग्रन्थ हैं। गुणाढ्य की प्राकृत में बृहत्कथा इसी युग की देन है। कला के सम्बन्ध में अजंता का नववीं दशवीं गुफा में प्रायः इसी समय चित्र है जो कि खण्डित अवस्था में प्राप्त है। ये चित्र गुप्त कालीन मूर्तियों के समान सजीवता लिए हुए हैं। पर सुघड़ता का अभाव स्पष्टता से परिलक्षित होता है। मुद्राओं के चित्रांकन में गुप्तकाल के चित्रांकन से हल्की बैठती है।

इस युग की विशेषता में यह स्पष्ट देखते हैं कि भारतीय सभ्यता संस्कृति बाह्य हमलों से ग्रस्त-व्यस्त-त्रस्त तो हुई ही साथ ही आक्रान्ताओं की सभ्यता और संस्कृति से प्रभावित हुई। क्योंकि इन लम्बे समयों में इन ग्रीकों ने अपने नगर बसाए तथा इन नगरों में अलग-अलग उपनगर बसाए। इन नगरों में ग्रीकों ने अपने खेल खेले, अपने नाटक खेले और अपनी कला सँवारी। धीरे-धीरे जब वे यहाँ की संस्कृति से प्रभावित हो चले तब फिर उन्होंने अपनी कला की शैली को यहाँ कथाओं के आधार पर प्रस्तरों पर प्रस्तुत की गंधार शैली इसी तरह की शैली है। गन्धार शैली का उदय गन्धार प्राप्त में हुआ इसलिए यह गन्धार शैली कहलाती है। इसका चरम विकास इसकी सदी के लगभग कुषाण काल तक हो गया था। शकों ने भी आकर सिन्ध, तक्षशिला, मथुरा, उज्जैन और महाराष्ट्र को प्रभावित किया। इसका प्रतीक इनका प्रचलित शक संवत् है जो कि राष्ट्रीय विक्रम संवत् से भी पवित्र माना जाता है। जिसका उपयोग पत्रों, पंचागों और जन्मपत्रियों में होता है। सूर्य की पूजा इन्हीं शकों द्वारा चलाई मानी जाती है। मथुरा वास्तु-संग्रहालय में रखी सूर्य की मूर्ति, वेषभूषा में सलवार, अचकन और घुटनों तक बूट और ईरानी पगड़ी पहिने हाथ में खंजर लिए, शक सभ्यता का द्योतन करती है। कुषाण भी इस देश में आकर भारतीय हो गए। कनिष्क के बौद्ध धर्म स्वीकारने के उपरान्त, गंधार शैली में बौद्ध मूर्तियों का निर्माण हुआ। इस युग की मूर्तियों तथा जैन, बौद्ध स्तूप, कला की दृष्टि से आज अपनी खण्डित भग्न अवस्था में भी दर्शक को आश्चर्यान्वित करते हैं। गंधार शैली का पोषण वास्तव में कनिष्क के सपय में ही हुआ। पहले की जो मूर्तियाँ यूनानी कला से प्रभावित होती थीं, जैसे बुद्ध के केशों का ग्रीक नुमा होना, मूर्तियों के वस्त्रों की चुन्नट आदि, इसके स्पष्ट प्रभावित गुण हैं। ये गुण भी कुषाण काल में भारतीय हो चले थे। इस काल में मूर्तियों आदि की बहुलता और सुघड़ता को देखते हुए चित्रकला का अनुमान लगाया जा सकता है। इस युग की चित्रकला का कोई अवशेष मिला नहीं है और मिलने की गुन्जाईश भी नहीं है। हाँ इस युग की मूर्ति कला तथा प्राप्त बर्तन तथा भवनों के खण्डित अनुमानित स्वरूपों का आधार लिया जा सकता है। इस युग में मूर्तिकला का प्रसार समस्त मध्य एशिया, दक्षिणवर्ती द्वीप आदि तक में था, तो उसका एक समानांतर अंग चित्रकला का भी होना चाहिए।

इस दीर्घ समय की कतिपय शिल्प रीतियां, और बाह्य प्रभाव भारतीयता में समाविष्ट होते गए। ग्रीक, पल्लव, शक, कुशाण, सभी भारतीय रूपों में परिणित हो गए। इसके प्रभाव और रूप, अमरावती, अजंता, विदिशा, मथुरा आदि के केन्द्रों में प्राप्त प्रस्तर अभिव्यक्तियों में तत्कालीन व्यक्तियों के रहन-सहन, गृह तथा वस्त्र-विन्यास, प्रसाधन, अलंकार, अस्त्र-शस्त्र, मनोरंजन, नृत्य, संगीत राजकीय ऐश्वर्य और भोगविलासीय दृश्यों में, दृष्टव्य है।

इस काल में संस्कृत भाषा साहित्य और कला विकास चरम की सीमा तक हुआ। व्यापार, उद्योग आति की उन्नति से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि इस काल में साम जिक जीवन सुखी था जोकि प्रकारान्तर से कला-साहित्य का प्रेरक रहा। कालिदास, विशाखदत्त, वररुचि, बराहमिहिर, वत्स, भट्टि, अमरसिंह जैसे विद्वान् हुए और राजाश्रित रहे। सुबन्धु, असंग, दिंगनाग, जैसे बौद्ध दार्शनिक हुए। धन्वंतरि, ब्रह्मगुप्त जैसे विशेषज्ञ पण्डित हुए। कला की दृष्टि से भरहुत, बोधगया, साँची के स्तूप के तोरण आदि का अद्वितीय कार्य प्रस्तुत हुआ। अजंता बाघ, एलोरा, की चित्रकला जगत प्रसिद्धि है, इनकी खूबसूरती, ताजगी, सजीवता और भावों की अभिव्यक्ति अनोखी है।

इस काल के भवन, आज अपनी खण्डित अवस्था में भी प्रेयस हैं। देवगढ़ और भीतर के मंदिरों की मूर्तियां असाधारण शारीरिक सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध है। देवगढ़ के मंदिर में गजेन्द्र मोक्ष के दृश्य को जिस सजीवता के साथ

प्रस्तुत किया है वह चित्र में देखा जा सकता है (चित्र फलक-५)। भीतर मंदिर की विभिन्न प्रणाली के फूलदार साचों में ढली ईंटे, दो-दो फुट लम्बी-चौड़ी रामायण-महाभारत के आख्यानों को व्यक्त करने वाली प्रतिमाएँ, अपनी दूसरी सानी नहीं रखतीं। एक से एक सुन्दर देव आकृतियाँ प्रस्तरों में प्रस्तुत की गई हैं। इन अभिव्यक्तियों में पिछली पीढ़ी के बाह्य संस्कार प्रायः एकदम भारतीय हो गए हैं। मूर्तियों के घनावृत्त केशराशि बृषम स्कंधों का स्पर्श करती है। कुर्किहारी—धातु-प्रतिमाएँ, कुतुब-समीप विक्रमादित्यीय-लौह-लाट धातु-ढलाई के नेपुण्य की प्रतीक है। इस काल की कला और संस्कृति ने लंका, बर्मा, अनाम, कम्बुज, सुमात्रा, जावा, बाली, बौनियो, कोरिया, जापान, मंगोलिया, चीन को न केवल प्रभावित ही किया वरन् सदा सदा के लिए अभिभूत कर लिया। अजंता और ऐलोरा के सदृश्य अनेकों गुफाएं तान्हुआंग में खोदी गई। जापान न होरिउजी के मंदिर में अजंता के अनुरूप चित्रण हुआ। तुर्किस्तान का खेतान प्रदेश तत्कालीन भारतीय चित्रकारिता के ऋणी है।

इस युग की चित्रकला दो रूप से प्राप्त होती है। प्रथम तो यह आत्म रूप में अजंता, एलोरा, बाघ की गुफाओं में उपलब्ध है। दूसरा यह कि तत्कालीन साहित्यिक व काव्य कृतियों में अंतसॉक्ष्य के रूप में है।

भारतीय चित्रकला का ऐतिहासिक प्रारूप अजंता की गुफाओं से उपलब्ध होता है। यहाँ की नवीं और दसवीं गुफा की चित्रकला ईशवी पूर्व पहली से दूसरी सदी तक की मानी जाती है। दशवीं गुफा के स्तंभों का चित्रांकन चौथी शताब्दी ईसा-उपरान्त मानते हैं। सोलहवीं और सत्रहवीं गुफा का चित्रण पांचवीं शताब्दी का है। यहाँ बिहार और चैत्यों का उन्नीस गुफाओं के रूप में निर्माण हुआ है। इन चैत्यों और बिहारों में दीवालों, छतों और स्तंभों पर के सर्वत्र स्थानों को चित्रण योग्य बनाकर चित्रण के विषय तत्कालीन महाकाव्यों के नायकों तथा अन्य पात्रों पर आधारित है। इन चित्रों के मुख्य नायक गौतम बुद्ध हैं। इनका समस्त जीवन चरित्र चित्रित करने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही बोधिसत्व संबधी पूर्ण जन्म की कथाओं को भी चित्रित किया गया है। इस तरह के चित्रण के समानान्तर ही तत्कालीन लौकिक महत्वपूर्ण घटनाओं के भी चित्र मिलते हैं। इन चित्रों के साथ ही इनकी पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने वाले परिचायक चित्रों का भी अंकन हुआ है।

इन चित्रों में नगर के राज भवनों से लेकर गाँवौ की कुटिया, अरण्यों की गहराई-गहन-गरिमा से लेकर मरु भूमियों की शून्यता, सागर, नदी, पर्वत, चंद्र-सूर्य, वन, उपवन, तड़ाग, लता, वनलता आदि सभी चित्रों के वर्ण्य विषय हैं। इन चित्रों में एक प्रकार से सार्वकालिकता और सार्वजनिकता है। इस युग के कलाकार जीवन और जगत के सफल अध्येता रहे हैं। इन कलाकारों के उदात्त जीवन दर्शन ने ही चित्रों को कला के श्रेष्ठ उत्तम गुणों से अनुप्राणित करके उसे वास्तविक मानव जीवन के निकट प्रस्तुत किया है। तूलिका की संतुलित गति से मनोमुग्ध कारी बाला के अंग-प्रत्यगों का भाव-पूर्ण प्रस्तुतीकरण है। बाहुओं की लोचभरी सरलाकृतियाँ, भोहों की बल-भरी रेखाएँ, रस और भाव की संप्रेषक हैं। नाट्य शास्त्र में वर्णित आंगिक-मुद्राओं और भाव-प्रवणता का प्रत्यक्षीकरण, इन चित्रों के माध्यम से हो जाता है।

अजंता के ही सदृश्य बाघ, बादामी, सित्तन्नवासल की गुफाओं के चित्र हैं। इन चित्रों का निर्माण छठवीं सातवीं शताब्दी तक हो चुका था। ये चित्र अजंता की चित्रकला के ही सदृश्य गुफाओं की दीवाली पर चूने की पलस्तर पर चित्रित किए गए हैं। इन गुफाओं में निर्मित भित्ति चित्रों के कौशल का अंदाजा सहज ही इस तरह लग जाता है कि चित्र बनाने के आधार यहाँ पत्थर है। इन पर चूने और गारे का महीन पलस्तर चढ़ाया गया है। इन चित्रों में रंग की ऐसी बहार है कि हजारों वर्ष बाद का प्रेक्षक देखकर अवाक् रह जाता है। इन चित्रों में कई प्रकार के रंगों का प्रयोग किया गया है। चित्र केवल रेखाओं के भी है तथा रेखाओं में रंग भर कर भी बनाए गए हैं। भराव और उठाव में छाया-प्रकाश की प्रणाली प्रयुक्त है। रंगने के लिए धातुराग, कुंकुम, हरिताल, नील, रजावर्त, कज्जल, खड़िया, गैरिक, काम में लाए गए हैं।

इस युग की चित्रकला का आभास दूसरी तरह से इस युग में रचित काव्य एवं साहित्यिक कृतियों में संदर्भ और वर्णन दो रूप में प्राप्त होता है। संस्कृत नाटकों में प्रायः नायक या नायिका अपने विरह की प्रगाढ़ वेदना को प्रिय के चित्र बनाकर हल्का करती है। मृच्छकटिक की गणिका बसन्तसेना चारुदत्त का चित्र बनाती है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् का नायक दुष्यन्त विरही विदग्ध स्थिति में शकुन्तला का चित्र बनाता है। रत्नावली में चित्रफलक द्वन्द्वात्मक संघर्ष का प्रेरक रहता है। उत्तर रामचरित में राम जानकी अपने युवाकाल में चित्रों को देख मनोविनोद करते हैं। मुद्राराक्षक में मँगतों का जीवन की अस्थिरता को दर्शाने वाले चित्रपट लेकर घूमने का वर्णन है। अजंता की सत्रहवीं गुफा में भी इसी तरह नग्न मुस्तण्ड़े मंगतों (क्षपणकों) के दल का चित्रण है।

कालिदास की कृतियों में चित्रों का अनंत उल्लेख आया है। छतों या मुण्डेरों के चित्रण की चर्चा है।[1] रघुवंश में ध्वस्त अयोध्या के चित्रण में कवि प्रस्तुत करता है कि यहाँ के चित्र इतने सजीव थे कि उन्हें वास्तविक हाथी समझकर विध्वस्तावस्था में रहने वाले सिंहों ने अपने तेज नाखूनों से उनका कुम्भ स्थल विदीर्ण कर दिया था।[2] शकुन्तला का चित्र देखकर मिश्रकेशी शकुन्तला की सखी ने अनुभव किया था कि मानो उसकी सखी सामने खड़ी है।[3] कहीं-कहीं कालिदास ने चित्रगत दोषों को भी प्रस्तुत किया हैं। मालविकाग्निमित्र में वास्तविक मालविका को देखकर राजा ने चित्र में वर्णित रूप के प्रति पहले ही शंका की बात कही थी कि ऐसा प्रतीत होता है कि चित्रकार की समाधि ही शिथिल हो गई थी। चित्रकार ने चंचल चित्र से चित्र का निर्माण किया है। इसी के छठे अंक में कालिदास ने चित्र-गत आवश्यक गुणों का भी उल्लेख किया है। इसी नाटक के एक अन्यत्र प्रसंग में चित्रशाला संगीतशाला का ही एक भाग होता है। वहीं एक प्रकार की कला-वीथिका थी जहाँ चित्र देखने व सूखने के लिए टांगे जाते थे। वहीं रंगों को भी तैयार किया जाता था। कालिदास के लिए प्रयुक्त सामग्री के लिए शलाका, वर्तिका, तूलिका, लम्बूकूर्च, चित्रफलक, वर्ण, राग आदि शब्दों का प्रयोग किया है।

गुप्त काल के अंतिम चरण तक कला अपने विभिन्न रूपों और शैलियों में अभिव्यक्त होने लगी थी। इस वैभिन्न के मूल में स्थानगत विशेषताएँ और वहाँ का विशेषिक वातावरण का प्रभाव है। सबसे पहले चित्रकला का वह रूप प्राप्त होता है जो सर्वाधिक प्रचलित रहा है। इसके अंतर्गत मौर्यकाल, शुंगकाल और परवर्ती कालों में बनते हुए मिट्टी के ठीकरे, खिलौने, मिट्टी की मूर्तियाँ, मिट्टी के बर्तनों पर बने हुए चित्र हैं। दूसरी बात यह देखते हैं कि जो महाभारत युग से ही वस्त्रों को रंगने की प्रथा मिलती है वह इस युग तक आकर एक निश्चित विकसित रूप ले चुकी थी।[4] इस काल तक वस्त्रों पर उत्तम चित्रों की रचना की जाती थी। कथाएँ भी पट पर चित्रित होती थीं। इस तरह का किया गया चित्र कर्म व्यवसायिक कला की श्रेणी में आता है। यह कार्य करने वाले पेशेवर खानदानी व्यक्ति होते थे जिनका जीवन-यापन का यही साधन होता था।

दूसरी चित्रशैली में भित्तिचित्र लिए जा सकते हे। इस तरह के चित्र प्रस्तर दीवालों पर अजंता, बाघ, बादामी' सेत्तन्नवासल, ऐलोरा आदि में उपलब्ध होते हैं। इनकी पृष्ठ भूमि बज्रलेप और चूने की पलस्तर से तैयार की गई है। उस तैयार पृष्ठ भूभि पर बौद्ध आध्यात्मक कथाओं को चित्रित किया गया है। इन चित्रों को विशेषता यह है कि इनमें दार्शनिक भावनाएँ सविशेष समुन्नत रूप में दृष्टिगोचर होती है। यह चित्र शैली बुद्ध के निर्वाण के प्रति प्रेक्षक को आकर्षित करती है अतएव इस भित्तिचित्र शैली को मोक्ष-मार्गी चित्र शैली की संज्ञा से अभिहित किया गया है।

---

१. मेघदूत—२।१२, अ. श. ४।५।

२. रघुवंश—१६।१६।

३. अभिज्ञान शाकुन्तलम्—१०३।

४. द्रोण २३, ६७।

तीसरा रूप चित्रकला का ज्यामिति पर आधारित मिलता है। इस तरह के ज्यामिति पर आधारित चित्र बाघ, अजंता की गुफाओं में मिलते हैं। इस शैली को ज्यामिति चित्रशैली की संज्ञा है।

चौथे तरह के चित्रों में नागरिक जीवन व्यक्त मिलता है। इसमें प्रसाधन चित्रों की गणना की जा सकती है। इसके साथ वे चित्र जिनमें स्वतंत्र रूप से जीवन व्यापारों को चित्रित किया गया है। इस तरह के चित्रों की, गुफा-चित्रों में एवं काव्य वर्णित चित्र-उल्लेखों में बहुलता है। इसमें नागरिक जीवन की अभिव्यक्ति के कारण इसे नागरिक चित्रशैली का संबोधन दिया है।

पाँचवाँ रूप रेखाचित्रों का प्राप्त होता है। रेखाचित्रों का प्रचलन आज भी किसी न किसी रूप में कम नहीं है। ये रेखाचित्र इस तरह के हैं जो कि चित्र निर्माण के पूर्व प्रारूप स्वरूप तैयार किये जाते रहे हैं तथा जिनकी पूर्ण अभिव्यक्ति की सत्ता को देखकर यथावत रहने दिया है। आगे चल कर इसका प्रचलन बढ़ गया है। इन को रेखाचित्र ही कहेंगे।

चित्रशैली के संदर्भ में तिब्बत के सत्रहवीं शती के इतिहासकार तारानाथ लाभा का उल्लेख देश भेद के आधार पर तीन तरह से है—देवशैली, यक्षशैली, और नागशैली। तारानाथ के अनुसार बुद्ध निर्वाण के समय से ई० पू० तक देवशैली प्रचलित रही, इसके उपरान्त यक्षशैली का प्रवर्तन हुआ। नागरशैली नागार्जुन के समय से प्रचलित हुई। इस संबंध में मेरा कहना यह है कि उपरोक्त विद्वान् ने मूर्तिकला को ध्यान में रखकर इस तरह का शैली विभाजन किया है। क्योंकि जिस तरह से तारानाथ ने समय का विभाजन किया है वह प्रस्तर मूर्तियों पर आज भी सही घटित होता है। अतएव उनका विभाजन चित्रकला शैली पर लागू नहीं होता है।

इतिहास में गुप्त साम्राज्य के बाद से १२०० ई० सन् तक मध्यकाल के नाम से जाना जाता है। इस काल की सबसे महत्वपूर्ण घटना है राजपूतों का उदय होना। इसमें प्रतिहार, परमार, चौहान, चन्देल, कछवाहा, गड़हवाल, चालुक्य, राष्ट्रकूट, आदि राजपूत राज्यों का उदय हुआ। इन राजपूत राज्यों के शासक वीर प्रतापी और यशस्वी थे। इस काल में राजनीति में परिवर्तन हुआ। फलतःजनपदी की प्रजातांत्रिक व्यवस्था का अंत और निरंकुश शासन की एक तंत्रीय व्यवस्था चली। इस व्यवस्था की सबसे बड़ी कमजोरी थी उसकी एक व्यक्ति की शक्ति पर निर्भरता। अतएव जब तक राजा शक्तिशाली है तभी तक राज्य सुरक्षित था। गुप्त साम्राज्य के अंतिम शासक शक्तिशाली नहीं थे अतः उनका साम्राज्य टूटते देर नहीं लगी। हर्षवर्धन ने थानेश्वर से भारतीय साम्राज्य को संगठित करने का प्रयत्न किया, पर विफल रहा। इसके उपरान्त देश अनेक स्वतंत्र राष्ट्रों में बट गया। इनके शासक राजपूत राजा ही थे। इन राजपूत राजाओं का युद्ध ही जीवन था। अनवरत युद्धों के कारण वातावरण में युद्धों का उद्‌घोष होता ही रहा।

राजनैतिक उलटफेरों और बाह्य आक्रमणों का प्रभाव निश्चित रूप से भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर पड़ा। बाह्य संस्कारों के बलात् क्रमण से जहाँ सामाजिक सजग हुए वहीं वह सजगता नियमों की कठोरता बन, परस्पर अलगाव का कारण बनी। वर्गों, पेशों और स्थानों के आधार पर वर्षों की व्यवस्था दृढ़ होती गई। विवाह रीतोरश्म जन्म के आधार पर रूढ़ हो गए। जाति, प्रजाति, उपजाति से संवनन में सामाजिक भाव का लोप हो गया। अनेक युद्ध और भीषण संहार हेयता की दृष्टि से ही हुए। हिन्दुओं की इसी सामाजिक दुर्बलता से विदेशी-विजेताओं ने लाभ उठाया। उपरान्त समाज आक्रान्ताओं से त्रस्त, धर्म बन्धनों से भीत, कलंकित, सतीप्रथा, बाल और अनमेल विवाह, जैसे संस्कारों से स्वतः घात करने लगा। कुल मिलाकर समाज में दुर्बलता और अव्यवस्था आवृत हो गई।

इस समय में शिक्षा के क्षेत्र में भी किसी प्रकार की उन्नति के चिह्न प्रायः नहीं मिलते हैं। इस संदर्भ में किन्तु ऐसे कोई अवशेष आज तक प्राप्त नहीं हो सके हैं जिनके आधार पर कुछ ठोस स्पष्ट अनुमान लगाए जा सकें। यह अवश्य प्रतीत होता है कि गुप्त काल में कला व भारतीय साहित्य का जो स्वरूप था वह क्रमशः सामाजिक राजनैतिक विघटन के साथ ही अपनी मौलिक विकासोन्मुखी चेतना को न बनाए रख सका। इस युग की सृजना में गति और

सजीवता का ग्रभाव पाया जाता है। वस्तुत: इस विषमता के बीच यह काल संस्कृत साहित्य का ग्रंतिम काल हो कर रह गया। संस्कृत में इसके उपरान्त भी रचनाएँ होती रही हैं किन्तु उनकी प्रवहमानता का जो क्रम भंग हुग्रा तो सृजन में वह गति, तीव्रता ग्रौर मौलिकता का ग्रायाम ही बदल गया। संस्कृत में धर्मशास्त्र, नीति, काव्य, नाटक, दर्शन ग्रादि सभी के ग्रन्थ रचे गए पर इन ग्रन्थों में कुल मिला कर बहुत कम ऐसे ग्रंथों का प्रणयन हुग्रा है जिन्हें कि चरम मौलिक उच्च श्रेणी में रखा जा सके। टीका, भाष्य ग्रौर कारिकाग्रों का प्रणयन, पाण्डित्य का प्रतीक बन गया। एक तरह से यदि यह कहा जाय कि स्वतंत्र रूप से मौलिक विचार करने की प्रवृत्ति का क्रमश: ग्रभाव-सा पाया जाता है।

फिर भी रचनात्मक महती उपलब्धियों में श्रीमद् भागवत, शंकराचार्य का वेदान्त भाष्य, कुमरिल भट्ट की विद्वता धर्म के क्षेत्र में श्लाघनीय है। काव्य के क्षेत्र में महाकवि माघ का शिशुपाल वध, श्रीहर्ष का नैषध, भारवि का किरातार्जुनीय, विद्वान ग्रौर कुशल शिल्पी की कृतियाँ हैं। नाटय-साहित्य में भवभूति का उत्तर-राम-चरित, महावीर-चरित, मालती-माधव, महाराज हर्षवर्द्धन की रत्नावली नाटिका, भट्टनारायण का वेणी संहार, राजशेखर का प्राकृत प्रसिद्ध कर्पूर मंजरी उल्लेखनीय है। गद्य रूप में सुबंधु की वासवदत्ता, बाणभट्ट की कादम्बरी ग्रौर हर्षचरित, हैं। काव्य शास्त्र में धनंजय का दशरूपक, मम्मट का काव्यप्रकाश सर्वमान्य ग्रन्थ हैं।

इस साहित्य का ग्रनुशीलन करने से एक बात यह स्पष्ट होती है कि गुप्तकाल के काव्य की स्फूर्ति, ग्रोजस्विता, स्वाभाविकता, निश्छलता का स्थान इस काल के साहित्य में ग्रलंकारिता, भाषा का श्रृंगार, ग्राडम्बर, ग्रौर पाण्डित्य के प्रदर्शन ने ले लिया। इन रचनाग्रों के मूल में ग्रंत:प्रेरणा की ग्रपेक्षा विद्वता ग्रौर ज्ञान रहा है।

इन सबके साथ ही कला-साहित्य का एक ग्रंग बौद्ध-धर्म से ग्रनुप्राणित रहा। इसमें ग्रश्वघोष, कुमारपाल, नागार्जुन जैसे उद्‌भट विद्वानों का योग रहा। चित्रकला के क्षेत्र में ग्रजंता एलोरा की गुफाग्रों में बौद्ध-धर्म विषयक चित्रकारी प्रस्तुत करके सुन्दर ग्रौर कलापूर्ण ढंग से लोकरुचि को ग्रपनी ग्रोर ग्राकर्षित करने का सफल प्रयास किया है।

इन उच्छ्वासों को देखते हुए खेद केवल इस बात का है कि इतनी डवांडोल राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक स्थितियों में कला-साहित्य का यह रूप है तो संभवत: यदि स्थितियाँ ठीक बनी रहती तो जो चित्रकला की पृष्ठभूमि कालिदास के साहित्य में दृष्टिगोचर होती है, उसकी एक निश्चित धारा परवर्ती युग में पल-पनप कर ग्राज ग्रवशेष चिह्नों में न होकर विशाल परम्पराग्रों ग्रौर विभिन्न समृद्ध शैलियों में प्राप्त होती। यह ठीक है कि चित्रकला की दृष्टि से कुछ कार्य होता रहा है जिसके प्रमाण स्वरूप ग्रजंता, एलोरा, बाघ ग्रादि का परवर्ती समृद्ध चित्रण है जिसका कि ग्राधार शैली ग्रौर निरूपण पूर्ववर्ती चित्रकला ही है। इसके साथ ही एक दूसरा तथ्य भी देखने में ग्राता है कि जिस तरह साहित्य में ग्रलंकरण, श्रृंगार, ग्राडम्बर ग्रौर पाण्डित्य का प्रदर्शन हुग्रा है, इसी तरह का युग प्रभाव मंदिरों की मूर्तियों में, जैन तोरणों में ग्रौर तत्कालीन चित्रकला में देखा जा सकता है। बुन्देलखण्ड-खजुराहों के संग्रहालय में प्रस्थापित यमुना को प्रतिमा में ग्रलंकरण, श्रृंगार एवं बाह्य परिवेश, सज्जा युगीन प्रभाव के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है।

मूर्तियाँ पहले की ग्रपेक्षा ग्रधिक सुघड़ ग्रौर ग्राकर्षक रूपों में प्रस्तुत हुई ग्रौर बदलते हुए युग बोधों मूर्ति, चित्र मंदिरों ग्रौर ग्राम दीवालों के ग्रलंकरण का साधन बन कर रह गई। ग्रधिकतर इनका उपयोग सज्जा के हेतु किया जाने लगा। तांत्रिक, शाक्त, मंत्रयानी, वज्रयानी ग्रादि ग्रनेक ब्राह्मण विरोधी पंथों ने व्यवस्थित सामाजिक बन्धनों को तोड़ा। ब्राह्मणों का ग्रधर्म, उनका धर्म हुग्रा। फलत: इन्द्रिय निग्रह ग्रौर सामाजिक प्रतिबन्ध न रहा। उड़ीसा, बुन्देल खण्ड, ग्रौर दक्षिण के ग्रनेक मंदिरों में प्रस्तर-भोगरत-युग्म जन-साधारण के दर्शनार्थ प्रस्तुत किए गए। जहाँ हिन्दु ब्राह्मण धर्म प्रबल था वहाँ वर्णाचार का चित्रण हुग्रा है। इसमें दक्षिण के राष्ट्रकूट राजाग्रों ग्रौर वणिकों ने ग्रपना महत योग देकर ग्रजंता की उन्नतीस गुफाग्रों की सानी में वहीं से पचास मील दूरी पर एलोरा में उनतालीस गुफाग्रों का उत्खनन कराया। कलाकारों ने उनकी दीवारें धर्माचारों की ग्राकृतियों, रामायण महाभारत के मार्मिक धर्मप्राण-प्रसंगों, भारतीय हिन्दु संस्कृति का बोध प्रस्तुत करने वाले चित्रों से, पहाड़ की छाती हलकी छेवी ग्रौर हथोड़ी से

काट-काट कर, प्रस्तर प्रारूपों और चित्रों से भर दिया। यह कार्य सदियों तक चलता रहा। इन्हीं के समानान्तर और अनुकरण पर ऐलीफेन्टा, नासिक, कार्ले, कन्हेरी, वेरुल, सित्तन्नवासल, आदि गुफाओं का निर्माण हुआ।

इस युग के चित्रों का वास्तविक मूल रूप क्या और था आज ठीक से कई संभावनाओं के कारण नहीं कहा जा सकता है। गुप्त काल में चित्रकला का प्राप्त स्वरूप और प्रतिक्रियात्मक स्वरूप के विषय में ऐसा अनुमान सहज ही कर लिया जाता है कि इस कला की परम्पराओं का अगली कई शताब्दियों तक श्रृंखलायित होना संभावित है। क्योंकि वेरूल, बादामी, सित्तनवासल आदि के चित्रों से ज्ञात से होता है कि गुप्त कालोपरान्त चित्रों में ब्राह्मण धर्माचारों की प्रचुर प्रतिक्रियात्मक अभिव्यक्ति है। अजंता की मृदुलता, रुक्षता में परिणित हो चली थी। आठवीं सदी के चित्रांकन की रेखाओं में, आकृतियों में सजीवता गोचर होती है। किन्तु बाद के चित्रांकन के विषय जैसे-जैसे लौकिक, तांत्रिक, शाक्तिक होकर अलंकारिक रूपों में कृत्रिम प्रतीयमान होते हैं। चित्रकला के इस रूप को अपभ्रंश रूप मान कर अपभ्रंश शैली का संबोधन भी दिया गया है। झाँसी जिले में ललितपुर के पास मदनपुर में प्राप्त भित्तिचित्रों के आधार पर इस तरह की धारणा निश्चित होती है कि आठवीं शताब्दी के उपरान्त कला का जो रूप प्रस्तुत होने लगा था वह आगे चलकर रूढ़ हो गया। मदनपुर के भित्तिचित्र दशवीं और ग्यारहवीं शताब्दी के हैं। इस तरह की चित्रकला का क्षेत्र पूर्व भारत को छोड़कर समस्त देश था। दशवीं-ग्यारहवीं शताब्दी से जैन धर्म विषयक चित्र गुजरात और पश्चिमी भारत में तालपत्रों, काष्ट-खण्डों, आदि में मिलना प्रारम्भ हो जाता है। इस तरह के चित्र जैसलमेर, पालीताना, पाटन, खम्भात आदि के जैन भण्डारों में मिलते हैं।

अध्याय २

राजपूत चित्र कला शैली का उद्गम और विकास तथा परिणति

राजपूत चित्र-कला के संदर्भ में, राजस्थान के क्षेत्र से व अन्य क्षेत्रों से जो भी चित्र प्राप्त होते हैं वे सामान्यतः पंद्रहवीं शताब्दी के लगभग और इसी के आसपास के समयों के मिलते हैं। इसके पूर्व हुई चित्रकला-कृतियाँ बहुत कम उपलब्ध होती हैं। इसके मूल में एक कारण तो कागज के निर्माण का है जो कि चौदहवीं शताब्दी के लगभग से मुसलमानों के आयाम के साथ राजस्थान में आया। इसके पूर्व गुजरात में भी बारहवीं शताब्दी के आसपास से कागज का प्रचलन बढ़ने लगा था। गोया इसके पूर्व ताड़पत्र ही ग्रंथ लेखन की आधार सामग्री था। इन ताड़पत्रों पर काव्य व धर्म-ग्रंथों का प्रणयन हुआ साथ ही इन पर चित्रण भी हुआ है। ताड़पत्र पर बने चित्र, चित्रकलागत शृंखला को स्पष्ट करने में सहायक हैं। प्रारंभिक चित्र जो अभी तक उपलब्ध हो सके हैं वे अधिकतर गुजरात स्थित जैन धर्माश्रित कथा की सापेक्ष-व्यंजना के लिए कथा पुस्तकों में चित्रित किए गए हैं, इसके इतर भी कुछ चित्र हैं। वैसे रंग और कूची की सहायता से चित्र-परम्परा में शिलाश्रित-चित्र, भित्तिचित्र, काष्ठक चित्र, ताड़पत्र चित्र, पट-चित्र और कागज चित्र प्रस्तुत हुए हैं।

आरंभिक प्राप्त ताड़पत्र चित्रों का स्थान गुजरात स्थित जैन भण्डागार है। इस तरह का पहला चित्र विक्रम संवत् ११६९-ईसवी सन् १११२ का सघवीनापाड़ा भण्डार पाटन, में उपलब्ध ग्रन्थ निसीथचूर्णि में है। इसके उपरान्त दो चित्र ईसवी सन् ११२७, शान्तिनाथ भण्डार खम्मात में प्राप्त ज्ञाप्ता एवं तीन अंग सूक्त की टीका में है। चौथा चित्र ईसवी सन् ११४७ का छाणी का भण्डार, बड़ौदा से चार मील दूर, में उपलब्ध है। इसी भण्डार में प्राप्त ईसवी सन् ११६५ की शोधनिसक्ति में २१ चित्र हैं। इसके अनन्तर ईसवी सन् १२२९ का चित्र आचार्य हेमचंद्र कृत बीत राग स्तवन में चित्रित, मोतीचंद खजांची-बीकानेर, के पास है। 'ट्रेजर्स आफ इंडिया' में प्रकाशित कालिकाचारि का इसवी सन् १२७० का, बोस्टन संग्रहालय में उपलब्ध, क्रम में नवां चित्र है। ये सभी चित्र ताड़पत्रों पर बने हैं। इसके अतिरिक्त साराभाई नवाब के द्वारा प्रकाशित जैसलमेर भण्डार की काष्ठ पट्टिकाओं पर और रंगकारी का भी उल्लेख किया जा सकता है। यह काष्ठ पट्टिकाएँ दशवीं शताब्दी से पंद्रहवीं शताब्दी तक की है।[1]

कागज पर बना हुआ अब तक प्राप्त चित्रों में सर्वप्राचीन भारतीय चित्र मोती चन्द खजांची के पास है।[2] यह इन्होंने अभी तक प्रकाशित नहीं किया है। यह चित्र कल्पसूत्र की एक प्रति में है। यह प्रति चौदहवीं शताब्दी की कागज मे उपलब्ध सर्वप्राचीन पाण्डुलिपि मोतीचंद खजांची के अनुसार है। इस चित्र की बाह्य सीमा लाल और पीले रंग में, काली रेखा की अन्तःसीमा के साथ चित्रित की गई है। मानवाकृति में पीला रंग भरा गया है। पशु काली रेखाओं में है। पार्श्व कागज के रंग का है। इस चित्र का समय १३६५ ई. सन् है। इस समय तक उत्तर भारत में कागज का निर्माण नहीं होता था। भारत में कागज का आयात अरब के व्यापारियों और मुसलमान आक्रान्ताओं के द्वारा हुआ। कागज के आयात का क्रम बारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है और चौदहवी शताब्दी तक गुजरात के माध्यम से कागज का आयात होने लगा था। तथा यह लेखन कार्य के लिए ताड़पत्र का स्थान ग्रहण कर चुका था। मोतीचन्द खचांची के पास कल्पसूत्र की जो प्राप्ति है इसी तरह के कागज पर उपलब्ध कृति है। ईसवी सन् १४३९ का

---

१. दी ओल्डेस्ट राजास् देयर पेन्टिग्ज फ्राम जैन भण्डार-फिगर १ से ३५।

२ मोतीचन्द खजांची के अनुसार : विशेष भेंट के माध्यम से।

कागज पर प्रस्तुत कल्पसूत्र चित्रित रूप में राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली में सुरक्षित है[१]। यह माण्डौ अथवा मालवा कलम का कल्पसूत्र है।

कागज की इस स्थिति को यदि दृष्टिकोण में रखकर विचार करें तो राजस्थानी चित्र कला का इतिहास पन्द्रहवीं शताब्दी से ही प्रारम्भ होना चाहिए किन्तु ऐसा करना वास्तव में समीचीन प्रतीत इसलिए नहीं होता है कि क्या राजपूत चित्र कला शैली का जन्म कागज के प्रचलन और निर्माण या उपलब्धि के लिए प्रतीक्षित था? शायद नहीं था। राजपूत राजाओं के यहाँ चित्रकार, मूर्तिकार, वास्तुकार, आदि हुआ करते थे। इस तरह के अनेक सदर्भ प्रथम खण्ड के प्रथम अध्याय और चतुर्थ अध्याय में हैं। कागज के पूर्व ताड़पत्र के साथ ही वस्त्र पर एक तरह से लेप करके उसे चित्रण के योग्य बनाया जाता था। वस्त्रों पर चित्रित चित्र गुजरात में अधिकतर जैन धर्म-कथाओं के सापेक्ष-चित्रण हेतु चित्रित किया गया है। राजपूत नरेशों के यहाँ दीवालों पर चित्रों के चित्रण की प्रथा थी जो इसे अजंता, बाघ और मदनपुर की परम्परा में शृंखलायित करते हैं। मदनपुर की गुफाओं के चित्र दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी के हैं। पुराने महलों और किले की दीवारों का अन्वेषण करने पर चौदहवीं शताब्दी के महल और दीवालें आदि भग्न खण्डित, धूल-धूसरित चित्रकला प्राप्त होती है।[२] ताड़पत्रों पर प्रस्तुत चित्र भी दशवीं शताब्दी के लगभग से उपलब्ध होते हैं। ऐसी स्थिति में राजस्थानी चित्रकला के आरम्भिक विकास को सरलता से स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। एक सामान्य हल यह हो सकता है कि राजपूत चित्र कला की मूल प्रवृत्तियों का अनुसंधान किया जाकर, उन्हें काव्य, संगीत और मूर्तिकला में जाँचा जावे। राजस्थान और मध्यप्रदेश के राजपूत राज्यों के विकास के साथ ललित कला को प्रश्रय निश्चित रूप से मिला है। इस तथ्य के साक्षी तत्कालीन कला-प्रतीक मन्दिर हैं। मन्दिरों में कला का पुष्ट पारिमार्जित स्वरूप परिलक्षित होता है। अतएव चित्रकला की स्थिति मानने में किसी तरह की कठिनाई या विवशता की प्रतीति नहीं रहती है। वास्तव में चित्रकला किसी न किसी रूप में समाज में आ कर वह सदा के लिए एक लम्बे अर्से के लिये कभी विलीन नहीं हुई है। इतिहास इसका साक्षी है। यदि प्रमाण नहीं प्राप्त हो रहे हैं या उसका अभी विस्तृत व्यापक अनुसंधान नहीं किया जा सका है, इस स्थिति में उसका न होना या उसके अन अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। यह संभावना है कि इस तरह की सामग्री अभी प्रकाश में नहीं आ सकी है। अन्धकार के सिलसिले में स्वयंभू की रामायण का ही उल्लेख किया जा सकता है जो कि अभी पिछले कुछ दशकों तक ज्ञात ही नहीं थी। तब फिर चित्रों के सम्बन्ध में स्वतः विचार किया जा सकता है। यदि चित्रकला का अस्तित्व स्वीकार कर चलते हैं तो एक दूसरा प्रश्न सामने आता है कि तत्कालीन राजपूत चित्रकला शैली के चित्र या उसके अवशेष किसी अन्य भूभाग के नगरों में उपलब्ध होना चाहिए, किन्तु ऐसा भी नहीं हुआ है। पर सच तो यह है कि किसी अन्य सभ्यता संस्कृति के स्थलों में जहाँ कि वहाँ की स्वयं की ही पूर्व संस्कृति नष्ट कर दी गई हो वहाँ कैसे प्राप्त हो सकती है। राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत, चीन, मंगोलिया में उपलब्ध प्राचीन पाण्डुलिपियों, पोथियों का अन्वेषण किया था तथा संपूर्ण चीन और मंगोलिया का अन्वेषण करना उनका विचार ही रह गया। बदलती हुई राजनैतिक परिस्थितियों में यह सब न हो सका और वे स्वयं ही चल बसे।

राजपूत चित्रकला की शृंखला को एक लय करने में राजपूत कला की अन्य विधाएँ सहायक होती हैं। मूर्तिकला का चित्रकला से रूपाकृति में गहरा सम्बन्ध है। इसके साथ राजपूत राज्यों में ललित कला की स्थितियां भी इस दिशा में प्रकाश डालने में समर्थ हैं। राजपूत राज्यों में मूर्तिकला और वास्तुकला को आरम्भ से ही प्रोत्साहन मिला है। इन कलाओं के विकास को देखते हुए इसकी शृंखला राजपूत चित्रकला के प्राप्त आधारों से जोड़ी जा सकती है।

---

१. रूपरेखा– भाल्यूम ३३ नंबर १ और ३ १९६३—पृष्ठ-४५।

२. वैराठ की छत्रियां, इसका एक उदाहरण है।

आज वर्तमान में प्राप्त राजपूत चित्रकला सामग्री का सम्बन्ध निम्नलिखित राज्य और नगरों से जुड़ा हुआ है। जोधपुर राज्य में जोधपुर, माण्डौर, ओसिया, किराड्ड, सिरोही, आबू, रनकपुर, जैसलमेर, बीकानेर राज्य में—बीकानेर, अनूप संस्कृत पुस्तकालय, लालगढ़ के राजशाही महल, राय निवास कक्ष, अनूप महल, फूल महल, चन्द्रमहल, सुजान महल, मोतीचन्द्र खजांची का व्यक्तिगत संग्रहालय, नाहटा पुस्तकालय, सूरतगढ़, रंगमहल, बरापास, अजमेर शासकीय संग्रहालय, किसनगढ़, जयपुर राजशाही संग्रहालय (पोथीखाना), कुंवर संग्रामसिंह संग्रहालय, आमेर महल, सीकर, रैह, बैरत, अबनेरी, अलवर, प्रानगर, भरतपुर, धौलपुर, करौली, बूंदी-कोटा राज्य में—बूंदी, कोटा, रामगढ़, किशनविला, वटरू, झालावाड़ा, चन्द्रावती, उदयपुर–मेवाड़ राज्य में—उदयपुर, अहर, चित्तौड़, चावण्डा, बघेरा, नाथद्वारा तथा ओरछा, दतिया, ग्वालियर, नरसिंहगढ़, आदि नगर स्थानीय कला संग्रहालयों और प्राचीन सांस्कृतिक स्थलों के दृष्टिकोण से बहुचर्चित एवं उल्लेखनीय स्थान है। डा० आनन्द कुमार स्वामी ने राजपूत चित्रकला को राजस्थानी चित्रकला से संज्ञायित करते हुए क्षेत्रीयता की दृष्टि से चार संभागों में विभक्त किया है। १–बुदेलखण्ड, इसके अंतंगत दतिया, ओरहा, तालबेहट लिया है। २–मेवाड़—इसके अंतर्गत उदयपुर, चावण्डा, नाथद्वारा आदि : ३–पश्चिमी मालवा और गुजरात। ४–मध्यवर्ती राजपूताना–जोधपुर, बीकानेर, जयपुर[1]। इस तरह के वर्गीकरण में अन्य व मुख्य स्थानों का महत्व प्राप्त हो जाता है। इसलिए चित्रकला के विकास को स्थानीयता और राज्य की परम्परा के साथ संतुलित-समन्वित तटस्थ दृष्टि को रख कर चित्रकला गत शैली को आधार मानकर उनका उद्भव और विकास तथा परिणति दिखाई जानी चाहिए। राजपूत चित्रकला का वैशिष्ट्य राजपूती सभ्यता और संस्कृति है। सामान्यतः राजस्थान की वेशभूषा अलंकार, सज्जा, साधन तथा संस्कारों के आधार पर अन्य चित्रकला शैलियों से अलग होकर वैशिष्ट्य ग्रहण कर स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित करती है। राजस्थानी सभ्यता में और राजपूत चित्रकला में वेशभूषा और सज्जा की समानता होना स्वाभाविक है। राजस्थान की वेशभूषा और सज्जा, अलंकरण पिछले समयों में इस तरह का पाया गया है।

पुरुष भूषा,

सौन्दय प्रसाधान—टीका, चाप, नाखून व ऐडी रंगना, चंदन लेपादि।

आभूषण—पगड़ी या सोफे के मध्य में जड़ित कलगी, मालाबंद, बाला, भुजबंध, पहुँची, पट्टा, कंकन, नूपुर।

मुकुट—पंचसिरा उर्धोन्नत राजकुमार और राजमहर्षियों द्वारा धारित तथा मोर मुकुट कृष्ण द्वारा धारित है।

पगड़ी, पाग, फेटा, पट्टा, साफा—ये जाति परम्परागत, जातिगत, समय और क्षेत्रीयता के अनुसार व्यवहृत रहे हैं। राजस्थान में और राजपूत पेन्टिग में पगड़ी और साफा का प्रचलन है। पगड़ी प्रायः छः इंच चौड़ी और तीस गज लम्बी होती है तथा साफा एक फुट चौड़ा और एक सौ फुट लम्बा होता है। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के बीच राजपूत चित्रकला में साफा का अधिकांश चित्रण है।

साफा का प्रचलन मराठा दरबार तथा दिल्ली व अवध के बादशाह नवाबों में भी प्रचलित हुआ है। यहाँ एक तथ्य के प्रति बात उठती है—वह पंजाबी साफे की है। जो साफा आजकल पंजाब और उत्तर राजस्थान में प्रचलित है, यह पद्धति संभवता अफगानी साफा पद्धति से उद्भूत है जो कि एक सदी से अधिक प्राचीन नहीं है।[2]

वैदिक संस्कारों के अनुसार राजाओं के सिर विशेष समयावसरों में साफों से आवृत होते थे जो कि राजाओं

---

१. राजपूत पेन्टिग—इन्ट्रोडक्सन, १६१६।

२. „ „, कुमारस्वामी पृष्ठ २४।

को अन्य सामाजिकों से वैशिष्ट्य की कोटि में, तत्सामयिक कार्यक्रम में प्रधान पात्र के परिचायक थे। सिर से साफे को उतार देना कार्य की समाप्ति का द्योतक रहता था। शुंग-सातवाहन शासन-काल में जिन मूर्तियों का उद्रेखरण हुआ है, उसमें साफा गोचर होता है किन्तु अजन्ता की चित्रकला में गोचर नहीं होता है। इस काल में एक सिरा बाला मुकुट अधिक लक्षित होता है। सामान्य सामाजिक खुले सिर रहा है। पंद्रहवीं शताब्दी तक की जैन चित्रकला में भी साफा का चित्रण नहीं मिलता है। कुमारस्वामी ने एक जैन चित्र में शाहनशाही साफे का चित्रण अपवाद के रूप में स्वीकारा है।[1]

राजपूत चित्र कला में साफे और मुकुट दोनों का ही चित्रण हुआ है। अकबर के दरबार के चित्रणों की पगड़ी का जो स्वरूप प्रस्तुत हुआ है वह मूलतः राजस्थानी है। यह स्वरूप अठारहवीं शताब्दी तक प्रायः उपलब्ध होता है। इस पगड़ी में आगे से पीछे की ओर मोतियों का मालाबन्ध तथा उग्र मध्य में हीरे जवाहरात जड़ित 'सरफेंक' (कलगी) प्रचलित था।

टोपी—कांगड़ा कलम में टोपा या टोपी सिर ढांकने के लिए प्रयुक्त हुई है और यह अधिकांश चित्रों में चित्रित हुई है। राजस्थान में इसका आयाम प्रायः नहीं।

धोती—धोती का स्वरूप भरहुत, साँची, मथुरा की प्रस्तर मूर्तियों में भी मिलता है। धोती परम्परा से पहिना जाने वाला अधोवस्त्र है। यह चवालीस ईंच से लेकर बावन ईंच तक चौड़ी तथा पाँच से छः गज के बीच होती है। यह पहिनावा कृष्ण के अधोवस्त्र के रूप में है किन्तु उसे पीताम्बर का सम्बोधन दिया गया है। राजपूत चित्रकला में पीताम्बर के अतिरिक्त गोपों को एक तरह से सकरा लम्बा कपड़ा लंगोटी के रूप में पहने हुए चित्रित किया है।

दुपट्टा—इसे उत्तरीय भी कहते हैं। इसका चित्रण भरहुत की कला में उपलब्ध है। कथासरितासागर में भी इसका विवरण प्राप्त होता है। यह कंधों पर पीछे से होता हुआ पहना जाता है तथा आगे-आगे पुनः बाएँ कंधे पर सकरा होता हुआ पीछे की ओर चला जाता है। इस तरह इसका एक छोर बाएँ कंधे के सामने लटका होता है तथा दूसरा बाएँ कंधे के पीछे। अधिक चौड़ा कपड़ा जो इसी तरह प्रयुक्त होता है, चादर कहते हैं। ऊन के इसी तरह प्रयुक्त वस्त्र को शाल कहते हैं जो ठंड के दिनों में प्रयोग में लाया गया है। कमर में कमरबंध बँधा हुआ रहता है। यह धोती या अंखरखा दोनों के ऊपर से बंधा हुआ रहता है। कृष्ण या गोपों में यह बहुतायत से चित्रित है।

जामा—यह हिन्दुओं द्वारा धारित स्थिति में बाईं ओर और मुसलमानों द्वारा धारित स्थिति में दायीं ओर ही बांधा जाता है। अपवाद के रूप में मेसोपोटामियन की तेरहवीं शताब्दी की चित्रकला में मुसलमानों द्वारा बायीं ओर बांधा गया है। इसी तरह महाराजा संग्रामसिंह का मुगल दरबार में १६९५ के चित्र का जो चित्रण हुआ है उससे दायीं ओर बांधा गया है।[2] इस वस्त्र का स्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी तक घुटनों के ऊपर तक ही रहा है। किन्तु राजपूत राजाओं के चित्रण में यह धरातल को छूता रहा है। सोलहवीं शताब्दी तक ग्वेट्ज के अनुसार यह विशुद्ध भारतीय वस्त्र रहा है।[3] मंगोलो के आक्रमण के समय तक इसका रिवाज कम सा ही चला था। बाद में मुगलों ने इसे अपना पहनावा स्वीकार कर लिया और उनमें प्रचलित रहा। इसी जामे की तरह का कोट के रूप में व्यवहृत होने वाला वस्त्र भूटान में आज भी प्रचलित है। इसे दायीं ओर

---

१. राजपूत पैन्टिग, कुमारस्वामी पृष्ठ २४।

२. एस. सी. क्लार्क इंडियन ड्रइंग...पृष्ठ ७

३. ग्वेट्ज—कस्टम एण्ड मोड—पृष्ठ ७९।

मुसलमानों के सदृश्य बांधते हैं। संभवतः यह सीवा मंगोल से भूटान में भारत की अपेक्षा तिब्बत आदि के माध्यम से, आया प्रतीत होता है। राजपूत राजाओं में जिस जामें का प्रचलन रहा है उसे मुगल प्रभाव का सन्देह किया जा सकता है किन्तु सत्य ऐसा ही है कि वह पूर्व समय से ही प्रचलित रहा है।

चपकन—दुहरे सीना का बायीं ओर बांधा जाने वाला वस्त्र जो नवाब व राजाओं द्वारा पहना गया है। यह तंग नीचे तक रहता है। इसका अल्पतः चित्रण है।

अखरखा—यह चपकन से छोटा और ढीला होता है।

अचकन—(शेरवानी) यह मुगलों का ही पहनावा है जो आज भी प्रचलित है।

कचा—(कच्छा)—पहाड़ी चित्रण में हरवाहे, चरवाहे, वरेदी आदि का चित्रण इस अधोवस्त्र में हैं।

पायजामा—चूड़ीदार होता है। यह पहिनावा राजपूत व मुगल, स्त्री तथा पुरुषों दोनों का ही पहिनावा है।

कमरबंद, पटुका—कमर में बांधते हैं। यह वस्त्र के चित्रित चित्रों में प्रस्तुत हुआ है। इसे बाँधे हुए अन्य सभ्रान्त व्यक्ति चित्रित हुए हैं।

स्त्री पहिनावा—

सौन्दर्य प्रसाधन—मांग, टीका, तिलक, चांद, महावर, लक्सा (हाथ की हथेलियों में लगाया जाने वाला लाल रंग-मेंहदी) अँजन, अँगराग, चंदन लेपादि, इत्र, रंगे-नाखून आदि।

आभूषण—कोंक, सिर माँग, टीका, शीशफूल, शीशमणि, खुराज, नथ, बेसर, बेसरी, बेना (बेंदा), कंदबेना, कर्णफूल, झुमका, बाली, बालियाँ, माला, हार, पंचकलरी, चंद्रहार, भुजबँध, कंकन, चूड़ा, चूड़ी, चूड़ियाँ, कड़ा, नौवारी, किंकनी, मुद्रा, मुंदरी, हथफूल, चल्ला, अंगूठे का छल्ला-दर्पण के साथ, बिछुआ, नूपुर, कटिहार, कटिबंध आदि प्रचलन और चित्रण है।

पहनावा—

सारी—राजपूत चित्रकला का यह खास पहनावा है। यह वैदिक काल से हिन्दू स्त्रियों में प्रचलित रही है। इसका छोटा रूप कहीं कहीं सिर ढांकने के रूप में भी चित्रित है यह ४६ से ५२ इंच तक चौड़ी तथा पाँच से आठ गज तक लम्बी होती है।

चुनरी—चुनरी का चित्रण मुसलमानी पहनावा का द्योतक है। पंजाब के चित्रण में 'खेश' मोटा चादर उपलब्ध होता है। राजस्थान में इसे ओढ़नी कहते हैं किन्तु इसका स्वरूप बदला रहता है। यह पूर्णतः भारतीय स्वरूप में मारवाड़ मालवा चावण्डा आदि में काफी प्रचलित रहा है। इसका चित्रण कोटा—बूंदी में, लाल चूनरी, लँहगे के साथ चित्रित हुई है। इसे चूनरी भी कहते हैं। यह ओढ़नी के रूप में राजस्थान में प्रचलित है। साधारणतः चोली अंगिया के ऊपर का आवरण चित्रों में प्रस्तुत हुआ है।

चोली और अंगिया—चोली और अंगिया स्तनों को आवृत कर पृष्ठ को घेर लेते है। अगिया में पीठ का पूरा भाग खुला रहता है, बाहें दोनों में होती हैं। राजपूत चित्रकला में चोली का चित्रण अधिक हुआ है। इसका प्राचीन रूप संस्कृत साहित्य में कंचुकी और कंचु उपलब्ध होता है। यह स्तनों से सटा चिपका-सा हुआ पहना जाता है। इसका प्राचीन रूप कुषाण कालीन मूर्ति ए-८४ लखनऊ संग्रहालय में देखा जा सकता है। इसमें चोली की अलंकृत बाहें कलाई तक आई हुई हैं। बिना बाहों का ब्लाउज पेट तक

नीचा अजंता के चित्रों में नाचने वाली लड़कियों के पहिनावे में चित्रित है। पांचवीं शताब्दी के सिगरिया सीलोन के चित्रण में भी यही पहनावा है। देवगड़ की प्रस्तर मूर्तियों में भी इसका स्वरूप देखा जा सकता है। जावा के तेरहवीं शताब्दी के सिगासिगी मंदिर में दुर्गा की प्रस्तर मूर्ति में भी यह दृष्टव्य है। साहित्य में भागवत पुराण हर्ष चरित, कथासरित्सागर में इसकी चर्चा है। विद्यापति, जायसी के शब्द चित्रणों में बहुतायत से प्रस्तुत की गई है। राजस्थानी पहिनावे में इसका प्रमुख स्थान है। इस तरह चोली का आविर्भाव भारत में ही हुआ है। सोलहवीं शताब्दी के मुगल चित्रणों में चोली स्तनों के नीचे आधे पेट तक चित्रित की गई है। राजपूत चित्रकला में सोलहवीं शताब्दी के पूर्व चित्रणों में चोली का स्वरूप स्तनों तक ही है किन्तु बाद में कुछ नीचा हो गया है। कुछ चित्रों में चोली स्तनों को पूर्णतः आवृत्त भी नहीं कर पाती है फलतः स्तनों का निचला घेरा दिखाई देता हुआ चित्रित किया है। वर्तमान काल में अजन्ता की तरह चोली की बाहें लुप्त हो गई हैं तथा स्तनों से पहले की अपेक्षा अधिक चिपका कसा होता है।

कुर्ती—यह पंजाब का पहनावा है। इसका स्वरूप गंधार शैली के प्रस्तरों में उत्तखनित है। इसका चित्रण अठारहवीं, उन्नीसवीं सदी के पहाड़ी चित्रों से अधिक है।

घाघरा, लहंगा—इसका पूर्व रूप मथुरा में प्राप्त गंधार शैली के प्रस्तरों की अपेक्षा कुषाण कालीन मूर्ति बी-८६ लखनऊ संग्रहालय की मूर्ति में भी इसी तरह का वस्त्र प्रस्तुत है। यह चोली, दुपट्टा, के साथ राजस्थान की राजपूत चित्र-कला में प्रस्तुत किया गया है।

राजपूत चित्रकला की विषयवस्तु और मूलाधार कथाओं में राजस्थान के चित्रकारों ने संगीतात्मक कथा को, रंग रूप आकार में प्रस्तुत किया है। यह शुद्ध शब्दावली में रागमाला का चित्रण है। इसमें राग-रागिनियों में विविध स्वरों के आयामों के अनुरूप ही चित्रात्मक वातावरण की सृष्टि चित्रकार ने की है। प्रत्येक राग या रागिनी में पाँच से लेकर सात स्वरों की संरचना होती है।

अपवाद के रूप भी हैं जैसे पंजाबी भैरवी में तीव्र और कोमल सभी बारह स्वरों का आयाम है। इसी तरह संगीत की लय की प्रखरता व सूक्ष्मता के आधार पर २२ ग्रामों की गणना है उन्हीं के आधार पर तीव्र सप्तक तक के स्वरों के मेल से राग की निर्मिति होती है। राग पौरुष का प्रतीक है और रागिनी कोमल वृत्तियों के अनुरूप नारी प्रतीक है। राग-रागिनियों के विषय में यह स्पष्ट है कि ये प्रेम सम्बन्धों की अभिव्यक्ति करते हैं। मानव जीवन गत समस्त प्रेम व्यापार संगीत के स्वर, लय, गति की बंदिश के माध्यम से व्यक्त होते हैं। ये राग-रागिनियाँ अपनी वस्तु के तदनुरूप समयों में ही प्रस्तुत की जाती हैं। उसी के आधार पर चित्रकार उस तरह के वातावरण को चित्र में प्रस्तुत करता है। लय रंगों के माध्यम से तथा गति चित्र के समायोजन में व्यक्त हो जाती है। जिस तरह भारतीय संगीत में वातावरण की प्रधानता है, वह उस चित्रण में आ जाती है। यह तथ्य रागमाला, के चित्रण में संगीत और चित्र में स्पष्ट दृष्टव्य है।

कवि के प्रस्तुत काव्य रूप में भावों की अभिव्यक्ति जिन शब्दों से होती है वे प्रायः उसी रूप में संगीत में सुगमता से ग्राह्य होते हैं। काव्य के भाव संगीत में लय को ग्रहण करते हैं और चित्रों में रूप के माध्यम से व्यक्त हो जाते हैं। राजपूत चित्रकला में रागमाला के चित्रण के संदर्भ में आनन्द कुमार स्वामी का कहना है कि रागमाला के चित्रण

का दृष्टिकोण प्राचीन परम्परागत है। रंगों में नव्यतम आभा है और कथा विश्लेषण की दृष्टि से अद्वितीय है[1]। संगीत के विविधागों का चित्रकला में रंगों के माध्यम से प्रस्तुत करने की शैली पहले प्रचलित रही है या नहीं यह स्पष्टता से नहीं कहा जा सकता है क्योंकि इसके पूर्व प्राप्त चित्रों में भित्तिचित्र, या मूर्तियों में इस तरह का प्रस्तुतीकरण उपलब्ध नहीं होता है। साहित्य में विष्णु धर्मोत्तर पुराण में इस तरह के चित्रण को चित्रगत भेदों में स्थान मिला है[2]। इसमें इन चित्रों को लयात्मक श्रेणी में रख 'वनिका' की संज्ञा दी है। सूरदास के भक्तिरस के पद प्रायः सभी गेय और राग-रागिनियों में निबद्ध है। इन राजपूत चित्रकला शैली के चित्रकारों को सूर साहित्य से अंशतः प्रेरणा रागमाला के चित्रण में मिली है। इसके पहले बुन्देलखण्ड में मलिक मुहम्मद जायसी कृत पदमावत के रागमय पदों का प्रचलन था। पदमावत के गेय पदों का प्रचार सोलहवीं शताब्दी तक बहुत हो गया था। भक्त चित्रकारों ने एक ओर राधा और कृष्ण को अपना आलम्बन स्वीकार किया, वहीं पद्मावत से प्रभावित चित्रकारों ने प्रेम को आधार मानकर प्रेम की स्थितियों का चित्रण किया है। राधा और कृष्ण का स्वरूप सत्रहवीं शताब्दी के पूर्व तक भक्ति मय रहा है। दर्शकों-प्रेक्षकों की दृष्टि में राधा-कृष्ण भगवान ही रहे हैं किन्तु रीतिकाल में आकर वे एक साधारण सांसारिक भोगी हो गए हैं। यही स्थिति रागमाला में उपलब्ध होती है। रागमाला के कृष्ण और राधा रागों और रागिनियों में व्यक्त और ध्वनित जीवन के विभिन्न कार्य-व्यापारों को वहन करते प्रतीत होते हैं। रागिनी वसंत में तो कृष्ण को रसिया की तरह औरतों में नचाया है। कहीं पर उदात्त चित्रण भी है। प्रथम वसंत, में बीकानेर शैली में चित्रित राष्ट्रीय संग्रहालय ४८ १४।६६ देखी जा सकती है। इस विभिन्नता की सीमा परिसीमा जीवन के सभी अंगों को छूती है। विशेष कर नारी और पुरुष के प्रेम व्यापारों को रागमाला चित्रों में व्यापक रूप से अपनाया गया है। धर्म की दृष्टि से वैष्णवता है। आत्मा-परमात्मा में लीन हो जाना चाहती है। आत्मा नायिका है परमात्मा नायक है। इसमें नायिका नायक को समर्पित होती है, उसके प्रेम में विभोर होकर अपनी सुध-बुध खोती है। सूर के पदों में भक्ति का नवधा स्वरूप राग-माला में है। सूर के अतिरिक्त अन्य कवियों द्वारा रचित राग-रागिनियों में बद्ध गेय पदों का चित्रण भी हुआ है। ओरछा में जो भित्ति-चित्र व अन्यान्य चित्रण उपलब्ध है उनमें तत्कालीन साहित्य भाषा (ब्रज) के अलावा बुन्देलखण्डी बोली के गेय पदों का भी चित्रण है। कुछ चित्रों में दोहा उद्धृत किए गए हैं। इसी तरह जयपुर में चित्रित कुछ चित्रों में राजस्थानी बोली में बद्ध पद और दोहों का लेखन है।

इन राग-रागिनियों के अतिरिक्त राजपूत राजाओं ने हिन्दू संस्कृति के आधारों को चित्रकला में परम्परा के अनुसार भी स्थान दिया है। इनके पूर्ववर्ती पितामहों ने मंदिरों आदि के निर्माण में वैदिक देवी-देवताओं से लेकर राम और कृष्ण तक की मूर्तियों का निर्माण सांग-कथा-सापेक्ष पद्धति में प्रस्तुत कराई है। खजुराहों के देव मंदिरों के समूहों में भगवान विष्णु के वराह अवतार तथा पृथ्वी के उद्धार की कथा उत्खनित है। भगवान विष्णु के वराह रूप का विराट आकृति में, दैवी गरिमा के द्योतन के लिए प्रस्तुत किया है। इस मूल आकृति के चतुर्दिक कथा का सांग-उद्रेखण है। अन्य देवताओं में शिव, ब्रह्मा आदि आसीत है। गधर्व किन्नर, नाग-कुमारियां गान आदि में रत है (चित्र फलक-१८)। परवर्ती सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में चित्रकला में लौकिक शृंगारिकता राधाकृष्ण के प्रतिरूपण में, नायक-नायिका भेद के अतिरिक्त राग-रागिनियों के चित्रण में भी आ चुकी थी। मालवा में चित्रित १६७५ के लगभग दस राग-रागिनियों के चित्र ५१. ६२।१ से १०/, राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली, में विलास सज्जा ही चतुर्दिक है। मालवा के ही १६९० के आस-पास के ३१ चित्र, रागमाला के, ५१-७०। १ से ३१ तक, रा. सं. नई दिल्ली, के चित्रों में आकृति का स्थान प्रकृति ने लिया है किन्तु सुघड़ता का अभाव है। बूंदी में चित्रित रागमाला के चित्रित चित्र उदात्त और

---

१. राजपूत पेन्टिग पृष्ठ ४३।१८-२१।

२. विष्णुधर्मोत्तर पुराण—क्रैमरिश, कलकत्ता पृष्ठ ४५।

रागों के अनुकूल रस की सृष्टि करने में समर्थ हैं। बूंदी चित्र-शैली में रागमाला के चित्र बहुतायत से चित्रित हुए हैं। बूंदी चित्रशैली के रागमाला के लगभग १०० चित्र, १६८०, से लेकर १७६० तक के समय के राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली सग्रहित हैं। इन रागमाला के चित्रणों में सभी चित्रों के नायक कृष्ण और राधा नहीं है अपितु राजकुमार युवतियां के साथ, सेठ महाजन औरतों के साथ, प्रेमी-रसिक प्रेमिकाओं के साथ, पहिनावे के आधार पर, प्रस्तुत हुए हैं।

राजपूत चित्रकला के चित्रों का अधिकांश आधार भागवत-पुराण प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में है। मूलत: ये आधार भागवत पुराण की रचना या सकलन तिथि से भी पूर्व के हैं। कुछ रूप ईसवी पूर्व, कुछ रूप गुप्त-युग के हैं जो कि प्रतीक स्वरूप हैं।

राजपूत चित्रकला में मांकण्डेय पुराण की कथा का चित्रण हुआ है। ये चित्र भूरी सिंह के संग्रहालय में चांबा में हैं। मांकण्डेय पुराण के ८१-९३ स्लोक देवी-माहात्म्य को विषयवस्तु बनाकर लिखे गए हैं। इसका एक प्रसंग इस तरह है कि राजा सुरथ अपने राज्य सीमा के बाहर किसी परिवार से बहिष्कृत वैश्य व्यापारी से मिला। दोनों ने अपने गृहमोह के संबंध में एक ऋषि से परामर्श लिया। ऋषि ने यह प्रकरण महामाया को सुनाया और महामाया की शक्ति का राजा को बोध कराया। तदुपरान्त देवी के महत् कार्यों के उल्लेखन के साथ प्रार्थना प्रारंभ की। एक समय महिषासुर ने अपने दुष्ट राक्षसों की सहायता से भगवान विष्णु का हरण कर लिया। तब महामाया ने अपनी विशेष शक्ति के बल से चंद्रिका: अंबिका का निर्माण किया। भीषण युद्ध के उपरान्त चंद्रिका विजयी हुई। देवताओं ने गुण-गान किये। कुछ समय उपरान्त पुन: शंभु-निशंभु नाम के दानवों ने देवताओं का अपहरण किया। चण्ड और मुण्ड दानवों के नेतृत्व में युद्ध का संचलन हुआ। इस समय काली के नाम से इनका सर्वसंहार किया। यह देवी महात्म्य सुन कर राजा सुरथ ने देवी की पूजा वंदना की। देवी ने प्रसन्न हो इस राजा को आठवाँ मनु 'सार्वणि' होने का आशीष दिया। मालवा कलम में इस विषय पर चित्रण हुआ है। इसके संबंध के तेरह चित्र ५१.५९। १ से १३, राष्ट्रीय संग्रालय, नई दिल्ली, में है जिनका चित्रण ई. सन् १७०० के लगभग का है।

भागवत पुराण की अनेक संघटनाओं को राजपूत चित्रकला शैली में, चित्रण का विषय बनाया है। क्षीर-सागर का मंथन जिसमें मंदराचल को मथानी के रूप में तथा वासुकी को रज्जू के रूप में प्रयुक्त किया है। मंथन के हेतु रज्जू का संचालन एक ओर दानवगण तथा दूसरी ओर देवगणों ने मिल कर किया है। मंथन से प्राप्त विष की शिव ने अपने कण्ठ में स्थान दिया है। जिस कारण शिव का कण्ठ नील वर्ण हो गया है। इसी तरह श्री, मणि, रम्भा, वारुणी, अमिय, शंख, गजराज, ध्वनवतरि, धनु, धेनु, शशि, कल्पद्रुम, बाज की उपलब्धि क्षीर सागर के मंथन से हुई। इन उपलब्धियों का वितरण देवासुरों के मध्य हुआ। विष्णु के माध्यम से अमृत देवों को और वारुणी असुरों को वितरित हुई। एक असुर देव मध्य आ जाने से उसे अमृत प्राप्त हुआ किन्तु तत्काल ही विष्णु ने चक्र प्रहार कर उसका शीश शरीर से अलग कर दिया। तब तक अमृत उसके शरीर में पहुँच चुका था जिससे वह मृत्यु को प्राप्त न हो सका—राहु, केतु के नाम से वह असुर अमर हुआ।[1]

ब्रह्मा के जन्म का संदर्भ भी चित्रित है। क्षीर सागर में भगवान विष्णु शेषनाग पर शयन स्थिति में है। नाभि से एक कमल की व्युत्पत्ति होती है। उस कमल से ब्रह्मा का जन्म होता है।

राजपूत चित्रकला में गजेन्द्र-मोक्ष का चित्रण भी एक पौराणिक विषय है। दो ऋषि किसी संत की शाप से एक ग्रह और एक गज हो जाते हैं। पानी पीते समय ग्राह, गज का पैर पकड़ कर जल के भीतर खींचता है। गज कमल का पुष्प ले विष्णु को अर्पित कर सहायता के लिए पुकारता है। विष्णु हरि रूप में गरुड़ पर आरूढ़ हो चक्र से गज की मुक्ति कर, प्राय: दोनों ही ऋषियों का संत के श्राप से उद्धार करते हैं।

---

१. राजपूत पेन्टिंग कुमारस्वामी, प्लेट पृष्ठ १४०।

शिव और पार्वती (महादेव और उमा) राजपूत पहाड़ी कलम में कागड़ा शैली में चित्रित हैं, शिव परिवार के रूप में भी चित्रित किये गए हैं। राजपूत, कलम में कुछ चित्र इस विषय पर चित्रित हुए हैं। अधिकांशतः इसमें महादेव का चित्रण हिमालय की पर्वत श्रेणियों में कहीं घूमते हुए, कहीं साधारण बैठे हुए, लम्बे बाल वाले योगी स्वरूप में, पार्वती के साथ प्रस्तुत किया गया हैं।[1] इनका चित्रण जटाओं में चंद्र, शीश पर गग, गले व भुजाओं में सर्प, चारभुजा-वाले, हाथों में त्रिशूल, कमण्डल, डमरू, गला नीला, बांघबर पहने हुए, हुआ है। साथ में मानवी राजकुमारी रूप में पार्वती है। इनके साथ कहीं-कहीं गज के सिर-धारी-गणेश, तथा छः मुख वाले कार्तकेय का भी चित्रण है। नंदी सदा साथ ही होता है। शिव विवाह का चित्रण भी बहुतायत से है।

शिव और पार्वती के चित्रण की एक विशेषता है कि इन चित्रणों में प्रकृति का चित्रण निश्चित मिलता है। सामान्यता व्यास घाटी की ऊचीं नीची भूमियाँ, देवदार के वृक्ष, बहते हुए नाले—झरने, विस्तृत फैली हरित घाटियों का आयाम है। इस तरह का वातावरण कृष्णलीला के चित्रणों में भी राजपूत चित्रकला शैली में प्रस्तुत हुआ है। रागमाला तथा बारहमाला, षट्ॠतु में भी इस तरह प्रकृति के आयाम की प्रथा है।

तांत्रिकों से प्रभावित वातावरण का चित्रण राजपूत चित्रकला शैली में है। सातवीं आठवीं शताब्दी से हिन्दूधर्म में तंत्रों का प्रवेश होने लगा था। इसमें शक्ति ही संसार की सर्वोच्च सत्ता है। शक्ति नारी है। इस रूप में सरस्वती, लक्ष्मी, दुर्गा, पार्वती आदि है। शक्ति माया है जो संसार में जन्म मरण की अधिष्ठात्री है।

राजपूत चित्रकला शैली में कृष्णलीला का चित्रण है। एक साधारण व्यक्ति के लिए कृष्णलीला एक कथा मात्र है किन्तु एक ब्राह्मण धर्म मानने वाले वैष्णव के लिए यह एक आध्यात्मिक विषय है। रासलीला आत्मा और परमात्मा के अनन्य प्रेम की प्रक्रिया है। आत्मा भक्त है परमात्मा ईश्वर, गोपी भक्त तथा कृष्ण ईश्वर के प्रतीक हैं। इसमें समाजगत नैतिकता का बन्धन नहीं है। कृष्णलीला, रासलीला, राधा-कृष्ण के चरित्रों की अभिव्यक्ति में समयानुसार परिवेशिक-सापेक्षता है। राजपूत कलम में जयपुर शैली में प्रस्तुत लीला का चित्र अपनी आध्यात्मिकता को बनाए हुए है। कृष्ण-राधा और गोपियों के अतिरिक्त अन्य जीव-जगत का भी अस्तित्व समीप में ही दिखाया है। मोर, मछली प्रेम के प्रतीक के रूप में चित्रित किये गए हैं।

राजपूत चित्रकला शैली में श्री नाथ जी का चित्रण है। श्री नाथ जी की मूर्ति मथुरा के पास वृन्दावन पहाड़ी पर १५वीं शताब्दी में बल्लभाचार्य को वहीं खण्डहरों में दबी स्वप्न में दिखी थी। बल्लभाचार्य ने उस मूर्ति का उद्धार किया। सत्रहवीं शताब्दी में औरंगजेब के भय से यह मूर्ति राजसिह के संरक्षण में उदयपुर से ३६ किलोमीटर उत्तर की ओर श्रीनाथ स्थान पर पुनः स्थापित हुई। चित्रों में इस स्थान तथा घटनाओं की अभिव्यक्ति चित्रित है। इस कथा पर अधिक चित्र श्रीनाथद्वारा चित्र शैली में चित्रित हुए हैं।

श्रृंगार रस की विभिन्न स्थितियों को अभिव्यक्त करने वाले चित्रों का चित्रण एक विशेष महत्ता से प्रस्तुत किया गया है। नायक-नायिका के संयोग और वियोग की सूक्ष्म-अंतर्दशाओं की अभिव्यक्ति की गई है। नायिका के विकास कालीन अवस्थाओं का चित्रण है। यह सब काव्य में वर्णित नायक-नायिका भेद, के आधार पर प्रस्तुत हुआ है। इस श्रृंगारिक अभिव्यक्ति में राधा-कृष्ण की सहायता ली गई है। ये ही प्रायः हर भाव व दशा को व्यक्त करने वाले नायक-नायिका हैं जो कि भगवान की अपेक्षा सामान्य नारी और पुरुष तथा कहीं युवक और युवती के समान है। इसके मूल में युगीन सापेक्षिक स्थितियाँ हैं और यह उसी तरह के क्रमावशेष में चित्रित हैं। जिस तरह सूर तुलसी के आध्यात्मिक नायक-नायिका रीतिकाल में आकर केशव देव बिहारी की एक सामान्य मानव की आवृत्ति में रह गए। इसके साथ ही सांगीतिक अन्विति में भी मन की सूक्ष्मताओं का, प्रतीक रूप में परिवेश के प्रश्रय में, चित्रण हुआ है।

१. राजपूत पेन्टिग-कुमारस्वामी, पृष्ठ १२५।

रागमाला का चित्रण इसी तरह का है। राजपूत कलम की यह अपनी विशेषता है।

महाभारत के प्रसंगों में नल-दमयन्ती के मार्मिक प्रसंगों को चित्रकारों ने अपना विषय बनाया है। गान्धारी, कुरुराज तथा महाभारत के युद्धों का भी चित्रण हुआ है। महाभारत का चित्रण अकबर के काल में फतेहपुर सीकरी स्थित बादशाही चित्रशाला में 'रज्मनामा' के रूप में हुआ है। बाद में अठारहवीं शताब्दी में यह रज्मनामा, मुगल वंशजों ने जयपुर नरेश को भेंट में दे दिया जो कि जयपुर पोथीखाने में सुरक्षित है। महाभारत का चित्रण जोधपुर चित्रशैली में भी हुआ है। यह विषय आमतौर पर राजपूत कलमों की सभी शैलियों में किसी न किसी रूप में चित्रित हुआ है।

रामायण कथा तो साहित्य में प्रमुख रूप से रही है। चित्र गत इतिहास में भी इसका आयाम बहुत पहले से रहा है। भवभूति द्वारा रचित उत्तर राम चरित के प्रथम अंक से पता चलता है कि दीवाल पर रामकथा चित्रित थी। छठी शताब्दी में निर्मित गुप्त मन्दिर देवगढ़ में राम कथा पर आधारित मूर्तियों का उद्दारण है। इसके उपरान्त एलोरा में प्रस्तर भूमि पर रामायण का चित्रण अपने ही ढंग का हुआ है। इसके इतर देव-मन्दिरों में जो कि राजपूत राजा-नरेशों द्वारा निर्मित कराए गए, उनमें किसी न किसी रूप में राम-कथा का आयाम रहा है। राम की कथा का राजभवनों, देवभवनों तथा सार्वजनिक स्थलों पर चित्रण मन्दिर के समान ही पवित्र कार्य समझा जाता था। ओरछा नरेश वीरसिंहदेव जू ने लक्ष्मी मन्दिर में रामायण का चित्रण कराया है। तालवेहट में भी मन्दिर की भीतरी दीवालों पर रामायण चित्रित है। प्राय: सभी कलमों व शैलियों में रामायण का चित्रण मिलता है।

राजपूत कलम के चित्रों में राजपूत नरेश हम्मीर हठ का चित्रण मिलता है। इसमें राजपूत शौर्य, अलाउद्दीन के साथ हम्मीर का युद्ध, रानियों का जौहर और हम्मीर का शिव को स्वशीश अर्पित करने की घटनाएँ विशेष रूप से चित्रित हुई हैं। इस कथा को प्राय: व्यापकता से प्रस्तुत किया गया है[1]।

मालती-माधव का चित्रण राजपूत कलम में प्रेमाख्यानक चित्र परम्परा में मिलता है। मालती-माधव, संस्कृत-नाटकाचार्य भवभूति की कृति है। इसकी कथा के आधार पर उज्जैन के पड़ौसी राज्य के मन्त्री का पुत्र माधव उज्जयनी विद्याध्ययन के लिए आता है जहाँ कि वह उज्जयनी के मन्त्री की पुत्री मालती के प्रेम में आशक्त हो जाता है। यह विषय राजपूत कलम के चित्रकारों का प्रिय विषय रहा है[2]।

प्रेम पर मर-मिटने वाली पंजाब की कथा सोहनी और महिवाल के नाम के साथ जुड़ा है। महिवाल भैंस चराने वाला है। सोहनी एक रहीश की लाड़ली पुत्री, महिवाल से प्रेम करती है। सोहनी रात्रि में नदी को घड़े के सहारे तैर कर मिलने जाया करती है। यह बात सोहनी की भावज को मालूम हो जाती है। वह पक्के घड़े की जगह कच्चा घड़ा रख देती है। रात्रि में सोहनी वही रखा हुआ कच्चा घड़ा लेकर नदी में तैरने को उतर जाती है। कुछ ही देर में कच्चा मटका गल जाता है और सोहनी सदा के लिए जल समाधि ले लेती है[3]।

शशि-पुन्नह की प्रेम कथा भी राजपूत कलम की चित्र शैलियों में चित्रित हुई है। इसका मूल प्रसंग इस तरह है। इसमें एक ब्राह्मण को किसी ज्योतिषी ने बताया कि तुम्हारी जो पुत्री होगी उसका विवाह किसी मुसलमान के साथ होगा। इसको टालने के लिए ब्राह्मण ने लड़की के जन्म लेने के साथ ही उसे नदी में बहा दिया। उसे किसी मछुहारे ने पकड़ लिया और उसका नाम शशी रखा। बाद में उसके यौवन की गौरव गाथा मुसलमान मनसब दार के बेटे पुन्नाह ने सुनी तो वह सौदागर का वेश बनाकर शशि के गाँव आया। शशि ने पुन्नाह का मूल उद्देश्य जाना और उसे अपना प्यार दिया। इसका ज्ञान जब पुन्नाह के पिता को हुआ तब उसने दोनों को अलगा दिया। पुन्नाह के मिलन की तीव्र अभिलाषा लेकर शशि उसकी खोज में निकल पड़ी। मार्ग में एक बकरिहारे ने पुन्नाह की प्रिया शशि को रोकना चाहा। शशि ने पृथ्वी से प्रार्थना की कि वह फट जावे। ऐसा ही हुआ। इसी बीच पुन्नाह भी आ गया। उसने शशि की साड़ी

१, २, ३. राजपूत पेंटिंग, कुमारस्वामी पृष्ठ ११७ से आगे।

जो कुछ ऊपर शेष रह गई थी उसे पहचान लिया। पुन्नाह ने भी पृथ्वी से प्रार्थना की। इस तरह दोनों ही प्रेमी कब्र में मिल गए।

लैला-मजनू के अहवाल ईरानी कथानक के स्वरूप राजपूत कलम में चित्रित किए गए हैं। पद्मावती ऐतिहासिक संघटना के रूप में अधिक विख्यात राजस्थान में रही है अतएव कहीं-कहीं स्वतन्त्र रूप से पद्मावती का भी चित्रण मिलता है। माण्डौ-मालवा की प्रसिद्ध प्रेम कथा रूपमती और बाजबहादुर की, अधिकांशतः चित्रित मिलती है। इस कथा का चित्रण माण्डौ पतन ईसवी सन् १५६१ के उपरान्त यहाँ से भागे हुए चित्रकारों ने चावण्डा में रह कर किया है। इसी तरह जोधपुर मारवाड़ में ढोलामारवण का चित्रण बहुतायत से है। जोधपुर पन्द्रहवी शताब्दी में निर्मित पुराने किले के सुजान महल में ढोला मरवण का ऐतिहासिक चित्र उल्लेखनीय है।

बारहमाशा और त्यौहार, हिन्दु-संस्कृति के संस्कारों का भी चित्रण समयानुसार राजपूत कलाशैली के चित्रकारों ने किया है। नरसिंहगढ़ के चित्रों में देवी भागवत की कथा का चित्रण १६७५ के लगभग का मिलता है। कोटा कलम में उषा और अनिरुद्ध की कथा का चित्रण हुआ है। मारवाड़ में गजलक्ष्मी रासमण्डल का उल्लेखनीय चित्रण है। इसके अतिरिक्त गीत गोविन्द, चौर पंचाशिका, रसमजरी, रसिकप्रिया, बिहारी-सतसई, पुहकर की रसावली, पंचतंत्र, आदि का चित्रण हुआ है। इसके अतिरिक्त मेवाड़, मालवा, बीकानेर, कोटा बूँदी में लोक कला का उदय धीरे-धीरे अल्पप्रायः रूप में अठारहवीं शताब्दी तक चित्रों में आने लगा था। प्रकृति का चित्रण शिकार दृश्यों में कोटा कलम में अधिक हुआ है।

राजपूत कलाशैली के चित्रों का प्राचीन स्वरूप इस तरह है कि रामायण चित्रण, वीरपक्ष मन्दिर बादामी का रिलीफ जिसमें राम रावण के युद्ध का दृश्य है। इसमें राम और लक्ष्मण घायल हैं। दोनों की रूपाकृति समान उद्देश्य से चित्रित की है। कृष्ण का गोवर्धन धारी स्वरूप का एक बहुत पुराना टेराकोटा बीकानेर के पास सूरतगढ़ से मिला है। दानलीला का प्रस्तर चित्रण डी-४७ मथुरा संग्रहालय में है। कालिया दमन का भी प्रस्तर मथुरा संग्रहालय में ही है। गजेन्द्र मोक्ष देवगढ़ के गलाघर मन्दिर में मिलता है। राजपूत चित्रकला शैली में गजेन्द्र मोक्ष का चित्रण बहुतायत से है। इसके तीन रूप मिलते हैं। १—मगर, २—अष्ट भुजा ग्राह तथा ३—विशाल जल जन्तु। इसी तरह गज के भी तीन रूप मिलते हैं। १—गज अकेला है। २—गज अनेक गजों के साथ अकेला पीड़ित है तथा ३—पीड़ा मुक्त अनेक गजों के साथ जल में बिहार कर रहा है। ऋषियों की दन्त कथा के अतिरिक्त गज सांसारिकता के भी प्रतीक हैं। मेवाड़ शैली में चित्रित पीड़ा मुक्त गज अपने समूह के साथ जल बिहार कर रहा है। (चित्रफलक—२७)।

गजलक्ष्मी का मूल रूप प्रस्तरों में मूर्तिकारों ने प्रस्तुत किया है। भरहुत, सांची की गजलक्ष्मी अपने वैशिष्ट्य के लिए सर्व ज्ञेय हैं। इनका स्वरूप माया देवी के सदृश्य है। यही इनकी विशेषता है। इसका चित्रण राजपूत चित्रकला शैली में अध्यात्मपरक अर्थों में हुआ है।

मारवार के निचले गुजरात प्रदेश में चातक स्वाती जल पीता हुआ चित्रित हुआ है। इस तरह का चित्रण शुद्ध भारतीय है जो कि स्थान विशेष के वैशिष्ट्य का द्योतन करता है। अन्य इतर देशों में इस तरह की चित्र संरचना का आयाम नहीं है। मथुरा की संद्यस्नाता में भी चातक का यही भाव है।

राजपूत कलम के चित्रों में वैशिष्ट्य के रूप में मूल वस्तु का चित्रण सीमाबंधों के बाहर तक हुआ है।

नल-दमयन्ती के मार्मिक स्थलों को सांग रूपक की तरह कई चित्रों में क्रम से चित्रित किया गया है। हम्मीर हठ का भी इसी तरह से चित्रण हुआ है। पक्षी की आँख का चित्रण समन्वित दूरी के दृष्टिकोण से बड़ी आकृति में है। पहाड़ बक्राकार व कलात्मक छाया प्रकाश शैली में चित्रित हुए हैं।

राजपूत कलम के चित्रों में मोर का चित्रण है। इसका चित्रण मकान की मुंडरों पर है। भरहुत, अजंता,

ओसिया के जैन मन्दिरों के तोरणों पर मिलता है। पशु-पक्षियों का स्वतन्त्र रूप से तथा अन्य मानवाकृतियों के साथ चित्रण अनेकानेक हिन्दु-जैन मन्दिरों के प्रस्तर शिल्प में उपलब्ध है। जांजगीर के विष्णु मन्दिर में उत्कीर्ण मृग, रनकपुर के पशु तथा कोटा के ६० मील पश्चिम के हिन्दू जैन मन्दिर तथा केकिंड महादेव मन्दिर में उत्कीर्ण पशु-पक्षी अपना स्वतन्त्र और समन्वित अस्तित्व रखते हैं।

राजपूत कलम में युद्ध चित्रण के पूर्व इसकी परम्परा एलोरा मन्दिर के युद्ध चित्र, केकिण्ड का हस्तियुद्ध, किराड़ू से प्राप्त हाथी का युद्ध प्रस्तर पर उत्कीर्ण, इसमें हाथी शत्रु के बाणों से घायल होकर गिरता बताया गया है[1]। अगले प्रस्तर उत्कीर्ण चित्र में रथयुद्ध और अश्वारूढ़ युद्ध दिखाया गया है[2]। जांजगीर के विष्णु मन्दिर में राम द्वारा सात खजूर के वृक्षों का एक ही बाण से भेदन प्रस्तर पर उत्कीर्ण है[3]। जांजगीर का मन्दिर दशवीं शताब्दी का प्रतीत होता है।

प्राचीन प्रारूपों के समानान्तर ही राजपूत राज्यों के विकास के साथ ही हर्ष उपरान्त, इस नई राजपूती सभ्यता और संस्कृति का विकास आरम्भ हो गया था। इस राजपूत संस्कृति की स्वतन्त्र छाप तत्कालीन राजपूतों द्वारा निर्मित और प्रस्तुत वास्तुकला, शिल्पकला तथा मन्दिरों के निर्माण में देखी जा सकती है। राजपूतों द्वारा निर्मित मंदिरों को भिन्न-भिन्न नामों की संज्ञा दी गई है। जैसे शिव मन्दिरों की परम्परा, सूर्य मन्दिरों की परम्परा, कछवाहा राजपूतों द्वारा निर्मित मन्दिर आदि हैं। कछवाहा राजपूतों द्वारा निर्मित मन्दिर कछवाहा शैली के मन्दिरों के नाम से जाने जाते हैं। इतना सब रहने के साथ ही इन मन्दिरों में एक तरह की समानता मिलती है।

१. एक मंदिर के समीप ही अन्य अनेक तत्कालीन प्रचलित मतों से सम्बद्ध मंदिरों का निर्माण होना। जैसे खजुराहों में शिव मंदिर है। उसके पास ही वैष्णव, जैन मन्दिरों के समूह ही समूह हैं अथूँना और ओसिया के हिन्दू मन्दिरों के समीप भी जैन मन्दिरों के समूह हैं।

२. प्रायः सभी मन्दिरों की वस्तु रचना एक जैसी है। इनके चौबारे, मण्डप, महामण्डप, परिक्रमा, गर्भग्रह, शिखर, शीर्ष, प्रायः एक जैसे ही है।

३. मानव-मूर्ति-सज्जा-पट्टिका, तोरण, द्वार, स्तम्भ, बंध, छत, वर्तुल आयात बाह्य, सीमा प्रदेश में, मुख्याधार के रूप में प्रस्तुत की गई है। इस तरह ये सज्जा के साथ ही साथ मन्दिर का आधार ही वहन करती है।

४. ये मन्दिर प्रायः नगरों के बाहर नदी, तालाब के किनारे अवस्थित है।

५. मन्दिरों के चतुर्दिक वैदिक तथा पौराणिक कथा के सापेक्ष-चित्रण प्रस्तर पर उत्कीर्ण प्रस्तुत किया है। जिसमें शिखर शीर्ष से लेकर भित्ति द्वार तक भी आधार फलक कार्य करते हैं। खजुराहों कण्डरिया महादेव मन्दिर की मानव मूर्तियों का अलंकरण सज्जा के रूप में बाह्य सीमा प्रदेश में सज्जा पट्टिका के रूप में प्रस्तुत किया है। यूँ ये मानव मूर्तियाँ सज्जा के साथ ही साथ मंदिर का आधार भी वहन करती है।

६. इन सभी मंदिरों में नारी-मानव मूर्तियों को मांसल प्रस्तुत किया है। प्रायः उनके स्तन भारी दीर्घ सुडौल आकर्षक ढंग में उरेहे हैं।

७. अधिकांश मन्दिरों में जीवन गत संभोग की परिसीमा तक समस्त मानव-व्यापारों को प्रस्तरों पर प्रस्तुत किया है और ये सहज ही प्रेक्षक की दृष्टि को खींचते हैं। इनका स्थान सहज दृष्टि गम्य रखा गया है। रनकपुर के जैन मन्दिरों में तथा खजुराहों के मन्दिरों में इस तरह के चित्र अंकित मिलते हैं। कोणार्क में भी यह रूप विद्यमान है।

---

१. किराडू मन्दिर—८११।६४, आर्कोलाजी सर्वे आफ इन्डिया, फोटो लायब्रेरी।
२. " " ८१३।६४, " " "।
३. जांजगीर वेल्यूम नं १, ३६६।६० " "।

८. कमल प्रायः प्रत्येक मन्दिर में कहीं सौन्दर्य का प्रतीक बनकर, कहीं आध्यात्मक का वाहन बनकर और कहीं केवल प्रकृति रूप में आया है।

९. शैव सूर्य, वैष्णव, जैनादि मंदिरों में देव मूर्ति को छोड़कर मानव मूर्तियों की रूपाकृति में समानरूपता है।

राजपूत की प्राचीनता और आरम्भिक विकास की स्थिति दर्शाने वाले कुछ तथ्य इस प्रकार हैं—

१. दक्षिण में राजा उदयादित्य (१०५९-१०८० ईसवी सन्) द्वारा एलोरा में निर्मित युद्ध विषयक चित्र जिनमें अंकित बड़ी मूंछें और ऊपर कपोलों पर जड़ी हुई टुकार दाढ़ी राजपूती वेशभूषा की नकल है। इन पर लिखा 'प्रमार' तत्कालीन नागरी लिपि के समान 'स्वस्ति श्री पमार राज' के समान ही है। एलोरा गुफा के ये युद्ध विषयक चित्र उदयादित्य के समय ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में निर्माण किए गए राजपूत चित्रकला शैली के आरम्भिक अवस्था के चित्र हैं।

२. रनकपुर मन्दिर में एक प्रस्तर चित्र की विशेषता यह है कि इसमें एक प्रस्तुत स्त्री युद्धरत है। यह प्रस्तर पर उत्कीर्ण है। इसके एक हाथ में खंग है तथा दूसरे हाथ में शंख है जो कि निश्चित विजय का द्योतक है। पास ही एक बौने रूप में विपक्षी है जो कि उसकी अल्प शक्ति का प्रतीक है। ये राजस्थानी राजपूतानी का भावात्मक व्यक्ति चित्रण है। इसका निर्माण काल दसवीं शताब्दी है।[1]

३. आमेर संग्रहालय में आवनेरी से प्राप्त १२वीं शताब्दी की गणेश की प्रतिमा के वाम कोण पर नृत्य मुद्रा में एक नग्न कुमारी है।[2] इस नग्न कुमारी की रूपाकृति राजपूत चित्रकला की परम्परा की दृष्टि से महत्व रहती है। इस कुमारी की प्रतिभा में नग्नता को अल्प अलंकारों से ढक कर मर्यादा को बनाए रखा है। इस कुमारी के अङ्ग-प्रत्यंग पूर्ण पुष्ट बलिष्ठ है। इसकी रूपाकृति जयपुर शैली के अनुरूप है।

४. ओसिया के जैन मन्दिर में जैन तीर्थंकारों के अतिरिक्त सामान्य मानव मूर्तियाँ नृत्यक मुद्रा में भी प्रस्तुत की गई है।[3] द्वारों तोरणों चोखटों पर अनेक देवरूपों को रखा है। इन मन्दिरों में शैव देवताओं को भी स्थान मिला है। यहाँ की मानव मूर्तियां जैन तीर्थंकारों की विशेष आकृति से भिन्न स्थानीय राजपूत शैली के मन्दिरों की मूर्तियों के सदृश्य है जो कि राजपूत चित्रकला शैली की रूपाकृति से मेल खाती है।[4] ये मन्दिर ११वीं शताब्दी के हैं।

५. जांजगीर के विष्णु मन्दिर में अटपटी पगड़ी बाँधे दो व्यक्ति प्रस्तर में उत्कीर्ण हैं। मूछें उर्ध्व कर्णोन्मुख-लम्बायमान हैं।[5] इस प्रस्तर चित्र में प्रस्तुत पगड़ी और मूछें राजपूत चित्रकला शैली का पूर्व रूप विद्यमान है।

६. अहर में मीरा मन्दिर की नारी मानव मूर्तियाँ भावों की मार्मिकता, अंगों की राजपूती गठन के लिए उल्लेखनीय है।[6] मन्दिर पन्द्रहवीं शताब्दी का है।

७. उदयपुर संग्रहालय में वस्त्र विहीन माँ बेटे की मूर्ति भग रहित-सरल-रूप में राजपूत चित्रकला शैली का पूर्व रूप है।[7] अजमेर संग्रहालय की मूर्तियां, यशोदा कृष्ण को दुग्ध पान में रत प्रस्तर में, पलंग पर विराट् रूप में, इसी

---

१. राजस्थान, ४-९ २९।५८, आर्कालाजीकल सर्वे आफ इंडिया—फोटो लायब्रेरी।
२. राजस्थान वेल्यूम ३—६६७।५६ " " ।
३. जैन टेम्पिल ओसिया ६२४।६४, ६१०।६४ " " ।
४ जैन टेम्पिल ओसिया आर्कॉलाजीकल सर्वे आफ इंडिया फोटो लायब्रेरी संख्या—६१० से ६२५।६४, ६२६।६४, ६३६ और ६३९।६४, ६४०।६१।
५. जांजगीर वेल्यूम १, ३८८।६० फोटो संख्या आ. स. आ. इं.,।
६. आ. स. आ. इं. फोटो ला. संख्या २२६९, २२७०, २२७१।६२।
७. उदयपुर संग्रहालय एम। २२९६।६२, आ. स. आ, इं. फो. ला.।

परम्परा के विराट् प्रस्तर चित्र हैं।[1]

८. चित्तोड़ के राजकीय संग्रहालय के कार्यालय के सामने नारी की मुग्धाकृति १३वीं शताब्दी की है जो कि राजपूत चित्रकला शैली में नायिका भेद के चित्रण में प्रस्तुत मुग्धानुरूप है।

९. भरतपुर संग्रहालय एम, ३९३, रेवत का अश्वरोही सौप्रस्थानिक समारोह का प्रस्तर चित्र, १२वीं शताब्दी का कार्य है जो कि तत्कालीन राजपूत राजाओं के समारोहों के स्वरूप को प्रस्तुत करता है।

१०. बूंदी के संदर्भ का आर्कालाजीकल सर्वे आफ इंडिया फोटो लायब्रेरी-संख्या १४६४।६४ में कटार-फेंटा कमर में राजपूत चित्र कला शैली के ही अनुरूप है, यह बारहवीं शताब्दी का कला कार्य है। इसी तरह उक्त लायब्रेरी का दूसरा बूंदी का उद्धरण १४८२ और १४८३। ६४ में दिखाया गया हस्ति द्वन्द्व राजपूत चित्रकला शैली के आयातित हस्तिद्वन्द की पूर्वकालीन चित्रक—समज्जा है।

११. बरवासागर के जरायमठ के अहाते में पड़ी नारी मूर्तियों के अधोवस्त्र राजपूत चित्रकला शैली के अनुरूप घाघरा धारण किए हैं। ये दो नारी प्रस्तर मूर्ति हैं और दोनों ही घाघरा धारण किए हैं। वैसे इस मंदिर की अनेक नारी आकृतियां अधोवस्त्र पहिने हैं, अधिकांश मूर्तियां खण्डित हैं। किन्हीं खण्डित मूर्तियों में भी घाघरा प्रतीत होता है।[2] चित्र में गंगा का मानवीकृत स्वरूप मकरवाहिनी के रूप में घाघरा पहने हुए प्रस्तुत किया है। (चित्र फलक-७) चित्र भी देखिए।

१२. ग्वालियर किले में मानसिंह तोमर (१४८६ से १५१६ ईसवी सन्) द्वारा निर्मित मान मन्दिर में आकृतियुक्त जालियां, फर्श, तथा दीवारों पर बने चित्र, राजपूत चित्र कला शैली की परम्परा को प्राचीन मूर्तिकला की शृंखला मे सम्बन्ध करते हैं।

१३. राजपूत कलम में बहुविधि चित्रित कृष्ण और उनकी लीला का चित्रण अन्य विधाओं में बहुत पहले से पाया जाता है। भारत कला भवन बनारस में उपलब्ध प्रस्तर खण्ड में उत्कीर्ण आकृतियों में एक गोपी दही मथ रही है तथा दो पीछे घटों के साथ खड़ी है। दही घट में बालकृष्ण मक्खन निकालने के लिए हाथ घट में डाले हुए दिखाए गए हैं।[3] यह प्रस्तर चित्र छठवीं शताब्दी का है। इस चित्र के अवलोकन से राजपूत चित्र कला गत प्रवृत्तियों का आरंभिक सूत्रपात मिलता है।

१४ सूरतगढ़ के पास मिट्टी का उद्रेखित फलक दर्पण के साथ सुन्दरी, प्राप्त हुआ है।[4] यह लगभग ईसवी सन् दो सौ से चार सौ तक का है। दर्पण के साथ सुन्दरी का होना राजपूत चित्रकला शैली में कुंकुमा रागनी का द्योतक है। अंगों के आभूषण और चितवन नायिका के मुग्धा स्वरूप का द्योतन करते हैं। यूं तो दर्पण के सुन्दरी का प्रस्तुतीकरण प्रस्तरों में भी कम नहीं है। खजुराहो देवमन्दिर समूह में लक्ष्मण मंदिर में प्रस्तुत दर्पण के साथ नायिका है। रागमाला की चित्रण विधा में इस तरह का स्वरूप रागिनी खम्भावती का भी है जिसमें कि वह नायिका दर्पण में अपना रूप देख कर अभी वास्तविकता को समझती है कि वह प्रेम के सर्वथा योग्य है। नायिका अपने ही सौन्दर्य पर मुग्ध होकर ऐसा निश्चय करती है। (चित्र फलक १३)

१५. उदयपुर संग्रहालय में प्राप्त मां बेटे की मूर्ति को स्थानीय मृणमूर्तियों की शैली का कहा जा सकता है। इसका

---

१. अजमेर संग्रहालय १४३५। ६४ „ „।

२. बरवा सागर, आ. स. आ. ई. फो. ला. संख्या २१०५, २१०६, २१०७।६०।

३. के. भरथ अइयर इंडियन आर्ट, ए सार्ट इंट्रोडक्सन पृष्ठ-२४, प्लेट नं० १६।

४. मार्ग, मार्च १९५९, पृष्ठ–१३।

आधार सिर के पीछे गोल ठोस समान घेरा है। अतिरिक्त मूर्ति की रचना में सरलता सीधापन 'स्टेटनेस' है। यह प्रवृत्ति राजपूत चित्रकला में स्पष्ट हुई है। अतएव यह बीच की कड़ी प्रतीत होती है। यह गुप्त काल के बाद की प्रतिमा हैं।[1]

इसके उपरान्त राजस्थान के राजपूत नरेशों के यहां कला को संरक्षण तथा संवर्धन मिला है। जैसे कि जयपुर के पोथी खाने में अकबर कालीन रज्मनामा सुरक्षित है। वैराट में सुरक्षित मानसिंह कछवाहा के उद्यान भवन के भित्ति चित्र जिनकी तिथि बाह्य प्रमाणों से १५८६ से १५८७ ईसवी सन् निर्धारित हुई है। ये राजपूत कलम का द्योतन करते हैं। डीग के महल और छतरियां तथा अम्बर के राजा बिहारीमल और भगवान दास की छतरियों की छतों पर बने चित्र जिनकी तिथि लगभग सोलहवीं शदाब्दी का अन्तिमदशक है, राजपूत कलम की जयपुर शैली का पूर्व रूप है। डींग की छतरियों में की हुई चित्रकला से राजपूत चित्रकला के अभ्युदय का स्वरूप स्पष्ट होता है। इन चित्रों में राजपूत जन-जीवन चित्रित है। संदर्भ में दिये चित्र के मध्य में समारोह का दृश्य है तथा इसके उपर दोनों कोनों में गोवर्धन को धारण करने का दृश्य है तथा कृष्ण-हिण्डोल-बिहार का अंकन है। ये दोनों ही संदर्भ राजपूत कलम की चित्र शैलियों की पूर्व-प्रवृत्तियों का द्योतन करते हैं। ओरछा के राजमहलों में जहाँगीर कालीन राजपूत कलम की बुदेलखण्ड शैली या ओरछा चित्रशैली का प्रारूप है। समस्त राजस्थान में व्याप्त स्मृति शालाएँ (पालियां) जो बीकानेर मारवाड़ के कुछ क्षेत्रों में और जयपुर में पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक की हैं, जिनमें राजपूत शिल्प के वैशिष्ट्य के साथ ही राजपूत कलम में प्राप्त वास्तु, रूप व आकृतियां समान धरातल की हैं।

राजपूत कलम की चित्र शैलियों की चित्र समज्जा विवेच्य स्थलों से बाहर, अहमदाबाद, आनन्द विश्व-विद्यालय, बड़ौदा, प्रयाग, बनारस-भारत कला भवन, नेशनल लायब्रेरी कलकत्ता, पुरातत्व विभाग नई दिल्ली, राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली, प्रिन्स आफ वेल्स संग्रहालय बम्बई, बोस्टन संग्रहालय न्यूयार्क आदि अन्य अनेक स्थानों पर सुरक्षित है जिनका कि इस शोध प्रबन्ध में अनेक जगहों सन्दर्भ दिया है। इन प्रमुख स्थानों के अतिरिक्त भी अनेक ऐसे संग्राहक हैं जिनके पास कि राजपूत चित्र कला की प्रचुर सामग्री है। जिसे कि इस ग्रन्थ के अन्त में प्रस्तुत किया है।

राजपूत कलम की अपनी विशेषता संगीत को आत्मसात करने की है। संगीत को चित्र से मिला देने का प्रयास और काव्य संगीत तथा चित्र को एक ही रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास चित्रकला में राजपूत चित्रकला का अपना वैशिष्ट्य है। इस तरह के प्रयास भारत की मूर्तिकला में राजपूत चित्रकला के आरंभ से ही उपलब्ध होते हैं। संगीत, नृत्य आदि मुद्राओं का उद्रेखण समय-समय की मूर्तिकला में हुआ है। कोणार्क की संगीतमय नारी प्रतिमाएं इस दृष्टि से देखी जा सकती हैं। चित्रकला में इनका यथावत आयाम मिलता है। (चित्र फलक-२० में इसका स्वरूप है)। प्रत्येक राग या रागिनी की एक भावात्मक-स्थिति प्रेम के प्रसंग में होती है। इस भावात्मक स्थिति की पृष्ठ भूमि में प्रकृति का सहयोग प्रेम की विशिष्ट दशाओं की अभिव्यक्ति में है। जैसे उदाहरण के लिए रागिनी टोड़ी का स्वरूप चित्र विधा में इस तरह होगा। इसमें नायिका को वीणा के साथ प्रस्तुत करते हैं। इस रागिनी में नायिका में प्रेम भावों का संचार और उसकी प्रतिक्रियाएं होती है। एतदर्थ चित्र में प्रस्तुत नायिका के समक्ष एक उजले पीले रंग में हिरण नायिका के प्रति आकर्षित बताया जाता है। इस संदर्भ में मिनियेचर्स पेन्टिग आफ मोती चन्द्र खजांची पृष्ठ ५१ पर चित्रित चित्र को देखा जा सकता है। मालकौंश नारी के लावण्य का प्रतीक है। उपर्युक्त संदर्भित ग्रन्थ के पृष्ठ ४९ का चित्र देखा जा सकता है। देशकार में आतुर नायिका को स्तम्भ आदि से गाढालिंगन में प्रस्तुत करते हैं। भैरवी में कुमारी नायिका को प्रस्तुत करते हैं जो कि नायक की प्राप्ति के लिए शिव या किसीं अन्य देवता की पूजा करती हुई दिखाते हैं। इस राग के प्रस्तुतीकरण में अधिकांशत: पार्वती की शिव आराधना चित्रित करते हैं। कहीं-कहीं

१. मार्च १९५९, पृष्ठ १३।

सामान्य सुन्दरी युवती को भी शिव लिंग की उपासना करते हुए चित्रित किया है। भैरवी का गायन काल प्रात: प्रथम प्रहर होता है। देवों की आराधना का भी समय प्रात: प्रथम प्रहर का होता है।[1] (इस सन्दर्भ में मेवाड़ कलम—राजपूत पेन्टिग प्लेट १७-६, मान्टेगोभरी, का चित्र देखा जा सकता है)। मालवा शैली में राग हिण्डोल को वर्षा ऋतु के वातावरण में चित्रित किया है। इसमें कृष्ण हिण्डोले पर बैठे हैं, साथ में उनकी प्रियतमा राधा है। हिण्डोला उद्यान में दो स्तम्भों पर लगा हुआ है। दोनों ओर दो सखियाँ या दासियाँ हिण्डोले को गति प्रदान कर रही हैं। उद्यान के वृक्षों पर मोर-मोरनी को चित्रित किया है। आकाश में बगलों की पंक्ति उड़ती हुई दिखाई है। (चित्र फलक २६ देखिए) बिलावल रागनी को हिण्डोल की पत्नी माना गया है, यह सुबह गाई जाती है। इस राग के मूल भाव में नायिका सोलह शृंगार करके अपने प्रेमी से मिलने को उत्सुक रहती है। इसके चित्रण में अधिकांशत: नायिका शृंगार करते हुए तथा सहेली उसकी सहायता देते हुए प्रस्तुत किया जाता है। वसंत रागनी में बसन्त ऋतु का भाव होता है। यह वसंतोपरान्त गाई जाती है। वसन्त का आगमन तथा प्रतीक चिह्न आम्रमंजरी है। अतएव इस राग में हर्ष उल्लास के प्रतीक के रूप नायक-नायिका मग्न होकर नृत्य करते हैं।[2] उद्यान में आम्रों को भी चित्र में प्रस्तुत किया जाता है। बाद के समय कृष्ण के साहित्य के आगमन में यह उत्सव राधा कृष्ण के नृत्य के रूप में परिवर्तित हो गया। यह मानव के सर्वोत्तम उल्लास के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इसकी संवेदना आत्मविभोरता की स्थिति उत्पन्न करती है।

असावरी रागिनी—असावरी रागिनी के मूल स्वर सपेरों की बीन पर नाचने वाले नागों के आकर्षित स्वर होते हैं। इसकी लयकारी वीन के समानरूप है। राग के चित्रण में युवती मोरपंखनुमा हल्का छोटा घुटनों तक घाघरा, चोली पहने हुए सर्प के साथ किल्लोल करती चित्रित की गई है। नाग व सर्प चन्दन के बनों में होते हैं अतएव चित्र में पर्वतीय भाग और झाड़ों का आयाम होता है। किन्हीं चित्रों में मोर भी प्रस्तुत किए गए हैं। यह रागिनी प्रेम के शोक पूर्ण वातावरण को पैदा करती है। इसमें नायिका प्रेमी की प्रतीक्षा करती है। नायिका के नेत्र प्रतीक्षा की तितीक्षा में भारी थके होते हैं किन्तु तिस पर भी वह अपने में खोई हुई अकेली सुन्दर लगती है। नायिका मलयागिरी पर चढ़ती है जहाँ कि अनेक सर्प प्रेम से लिपटते हैं। यह श्री राग की पत्नी है। इसका समय सुबह का है। गोया प्रेमिका: नायिका रात भर प्रतीक्षा कर चुकी होती है। इसलिए असावरी की लय और गुंजन में संतप्त वेदना का संचार होता है। ठीक इसी रस और भाव की अपेक्षा असावरी राग के चित्रण से होती है।[1]

घनाश्री रागिनी में प्रेमी से बिछुड़ी हुई नायिका प्रेमी का चित्र बनाकर अपने मन को किसी तरह संतोष देती है। इस तरह के उद्धरण संस्कृत और हिन्दी काव्य में बहुतेरे भरे पड़े हैं। इस राग के आशय में स्मृति का संचरण पुन: जागरित होता है। किन्हीं चित्रणों में नायिका अपने भवन में अकेली है और स्मृति उसकी गूंज के रूप में चतुर्दिक होती है। रग सादे ही होते हैं।[2] हिण्डोल एक चंचल प्रकृति का राग है। यह सावन-भादों में उत्तर भारत में बहु प्रचलित हिण्डोल के प्रतीक के रूप में चित्रों में प्रस्तुत किया गया है। इसमें नायक एक होता है नायिका अनेक

---

१. बूंदी पेन्टिग, ल. क. ए. पृष्ठ—३ फिगर—१, १६२५ का चित्र। रूपरेखा १९६३—एक ओर तीन नं०, पृष्ठ—५१ फिगर—११।

२. इंडियन पेन्टिग बूंदी और कोटा, डब्ल्यू. जी. आरचंर, प्लेट नं. ५, मेवाड़ ल. क. ए. प्लेट—५, राजपूत पेन्टिग कु. स्वामी प्लेट तीन—बी।

३. इण्डियन पेन्टिग इन बूंदी एण्ड कोटा, डब्ल्यू. जी. आर्चर, प्लेट १०। राजपूत पेन्टिग कुमारस्वामी प्लेट—५, १९१६ का प्रकाशन।

४. रागमाला मिनियेचर्स, आक्सफोर्ड—१९६५ प्र. पृष्ठ ३३, स्टूके और खंडेलवाल।

होती हैं। बाद के चित्रणों में कृष्ण और राधा को प्रस्तुत किया जाने लगा। इस संदर्भ में ऐसा कथन है कि कृष्ण ने १६१०८ गोपियों के साथ हिण्डोल बिहार के लिए १६१०८ रूप धारण किए हैं। इस राग में अल्पमिलन सुख की की संवेदना जागृत होती है।[1]

कृष्णलीला के पदों को राग सारंग में सूर ने बहुतायत से प्रस्तुत किया है तथा अन्य भक्त कवियों ने राग सारंग में कृष्ण के दोपहर के कार्यों को निबद्ध किया हैं। मेवाड़ के चित्रकारों ने बनस्थली में चतुर्भुज नल वर्ण में विष्णुरूप में पीताम्बर पहने, हाथ में शंख चक्र गदा कमल दण्ड सुदर्शन लिए, बड़ी पुष्पमाला पहने, पीछे मुड़कर युवती से पत्र-पुष्प स्वीकार करते चित्रित किया है। सामने तीन गायें तथा एक बछड़ा है। इसमें राग के माल के अनुरूप वातावरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। (चित्र फलक-२३)

मालकौस अर्ध रात्रि के बाद गाया जाता है। स्वर लालित्य में यह राग सर्वशिरोमणि है। इसका मूल भाव दो का मिलन सुख का संवेदन है। चित्रविधा में आलिंगन बद्ध युग्मों को प्रस्तुत किया है। किन्हीं चित्रों में वीर नायक जो कि युद्ध में अनेकों का संहार करके लौटा है नग्न तलवार के साथ दिखाया जाता है। बाद में नायिका-गमन पर तलवार फूलों की छड़ी में बदल जाती है। माह-फाल्गुन का समय इस राग के लिए अधिक अनुकूल होता है।[2]

स्याम-गूजरी रागिनी के चित्र में नायिका रोष मुद्रा में बाग के चौबारे में वीणा या सितार या फूल लिए एकाकी किन्तु मोर आदि के साथ सुगन्धित नेत्ररंजित पुष्पों सहित चित्रित की जाती है।[3] राजपूत कलम में इसी तरह ६ राग व ३६ रागिनियों का चित्रण हुआ है।

राजपूत राजाओं के यहां कार्य करने वाले एवं आश्रित संगीतज्ञ, चित्रकार और शिल्पकार परम्परागत पीढ़ी दर पीढ़ी एक ही राजवंश में कार्य करते रहे हैं। तथा राजपूत राजाओं में यह प्रथा बहुत ही प्राचीन है। अतएव एक स्थान विशेष पर होने वाले सांस्कृतिक विकासों में सदियों के बीत जाने के बावजूद भी एकरूपता मिलती है। यही एक रूपता इन विविध कलाकारों के दायरे में भी उपलब्ध होती है। संगीतज्ञ का परिवार भी उसी राजा नरेश के आश्रित होता था जिसके कि चित्रकार और शिल्पकार भी रहता। पीढी दर पीढ़ी साथ रहने के कारण एक दूसरे तरह के कलाकार, एक दूसरे के बहुत ही समीप आ जाने का अवसर पा गए। कला साहित्य पर एक तरह से सभी ललित कलाओं ने एक दूसरी कला को किसी न किसीं सीमा तक प्रभावित किया है। ऐसा बहुत ही कम देखा गया है जब कि एक राज्य का चित्रकार या गवैया या कवि किसी दूसरे राज्य में पहुँचा हो किन्तु ऐसी स्थिति कभी कभी अपात् रूप से आई है, जैसे कि माण्डौ का पतन, अकबर के आक्रमण के बाद १५३१ में, एक महान परिवर्तन लाया। माण्डौ के कलाकार माण्डौ और मालवा को छोड़कर चावण्डा और अन्य के राज्यों में प्रस्थान कर गए। इसकी प्रतिक्रिया मेवाड़ शैली और ओरछा शैली में प्रतिलक्षित होती है जो कि इस बात की सूचक है कि माण्डौ के भागे हुए कलाकार चावण्डा और ओरछा जा रहे हैं और वहां चित्रकला का ही व्यवसाय अपनाया है। इस सत्य का उद्रेक ओरछा और मेवाड़ शैली में सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में प्राप्त चित्रों के अद्भुत् साम्य के आधार पर हुआ है। इस वंश की परम्परागत स्थितियों का दूतरा सीधा प्रभाव राजपूत कलम की शैलियों के निर्माण में हुआ। क्योंकि राजपूत नरेशों के यहाँ समृद्ध होने वाली चित्रकला का आपस में आदान प्रदान न के बराबर रहने से ऐसा संभव हुआ है। अतएव एक राज्य में शनै शनै चित्रकला स्थानीय विशेषताओं के साथ समृद्ध होती गई जो कि समयानुसार स्थानविशेष

---

१. मिरियेचर्स इंडियन–वेनेजिया–प्लेट २०।

२. रागमाला मिनियेचर्स आक्सफोर्ड १६५३ प्र. पृष्ठ–३६।

३. मिनियेचर्स इंडियाने—वेनेजिया, प्लेट नं० १७ और २५।

की शैली के नाम से जानी जाने लगी। अतएव राजपूत कला के विकास का तिथिक्रम चित्रशैलियों के आधार पर इस तरह है।

जोधपुर राजस्थान का प्रमुख नगर रहा है। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि इस नगर को राष्ट्रकूट राजवंश ने बसाया था तथा इस राज्य व नगर की सांस्कृतिक महत्ता है। चित्रकला का स्वरूप जोधपुर में दोनों दृष्टि से था। प्रथम यह कि राजाओं, धनपतियों के द्वारा प्रोत्साहन मिला हुआ था। द्वितीय यह कि चित्रकला का एक सर्वसामान्य व्यावसायिक रूप भी था। व्यावसायिक रूप से आशय उस तरह की चित्रकला से है जिसका कि अच्छा बाजार था। जैसे जालोर के बने जैन कल्पसूत्र, नागौर की सचित्र पोथियाँ, रामायण, महाभारत की कथावस्तु पर आधारित चित्र मालाएँ, कल्किकथा, सील कुंअर री वार्ता, विक्रमादित्य री वार्ता, कामसूत्र, संग्रहणी सूत्र, ज्योतिष के ग्रन्थ, कच्छ-बच्छ की बात, राजा रिसालू री बात, पदमावत, मधुमालती, राग-रागिनियाँ और नायिकाभेद पर चित्र थोक भाव से बनवाये जाते थे और उनकी बाजार में खपत होती थी। इस तरह की स्थिति में यह बात अवश्य सत्य है कि चित्र कला का उपयोग सर्व सामान्य के लिए मनोरंजन के लिए किया गया है तथा धार्मिक प्रचार-प्रसार का अंश भी सम्मिलित रहा है। पर इससे यह नहीं कहा जा सकता है कि विपुल चित्र राशि में प्रथम श्रेणी की चित्रकला का निरूपण हुआ होगा या कलात्मकता की मात्रा किन अंशों में हो रही है इनका अवलोकन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि चित्रकारों ने विशेष परिश्रम नहीं किया है। क्योंकि रेखाएँ बहुधा शक्तिहीन, वांछित लक्ष्य की हीन द्योतन, भारहीन, गतिहीन मोटी है। चित्रों में केवल रंग ही रंग प्रतीत होता है। प्रेक्षक पूर्वज्ञान से चित्र को ग्रहण करता है।

चित्रकला के इस प्रचुरता से पाये जाने वाले स्वरूप को जिसे कि चित्र कला समीक्षक की दृष्टि से व्यवसायिक रूप कहा जाना अधिक उचित है किन्तु यह आज के व्यवसायिक रूप से भिन्न है। चित्रकला के इस रूप की अपेक्षा जो प्रथम रूप है जिसे कि यहाँ के राजाओं, जागीरदारों और धनपतियों ने प्रोत्साहित किया है, वह राजपूत चित्रकला के इतिहास में अपना पृथक सबल रूप रखता है। यहाँ के राजाओं में महाराजा जसवन्तसिंह, अजीत सिंह चित्रकला के अधिक प्रेमी थे। इनके समय के सामूहिक, दरबारी, शिकारी व व्यक्ति चित्र आज इतिहास के प्रतीक हैं। यहाँ राजाओं का मुगल दरबार से संबंध रहने के कारण, यह बहुत ही सहज है कि मुगल दरबार के चित्रों का जोधपुर में आयाम हुआ हो जिसका कि अंशतः प्रभाव अठारवीं शताब्दी के जोधपुर के चित्रों की आकृतियों में आया है। यही कारण है कि आकृतियाँ जयपुर, किसनगढ़ और सामान्य राजपूत चित्र कला शैलियों की आकृतियों से लम्बी है। वस्तुगत प्रभाव भी कहीं-कहीं बाद में आ गया प्रतीत होता है।[1] जैसे कि कबूतर को उड़ाती हुई युवती, हाथ में कलिका को लिए मुग्ध यौवना, आदि के चित्र (मुगल कलम से प्रभावित) कहे जा सकते हैं।

जोधपुर के चित्रों की यह विशेषता है कि वस्तु के चयन में शुद्ध तत्कालीन परिवेशगत लोकप्रिय वस्तुओं को ग्रहण किया है। ढोला मारू की कथा को लेकर अनेक सुन्दर से अति-सुन्दर-तम् चित्रों का चित्रण प्राप्त होता है। इसमें कहीं ढोला मारु को ऊँट पर बैठाकर अपने देश को जा रहा है, किसी में ढोला मारू प्रेमी युग्म खजूरछाया से प्रेमाभिव्यक्ति कर रहे हैं, किसी में मारु ढोला को संदेश भेज रही है, किसी में एक विशेष प्रकार का राजस्थानी पक्षी कुरजा अपने पंखों पर मारु की हृदय-व्यथा लिखा कर उड़ी जा रही है। किसी में ढोला को मारु के दूर देश की कथा चारण सुना रहा है, इस तरह आद्योपान्त चित्रण हुआ है जिसे प्रेक्षक देखकर देखता ही रह जाता है, उस राजस्थानी सौन्दर्य को जिसे कि तत्कालीन चित्रकार ने कथा के मूर्तिकरण के माध्यम से उस चित्र में समाहित कर दिया गया। लोक चित्रकला में पाबू जी राठोड़, डूंग जी, जुझार जी आदि वीरों के वीरत्व मय कार्य विविध रूपों में चित्रित किए गए है। भूमलदे, निहाल दे, जैसी प्रेम पर बलि जाने वाली युवतियों की कथा भी प्रिय विषय रही है। अमरसिंह

१. राष्ट्रीय संग्राहालय नई दिल्ली चित्र संख्या ४७.१३०/५०६।

राठौड़, वीर दुर्गादास, वीरों का चित्रण, युद्ध सन्नद्ध घोड़े पर सवार स्थिति में प्रस्तुत किया है।

राजमहलों के चित्रकारों ने श्रृंगार के विविध रूपों को राजमहलों की दीवारों पर, काँचों पर, छतों पर चित्रित किया है। भित्तिचित्रों में एवं ४ फुट ६ फुट के बने चित्रों में हाथियों पर चढ़े राजा, उनके साथ चंवर धारणी, छत्र, मोर्छल लिए परिचायक गतिमय रूप में प्रस्तुत किए है। कहीं विदेश से लौटते प्रियतम की प्रतीक्षा करती हुई नायिका, वर्षा ऋतु व अन्य ऋतुओं को काव्य कला की तरह उद्दीपक रूप में चित्रित किया है। यहाँ के चित्रणों में पुरुषाकृति ओज एवं शौर्य मय उग्रता को व्यक्त करती है। ऊपर को जाती हुई घनी दाढ़ी, लम्बी मूछें, लम्बी ऊँची पगड़ी, मांसल ठुड्डी, लाल आखें, खिंची भोंहे, भरा मुँह, कान तक बाल, मोटी गर्दन, भारी उभरे स्कंध, लम्बी नाक, स्थूल बाहू, झुके ओठ, मोटा लम्बा कलेवर, लम्बा जामा, कमर में तलवार, हाथ में माला, एक वीर पुरुष के स्वरूप का चित्रण है, यही साधारणतः अधिक है। अलकारों में पगड़ी में झुमके, गले में फुंदने, मुक्तामालाएँ, कहीं-कहीं कानों में भी मुक्तमालाएँ हैं। इन वीर पुरुषों के घोड़े भी हट्टे-कट्टे-मांसल, बहुविधि अलंकृत ही प्रस्तुत हुए हैं। परिचायक गणों का चित्रण सहज ही परिचायकवत ही ढीला-ढाला किया गया है। नारी की आकृति अंशतः मुगलिया नारी से प्रभावित कुछ लम्बी है। पहनावें में भी मुगलिया ढंग मिलता है। इसी तरह अलंकारों के संबंध में भी स्थिति है। रूपाकार में नारी का माथा बाहर निकला हुआ। सर्पाकृति लटें कपोलों तक झूमती हुई, खंजरांकृति नेत्र लाल ओठ, हास्य मुद्रा में, लम्बी गर्दन, भरा सीना, पट्टमय पतली कमर, कहीं मुगल वस्त्रों में, कहीं राजस्थानी वस्त्रों में, भवनों की छतों पर, बागों में अनेक सहेलियों के साथ क्रीड़ा करती हुई चित्रित की गई है।

जोधपुर शैली के चित्रों में पीला रंग व्यवहृत है। हासिए लाल, उनकी किनारियाँ पीले रंग की रेखाओं से बंधी हुई है। घटाटोप बादल काले-काले, सर्पाकृति में विद्युत रेखाएँ प्रकाशमान रंगों से युक्त हैं। आम का वृक्ष रक्त किसलयों से युक्त जोधपुर कलम की मौलिकता का परिचायक है। ऊँट और घोड़ा पशुओं में, कुरज पक्षी यहाँ की विशेषता में है। मानव आकृतियां साधारणतः लम्बी, नेत्र खंजन के सदृश्य है। चढ़ा-उतारीं पीली पृष्ठ भूमि पर लता वृक्षों का आयाम भवनों के चित्रण स्थानीय भवनों के वास्तु-शिल्प सदृश्य हैं। इसी भूमि पर मोर का चित्रण भी अधिकता से है। यहाँ का मोर बूंदी के मोर के सदृश्य बनाने का प्रयत्न प्रतीत होता है जोकि बूंदी के मोर से कुछ हेय ही उतरता है। चित्रों में प्रस्तुत राजसी वैभव तथा भवनों के चित्रण में मुगल संस्कृति की स्थानीय छाया प्रतीत होती है। जोधपुर के कुछ चित्र इस तरह के मिलते हैं जो मुगल दरबार के चित्रकारों के वंसजों द्वारा चित्रित प्रतीत होते हैं। कुछ चित्रों में जो कि संभवता मुसलमान चित्रकारों द्वारा चित्रित किए गए हैं उनका उपर्युक्त स्वरूप है तथा इन चित्रों के चित्रकारों का आदर्श ही मुगल संस्कृति रही है। इन चित्रों की चित्रकला शैली में जोधपुर शैली का स्वरूप ही नहीं रह गया है या इस तरह के चित्रों का महत्व केवल इतना ही है कि वे जोधपुर में बने हैं राजपूत कलम में जोधपुर शैली में बना हुआ राजकुमार (युवराज) का व्यक्ति चित्र, जोधपुर आकृतियों का परिचायक है। इसमें जोधपुर में प्रस्तुत वस्तु, प्रकृति और परिवेश दृश्यमान हैं। (चित्र फलक २८ देखिए)

कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि जोधपुर में दीर्घ कालीन चित्रशैली की कलागत परम्परा रही है जो कि समय के तात्कालिक प्रभावों को भी ग्रहण करती रही है। मुगल आगमन के पूर्व चित्र पूर्णतः भिन्न स्तर और विधा के हैं मुगल प्रभाव अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से कमशः प्रारंभ हो जाता है। चित्रों में व्यक्त वृत्तियाँ पूर्णतः राजपूत कलम की हैं। चित्रकला के क्षेत्र में इस राज्य में चर्तुमुखी विकास हुआ है। इसमें यदि अधिकांश को छोड़ा भी जाए तब भी जोधपुर कलम अपने आप में समृद्ध अस्तित्व रखती है जो कि राजपूत चित्रकला का श्रेयस अंग होने के साथ ही साथ दीर्घकालीन परम्पराओं का सम्बल इनके साथ है। यह स्पष्ट है कि जोधपुर राज्य में प्राचीन सांस्कृतिक

केन्द्र अधिकतम रहे हैं। इन केन्द्रों में ओसिया,[१] किराड़ू[२], मण्डौर, सिरोही आबू और रनकपुर मुख्य हैं। ओसिया, किराड़ू, मण्डौर और सिरोही राजपूत हिन्दू संस्कृति के केन्द्र हैं। ओसिया में जैन संस्कृति का भी किसी समय प्रसार रहा है। रनकपुर और आबू जैन संस्कृति के प्रमुख स्थल आज भी हैं।

ओसिया किराड़ू और सिरोही के मंदिरों में उपलब्ध वास्तु और मूर्तिकला राजपूत संस्कृति की प्रतीक है। यहाँ के मंदिरों में तथा आस-पास उपलब्ध नवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी की मानव मूर्तियाँ, राजपूत राजाओं की मनोवृति के समानान्तर उनकी लोक जीवन गत धारणाओं को भी व्यक्त करती हैं, यही आगे चलकर राजपूत चित्रकला में भी उसी तरह शैव वैष्णव, मत पर आधारित धार्मिक चित्रणों की प्रचुरता रही है। यह धार्मिक इतिवृतों का आरंभिक सूत्र, राजपूत राज्यों के आरंभिक काल की ही इन मूर्तियों मंदिरों एवं साँस्कृतिक स्थलों में देखा जा सकता है। डॉ० हेरमन ग्वेटज के अनुनार अकबर के पूर्व जोधपुर राज्य प्रबल शक्ति सम्पन्न राज्य राजस्थान में रहा है। पंद्रहवीं शति या इससे पूर्व की इस अवधि में मंदिरों और राजमहलों का निर्माण हुआ है। इस समय की तक्षण कला, मूर्तिका कला प्रारूप तो उपलब्ध होता ही है साथ में चित्रकला का स्वरूप भी तात्कालीन बने भवनों में ध्वंश शेष रूप में मिलता है। यह चित्रकला का ध्वंश शेष रूप की अलग शैली है जोकि राजपूत कलम की अलग प्राचीन जोधपुर शैली के अंतर्गत आती है। इसी काल में मेवाड़ भी कला संपन्न राज्य रहा है। मालवा के अधिकांश चित्रकार मेवाड़ आते रहे हैं तथा उनका मेवाड़ से घनिष्ठ संबंध रहा है।

मेवाड़ वैसे स्वतन्त्र रूप से प्राचीन सांस्कृतिक केन्द्र रहा है। चित्तौड़ का बारहवीं शताल्दी का कीर्ति स्तम्भ और चौदहवीं शताब्दी का विजय स्तम्भ इस तथ्य का सत्यापन करते हैं। इसके अतिरिक्त पंद्रहवीं शताब्दी की कला सामग्री भी बहुतायत से उपलब्ध हो जाती है। मेवाड़ का कला के विकास के संदर्भ में सबसे बड़ा दुर्भाग्य पूर्ण काल १५६७ से १६१४ ईसवी सन् तक रहा है। १५७८ ईसवी सन् से १५८३ तक स्वयं महाराणा प्रताप को जंगलों-जंगलों में भाग कर शत्रु सेना से बचना पड़ा है। इस तरह के संकटों में मेवाड़ को मुगलिया सेना और सेनापतियों से सभी दृष्टियों से तबाह किया। मेवाड़ की सम्पत्ति लूटी, सांस्कृतिक परम्पराएँ पूरी आधी शताब्दी तक कतई बन्द रहीं गोया दो पीढ़ी निकलने के बाद मेवाड़ को शान्ति की साँस मिली। किसी भी देश की सांस्कृतिक परम्परा को नष्ट भ्रष्ट करने के लिए दश वर्ष का व्यतिरेक अधिक होता है। जापान पर मात्र दो बम गिरने से विश्व की चेतना को भयानक आघात पहुँचा है, इस तथ्य को सभी सहृदय स्वीकार करते हैं। मेवाड़ में कला की उन्नति १६२० ईसवी सन् ये १६७८ ईसवी तक विशेष रूप से रही है। इसको किसी भी तरह अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

मेवाड़ की चित्रकला की विधा के संदर्भ में यदि विश्लेषण किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि मेवाड़ शैली के नष्ट होने के उपरान्त जब में १६२० ई० के लगभग पुनः चित्रकला को प्रश्रय मिला तब निश्चित रूप से कलाकारों का आगम पड़ौसी राज्यों से हुआ होगा। अतः यह अंशतः स्वीकार होता है कि उसी तरह माण्डो १५६१ ईसवी के पतन के उपरान्त वहाँ के कलाकार, मालवा के कलाकार, मेवाड़, जोधपुर नाथद्वारे, चावण्डा, ओरछा पहुँच रहे होंगे। उसी तरह मेवाड़ के चित्रकार विपत्ति आने पर मेवाड़ छोड़कर अन्यत्र बिखर गए किन्तु मेवाड़ की पुनः शान्ति स्थापना होते ही सभी जगहों से चित्रकार मेवाड़ में पुनः आकर बस गए। उसी तरह मेवाड़ के चित्रकार विपत्ति आने पर मेवाड़ छोड़कर अन्यत्र बिखर गये किन्तु मेवाड़ की पुनः शान्ति स्थापना होते ही सभी जगहों से चित्रकार मेवाड़ में पुनः आकर बस गए। चित्रगत प्रमाणों में ओरछा और मेवाड़ की शैलियाँ परस्पर मिलती है, इसमें रंग विधा और आकृति विधा में समानुरूपता देखकर सामान्यतः मेवाड़ कलम का प्रभाव कह देते हैं। इसमें एक तरह से यह सम्भावना सही मानी जा सकती हैं कि मालवा के ही कलाकार मालवा पतन के बाद बिखर गए। यह इसलिए भी सही प्रतीत होता है कि मालवा, मेवाड़ और ओरछा की चित्रकला के कई पहलू एक ही दृष्टिकोण से समानरूप हैं। मेवाड़ के अन्तर्गत

१., २ मार्ग मार्च ५९ पृष्ठ ५४ से ५७ तथा फिगर १ से १२ तक।

चित्तौड़, उदयपुर तथा नाथद्वार भी समाहित है ।

चित्तौड़, उदयपुर व नाथद्वारा प्रायः एक ही कलम में नाथद्वारे चित्रों में आते हैं । महंतों तथा श्रीनाथ जी की मूर्ति का चित्रण ही विशेष है । इसके अतिरिक्त राधा-कृष्ण और वल्लभ संप्रदाय के चित्रों का ही चित्रण किया गया है । कृष्ण के बाल रूप का भी चित्रण है जो कि बहुतायत से है । चितौड़ में प्राप्त चित्रण वैविध्य लिए हुए हैं । मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़ से हटाकर राणाप्रताप के समय में चावण्डा कर दी गई थी । चावंडा मेदपाट (मेवाड़) की भी प्राचीन राजधानी रही है । यहाँ से १६०५ ईसवी सन् के रागिनी के चित्रों का संग्रह श्रीकृष्ण कानोड़िया के व्यक्तिगत संग्रयालय में उपलब्ध है जिनसे तथा और तत्कालीन प्राप्त चित्रों के आधार पर यह पूर्ण रूप से निश्चित हो चुका है कि यहाँ के चित्रों का विकास अपने ढंग पर हुआ है ।

मेवाड़ की चित्रकला की सर्वाधिक प्राचीन उपलब्ध कृति 'रूपासनाचर्यम्' है जिसका लिपिकाल १४२३ ईसवी सन् है । बाद में चित्तौड़ और चावन्डा चित्रकला के प्रमुख केन्द्र रहे हैं । निरन्तर युद्धों के चलते रहने के बावजूद भी धर्म-प्राण हिन्दू जनता ने अपनी धार्मिक आवृत्तियाँ यथावत बनाए रखने की कोशिशें की । जगतसिंह प्रथम १६२८-५२ ईसवी सन् तक मेवाड़ शैली की चित्रकला का सर्वोच्य युग रहा है । इसके मूल में यहाँ का सांस्कृतिक वातावरण रहा है । चित्तौड़ की कीर्ति स्तम्भ और उस पर निमित मानव मूर्तियाँ, अपने मार्मिक भावों के सहज प्रकाशन के लिए मेवाड़ की चित्रकला के समान, पूर्व रूप में है । यह हो सकता है कि चित्रकारों ने मूर्तियों से प्रेरणा ग्रहण की हो । सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दी के श्री नाथ द्वारा के चित्र बहुतायतता से बने और उसका प्रचार-प्रसार भक्तों एव यात्रियों के माध्यम से अधिकांश राजपूत राज्यों में व गुजरात में हुआ । उदयपुर की झील के महलों में निर्मित चित्र इसी सन्दर्भ में उल्लेखनीय है ।

मेवाड़ में १७वीं शताब्दी में पृथ्वीराज रासो का चित्रिण किया गया है । इसमें मूल रासो के पद को आयताकार चित्र-भूमि में शीर्षस्थ दो पंक्तियों में दिया गया है । चित्रों में पृथ्वीराज और मुहम्मद गोरी के दरबारों के कतिपय दृश्य हैं । इनमें वार्ता चित्र, युद्ध चित्र है । कुल ६३ चित्र राष्ट्रीय संग्रहालय ५५. २४ । ३५ से ९८ तक हैं । इनमें मोहम्मद गोरी के आक्रमण से लेकर पृथ्वीराज के शब्दभेदी बाण के संधान तक के चित्र हैं । ईसवी सन १६४८ में चित्रित भागवत पुराण के १०८ चित्र राष्ट्रीय संग्रहालय में, प्रारम्भ से लेकर अन्त तक कथा को प्रस्तुत करने वाले हैं । इसमें शिव गणों द्वारा यक्ष भूमि के विनास से लेकर बलि के वरदान तक चित्रित हैं । रामायण का चित्रण है । इसकी विशेषता यह है कि राम तथा अन्य पात्रों की वेशभूषा स्थानीय है । ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे राम के रूप में स्थानीय राजा ही स्वयं चित्र में आ गया हो । ऐसा ही अन्य पात्रों के सन्दर्भ में प्रतीत होता है । अधिकांश पात्रों में राजपुरुषों के वेश का अभाव प्रतिलक्षित होता है । पंचतंत्र का १७२५ ईसवी सन् का चित्रण सम्पूर्ण रूप में हुआ है । गीत गोविन्द, रस मंजरी रसिकप्रिया का चित्रण हुआ है । भागवत और कृष्णलीला का भी बहुतायतता से प्रस्तुतीकरण हुआ है । नायिका भेद में ४२ तरह की नायिकाओं के चित्रण हैं । भानुदत्त की रसमंजरी से भी कुछ मदद इस चित्रण में ली है । वैसे इन नायिकाओं के वर्गीकरण, चित्रण में केवल वर्ग ही वहन करते हैं । इस नायिका-भेद के चित्रण में प्रथमतः तो इसके नायक-नायिका राधा और कृष्ण होते हैं फिर इसके नायक और नायिका साधारण युवक और युवती होते हैं जिन पर राधा कृष्ण का आरोप नहीं होता है । इसमें नायक राजपुरुष, राजकुमार तथा नायिकाएँ अपने भेदानुकूल भी हैं । नायिकाओं का परिवेश राजकुमारी, राजरानी तथा सामान्य नारियों का सा है । रस की दृष्टि से अपेक्षित प्रभाव को संप्रेषित करने में समर्थ हैं किन्तु रूप लावण्य और यौवन में निखार नहीं आ पाया है ।

इसके अतिरिक्त एक अन्य रूप भी चित्रों का मिलता है जिसमें कि चित्र विधा शाही आस्वाद की हो गई है । इस शाही आस्वाद में हाथियों का युद्ध, गैंड़े का शिकार, महाराणा हम्मीर सिंह का सुरा-संगीत के साथ मस्त होना, महाराजा भीमसिंह का पत्नी के गले मे हाथ डालकर चित्र बनवाना, युवतियों के कुछ नग्न चित्र बनवाना तथा राजकुमार का सुरा-सुन्दरी के साथ मस्त महफिल में रमण करना आदि है ।

बिहारी की सतसई का चित्रण अंशता मिलता है। इसी तरह ढोला मारु की प्रेम कथा के भी चित्र अंशतः उपलब्ध हो जाते हैं। यहाँ के रागमाला के चित्रणों में युद्धक सज्जा को स्थान मिला है। राजाओं के व्यक्ति चित्र भी बने हैं।

उदयपुर को राणा उदयसिंह ने बसाया था। यह नगर एक सुन्दर झील के चतुर्दिक है। राजमहल इसी झील के किनारे अवस्थित है। यह वातावरण कला की प्रेरणा एव उसके प्रोत्साहन के लिए पूर्णतः कलात्मक एवं सहायक है। यहाँ की चित्रकला का विकास मेवाड़ और नाथद्वारा तथा चावण्डा की चित्रकला के साथ जुड़ा हुआ रहने पर भी कुछ स्वतन्त्रता लिए हुए है। यहाँ की चित्रकला का विकास राजा अमरसिंह, संग्रामसिंह, आरसीसिंह, भीमसिंह आदि शासकों के समय में प्रगतिशील तथा उन्नतिशील रहा है। ये उक्त शासक बल्लभ संप्रदाय के मानने वाले रहे हैं अतएव यहाँ के चित्रणों में राधा-कृष्ण का आयाम खुलकर हुआ है। इन चित्रणों में कृष्ण का जन्म, नन्द बाबा का गायदान, गायों की पूजा, उल्लासित ग्वाल, गान-नृत्य-मग्न-ब्रजवासी, दूध-दही वाली ग्वालिनें, सामूहिक होली, ब्रजबनिताएँ आदि बाल चरित्र से संबंधित अनेक तरह के चित्र चित्रकारों ने चित्रित किए हैं। इसके अतिरिक्त रागमाला का चित्रण राजपूत कलम की बहु व्यापक परम्परानुकूल ही है। इसी तरह अन्य मुख्य प्रवृत्तियों का भी चित्रण मिलता है। जैसे नायिका भेद, ऋतुमास, बारहमासा, गीतगोविन्द, कृष्णलीला, सूर के सरस पदों का भवामय चित्रण अत्यन्त ही सजीव प्रवहमान आकृतियों में हुआ है। भगवान् का चित्रण यहाँ के चित्रकारों का बहुत समय तक एक प्रिय विषय रहा है। गतिमय प्रवहमान चित्र सर्व प्रथम यहाँ ही उपलब्ध होते हैं। इन चित्रों में किसी भी एक क्षण मात्र की वस्तु स्थिति का चित्रण होता है। यह रूप उदयपुर शैली की अपनी विशेषता है। यह जैसे किसी एक उत्सव की तैयारी में कोई जूता उतार रहा है, किसी का दुपट्टा खिसक रहा है तो उसे सम्हालने का प्रयास कर रहा है, कहीं घोड़े के रथ को सजाने के लिए दौड़ धूप हो रही, तो कहीं कोई उपहार लिए भागा जा रहा है, इस तरह की विस्तृत भूमिकाओं वाले चित्र चित्रित हुए हैं।

उदयपुर के चित्रों मै बिहारी की सतसई, पंचतत्र आख्यान, कादम्बरी, पृथ्वीराज रासो, गीतगोविन्द, रसिकप्रिया, रसमंजरी, ढोला मरवण, कविप्रिया, मधुमालती, नलदमयन्ती आदि अनेकानेक काव्य ग्रन्थों से विषय वस्तु का चयन कर चित्रों को बहुविधि चित्रित किया गया है। उदयपुर के सरस्वती भण्डार में बिहारी की सम्पूर्ण सतसई चित्रित थी। इसके अतिरिक्त भी अनेक प्राचीन चित्र सगृहीत हैं जो कि भारत की राष्ट्रीय निधि स्वरूप हैं। यहाँ के चित्रों की सजीवता प्रेक्षक को अपने प्रति तीव्रता से आकर्षित करती है। यहाँ के नेत्रों में प्रस्तुत पुरुषाकृति विशाल मूछों से युक्त, मरे हुए मुख, विशाल नेत्र, अधर खुले, उदयपुर ढंग की पगड़ी, पगड़ी पर कलगी, लम्बा पायजामा, कमर में दुपट्टा, नीचे पायजामा, राजसी वैभव लिए हुए है। अलंकारों में कानों में मोती प्रयुक्त है। कद सामान्य है। रूपाकृति सुडौल है। चेहरा लम्बा ही अधिकांशतः चित्रित हुआ है। इस सन्दर्भ में मिनियेचर्स पेन्टिग मोतीचन्द्र खजांची प्लेट ६१, देखी जा सकती हैं। नारी का चित्रण यहाँ की सहज विधा में हुआ है। इसमें राधा का चित्रण तथा सूर की अन्यान्य बालोद-भावनाओं को इस ढंग से प्रस्तुत किया है कि अपेक्षित भाव की प्रणति करने में चित्रकार कवि से कहीं अधिक श्रेष्ठ प्रतीत होता है। नारी की आकृति मुख यौवन से दीप्त, खुली केश राशि, नाक पतली लम्बी, रक्ताभ पतले ओठ, भरा हुआ मांसल चेहरा, नेत्राकृति बादाम सदृश्य, दबा हुआ कपाल, बाहर को उठी हुई चिबुक, लम्बी पतली सुडौल ग्रीवा, भरा अधखुला कसा मांसल वक्ष, नग्न कटि प्रवेश, नीचे घाघरा, ऊपर पल्लू या ओढनी का चित्रण है। अलंकार सज्जा के माथे पर शीशफूल, कानों में मोती, कुण्डल गले में एकाधिक मुक्तमाल, पावों के पायजेब, हाथों में कंगन, बाजुबंव हैं।

प्रकृति का चित्रण भावों के अनुकूल प्रभायोत्पादन के निमित्त से किया गया है।[1] अधिकांशतः बादलों का चित्रण कम ही हुआ है। मृग यहाँ या प्रिय विषय है। लाल रंग का प्रयोग अधिकाधिक रूप में किया गया है। कदम्ब,

१. इंडियन पेन्टिग पेरीटिनसे, पृष्ठ १२२ और १२३।

हाथी, चकोर, भी बहुतायत चित्रित है। कुल मिलाकर यहाँ की चित्रकला का स्वरूप स्वतन्त्र रहने पर भी नाथद्वारा, चित्तौड़ तथा मेवाड़, अंशतः चावण्डा की चित्रकला से प्रभावित है। सांस्कृतिक केन्द्र की दृष्टि से बघेरा नवीं शताब्दी का विकसित केन्द्र रहा है। यह केन्द्र अपनी सत्ता में तेरहवीं शताब्दी तक बना रहा। यहाँ पर इन पाँच शताब्दियों की मूर्तियाँ उपलब्ध होती है। ये उपलब्ध मूर्तियाँ इस क्षेत्र की कलात्मक प्राचीन अभिरुचि की परिचायक है। इसी तरह तलवाणा तथा अर्थूणा भी उल्लेखनीय स्थल है। इन दोनों ही स्थलों पर हिन्दु मंदिरों में शैव, सूर्य, विष्णु मंदिरों का निर्माण भी क्रम से कई सदियों तक हुआ है। कीर्ति स्तम्भ, विजय स्तंभ स्वयं प्रेरणा के भारी श्रोत चित्रकारों को रहे हैं। अहर के मीरा मन्दिर की मूर्तियाँ भी कला की दृष्टि से उच्च कोटि की मूर्तियाँ हैं।

उदयपुर और जोधपुर के बीच में मारवाड़ की स्थिति है। राजस्थान के सभी प्रमुख नगरों में चित्रकला का व्यापक प्रभाव फैल चुका था। सभी राजा रहीस चित्रों के प्रति अभिरुचि रखते थे, उसी दौर में मारवाड़ भी किसी राज्य की राजधानी न रहते हुए भी व्यापारिक दृष्टि से महत्व का नगर रहा है। अतएव यहाँ भी चित्रों का विकास अपने ढंग पर हुआ है जिसे कि मारवाड़ कलम की संज्ञा से अभिहित करते हैं। यहाँ के चित्रों के विषय राजपूत चित्रकला शैली के अनुरूप ही हैं। रागमाला रास-मण्डल, ढोला-मारू का चित्रण उल्लेखनीय है। रागमाला के चित्रण में कुछ आकृतियों का प्रस्तुतीकरण किशनगढ़ शैली की आकृतियों के समानुरूप है। मकान का ढंग भी ४६। १६-८, रा० सं० ईसवी १७७५ की चित्रित विलावल रागनी, में किसनगढ़ की परम्परा झलकती हैं, यही स्थिति इस चित्र की आकृतियों की है। ढोला-मारु के चित्रण में मारवणी की आकृति मारवार की आकृति से भिन्न सामान्य राजपूत नारी आकृति है। गजेन्द्र-मोक्ष का चित्रण यहाँ परम्परा से कुछ भिन्न हुआ है। इसमें ९ हाथियों को एक विसाल पक्षी लेकर उड़ गया है। यह अद्‌भुत रस का, प्रेक्षक के मन में संचार करता है। यहाँ की आकृतियाँ छोटी हैं जो कि ढोला-मारु के चित्रण में देखी जा सकती है। मारवार के चित्रों की परम्परा अधिक लम्बी नहीं है किन्तु चूंकि यहां की अपनी विशेषताएँ है जिनसे यहाँ की चित्रकला की शली का अलग अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता है। यहाँ की औरते सुअर का शिकार करती हुई चित्रित हुई है। अधिकांश चित्रों में वेशभूषा तथा उनका प्रस्तुतीकरण ग्राम आधार पर हुआ है। जिसे कि लोककला में स्थान दिया जा सकता है। लोक चित्रकला में कृष्णलीला तथा राममाला के अधिकाँश चित्र प्रस्तुत हुए हैं। इन चित्रों का वातावरण गाँव का है। गाँव के ही मकान आदि इन चित्रों में दिखाए गए हैं। रासमण्डल आदि के चित्रों की पृष्ठ भूमि को रिक्त ही रहने दिया गया है। कुल मिला कर यहाँ की चित्रकला का स्थान पूर्ण परिपक्व स्थिति में नहीं आता है। केवल कुछ चित्र उत्तम श्रेणी के है।

मेवाड़ के दक्षिण में मालवा में प्राप्त चित्रकला के संदर्भ में बेसिलग्रे ने दक्षिणी राजस्थानी का नाम करार दिया है।[1] चौरवंदा और चौर पंचाशिका के चित्रों के संदर्भ में मिस्टर आर्चर ने मालवा (माण्डौ) की चित्र शैली को स्वतंत्र माना है। मालवा की चित्रकला १३वीं शताब्दी से विकसित हो रही थी ऐसा मोहन लाल गुप्त ने अपने लेख में माना है। इसके तर्क में उन्होंने बेसिलग्रे का तार्किक 'जौनपुरी' जाल जो कि 'नियामत नावाह' के चित्रों पर खड़ा हुआ था, के आधार पर है।[2] किन्तु मालवा का इतिहास ग्यास के समय से बदलता है। चित्रकला को ग्यास के ही समय में ग्यास की मृत्यु के पहले तक ही विकास का अवसर मिला हैं।[2] ग्यास की मृत्यु १५०१ ईसवी सन् में हुई। इसके उपरान्त नसीरुद्दीन १५१२ ईसवी सन् तक रहा। इसके समय में १५०३ ईसवी में 'पर्सियन कविता' बुस्तान आफ सादी' कवि 'शाहशावर कृत, जो माण्डौ में लिखी गई तथा हाजी महमूद चित्रकार द्वारा चित्रित की गई। इसमें ४३ चित्र बुखारा की कलम व शैली से मेल खाते हुए हैं। इस बुखारापरस्त कलम के मूल को जानने के लिए इतिहास यह

१. सृजन पृष्ठ ३ अंक १५ अगस्त १९७२, राजस्थान ल० क० ए०।

२. " " " ।

कहता है कि ग्यास के महलों में ग्यास के दाहिनी ओर ५०० तुर्की युवयिताँ पुरुष पोषाक में तीर कमान से सज्जित देह रक्षा के लिए खड़ी रहती थीं। इसी तरह बाई ओर ५०० अबीसीनियन युवतियों की पंक्ति होती थीं।[1] ऐसी भी स्थिति रही है कि नगर कोतवाल तक आयातित महिला होती थी। इन युवतियों का आयात बुखारा पर्सिया आदि से होता था। इन्हीं औरतों के सम्पर्क के कारण से मालवा की कलम में विदेशी पन टपकता है। ये शस्त्रधारी औरतें तत्कालीन मालवा के चित्रों में देखी जा सकती हैं।[2] ग्यास की मृत्यु के उपरान्त ही 'नियातनामा' का विवरण लगभग ५० पृष्ठों में तैयार किया गया है। इस अल्पतम् पृष्ठों वाली में पुस्तक ग्यासउद्दीन के जीवन कार्यों को चित्रित किया गया है। यह कार्य १५०५ ईसवी तक का ठहरता है। इसकी विशेषता यह है कि यह कार्य पूर्व प्राप्त कृतियों की समानानुरूपता में हटकर भारतीय रंग रेखा पद्धति के अनुरूप है। इस सिलसिले में १६८० ईसवी सन् का चीर हरण का चित्र देशा जा सकता है।[3] माण्डौ या मालवा में १६१२ ईसवी के उपरान्त मेदनीराय का प्रभाव बढ़ता ही गया। फलतः मुस्लिम दरबार की बेगमें तक हिन्दू सरदारों को सौंप दी गई। मुस्लिम सूबेदार और जागीरदारों का सफाया आरंभ हुआ तो १५३१ ईसवी तक होता ही रहा। १५३१ में माण्डौ गुजरात के अन्तर्गत चला गया। १५३५ से १५६१ तक पठान वंश का शासन मालवा—माण्डौं पर रहा। इस काल में संस्कृत प्रेम काव्य 'चौर-पंचाशिका' का चित्रण हुआ। महमूद २, के गद्दी ग्रहण के पूर्व से ही इसका प्रेम रूपमनी हिन्दू युवती से प्रारंभ हो गया। इस बाजबहादुर और रूपमती के प्रणय प्रसंगों को मालवा के व्यक्ति आज भी लोक गीतो में गाते हैं। इनके प्रेम की लहर से प्रेरित और अनुप्राणित चित्रों का भी प्रणयन हुआ है।[4] यह प्रणय हिन्दू और मुस्लिम सभ्यता के आपसी मिलान को भी प्रेरित करता रहा है। विशेषकर बाजबहादुर के समय में यह स्थिति रही है।[5] बाजबहादुर के समय में संगीत को भी चित्रकला में स्थान दिया गया है। भैरवी रागनी का चित्रण हिन्दू कुमारी रूपमती की भावनात्मक पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करता है। इस प्रणय का दुखद अत १५६१ ईसवी में मुगल आक्रमण से हुआ। इसमें रानी रूपमती ने आत्महत्मा कर ली तथा बाजबहादुर भाग गया। १५७० ईसवी सन् में बाजबहादुर ने अकबर के समक्ष आत्मसमर्पण किया किन्तु इसके बाद इसे स्वतंत्र शासक या माण्डौ का स्थान पुनः प्राप्त नहीं हुआ। इससे चित्रकला का विकसित होता हुआ स्वरूप माण्डौ दरबार के नष्ट होने से बिखर गया तथा यहाँ के कलाकार दूसरे राज्यों को भाग गए। संभवतः तत्कालीन समृद्ध स्थल चावण्डा को गए। चावण्डा में १५८० ईसवी का गीतगोविन्द उपलब्ध होता है। जिसमें कि यहाँ की चित्रकला परिलक्षित होती है और उसकी कला विधा का अल्पतः तालमेल समान बैठता है।

मालवा एक काफी अरसे तक मुगलों के सीधे शासन में रहा अतएव यहाँ पर राजपूत चित्रकला के विकास तथा चित्रण की संभावनाएँ कम रही हैं। जो भी कुछ अल्पतः कार्य हुआ है, वह चित्रकारों का निजी रूप से हुआ है। आगे चलकर १६५१ ईसवी से १६६५ ई० तक मुगल बादशाहों ने मालवा के अधिकांश भू भाग को राजपूत राजाओं को रतलाम, साईलाना, सीतामऊ, राजगढ़ और नरसिंहगढ़ राज्यों का रूप देकर सौंप दिया था। इन राज्यों में राजपूत राजाओं के बाद भी चित्रकला का श्रेयस रूप प्रखर नहीं हो सका है जिसका कि उल्लेख पृथक् कलम के रूप में किया जा सके। नरसिंहगढ़ में कला का कुछ रूप मिलता है वह इस तरह है। राजपूत चित्रकला की परम्परा में ही राग-

---

१. सेन्ट्रल इंडिया पेन्टिग, डब्ल्यू जी आर्चर पृष्ठ-३।

२. सेन्ट्रल इंडिया पेन्टिग डब्ल्यू जी आर्चर पृष्ठ-७ प्लेट १ फिगर १।

३. मिनियेचर्स पेन्टिग मोती चंद खचाँची पृष्ठ ४३ प्लेट डी।

४. इंडियन पेन्टिग, पेरी टिनसे पृष्ठ १३८।

५. इंडियन मिनियेचर्स—न्यूयार्क प्लेट ३४—रामायण का चित्र है, किन्तु पद्धति में नाच गाना इतर कलम और संस्कृति का है।

माला, कृष्णलीला बारहमासा, देवीभागवत, देवी-देवीमहात्म्य आदि मिलता है। रसिकप्रिया का भी चित्रण हुआ है।

यहाँ प्राचीन सांस्कृतिक स्थलों में राजा भोज की संस्कृत पाठशाला या उनकी नगरी के नाम से विख्यात धार एक ऐसा स्थल रहा है। अधिकांशतः यहाँ का जन सामान्य धार्मिक प्रवृत्ति का रहा है। बाजबहादुर भी कट्टर मुसलमान नहीं था। उसने अपने शासन में हिन्दु कथाओं के चित्रण को प्रोत्साहित किया है। सामान्यतः बूंदी के साथ कोटा का उल्लेख होता है। इन दोनों नगरों में केवल ३२ किलोमीटर का अन्तर है तथा एक ही राजवंश से सम्बन्धित है। कोटा को बूंदी नरेश रतनसिंह के द्वितीय पुत्र माधोसिंह जी ने सम्वत् १६२१ में बसाया था। कोटा की चित्रकला बूंदी के पास होने पर भी यह बूंदी से भिन्न है। भिन्न होने के दो कारण हैं, पहला तो यह कि नया नगर होने से चित्र-कला की परम्परा का अभाव रहा। दूसरा यह कि साधारण चित्रकारों ने ही यहाँ आकर आवास बनाया। फलस्वरूप यहाँ दीवालों पर चित्र लिखने वालों की बहुतायत रही और मौलिक चिकारों का अभाव। कोटा की चित्रकला में राजा उमेदसिंह (१७७१-१८२० ई०) के समय चरमोन्नति हुई। इनको घुड़सवारी और आखेट का बड़ा शौक था।[1] उमेद सिंह के आखेट का एक दृश्य जिस पर समय १७७१ ईसवी पड़ा है आज भी विक्टोरिया अल्बर्ट म्युजियम लन्दन में सुरक्षित हैं। इसके अतिरिक्त कोटा महलों की दीवारों पर अनेक आखेटात्मक दृश्य अंकित है। महिलाएँ भी शिकार में दक्ष प्रदर्शित की गई हैं।[2] राजा रामसिंह १८२६ से १८६६ ईसवी, में भी कोटा की कला को बल मिला है। रामसिंह के समय के चित्रों में भावों की सूक्ष्म भावाभिव्यंजना दृष्टव्य है। रामसिंह के शौर्य और साहसिक कार्यों को व्यक्त करने वाले अनेक चित्र महल के शीशों पर दर्शनीय है। अधिकांशतः दरबारी चित्रों की भरमार है। चित्रकला की इस राज्या-श्रियता के अतिरिक्त रेखाचित्रों का भी निर्माण हुआ है जो कि तत्कालीन चित्रकार अपनी जीवकोपार्जन के हेतु किया करते थे। इन रेखाचित्रों को कलाकार बाजार में बेच दिया करते थे। यहाँ एक तरह से पेशेवर चित्रकार थे जिन्होंने सहस्रों की संख्या में चित्रों को बनाया और बेचा। इन चित्रों की वस्तु राजपूत चित्रकला के ही अनुरूप हुआ करती थी।[3] कोटा की चित्रकला का विस्तृत होने के कारण कोटा की चित्रकला का अस्तित्व राजपूत चित्र कला शैली में पृथक् वैशिष्टय रखता है। यह वैशिष्ट्य कोटा शैली को स्थायित्व प्रदान करता है।

कोटा कलम के चित्रों में नारी का निरूपण अत्यन्त ही अल्प सौन्दर्य को व्यक्त करता है। अधिकांश अंगड़ाई सी लेती हुई या तो दर्पण देखती हुई है या किसी वृक्ष की डाली को पकड़े खड़ी है। ऊँचा लहंगा, वेणी अकड़ी हुई नितम्बों से भी नीचे तक लटकती है। सिर पर केश राशि ललाट के बहुत ही ऊपर से आरम्भ होते हैं जिससे ललाट की शोभा श्री कुंठित हो जाती है। नेत्र, काजल से मण्डित बादाम जैसी आकृति के हैं। नाक छोटी, चिबुक मांसल, वक्ष अत्यधिक बाहर को उभरा हुआ और कटि अतिअंत क्षीण, एक तरह से क्षीणता की परिसीमा के पार, अधर निकले हुए, बहु अलकारों का प्रयोग इन चित्रों में चित्रित हुआ है। पुरुष का चित्रण सामान्य नाटा कद, बूंदी से प्रभावित हुआ है। नीला और लाजवरदी रंग की बहुलता है। यह बहुलता यहाँ के चित्रों का वैशिष्टय समझी जाती है। चित्रों के हाशिए लाल नीले रंग से भरे गए हैं। उनमें हरे रंग की किनारी अधिकांशता परिलक्षित होती है। आकाश में घनी विद्युत रेखाएँ प्रचुरता में घुमड़ते बादलों के योग के साथ प्रस्तुत हैं। वृक्षों में चम्पा यहाँ के चित्रकारों का प्रिय वृक्ष है। इसी तरह पशुओं में हाथी, सिंह और मोर का चित्रण हुआ है। आँख बादाम या कमल कोश के सदृस्य है।

यहाँ के चित्रों के विषयों में श्री नाथ जी के चित्रों की भी अधिकता पाई जाती है। यहाँ वल्लभ सम्प्रदाय के अनेक मन्दिर होने से चित्रकारों ने रासलीला, राधाकृष्ण व भक्ति भावना के चित्रों में रुचि ली है। इसके अतिरिक्त

---

१. राजपूत पेन्टिंग प्लेट ३८, ३९ ४०।

२. इंडियन पेन्टिंग बूंदी एण्ड कोटा डब्ल्यू जी आर्चर प्लेट नं. १९, ५०, ५१, ५२,

३. „ „ „ „ प्लेट नं. ३१।

तत्कालीन लोक जीवन को अभिव्यक्ति देने वाले चित्रों का भी निर्माण हुआ है। राज महलों के अन्तर्पुर का भी चित्रण है। यहाँ के चित्रकारों में लक्ष्मीनारायण, रघुनाथ और गोविन्द राम का नाम मिलता है। एक चित्रकार लच्छीराम का व्यक्ति चित्र भी प्राप्त है। शेख मुसलमानों का कोटा में घराना है। जो कि अब भी है और जिनके पास प्राचीन चित्रों का संग्रह है। इस संग्रह को देखने व व्यक्तिगत वार्ता करने पर अनुमान सहज ही लगता है कि यह घराना तत्कालीन राजाश्रित रहा है और इस घराने को अंतर्पुर आदि सब जगहों जाने का अधिकार मिला हुआ था। इस घराने ने रेखाचित्रों का भी अधिक निर्माण किया है। हिन्दू कथाओं एवं उनके वातावरण को प्रस्तुत करने में भी पूर्ण निपुणता इनके चित्रों में भी है। यह शेख घराना आजकल लकड़ी के खिलौने बनाता है।

दूर्जन साल तथा भीमसिंह १७२४ ईसवी के लनभग के समय में चित्रों में राग-रागिनियों को भी व्यक्त किया गया है। एक तरह से राजपूत कलम की सभी प्रवृत्तियाँ कोटा की चित्रकला में मिलती है। माधुर्य इन चित्रों का विशेष गुणहै। अलबत्ता बाद के चित्रों में अंग्रेजियत की छाप है। मुगल कलम व परम्परा का केवल वास्तु रूप में हाथी ऊँट आदि की लड़ाई के चित्रों में समानुरूपता का बोध होता है। इसे प्रभाव के क्षेत्र में नहीं घसीटा जा सकता है। भवनों का चित्रण कोटा के राजभवनों के अनुकूल हुआ है। इन चित्रों में कमल पत्र, कमल, केले के वृक्ष, बूंदी कलम से उधार लिए हुए प्रतीत होते हैं।

कुल मिलाकर कोटा के रंग तीक्ष्ण, विषय वस्तु सर्व सामान्य, चित्रण मौलिकता से रहित, विन्यास सूक्ष्मता से रहित, इतर कलमों व शैलियों का दबाव स्पष्टता से प्रतीत होता है फिर भी चित्रों की बहुतायतता के कारण तथा विषय के विस्तार से व विषयों की विविध ढंगों से पुनः पुनः संयोजनाओं में आवृत्ति के कारण, कोटा शैली का अस्तित्व कला समीक्षक मानने के लिए वाध्य हैं। शिकार आदि के चित्रण की विधा में, कोटा शैली का विशेष स्थान है। १८५२ ईसवी का भैंसे का शिकार का चित्र, अपनी वैशिष्टता के लिए उल्लेखनीय है। भैंसे का भागना, घोड़ों का सरपट उलांच लेना और रावराजा रामसिंह का वार करना, शिकार साथियों का साथ रहना तथा जगह का विभाजन आदि विशेष महत्त्व रखते हैं।[1]

बूंदी राज्य की स्थापना संवन् १३९८ में राव देवा जी ने अपने बल वैभव से की थी। यहाँ के राजा एक दो को छोड़कर प्रायः सभी चित्रकला के पारखी रहे हैं व प्रेमी भी रहे हैं। विशेषकर राजा रामसिंह, गोपी नाथ, छत्रसाल, विशनसिंह आदि राजाओं का चित्रकला तथा कलाकारों को दिया गया सहयोग उल्लेखनीय है। इस राज्य में अन्य ललितकलाओं एवं शास्त्र विद्या को भी अतुल प्रोत्साहन मिला है। बूंदी, राजस्थान के दक्षिण पश्चिम में एक राज्य रहा है। खास बूंदी कोटा से ३२ किलोमीटर की दूरी पर अवस्थित है। स्वतन्त्र रियासत व राजाओं के अनन्य कलाप्रेमी के कारण यहाँ पर पलने पनपने वाली चित्रकला का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ है जो कि राजपूती परिवेश में होने के साथ अपना विशेष वैशिष्ट लिए हुए है। यहाँ के चित्रों में निस्सन्देह राजस्थानी संस्कृति का चित्रण है। इस चित्रण में बूंदी के कलाकारों की निजी आत्माभिव्यंजना मिली हुई है। उनकी अपनी अलग विधा है, एक विशेष तरह के रंगों का परम्परागत चयन है, वस्तु की अभिव्यक्ति में निजी परम्परागत दृष्टिकोण है जिससे कि यहाँ की चित्रकला में अलग अपना विशिष्ट स्थान बनाती है जिसे कि कला समीक्षक बूंदी शैली की संज्ञा से अभिहित करते हैं। इस शैली पर जोधपुर शैली के चित्रों का अंशतः प्रभाव प्रतिलक्षित होता है। इसी तरह वस्त्र के चित्रांकन में जयपुर के चित्रों की वस्त्रसज्जा की झलक मिलती है। अठारहवीं शताब्दी के लघु चित्रों पर यह उक्त प्रभाव आया हुआ है। इसके पूर्व के चित्रपूर्ण तथा प्रभावों से मुक्त हैं।

यहाँ के चित्रों में अधिक अभिरुचि के साथ सुनहरी रंग का प्रयोग किया गया है। चित्र चतुर्दिक सीमा

---

१. विंषिकी राजस्थान ल. क. ए.—६३, पृष्ठ २३।

रेखाओं में अधिकांशतः लाल या हिंगुल रंग भरा है जिसकी किनारी सुनहरी रेखा से बंधी होती है। बादल और आकाश के रंगों में बहुल प्रयोग है, सुनहले, लाल, व पीले रंगों में अरुणोदय के चित्रांकन के अतिरिक्त लाल पीले रगों का प्रयोग है। वृक्षों में केला खजूर की अधिकता से है। हरिण और सारस का चित्रण भी बहुतायत विधा से किया है। नेत्र आम्र पत्राकृति हैं। कद समान है। इन वैशिष्ट्ताओं के साथ अन्य सामान्य सभी राजपूत चित्रकला गत प्रवृत्तियों को इस शैली में देखा जा सकता है। यहां के चित्रों में पुरुषाकृति सिर पर झुकी हुई पगड़ी, घुटने तक जामा कमर में दुपट्टा, पावों में चुस्त पायजामा, कानों में मोती, कपोलों तक लटकी लटें, रौबीला भरा हुआ मुख, बड़ी मूंछ, व राजसी सज्जा में है। नारी चित्रण में, काली रेखा से विभाजित अति अरुण अधर, अर्ध निमीलित नेत्र, घनी सीधी भृकुटि, अलंकार मण्डित सामान्य ग्रीवा, पतली लम्बी बांह, मेंहदी रचे हाथ, कंचुकी चोली नुमा, कसा उभरा वक्ष, हल्का उदर, क्षीण कटि, पैर काले लंहगे से ढके, लाल चूनरी, धवल कंचुकी से वेष्टित स्वरूप है। अलंकारों में शीशफूल जड़ाऊ बिन्दी, नाक में मोती, हथफूल, बाहुओं में सुनहरी झुमके आदि प्रमुख है[1]।

चित्रों की विषय वस्तु रागमाला, नायिका भेद, ब्राह्मण, ऋतुमास, कृष्णलीलादि प्रमुख रूप से चित्रित हुई है। वर्षा ग्रीष्म शीत ऋतुओं का चित्रण उनकी विशेषता के आधार पर हुआ है। नायिका भेद का मूल आधार राधा कृष्ण ही है किन्तु ये राधाकृष्ण देव कोटि के न होकर सामान्य जन से प्रतीयमान हैं। इन चित्रों के विस्तार के लिए कल्पना का महत योग चित्रकारों ने भव्य रूप से प्रस्तुत किया है। चटकीले रंगों में[2] एक एक अंग को विशेष रूप से सजा सजा कर विविध रंग विधा में चित्र का मनोरम वातावरण तैयार किया है[3]। यहां के चित्रों में शिकार, सवारी, उत्सव और सामयिक दृश्यों का भी अंकन है। ये चित्र राजाओं की इच्छा पर बनाए गए प्रतीत होते हैं। केले के वृक्ष का चित्रण विशेष विधा में बहुलता से है[4]। रागमाला का चित्रण यहां के चित्रकारों का प्रिय विषय रहा है क्योंकि इस के चित्रण की परम्परा निरत बनी रही है। यहां के चित्रों में काम का स्वर सबल है। रसिकप्रिया का चित्रण वास्तव में रसिकों के लिए हुआ प्रतीत होता है। चित्र के उर्ध्व भाग में रसिक प्रिया का पद लिखा हुआ है तथा नीचे वस्तु का चित्रण नायक-नायिका के रूप में हुआ है। प्रकृति का आयाम है। पात्रों के वेश में अनुकूलता वर्ती है। राधा कृष्ण ही नायिका-नायक हैं। इसमें राधाकृष्ण सर्वसामान्य प्रेमी प्रतीत होते हैं। कृष्ण मोर मुकुट की जगह पाग धारण किए रसिक शिरोमणि लगते हैं। कहीं कहीं राजपूती कलगी पाग में धारण किए हैं। सभी चित्र वासना को प्रदीप्त करते हैं। कुछ चित्रों में अति है जैसे एक चित्र में राधा को आलिंगन करते हुए उसकी कमर को हाथ डाल कर कृष्ण ने दबोच रखा है जिससे राधा का पृष्ठ और वक्ष पीछे की ओर झुक गया है फलतः राधा का वक्ष कृष्ण के मुख के नीचे आ गया है[5]। रसिक-प्रिया में प्रस्तुत बूंदी की नायिका में कहीं कहीं किसनगढ़ की बनी-ठनी का रूप अंशतः उभरा है[6]। वास्तु शिल्प और प्रकृति का विस्तृत आयाम हुआ है। वास्तु में बारादरी, शीर्षस्थ गुम्मद, चौबारे हैं। कहीं-कहीं नायिकाओं की भरमार है। रसिक प्रिया के ४० पदों का चित्रण राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली में सुरक्षित है। रामायण के चित्रों में शालीनता वर्ती है। भागवत के चित्रण में भी यही स्वरूप है बारहमाशा और लैला मजनू के चित्रों में भावों की मार्मिक अभिव्यंजना रंग विधा की अपनी वस्तु है। रासमण्डल आदि के चित्रों में परिप्रेक्ष्य ऊपर से प्रस्तुत किया गया

---

१. राजपूत पेन्टिग मान्टेगोमरी प्लेट २८ और २९, टेजर्स आफ एसिया इंडियन पेन्टिग पृष्ठ १४६ से १४८ तक।
२. „ „ पृष्ठ १४२।
३. „ „ पृष्ठ १४८।
४. दी टाईम्स आफ इंडिया एनुअल १९६१ फोर बूंदी पेन्टिग प्लेट १ से ४।
५. ५१, ६४। ४ राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली।
६. „ „। ११ „ „ ।

है इसमें एक चित्र में युवती कांटा निकाल रही है जो कि बरबस प्रस्तर शिल्प की याद दिलाती है[1]। कुछ चित्र नग्नता को लिए हुए हैं। जैसे नायिका नहा कर कपड़े बदल रही है। नायक महोदय ऊपर से भांक रहे हैं। नायिका एक पैर उठा कर घाघरे में डाल रही है। नायिका पूर्ण नग्न प्रतीत होता है[2]। राजरानी, राजकुमार के चित्रों में सज्जा अलंकरण विस्तार से मिलती हैं। रागमाला के चित्रण में चित्रकार रागों के अनुकूल वातावरण तथा रस का संचार करने में समर्थ हुआ है।

कला व्यापारियों की कृपा से यहाँ के अधिकांश उत्तम श्रेणी के चित्र विदेश पहुँच चुके हैं। तथा कुछ चित्रों को अंग्रेज अधिकारी अपने साथ लेते गए हैं। यहाँ के सर्वोत्तम चित्रों का संग्रह विक्टोरिया एण्ड अलबर्ट म्युजियम लंदन में है। राजा रामसिंह का १६८६-१७०८ ईसवी का चित्रों का चित्रण प्रयाग संग्रहालय मे सुरक्षित है। प्रयाग के चित्र बूंदी कलम के कौशल के परिचायक हैं।

प्राचीन सांस्कृतिकता की दृष्टि से कोटा बूंदी राज्य में रामगढ़, बारोली, किसनविला, भालवाड़ा, चंद्रावती स्थान उल्लेखनीय हैं। इन स्थानों में ९वीं शताब्दी के मंदिर व मूर्तियां प्राप्त होते हैं जो कि तत्कालीन कला प्रवृत्तियों का ज्योतन करते हैं। भालवाड़ा का मंदिर समूह, कोटा के निकट बाड़ोली का शिव मंदिर समूह, कोटा के दक्षिण में अकलेरा नदी तट का शिव मंदिर समूह, मांगरोल रामगढ़ का मंदिर समूह, ये सब के सब राजाओं द्वारा परम्परागत बनवाए गए मंदिर हैं जो कि तात्कालिक सांस्कृतिकता को व्यक्त करते हैं। ये प्रायः सभी मंदिर समूह खजुराहों के मंदिरों के सदृश्य एक ही जगह पर बने हैं। इन मंदिरों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि इन मदिरों को भिन्न-भिन्न समयों में स्थानीय राज्य विशेष के राजाओं ने अपने शासन काल में बनवाया है। इनका विस्तृत अध्ययन राजपूत कला की एक संभावित कड़ी है।

राजस्थान के मध्य अजमेर की भौगोलिक स्थिति है। यहाँ की चित्रकला की अलग विधा है जिसका कि मूल कारण यह है कि यह प्रायः अकबर के काल से ही राजपूत राजाओं की अपेक्षा मुगल शासन में रहा और बाद में अंग्रेजी शासन काल में भी राजपूत राजाओं के आधीन न रह कर केन्द्र द्वारा शासित रहा। अतएव यहाँ की चित्रकला की प्रवृत्ति तथा परम्परा जयपुर, मेवाड़, बूंदी और किसनगढ़, इन चतुर्दिक व्याप्त कलमों से भिन्न है। अजमेर के पास पुष्कर हिन्दुओं का तीर्थ है तथा अजमेर में दरगाह होने से मुसलमानों का भी धार्मिक स्थान है। इसके अतिरिक्त पुराने समय में अजमेर सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहा है। जैनियों का यहाँ पर एक लाल पत्थर का विशाल मंदिर है। अंग्रेजों के समय में अजमेर ईसाई धर्म प्रचार का केन्द्र रहा है। इन सबके कारण से अजमेर विभिन्न सांस्कृतियों के मिश्रण का स्थान बन गया है। इस स्थिति ने चित्रकला को राजनैतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के अनुसार प्रभावित किया है।

अजमेर की प्राचीन चित्रकला में ईरानी, जैन, राजस्थानी और अकबर कालीन मुगल कलम का प्रभाव दिखाई देता है[3]। इसी तरह जहांगीर, शाहजहां, के समय में दिल्ली आगरा का प्रभाव यहां की चित्रकला में सहज ही दखाई देता है[4]। औरंगजेब के उपरान्त अजमेर की चित्रकला राजपूत राजाओं के यहाँ होने वाली चित्रकला से प्रभावित होने लगी थी। १७५० से १८५० ईसवी सन् तक जोधपुर ही चित्र कला शैली या वहाँ की कलम का प्रभाव अधिकतम् रूप से पाया जाता है। कुवंर संग्रामसिंह के अनुसार १७५० ईसवी के करीब महाराणा बखतसिंह ने नागौर

---

१. ५६, १६। ३७ „ „ ।

२. ५६, ३६। १६ „ ।

३. सृजन रा० ल० क० ए०, १९६२, पृष्ठ-८।

४. राजदूत पेन्टिग मान्टेगोमरी प्लेट-५२।

के किले में भित्तिचित्र बनवाए थे, जिसमें उनके चित्रकार अजमेर सूबा के ही थे[1]। अजमेर से सरटामस रो का जहाँगीर से भेंट करना, के चित्रों में योरोपीय प्रभाव व्यक्त हुए हैं।

अजमेर में प्राप्त चित्रों के आधार पर अजमेर के पुरुष साधारणतः सामान्य ऊँचाई से कुछ लम्बे, सुन्दरतम ढंग में चित्रित किए गए हैं। शौर्य और तेज इन पुरुष आकृतियों में झलकता है। पुरुषों के नेत्र गोलाकार है जोकि किसनगढ़ और जोधपुर से भिन्न विधा में है। लम्बी छल्लेदार जुल्फें, नुकीली मूछें, अल्पतम् दाढ़ी चित्रित है। सफेद जरी के जामें, कमर बन्द पायजामा, पगड़ी मुगल तथा राजपूती राठौड़ी ढंग की है। तुरी, कलंगी, सरपंच, गुर्दा बाली और मोतियों का हार, पुरुष आभूषण, आमतौर पर हैं। बाजु में कटार, हाथ में तलवार ढाल प्रायः नहीं है। हिन्दू पुरुषाकृतियों के ललाट पर वैष्णव तिलक है। स्त्री आकृति सुन्दर आकर्षक, कोमल, बीकानेरी नारी आकृति से मेल खाती हुई है। नेत्र बड़े मोहक, बाल कटि को चूमते हुए, कटि किसनगढ़ की कटि से अल्पतः चौड़ी, लम्बी अंगुलियां, मेंहदी लगे हाथ, हैं। वस्त्र बहुविधि रंगीन है। हिन्दू नारी लहंगा, वैसड़ा, कांचली, लूगड़ी, तथा मुसलमान नारी पायजामा, इजार, दुपट्टा पहने हैं। जूतिया मखमली सुनहरी काम वाली है। आभूषणों में टीका, टोटा, बाली, बेसर, लूंग है। गले में आड़, टेवटा गलसरि, कण्ठी, हार, माला, ताबीज आदि है। भुजबंध चूड़िया हाथों में हैं। जोड़, कड़ा, पायजेब, नेवर, पैरों की शोभा है।

कुल मिला कर अजमेर की चित्रकला में एक तरह से सभी संस्कृतियों के मेल की छाप है। रग विधा में न ही निश्चित मुगलिया स्वरूप मिलता है न ही स्थानीय अपितु सभी के मिश्रण है। चित्रण की दृष्टि से यहां पर चूंकि बहुतायत से कार्य किया गया है और एक तरह से भिन्न संस्कृतियों के कारण स्पर्धा रही है जिससे शैली में निखार आया है। पुष्कर हिन्दू तीर्थ होने के कारण हिन्दू चित्रकारों ने चित्रों में सार्वभौमिक तत्त्वों को स्वीकार किया है। यही एक ऐसी चित्रकला की शैली है कि जिसे राजकीय प्रश्रय के परे राजा रहीस तथा गरीब ने तथा हिन्दू, मुसलमान, जैन, ईसाई ने समान रूप से ग्रहण किया है।

किसनगढ़ की चित्रकला का उल्लेख करते हुए, किसनगढ़ की ऐतिहासिकता इस तरह है कि इस नगर को जोधपुर नरेश ने सोलहवीं शताब्दी में जयपुर और अजमेर के बीच सुरक्षात्मक दृष्टिकोण से बसाना प्रारंभ किया था। किसनगढ़ जब अपने स्वतंत्र अस्तित्व में आया तब यहाँ के सर्वप्रथम राजा रूपसिंह जी ने किसनगढ़ नगर से सोलह किलोमीटर की दूरी पर रूपनगढ नाम का एक दूसरा नगर बसाया। राजा रूपसिंह जी स्वयं विद्याप्रेमी थे तथा इस वंश के अन्य राजाओं द्वारा चित्रकला तथा अन्य कलाओं को प्रोत्साहन मिलता ही रहा है। यहाँ की चित्रकला में व्यक्त सांस्कृतिक परिवेश यहां की कला का विशेष परिचायक तथा आत्म बोधक प्रतीक बन गया जिसे कि आज किसनगढ़ शैली से कला समीक्षक तथा कला प्रेमी जानते हैं।

यहां के राजा कला प्रेमी होने के साथ ही भक्त भी थे। इन्होंने बल्लभ संप्रदाय में दीक्षा ली थी। इस संप्रदाय के अनुसार कृष्ण की युगल भक्ति तथा उनका आराधन मोक्ष प्राप्ति का साधन है। अतएव यहां की चित्रकला में कृष्ण की लीला को चित्रांकित कराया गया है[2]। इन चित्रांकनों में भागवत चरित्र, रागमाला, नायिकाभेद प्रधान है। इसी वंश के राजा सामंत सिंह जी अच्छे साहित्यकार भी थे। हिन्दी जगत इन्हें नागरी दास के नाम से जानता है। ये बहुत ही भावुक और शृंगार प्रिय राजा रहे हैं। इनके समय में यहां के चित्रकारों ने राधा-माधव-प्रेम-लीला प्रिया प्रीतम जू के मिलन, मान-भेदादि बहुत ही ललित रूपों में प्रस्तुत किए हैं[3]। इसमें कुल मिला कर भक्ति और माधुर्य का

---

१. सृजन राजस्थान ल० क० ए० पृष्ठ-८, १९६२।

२. राजपूत पेन्टिग माल्टेगोमरी प्लेट २४, २५ और २६।

३. ट्रेजर्स आफ एसिया इंडियन पेन्टिग-पृष्ठ १५७।

चित्रण अधिक है ।

यहाँ के चित्रों में पुरुषाकृति में लम्बा छरहरा शरीर, ऊँची पहाड़ियाँ, लटें कपोल प्रदेश को छूती हुई या पूर्ण उन्मुक्त स्कन्धों पर झूमती हुई, समुन्नट दीर्घ ललाट, उठी हुई नासिका, सिन्दूर सुर्खी युक्त पतले अधर, कर्णान्तिस्पर्शी खंजनाकृति-भृकुटि-युग, सकाजल-विसाल-मादक-नेत्र, नुकीली चिबुक है । किसनगढ़ के चित्रों में नेत्रों का चित्रण विशेष विधा में है जो कि इसे अन्य राजपूत चित्रकला शैली के कौशल से अलगा कर वैशिष्ट की श्रेष्ठ श्रेणी का श्रेय देता है । भू और नेत्र सारे मुख मण्डल से इतने प्रमुख रहते हैं कि प्रेक्षक का प्रथम आकर्षण और अंतिम आकर्षण नेत्र ही होते हैं । स्कध फैले हुए, वक्ष पौरुष का प्रतीक, पट्टे से कसी क्षीण कटि, लम्बी भुजाएँ तथा पावों तक झूमता हुआ जामा, चित्रों में प्रस्तुत हुआ है । अलंकारों में पगड़ी में मोतियों के झुमके, लटकती हुई झालरें यौवन व लावण्य की अभिव्यक्ति करती हैं । परिपार्श्व में हरित दूर्बा से अच्छादित भूमि पर बिखरी पुष्पराशि, पुष्प-भार-नत-वृक्ष, सरोवर, भव्य-प्रासाद, केलिकुंज, स्वर्णिम रेखाओं से विभूषित आकाश तथा मुखाकृति के चतुर्दिक कांतिचक्र, चित्रित हैं ।[1] नारी का निरुपण खुली स्कंधों पर से लहराती कटि तक जाती केश राशि, शीशफूल अलंकार से शोभित चंदन चर्चित पीताभ उच्च ललाट, पतली सीधी ऊपर उठी हुई नासिका, आँखों में गहरा काजल, कटीली नैन की चुभन, वलियत भ्रू, चमेली की पखुड़ी से कोमल अधर, कपोलों पर आलोड़ित अलके ऊरोजों तक बल खाई हुई, लम्बी गर्दन, चिबुक पर तिल, मुक्त मालाओं से अधखुला उभरा हुआ स्तन प्रदेश, अति क्षीण कटि, पांव तक लंहगा, कनक छुरी-सी-कामनी सा चित्रण हुआ है ।[2] नारी के इस रूप के चित्रण में राजा सामंतसिंह उर्फ कवि नागनी दास की प्रियतमा वणीठणी है ।[3] वणीठणी सुन्दरी होने के साथ ही साथ विदुषी एवं भक्त भी थी जिस कारण तत्कालीन चित्रकारों ने राधा के रूप की कल्पना का आधार ही वणीठणी को स्वीकार लिया । नारी सौन्दर्य का निरूपण एक ही ढंग में पाये जाने का मूल कारण भी यही है जो कि किसनगढ़ राज्य की चित्रकला का वैशिष्ट बना । इसके अतिरिक्त किसनगढ़ के प्राप्त चित्रों में केले के वृक्ष, कमल के फूल तथा नेत्रों की खंजनाकृति अपनी बनावट की दृष्टि से किसनगढ़ कलम की विशेषता है । यह कलम जोधपुर कलम से अंशतः समानता रखती है तथा किंचित मात्र कांगड़ा से साम्य खाती हुई है ।

किसनगढ़ राज्य के निजी पुस्तकालय में गीत गोविन्द की सचित्र तथा विविध श्रृंगार परक कृतियाँ आज भी सुरक्षित हैं । इस कलम के अन्य मूल चित्र राष्ट्रीय संग्राहलय नई दिल्ली, कला भवन बनारस, गोपी कृष्ण कौनोड़िया कलकत्ता में भी सुरक्षित है । किसनगढ़ के राजाओं के जो व्यक्तिचित्र प्राप्त हुए हैं उनमें महाराज सहस्त्रमल १६१६ ईसवी सन् का चित्र कलात्मकता एवं प्राचीनता की दृष्टि से उल्लेखनीय है । चित्रकारों में निहालचंद १७५७ ईसवी, राजासामंत सिंह के समकालीन चित्रकार की कलम में अपना वैशिष्ट एवं कौशल सार्वधिक समुन्नत व समृद्ध है । इस शैली का अनुकरण आने वाले कलाकारों ने किया है । बूंदी के महलों में बने चित्रों में यह स्पष्टतः देखा जा सकता है ।

बुंदेलखंड में दतिया ओरछा में १६०० ईसवीं के लगभग रागमाला के चित्रों के साथ तत्कालीन काव्योक्तियाँ भी चित्रित हैं । कृष्णलीला और रामायण ओरछा के फूलबाग तथा शीशमहल की दीवालों पर चित्रित है । इसी तरह दतिया के वीरसिंह देव महल में भी चित्रण हुआ है । तालवेहट के नरसिंह जी मंदिर की गुम्मदों में अठारहवीं शताब्दी के लगभग इन्हीं विषयों का प्रस्तुतीकरण है । ओरछा के बानपुरा महल की छतरी और लक्ष्मी मंदिर के चित्रण

---

१. किसनगढ़ पेन्टिग ल० क० ए० नई दिल्ली पृष्ठ-५० ।
२. राजपूत पेन्टिग मान्टेगोमरी प्लेट-२५ ।
३. किसनगढ़ पेन्टिग ल० क० ए० पृष्ठ-२६-२७ ।

उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीय चरण का कार्य हैं[1]। यहाँ के प्राचीन चित्रों में विशेषकर १६वीं, १७वीं शताब्दी के चित्रों में और मेवाड़ तथा मालवा के चित्रों में समानुरूपता है। इस एकरूपता का कारण मेवाड़ की शैली के अन्तर्गत स्पष्ट किया जा चुका है।

जयपुर को सवाई जयसिंह ने निर्माण कराया था। इसमें उनकी वास्तुकला प्रियता परिलक्षित होती है। जयसिंह को सभी ललित कलाओं से अनुराग था। विद्वानों एवं कलाकारों को प्रोत्साहन दिया है। इनके समय के अनेक चित्र संरक्षित हैं। इन चित्रों में मुगल कलम की प्रतिलिपियाँ भी सम्मिलित हैं। भवनों के निर्माण के साथ ही भित्ति चित्रों को भी चित्रित कराया है। ग्रन्थों की सचित्र रचना हुई है। इनके समय के हाथियों के लड़ाई के चित्र, शिकार के चित्र, सवारियों के चित्र, अपनी वैशिष्टता लिए हुए है। सवाई ईश्वरी सिंह के समय में भी कला का स्वरूप उज्जवल है। इनके समय सचित्र ग्रन्थ, विशाल चित्रपट, समारोहों के दृश्य, नारी के मधुर रूप का चित्रण हुआ है। चित्रों में में प्रकृति सहचरी के रूप में माननीय भावनाओं के साथ तादातमय प्रस्तुत करती हुई चित्रित हुई है। विस्तृत मैदान, जंगल, वृक्षावलिया, मंदिरों के शिखर, अश्वारोही आदि तत्कालीन प्रथानुरूप चित्रित हुए हैं। विशेष रूप से इस समय के चित्रों में मुगल कलम के प्रभाव स्वरूप मीनारों व विस्तृत शैलमालाओं का खुलकर चित्रण हुआ है। सवाई प्रतापसिंह (१७७८-१८०३ ई०) से सवाई रामसिंह (१८८० ई०) के समय तक जयपुर कलम का पूरा विकास हो चुका था। इस समय के जयपुर के राजा कृष्ण भक्त और पुष्टि मार्ग के अनुयायी रहे हैं। इस कारण और राधा को जैसा कि साहित्य के क्षेत्र में मूल स्थान प्राप्त हुआ उसी तरह चित्रकला में भी प्राधान्य पाकर जन सामान्य गत सहज मनोविकारों की अभिव्यक्ति में आलम्बन बने। इस समय राधा कृष्ण के युग्म[2], रासलीला, नायक-नायिका भेद, रागमाला, बारहमाशा, ऋतु चित्रण, चित्रकारों के प्रधान विषय रहे हैं। अधिकाँश चित्रों की अभिव्यक्ति में चित्रकार कवि की कल्पना को प्रान्जल करता सिद्ध दिखाई देता है। अधिकांश चित्रों में स्त्रैणता है।

यहाँ के चित्रों में प्रस्तुत पुरुषाकृति, सिर पर पगड़ी, पगड़ी पर तुर्रा या कलगी, कानों तक बलयित वेश राशि, नाक गोल न लम्बी न छोटी, अधर भारी, चिबुक मांसल, नेत्र मीनाकृति, भरा गठा हुआ शरीर प्रस्तुत है। मुख पीताम श्याम वर्ण ताम्र घुति सदृश्य है। जामा, कमर पर पट्टा, नीचे पायजामा ढीली मोरी का, नोकदार जूती, आवरण है। अलंकारों में मुक्त मालाएँ, मणिबन्ध, मोती के झुमके व्यवहृत रूप में चित्रित है।[3] नारी चित्रण में उसे पूर्ण यौवना, काले मेघ सदृश्य केश राशि, कजरारी कटीली मादक आखें, तीखा मांसल वक्ष पतली कमर, वेणी नितम्ब तक झूलती हुई, ऊपर चोली नीचे घाघरा, पावों में पायजेब, और जूतों चित्रों में चित्रित की गई हैं।[4] अलंकार मुगल दरबार से उधार लिए हुए प्रतीत होते हैं। रानियों को कहीं बेगमों के सदृश्य वेषभूषा में चित्रित किया है। चित्रों के हासियों में बेलबूटों की योजना है। यहाँ के चित्रों की यह विशेषता है कि व्यक्ति चित्र से लेकर सामूहिक चित्रों का सफल अपेक्षित प्रभावोत्पादक चित्रण हुआ है। रेखा की सबलता यहाँ का वैशिष्ट्य है।

चित्रों में हरे रंग का प्राधान्य है। चित्रों की किनारी चाँदी के रंग की है। हाँसिये लाल रंग से भरा गया है। आकाश नीला या शुभ्र है। पीपल, बड़, घोड़ा, मयूर, की चित्रण में अधिकता है। आँख मछली के समान रूप में चित्रित है। कद छोटा है। विषय वस्तु की दृष्टि से रागमाला, कृष्ण चरित्र, बारहमासा की प्रधानता है। चित्रकारों

---

१. पी० सी० मुकर्जी, रिपोर्ट आन दी एन्टीकुटीज आफ दी डि० ललितपुर, रूरकी, १८६६ ई० पी० पी० २७-२६, ८३-६४, ६६-६८।

२. रूपलेखा १६५०-वेल्यूम दो पृष्ठ ११, प्लेट न० ४।

३. राजपूत पेन्टिग मान्टेगोमरी प्लेट ४६ और ५२ तथा मिनियेचर्स इंडियाना—वेनेजिया, प्लेट २३।

४. इंडियन पेन्टिग पेरी डिनसे, पृष्ठ १४०।

में साहिबराम, लालचन्द्र, लक्ष्मनदास, हुकुमचन्द, सालगरामा, मनगलाल, रामचन्दर, मुरली, गंगाबक्श आदि का नाम उल्लेखनीय है।

जयपुर के ही समानान्तर करोली, धौलपुर और भरतपुर राज्यों में सत्रहवीं शताब्दी के लगभग से चित्रकला का आयाम जयपुर कलम के ही समानुरूप हुआ। आगे चलकर भरतपुर की चित्रकला स्थानीय विशेषताओं के साथ अभिव्यक्ति हुई है। इसमें पुरुषाकृतियाँ कठौर, तथा नारी आकृतियां भोंड़ेपन तक की सीमा को छूती है। भरतपुर किले में बारादरी में बना चित्र इसकी ऐतिहासिकता को जागृत रखता है। जयपुर और जयपुर के आस-पास अनेक सांस्कृतिक केन्द्र रहे हैं जहाँ से कि अनेक का महत्त्वपूर्ण कलाकृति आज भी उपलब्ध हुई है। इन केन्द्रों में सीकर, रेह, अलवर, वैरत, आबानेरी, रंगमहल उल्लेखनीय हैं।[1] इन स्थानों से प्राचीन ६वीं शताब्दी से १३वीं शताब्दी तक की मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं जो कि सांस्कृतिक विकास की प्रतीक कही जा सकती हैं। ये मूर्तियाँ, जयपुर भरतपुर और धौलपुर के शासकीय संग्रहालयों में संग्रहित हैं।

वास्तव में जयपुर कलम का विकास राजकीय सहयोग और प्रोत्साहन पाकर चरम उत्कर्ष को बहुत ही कम समय में पहुँच गया था। जैसे जयपुर : आमेर में चित्र कला का अस्तित्व बहुत पहले से मिलता है जिसका कि उल्लेख इसी परिच्छेद में किया जा चुका है। यहाँ सवाई जयसिंह के समय में स्वयं राजा ने कलात्मक रुचियों में किया है। रुचि लेकर नगर को बसाया और प्रजा को इन दिशा में बढ़ावा दिया इसका परिणाम यह हुआ कि जयपुर सौन्दर्य प्रतीक, वास्तु-शिल्प और चित्र की दृष्टि से बन गया। योग्य कुशल शिल्पी और कलाकारों को बुलाकर बसाया गया।

जयपुर और अलवर प्रायः मुगलों और उनके दरबार से अति निकट होने से मुगल कलम के रवैये से वंचित नहीं रह सके हैं। यह दो तरह से प्रभाव यहाँ की चित्रकला में आया प्रतीत होता है। प्रथम तो इस तरह कि यहाँ का सामान्य जन भी मुगल संस्कृति के प्रभाव में किसी न किसी रूप में आ गया था और उसका प्रभाव यहाँ के ही चित्रकारों द्वारा ग्रहण किया गया। दूसरा इस तरह कि मुगल दरबार के चित्रकारों का जयपुर दरबार से सम्पर्क बना रहा है। मुगल दरबार में चित्रित हुई वस्तुएँ एवं चित्र खिताब के साथ उपहार में दरबार में आती ही रहीं हैं अतएव उनके प्रति आकर्षण का होना और अनुरूपता का आ जाना सहज है। अलवर के सिलसिले में स्पष्टतः मुगल चित्र शैली का अधिक प्रभाव देखने में आता है। अलवर शैली के चित्रों में मुगल सम्राटों के और अधिकारियों के चित्र, रागमाला आदि के चित्र यहाँ के स्थानीय संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इस शैली के चित्र औरंगजेब के शासन काल से लेकर बहादुर शाह जफर और कम्पनी काल के चित्र भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। औरंगजेब ने जब अपने दरबारी चित्रकारों को शाही सेवा से मुक्त किया तब अधिकांश चित्रकार परिवार पास होने के कारण अलवर में ही आकर बस गए। इन चित्रकारों के बसने के बाद अलवर की चित्रकला में विशेष परिवर्तन आया है। हिन्दू प्रवृत्तियों का तथा हिन्दू सभ्यता का और हिन्दू संस्कृति का चित्रों में दिन प्रतिदिन अभाव बढ़ता गया जो कि आगे चलकर मुगल का ही एकरूप प्रतीयमान होने लगा। किन्तु अलवर की स्थानीय विशेषताओं और अलवर के प्राचीन चित्र रूपों का हिन्दू संस्कृति तथा जयपुर कलम से प्रभावित होने के कारण वह पूर्ण मुगल या मुगलिया जामा न ओढ़ सकी। अलवर की इस प्रवृति को अंशतः प्रभाव जयपुर कलम पर भी पड़े बगैर नही रह सका है। वह आभूषणों में तथा वेशभूषा में प्रतिलक्षित होता है। पुरुषों के अधोवस्त्र में घेरदार घाघरा ऊपर को बंधा हुआ चित्रित है और नारी के अधोवस्त्रों में पायजामा और छोटी ओढ़नी मिलती है। अठारवी शब्दी के भागवत का चित्रण मुगलिया रंग विधा का है। भागवत में द्वारिकापुरी का चित्रण जयपुर नगर के आधार पर किया है तथा अर्जुन और कृष्ण की वेशभूषा—मुगल चित्रों के समानुरूप है।

---

१. मार्ग ३।५६, हेरमन ग्वेटज और प्रोफेसर के० डी० वाजपेयी।

कुल मिलाकर जयपुर में राजपूत कलम का अद्वितीय विकास चित्रविधा की दृष्टि से पूर्णता की सीमा तक हुआ है जो कि राजनैतिक कारणों से अंशतः मुगल संस्कृति को छूता हुआ है।

बीकानेर में चित्रकला का वैभव बांका है। यहाँ के राजवंश में राजा रायसिंह १५७१-१६११ ईसवी, को चित्रकला से अभिरुचि थी। इसका प्रमाण इनके समय की मेघदूत की सचित्र पाण्डुलिपि है। इसकी शैली शुद्ध राजपूत कलम की न हो कर अंशतः मारवाड़ और जैन चित्रों से साम्य खाती हुई है। इनकी चित्रकला का दर्जा भी श्रेष्ठ होने पर भी कौशल की दृष्टि से भिन्न स्तर की प्रतीत होती है। इस पाण्डुलिपि से राजपूत कलम के आरंभिक इतिहास या बीकानेर शैली के प्रारंभिक रूपों का सहज अनुमान कर सकते हैं। इस अनुमान के आधार पर चित्रकला के इतिहास की एक प्राचीन कड़ी जुड़ती है। बीकानेर राज्य के चित्र संग्रहालय में भागवत, केशव की रसिक-प्रिया के अनेक चित्र, व चित्रण, भितिचित्र, शिकार चित्र, रागमाला, श्रृंगारिक आख्यानों का चित्रण मिलता है। इन चित्रों का विश्लेषण करने से दो तरह के दृष्टिकोण बीकानेर की शैली में स्पष्ट होते हैं। पहला तो यह कि बीकानेर का संबंध मुगल दरबार से होने के कारण यहाँ की चित्रकला पर मुगल संस्कृति जो कि दरबार के माध्यम से बीकानेर के जीवन में प्रवेश पा गई थी उसका चित्रण चित्रों में आया है, साथ ही में यहाँ के राजा मुगल दरबार के सम्पर्क में रहने से मुगल दरबार से खिताब और उपहारों में चित्रों की भी भेंटे जाती रही हैं तथा यहाँ के चित्रकारों से राजाओं का सम्पर्क रहा है। इसमें दूसरा यह भी हो सकता है कि बीकानेर में चित्रकारों का कुछ आयात मुगल दरबार से किया गया हो। यह आयात औरंगजेब के निष्क्रमण हुक्म के आधीन तिरस्कृत होकर राजपूत राजाओं के प्रश्रय में आए हो या सम्मानपूर्वक लाया गया हो। पहली स्थिति में जिसमें बीकानेरी शैली का विकास हुआ है। इसमें पीढ़ी बीकानेर में गुजर जाने पर मुसलमानों और चित्रकारों में स्थानीय वातावरण प्रवेश कर चुका था। इस तरह के चित्रकारों ने राजमहलों, रनिवासों, सामंतों एवं जागीरदारों के यहाँ भी चित्रकला को पल्लवित व पुष्पित किया।

बीकानेर शैली के मूल प्रभावों के ग्रहण करने के संबंध में एक यह तथ्य भी सामने आता है कि यहाँ के राजाओं को चित्रों के संग्रह करने का शौक रहा है। जोधपुर उदयपुर एवं दिल्ली कलम या मुगल कलम के चित्रों का संग्रह बीकानेर में किया गया। बीकानेर शैली का शुद्ध रूप राजा अनूप सिंह (१६७४-१६६८ ई) के चित्रों में प्राप्त होता है। इसके उपरान्त यहाँ की चित्रकला मुगल संस्कृति के प्रभाव में आकर आक्रांत हो गई जो कि उत्सा, मथेन, मिश्रित इन तीन रूपों में मिलती है।

यहाँ के चित्रों में पीला रंग प्रधान है। बादल छल्लेदार नीचे की ओर झाला की तरह झूलते से प्रतीयमान स्वेत नीलाभ चित्रित है[1]। पशु पक्षियों में ऊँट, घोड़ा कुरज है। सारस का मैथुन युग्म भी इस कलम का वैशिष्टय है। आम दृश्यों में प्रधान वृक्ष के रूप में चित्रित हुआ है। नेत्र जोधपुर कलम के अनुरूप है। यहाँ अधिकांश मुगल चित्रों की अनुकृतियाँ की गई हैं। पुरुषों की आकृतियाँ उच्च, दाढ़ी मूछों से युक्त, शौर्य को प्रदर्शित करती हैं। फैले हुए जामे, ऊँची शिखराकार पगड़ियाँ और लम्बे-लम्बे कद जोधपुर के सदृश्य ही हैं। इसी तरह नारी का स्वरूप भी जोधपुर के अनुकरण पर है। कहीं कहीं अलबत्ता मुगल कलम की अनुरूपता नारियों मे आ गई है। (चित्रफलक २२ देखिए) बीकानेर कलम का प्रौढ़ रूप अनूप महल तथा फूल महल में दृष्टव्य है। चंद्रमहल तथा सुजान महल के दरवाजों की चित्रकारी में भी देखा जा सकता है।

बीकानेर शैली में अनूपसिंह का अश्वारूढ़ युद्ध सज्जा में चित्रित चित्र (१६६०-१६६५ ई) आयताकार में है।

---

१. मिनियेचर्स पेन्टिग मोती चंद्र खजांची प्लेट ६९ से ७१ तक।

२. „ „ „ प्लेट ८१, ८२ ८४।

३. इंडिनि मिनियेचर्स बेसिल ग्रे—पृष्ठ २३, २५।

चित्र धरती और बादल दो भागों में विभाजित होकर दूर के महल मन्दिर और युद्ध को गमन करती हुई बहुत ही दूर सेना बादलों के लगभग तक है। इस चित्र की विशेषता यह है कि दूर बादलों और पहाड़ों में जो सेना दिखाई गई है उसमें चित्रगत दूरी को ध्यान में रखते हुए आकृतियाँ छोटी छोटी हैं यह आकृतियों का छोटा रूप दूरी के बोध में सहायक है[1]। यह प्रकार और ढंग अन्य समकालीन चित्रों में इतना उत्तम नहीं है।

गजसिंह के समय का (१७४५-८७ ई) कुकुम्भा रागिनी का चित्र है[1]। इसमें नायिका के मन में प्रेम का बोध सरिता तट पर सारस बतख और जलमुर्गाबी के तीन जोड़ों के चित्रण को प्रस्तुत करके दिखाया गया है। नायिका के दोनों हाथों में पुष्प दण्डिक हैं, वह झाड़ की डाल पर बैठी हुई इन तीनों युग्मों को देख कर आत्म रूप के बोध में नत-नयन-अवाक् स्थिर है। झाड़ में अनुरूपता का अभाव है। दूरागत भेड़ और बकरियाँ घास पत्ती चर रही हैं। ऊँचे झाड़ पर बन्दर युग्म हैं। चित्र की दूर भूमि पर साधु हैं और अन्तिम दृष्टि बिन्दु पर महल है। इस चित्र में बीकानेर की स्थानीय विशेषताएँ हैं। नायिका को राधा या गोपी का रूप तत्काल मिल जाता यदि भेड़ बकरी की जगह गाय चित्रित कर दी गई होतीं। अतएव यह चित्र परम्परा से हटकर स्थानीयता के साथ चित्रित किया गया है। बीकानेर के आसपास भेड़ बकरी गावों में होती है। उनका उद्योग आज भी बीकानेर में बहुतायतता से है।

बीकानेर में प्राप्त मेघदूत का पहनावा तत्कालीन राजपूत संस्कृति के अनुरूप ही है। इसमें प्रस्तुत चांवर धारणी जैन परम्परा की लगती है। इसी तरह नुकीली नाक भी बाह्य प्रतीत होती है। कमर बंद, दुपट्टा, और हाथों की स्थितियाँ भी सामान्य हैं। मेघदूत की पाण्डुलिपि पर तिथि अंकित नहीं है किन्तु चित्रों में उपलब्ध रूपाकृतियों को देखने से पता लगता है कि नागौर और मारवार जब बीकानेर में रामसिंह के समय सत्रहवीं शताब्दी में मिलाए गए हैं तब के होना चाहिए। नागौर और मारवार में जैन सभ्यता और संस्कृति पहले से ही थी। चामर धारणी आदि आकृतियाँ इस दिशा में संकेत करती है। यह बात भी उचित प्रतीत होती है कि मारवार की चित्र विधा मेवाड़ के उदय होने के साथ मेवाड़ में प्रवेश पा सकी हो। किन्तु मेवाड़ ने कभी भी मुगल अनुरूपता को अंगीकार नहीं किया है, यह सत्य कभी नहीं भुलाया जा सकता है। रामसिंह के समय तक बीकानेर की स्थानीय चित्रकला मुगल संस्कृति और मुगल चित्रकला शैली से अछूती रही है। इस समय तक केन्द्रीय राजस्थान ढूँढार, मारवाड़, मेवाड़ में चित्रकला का स्वरूप प्रान्जल था। बीकानेर का सम्बन्ध इन स्थानों से रहा है। हेरमन ग्वेटज के अनुसार इस स्थानीय चित्रकला शैली का और यहाँ की शैली का विकास किस तरह हुआ स्पष्ट नहीं हो सका है[2]। किन्तु जैसा कि ऊपर बताया है कि चित्रगत स्थिति स्पष्ट पड़ोसी प्रान्जल स्वरूपों से अभिप्रेत रही है। मेवाड़ या चित्तौड़ की चित्रकला सबसे प्राचीन है और वास्तव में चित्तौड़ चित्र मूर्ति और वास्तुकला में समस्त राजपूत कलाओं में प्राचीनता रखता है। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि आज वह प्राचीन रूप केवल कीर्तिस्तम्भ या श्रुति रूप में है। इसके मूल में दो आक्रमणों को विचारा जा सकता है। पहला आक्रमण गुजरात के बहादुर शाह का १५३४ ई० का और दूसरा अकबर का १५६८ ई० का है। इन आक्रमणों से मेवाड़ की चित्रकला को अपरिमित क्षति पहुँची है। अतः यह सहज ही अनुमाना जा सकता है कि बीकानेर राज्य मेवाड़ राज्य के पास होने से सांस्कृतिक गतिविधियों में साम्य होना स्वाभाविक है तथा ललितकलाओं में पारस्परिक आदान प्रदान या संचार प्रसार होना सहज है।

बीकानेर में दलपतसिह के समय के तीन रागिनियों के चित्र, अजीतघोष के निजी संग्रहालय में है। इसके

---

१. दी आर्केटेक्ट एण्ड आर्ट आफ बीकानेर हेरमन ग्वेटज प्लेट १।
  " " " प्लेट-५ पृष्ठ-७३।

२. दी आर्केटेक्ट एण्ड आर्ट आफ बीकानेर "हाऊ दिश अर्ली पिक्टोरियल आर्ट डेवलप, इज नाट यॅट क्लियर "पृष्ठ ६८।

एक चित्र में बीकानेर के जनानामहल की पृष्ठ भूमि यथावत् चित्रित है। इसी के समानुरूप अन्य दो हैं। इन चित्रों में पहिनावा और अलंकार शुद्ध राजपूती है जो कि स्मूलत: इस चित्र के विषय और वस्तु के साथ यह संप्रेषित करते हैं कि वास्तव में बीकानेर कलम का स्वरूप आरंभ में क्या था। बीकानेर लालगढ़ के राजमहलों में सुजान महल के मध्य द्वार पर दुग्धपान कराती हुई माँ बेटे का चित्र है। सामने एक परिचारिका बालक के सामने रंजन हेतु खरगोश लिए नत है। मां के पृष्ठ भाग में चंवर धारणी परिचायिका है[1]। चित्र लगभग १७३० ई० का है। चंवर धारणी और चँवर का प्रयोग जैन मन्दिरों में धर्मानुसार संस्कार है। जैन चित्रों में और गुजरात में जैन यतियों महात्माओं द्वारा निर्मित मन्दिर, प्रतिमा, चित्र आदि में चंवर धारी व चंवर धारिणी दिखाए गए हैं। चंवर का प्रयोग जैन प्रभाव या केवल जैन धर्म का प्रतीक नहीं है। अजंता के चित्रों में चवर और चंवर धारणियों को देखा जा सकता है।

प्राचीन सांस्कृतिक केन्द्रों की दृष्टि से सूरतगढ़ और रंगमहल पहसू आदि हैं। सूरतगढ़ के पास मिट्टी का रिलीफ, दर्पण के साथ सुन्दरी प्राप्त हुआ है[2] जो कि लगभग ईसवी बाद २००-४०० सन् का है। दर्पण के साथ सुंदरी का होना, राजपूत चित्रकला शैली में कुकुंभा रागनी में दिखाया गया है। अंगों के आभूषण और चितवन नायिका के मुग्धा स्वरूप का द्योतन करता है। इसके पास ही रंगमहल के समीप मिली मिट्टी की एक तरफा मूर्ति में मानव युग्म वृक्ष के सहित प्रस्तुत है। इसमें नारी का घाघरा राजपूत चित्रकला शैली में प्रस्तुत घाघरा के समान है। प्रस्तुत कृति का वक्ष निरावरण है। जिस पर कंठमाला और बक्षमाल है। कानों में गोल कुण्डल हैं। इस रिलीफ में और दर्पण सहित सुन्दरी वाले रिलीफ में कंठमाला और वक्षमाला की बनावट व प्रस्तुतीकरण में समानता है, अतएव यह भी उसी काल के लगभग ईसवी उपरान्त ४०० तक का प्रतीत होता है। यहीं से प्राप्त उमामहेश्वर की मृण-मूर्ति के वस्त्रों में भी पूर्व वर्णित एकरूपता है। बीकानेर के पास ही कालीबंगा की खुदाई ने बीकानेर की सांस्कृतिकता को एक और स्वर्णिम योग दिया है।

जैलसमेर में हुई चित्रकला के चित्रों का बहुत कम प्रकाशन हुआ है। तथा जिन चित्रों का प्रकाशन हुआ है या तो वे प्राचीन जैन भण्डरों की है और उनका सीधा सम्बन्ध जैन लघु जैन चित्रों और जैन धर्म से है। किन्तु इसके बाद वास्तव मे जिस राजपूत चित्र कला शैल का रूप जैसलमेर में स्थानीय रूप में विकसित हुआ उस तरह के चित्रों का अभाव सा में। यद्यपि जैसलमेर में उपलब्ध चित्र जोधपुर शैली से बहुत कुछ मेल खाते हैं यहाँ के चित्रों में स्थानीय संस्कृति और संस्कारों का बाहुल्य है। मुगल कला के अनुरूप तथा उसका अंश मात्र प्रभाव जैसलमेर की चित्रकला में प्राप्त नहीं होता है। यही यहाँ के चित्रों की विशेषता है। स्थापत्य और प्रस्तर कला की दृष्टि से जैसलमेर दुर्ग भव्य है। यहाँ पर चित्रित भित्तिचित्र, भावाभिव्यक्ति में समर्थ, सजीवता लिए हुए है। रंग, फूल, पत्र, वृक्ष मुखाकृतियों की दृष्टि से यहाँ की चित्रकला पड़ोसी राज्यो की चित्रकला में प्रभावों से मुक्त है। पुरुषों के मुख पर दाढ़ी, मूछों की नीलमा तथा मुखाकृति ओज और वीरता से परिपूर्ण प्रस्तुत है। पगड़ियाँ पीछे की ओर झुकी हुई बंधी है। शरीर तने हुए शक्तिशाली प्रतीत होते हैं जो कि स्थानीय वीर भावनाओं का द्योतन करते हैं। नारी चित्रों मे खिचे हुए, यौवन की दीप्ति से मंडित, सुन्दर आकर्षक हैं। अंगुलियाँ विशेष कोमल लुभावनी प्रतीत होती है। रागमाला के चित्रण में जैसलमेर के चित्रकारों ने अन्य राजाओं की परिपाटी को न अपनाते हुए स्वतन्त्र रूप से चित्रित किया है। उदाहरण के लिए मालकौंश को अन्य राज्यों या कलमों के चित्रकारों ने राग को राजा के रूप में चित्रित किया है। यहाँ पर राजा के रूप में चित्रित न करते हुए शिकारी के रूप में सजीवता के साथ चित्रित किया है। रंगों के ऊपर कलात्मकता हावी प्रतीत होती है। गोया चित्रकला के बाह्य पक्ष को महत्त्व न देकर उसकी मार्मिक अभिव्यंजना को महत्त्व दिया है। इस

१. हेरमन ग्वेटज—वही किताब, पृष्ठ १४१, १४२।
२. दी अ.र्ट एन्ड आर्केटेक्ट आफ बीकानेर, बायी, हेरमेन ग्वेटज पृष्ठ १५४, १६६।

कारण सजीवता इन चित्रों का अपना वैशिष्टय है। जैसलमेर में चित्रकला का विकास महाराव जी के शासनकाल में विशेषकर हुआ है। जैसलमेर शैली के चित्र अपनी तटस्थ प्रगति के कारण राजपूत कलम शैली में अपना विशेष स्थान रखते हैं।

राजपूत राजाओं से राज्यों की इस बिखरी हुई चित्र सम्पदा पर चर्चा करते हुए थोड़ा ग्वालियर, हिंदू जैन सांस्कृतिक दृष्टि से अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। पंद्रहवीं शताब्दी में कछवाहा मानसिंह तोमर के समय में चित्रकला को स्थान मिला तथा उसका मौलिक विकास हुआ है। यह मौलिक रूप ग्वालियर दुर्ग की दीवालों में भित्ति चित्रों में देखा जा सकता है। मानसिंह के उपरान्त ग्वालियर पठानों और मुगलों के शासन में चला गया। सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दी में ग्वालियर के चित्रकला का जो रूप आया वह राजपूत परम्परा से हटकर था।

राजपूत चित्रकला शैली का विस्तृत प्रारूप का अवकोकन और मनन करने के उपरान्त वास्तव में ऐसा लगने लगता है कि चित्रों में व्यक्त राजपूत सभ्यता और संस्कृति ही वह मूल विषय वस्तु है जिसका कि व्यापक चित्रण हुआ है और इस सभ्यता और संस्कृति का मूल आरम्भ ही राजपूत कला का आरम्भ है। राजपूत कला के अन्तर्गत वास्तु मूर्ति और चित्र विशेषकर इस संदर्भ में विवेच्य विषय हैं। वास्तु में प्राचीन मंदिर, किले, भवन, स्तम्भ आदि संदर्भ में प्रस्तर मूर्तियाँ जो आज प्राप्त होती हैं वे भी राजपूत कला पर समर्थता से प्रकाश डालती है। मूर्तियों का सम्बन्ध चित्र से रूपाकृति में है। अतएव मूर्ति चित्रविधा का खोया हुआ पुरातन स्वरूप का अंशतः आभास देती है। इस दृष्टि से देखा जाय तो राजपूत कला का आविभाव हर्ष के उपरान्त से होता है। हर्ष के उपरान्त उत्तरभारत में किसी भी हिन्दू साम्राज्य का गठन नहीं हुआ है। समस्त चर्चित उत्तराखण्ड छोटे-छोटे राजपून राज्यों में परिणित हो गया था, यह सभी इतिहासकार जानते हैं। सिद्धान्तः इन राज्यों में जिन कला का आविर्भाव हुआ वही वास्तव में राजपूत कला का आरम्भ था। इतिहास में राजपूत राज्यों का अस्तित्व ईसा की आठवीं शताब्दी से चतुर्दिक था। इस समय में ब्राह्मण धर्म का पुनरभ्युदयकाल था जिसमें जातपांत स्पष्ट स्वरूप धारण कर रही थीं। इस दौरान, एक ऐसे आर्य हिन्दू-जन-समूह का आविर्भाव हुआ जो कि निरन्तर युद्धों में संलग्न रहता था तथा सदैव जय-पराजय की सम्मिलित अनुभूति के कारण जिसमें एक विशिष्ट मनोवृत्ति का विकास हो गया था। यह जन समूह अधिकांशतः राजाओं से सम्बन्धित राजपुत्रों, राजवंशों का था जिसे कि राजपूत स्वभाव से भावुक वीर योद्धा होते थे। राजस्थान के अति प्राचीन योधेयगण के सिक्कों पर वल्मलधारी कार्तकेय पुरुष की आकृति उभरी हुई मिलती है जो कि इस युद्धक प्रवृत्ति की प्रतीक है तथा इसका द्योतन भी करती है। हेमचन्द्र के एक दोहे का भावार्थ भी यही है कि हे प्रिय, जहाँ तलवार के बल पर जीविका अर्जित हो, उस देश को चलो। हम रण दुर्भिक्ष के कारण भागकर आए हुए हैं, अतः बिना युद्ध वापिस लौट कर नहीं जाएंगे। दोहा इस तरह है :—

खंग बिसाहिउ जहिं लहहुं पिय तहिं देसहिं जाहुं,
रण दुब्भिक्खे भग्गाइं विणु जुज्भे न वलाहुं।'

वीरता राजस्थान की अपनी वस्तु है जिसका चित्रण प्रायः काव्य, संगीत, चित्र, मूर्ति आदि अभिव्यक्तियों में हुआ है। इसी तरह अतिप्रचलित प्रवृत्ति प्रेम की भी है। यहाँ की वीरता और प्रेम अन्योन्याश्रित है। मेरुतुंग का एक दोहा है जिसका कि भावार्थ यह है कि जिसके सिर को तलवार ने भंग नहीं किया, से रमणी की चितवन नहीं लगी, जिसके गले से गोरी नहीं मिली ऐसे व्यक्तियों का जीवन ही अकारथ चला गया। दोहा इस तरह है :—

एउ जम्मु नग्गुहं गिउ भड़सिरि खग्गु न भग्गु,
तिक्खा तुरियाँ न माणियाँ गोरी लाल न लग्गु।

राजपूत चित्रकला का स्वरूप शाब्दिक चर्चा से परे मूल आकृत्यात्मक-अभिव्यक्ति में सरल है। भारत नाटयम् की तरह अनेक अभिसंधियों में, बंकिम रूपों में नहीं है। अगर सभ्यता के सम्बद्ध किया जावे तो प्राचीन मिश्र

की चित्रकला के सदृश है। राजपूत चित्रकला शैली में व्यक्ति के प्रस्तुतीकरण का ढंग सीधा अर्थात् लम्ब रूप में होता है। उसमें वृतात्मकता या वर्तुल पद्धति का अभाव रहना है। राजपूत कलम की मौलिकता ही इसे अन्य भारतीय कला पद्धतियों से अलगाती है। राजपूत चित्रकला शैली का इस तरह का स्वरूप भारत के अन्य कला केन्द्रों में किंचित भी प्राप्त नहीं होता है। यह सत्य एक तरह से इस सन्देह को जन्म दे सकता है कि राजपूत कला और मिश्र की प्राचीन चित्रकला का जो साम्य है, क्या इनका संदर्भ सिंध के माध्यम से जोड़ा जा सकता है। उदाहरण पुष्टि के लिए यह कहा जा सकता है कि हर्ष के उपरान्त मिहिरभोज (८३६ ईसवी सन्) द्वारा स्थापित राज्य दशवीं शताब्दी तक सिंध व्याप्त रहा है। उदयादित्य द्वारा निर्मित एलोरा का प्रस्तर चित्र भी इसी राजवंश से सम्बन्धित है, अतएव इसकी संभावना स्वीकार की जा सकती है।

वास्तविक अनुसंधान के सिलसिले में उपर्युक्त तर्क अधिकांशता कल्पना पर आधारित है इसलिए स्वीकार नहीं किए जा सकते हैं। पश्चिम भारत से बंगाल तक दिलवारा, खजुराहों, कोणार्क, भुवनेश्वर की मंदिर-मूर्ति-परम्परा प्रायः एक ही है। खजुराहों का मन्दिर समूह हिन्दू जीवन के जन्म से मरण तक की संघटनाओं को एक महाकाव्य की तरह प्रस्तुत करता है। इसी तरह दिलवारा, कोणार्क और भुवनेश्वर है।

राजपूत के इन संभावित स्रोतों में यह सर्वतोचित प्रतीत होता है कि गुप्ताकाल में कला की जो स्थिति थी वह शनैः शनैः हर्ष के उपरान्त स्वतन्त्र रूप से स्थानीय विशेषताओं के साथ परिणित हुई जो कि कई शताब्दियों के उपरान्त मौलिक पुष्ट परिमार्जित रूप में, राजपूत चित्रकला शैली में आई। हालांकि राजपूत कला का अभ्युदय, राजपूत राजाओं के समय से सातवीं शताब्दी से आरम्भ हो गया था। इस तथ्य के प्रमाणित करने में हो सकता है, कुछ समय लगे और यह भी हो सकता है कि बहुत अल्प सामग्री हाथ लगे फिर भी ऐसा विचार है कि राजपूत कला का अभ्युदय और विकास उसी मिट्टी में हुआ है जहाँ कि वह आज है। वह अपनी मिट्टी के ही गुणों पर पल्लवित पोषित और पुष्ट हुई है।

यह प्रस्तुत कार्य तो इस दिशा में प्रयास है। इसमें कोई भी निष्कर्ष अन्तिम रूपों में नहीं हैं। वस्तुतः सत्यापन के लिए विस्तृत खोज की अपेक्षा है।

अध्याय ३

मध्ययुगीन सांस्कृतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ और उनसे सम्बद्ध राजपूत कला और हिन्दी काव्य।

मिहिरभोज द्वारा ८३६ ई० में स्थापित राज्य, सिन्ध तक व्याप्त था। किन्तु दसवीं शताब्दी तक सिन्ध का प्रदेश अरबों की आधीनता में आ चुका था। अरब लोग जो सिन्ध से आगे भारत में नहीं बढ़ सके थे, उसका प्रधान कारण गुर्जर प्रतिहार राजपूत राजाओं की शक्ति ही थी। दशवीं शताब्दी के मध्य से गुर्जर प्रतिहारों का ह्रास आरम्भ हो गया था। फलस्वरूप मध्य देश में अनेक छोटे-छोटे राजवंश स्वायत्तशासी होने लगे थे। इनमें जेजाकमुक्ति का चंदेलमवंश, चेदि का कलचुरिवंश, मालवा का परमारवंश, अणहिलवाड़ा का चालुक्य वंश, शाकंभरी का चौहान वंश, ग्वालियर का कच्छप्रधान वंश प्रमुख थे। जेजाकमुक्ति जिसे आजकल बुन्देलखण्ड समझा जाता है, के प्रधान केन्द्र महोबा चंदेरी और खर्जूरपुर (वर्तमान विश्वप्रसिद्ध मूर्तिकला केन्द्र खजुराहों) थे। इसके पश्चिम में मालवा के परमार वंश का शासन था। इसकी राजधानी धारा नगरी थी जिसे कि आजकल धार के नाम से जानते हैं। मालवा राज्य के पश्चिम में गुजरात के उत्तर में तथा दक्षिण राजस्थान में, अणहिलवाड़ा का चालुक्य राज्यवंश था। आज के वर्तमान राजस्थान अधिकांश उत्तरी भाग शाकंभरी राज्य में तथा पूर्व भाग ग्वालियर राजवंश के मातहत था। इसके अनन्तर अनेक छोटे-छोटे राजवंश थे जो कि इन बड़े राजवंशों के ही आधिपत्य में थे। इन राजवंशों की विशेषता यह थी कि युद्ध ही इनका व्यवसाय था। छोटी-छोटी घटनाओं को लेकर, बड़े पैमाने पर युद्ध का श्रीगणेश हो जाना, इस युग की एक सहज घटना थी। युद्ध तत्कालीन शौर्य और शक्ति के प्रतीक थे। सामान्य जन शक्ति इन युद्धों की हव्य थी।

दशवीं शताब्दी में उत्तर-पश्चिम राजस्थान दृढ़ राज शक्ति के न होने के कारण जो बाह्य यवन—शक सदृश्य आक्रमण अभी तक निष्क्रान्त कर दिए जाते रहे या पल्लव-कुषाण-अकाक्रमणों को समाहित कर लिया गया, वे पुनः सक्रिय होने लगे। इस बार जो आक्रामक थे वे इस्लाम के कट्टर प्रचारक थे। अरब देश में सातवीं शताब्दी तक, छोटे-छोटे राज्य-टुकड़ों में बँटा हुआ था। इन सब राज्यों को इस्लाम के प्रचारकों ने, एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में परिवर्तित कर दिया था। आठवीं शताब्दी तक अरबों का विशाल सम्राज्य निर्मित हो चुका था। इसका विस्तार दशवीं शताब्दी तक पूर्व में सिंध से लेकर पश्चिम में स्पेन तक था। पूर्वोत्तर की ओर मध्य एशिया में बौद्धों का प्रभाव छठवीं शताब्दी तक किसी तरह बना रहा। तदनन्तर इस्लाम के प्रभाव में इस्लामी हो गए गोकि जिन्हें हूणों की संज्ञा मिली थी वे इस्लामियत में तुर्क हो गए। ये तुर्क आठवीं शताब्दी तक विशेष शक्तिशाली हो चुके थे। नवमीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही इन तुर्कों ने अरबों के साम्राज्य को आक्रान्त करना प्रारम्भ कर दिया था। दशवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक गजनी में तुर्क राज्य की स्थापना हो चुकी थी।

दशवीं शताब्दी में इसके अन्तिम चरण तक पश्चिमोत्तर भारत में कोई शक्तिशाली राष्ट्र नहीं था। यहाँ की शक्ति छोटे-छोटे राजवंशों में विभक्त थी और इन राजवंशों में एक्याभाव था। परिणाम यह हुआ कि राजनैतिक दृष्टि से गजनी के तुर्क सुल्तान को भारत में हरा घास नजर आया और फिर महमूद गजनी से आक्रमणों के दौर प्रारम्भ हो गए। इस विकट अर्थलोलुप सुल्तान ने भारत की बिखरी सत्ताओं का लाभ उठाकर बार-बार आक्रमण किए। इसने ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक पंजाब-कन्नौज से लेकर सोमनाथ तक आक्रमण किए। अपार धन को लूटा। भारतीय सामाजिक व्यवस्था को तहश-नहश किया और वापिस चला गया। उसने उत्तर भारत को अपने आधिपत्य में भी लिया। इसके उपरान्त कुछ समय तक गजनी-तुर्क-सुल्तानों में कोई शक्तिशाली शासक नहीं हुआ। अतएव लगभग एक शताब्दी पश्चिमोत्तर भारत के राजवंश और जन साधारण बाह्य आक्रान्ताओं से मुक्त रह, अपने-अपने विकास

और विस्तार में लीन रहे। इस शान्ति-प्राप्त एक शताब्दी जो लगभग ग्यारहवीं और बारहवीं है, में दो राजवंश, शाकंभर का चौहान वंश तथा कन्नौज का गड़वाल वंश, दृढ़ शासन करने में समर्थ हुए। बारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में इन्हीं दो राजवंशों के शासक पृथ्वीराज चौहान और जयचन्द्र गहड़वाल में घोर वैमनस्य तथा प्रतिद्वन्दता होने के कारण, बाह्य शक्तियाँ पुनः भारत को ललचाई आँखों से देखने लगीं। बारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में मुहम्मद गोरी ने भारत पर आक्रमण किया। पृथ्वीराज चौहान ने मुकाबला किया। फलतः गोरी असफल रहा। किन्तु वह असफलता के बावजूद भी, बार-बार आक्रमण करता रहा और एक बार पृथ्वीराज चौहान को हराने में सफल हो गया। इसी के अनन्तर कन्नौज के गहड़वाल राज्य पर भी आक्रमण कर जयचन्द्र का राज्य छीन लिया। इस युद्ध के उपरान्त स्थिति कुछ ऐसी रही कि अधिकांश मध्यदेश विदेशी-शासकों के हाथ में पहुँच गया। इसी के समानान्तर समयों में राजस्थान के पहाड़ी हिन्दु राज्य तथा काश्मीर-हिमालय के हिन्दु राज्य स्वतन्त्र ही रहे। ग्वालियर का राज्य १२६३ ईसवी तक स्वतन्त्र रहा। मेवाड़ और मेवाड़ से दक्षिणवर्ती राजपूत राज्य स्वतन्त्र रहे। मालवा का परमार वंश इस दीर्घा में कुछ काल के लिए परतन्त्र रहा है। इस अवधि के हिन्दु प्रतापी राजपूत राजाओं ने, न केवल अपनी सत्ता में ही स्वतन्त्र रहे अपितु मालवा गुजरात आदि के मुसलमान सुल्तानों को हरा कर (१५०८ ई० राणा संग्राम सिंह) अपने आधीन रखा। राणा संग्राम सिंह की राज्य सीमा आगरा धौलपुर ग्वालियर तक थी। सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक समस्त वर्तमान राजस्थान तथा अधिकांश उत्तर भारत, गुजरात मालवादि मेवाड़ राज्य के अंतर्गत था। बुन्देलखण्ड भी एक स्वतन्त्र हिन्दू राजपूत राज्य था। इस शताब्दी के मध्य तक बाबर, शेरशाह, हुमायुं आदि राजस्थान की शासन व्यवस्था व समाज व्यवस्था में विशेष दखल नहीं दे पाए थे। युद्ध अवश्य होते रहे। राजपूत पठान और मुगलों की जय-पराजय के बीच यह शताब्दी बीत गई। सोलहवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में मुगल सत्ता से निश्चित रूप में राजस्थान आक्रांत हुआ, परास्त हुआ और काफी लम्बे अर्से तक केवल प्रताप को छोड़कर अधिकांश ने शांतिपूर्वक अपनी सत्ता व बहन-बेटियाँ मुगल राजशाही को सौंप दी थीं। इस काल के कुछ शासकों ने छोटे राजपूत हिन्दु राज्यों के संघर्ष-रत-स्वतन्त्र-शासक होने की अपेक्षा, स्वेच्छापूर्वक सिर झुका कर मुगल साम्राज्य के उच्च पदाधिकारी, सूबेदार सेनापति कहलाना अधिक श्रेयस्कर समझा किन्तु इस परम्परा को आने वाली सत्ता-प्राप्त-हिन्दू-पीढ़ी ने मुगल-धर्मान्ध-नीति से विकल-प्रताड़ित हो, खण्डित किया और स्वतन्त्र चेतना व व्यवस्था बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील हुए।

इस सन्दर्भ में, अकबर के समय से ही बुन्देलखण्ड के राजपूत राजा अपनी सत्ता को स्वतन्त्र करने के लिए अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक निरन्तर प्रयास करते रहे। राजस्थान में औरंगजेब के समय में इस्लामी-शासन-पद्धति से संतप्त राजपूत राजा, जनता व सम्प्रदायों में विद्रोह हुए। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक राजस्थान और बुन्देलखण्ड के विविध राजपूत राजा अपने राज्यों में स्वतन्त्र रूप से राज्य करने लगे थे।

इस पिछली राजनैतिक स्थिति देखने से एक प्रश्न सामने आता है कि इतिहास के इस काल में क्या हिन्दू प्रायः हारता ही रहा है ?

इसके कुछ प्रचलित कारण या तथ्य इस तरह हैं। जैसे कि मुसलमान हिन्दुओं से बलिष्ठ होते हैं। भारतीय युद्ध में हाथियों को मुख्य पंक्ति में रखते थे और हाथियों पर ही भरोसा रखकर युद्ध-रत होते थे फलतः ये हाथी फुर्तीले घुड़-सवार के समक्ष हेय-निकम्मे सिद्ध रहे हैं। तीसरी बात मुसलमानों से पूर्व अराजकता भी कह दी जाती थी। इन कथित कथ्यों में बलिष्ठता की बात निराधार कल्पना मात्र है क्योंकि भारतीय किसी भी तरह तुर्कों से शारीरिक बल में कम नहीं रहे हैं। भारतीय राजपूत, सिक्ख, जाट, भोजपुरी, मराठे, कन्नड़ विश्व प्रसिद्ध लड़ाकू और बलिष्ठ जातियाँ हैं। हाथियों के सन्दर्भ में ऐसा भी पूर्णता नहीं मान सकते हैं। हाथियों के संचालन में युद्ध-विद्या का होना आवश्यक था। स्वयं महमूद गजनवी ने मध्य एसिया में अपने विरोधियों के दमन में भारतीय हाथियों का उपयोग किया था। मध्य एशिया के युद्ध के बृतान्त में कथन है कि महमूद के हाथी शत्रु के सवारों को अपनी सूंडों से पकड़ कर काठियों में

से खींच लेते थे ।[1] अराजकता के संदर्भ में मुसलमानों से पूर्व भारत में अराजकता कभी नहीं थी । यह बात अवश्य रही है कि हर्ष के उपरान्त किसी भी भारत-व्यापी साम्राज्य का गठन नहीं हुआ है । देश छोटे-छोटे राज्यो में बट गया था । भारत जैसा बड़ा देश जिसमें आठ-दस राज्यों का हो जाना और उसमें परस्पर युद्धों का होना तो सहज स्वाभाविक है । इसे अराजकता की संज्ञा से अभिहित नहीं किया जा सकता है । इस तरह के आपस में युद्ध विश्व के इतिहास योरोप में में ही सर्वाधिक हुए हैं । इस तरह से तो सबसे अधिक भयानक अराजकता मध्यकालीन योरुप में कहीं जानी चाहिए । पर ऐसा नहीं कहा गया है । वे युद्ध शान्ति और समृद्धि के लिए लड़े गए हैं किन्तु उसका ठीक खांचा राहुल सांस्कृत्यायन ने हिन्दी की काव्य धारा की भूमिका भारतीय सामंतीय जीवन पर घटित करते हुए प्रस्तुत किया है ।[2] ईमानदारी से देखा जाए तो सच यह रहा है कि छोटे-छोटे राज्यों की सीमा की रक्षा सर्वोपरि हो चली थी । इसके विकास के समानान्तर ही भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना का प्रवाह, प्रसार व विकास मन्द पड़ने लगा था । हिन्दुओं की प्रायः सभी लड़ाइयाँ रक्षा परक रहीं है । शत्रु देश में घुस आता था । संहार करता था । राजा नरेश दुर्ग में बन्द होकर लड़ता-लड़ता मारा जाता था या आत्म समर्पण करता था। यह किसी ने नहीं किया कि हर्ष की तरह इनको अफगानिस्तान ही जाकर रोका होता । चंदेलराज्य के गंडब्रह्म ९९९ से १०२५ ईसवी इसके अपवाद हैं । इन्होंने १०२० ईसवी में डेढ़ लाख सेना से महमूद गजनवी पर धावा करके विजय प्राप्त की थी । दूसरी बार १०२३ ईसवी में जब इन्होंने धावा बोला, तब गजनवी को इनसे सधि करनी पड़ी थी । इस समय इनके पास १४ सुदृढ़ किले थे ।[3]

शत्रु को इस तरह से अपनी भूमि में आ जाने देना, एक तरह से बौद्धिक या राजनीतिक भूल नहीं अपितु युद्धक चूक थी जो कि युद्ध मैदान या खुले में बाहर न लड़कर, घिर जाने पर, शत्रु के भीतर घुस आने पर लड़ा जाता रहा है । इस तरह के युद्धों में जिस शौर्य का प्रदर्शन हुआ है वह प्रायः मरने-मारने की तीव्र अन्तिम-अभिलाषित भावना को लेकर हुआ है । इस तरह के युद्धों की अनेक घटनाएँ है जिनके विश्लेषण से यह कहा जा सकता है कि नैराश्य-जन्य-मृत्यु-वरेण्य-वीरता जीवन का शौर्य नहीं—बहादुरी नहीं है । किन्तु इसके पूर्व परिवेश पर विचार करें तो इसका विपरीत पक्ष प्रस्तुत होगा और वह इस तरह से है कि इन अदम्य-साहसी-वीरों के संचालन में सही कदम नहीं उठाए गए हैं । अधिकांश संचालक सेनानायकों में महत्त्वाकांक्षा का भी अभाव मिलता है । प्रजा में, परवर्ती तुलसी कथित सूत्र 'कोई नृप होई हमहिं का हानी' व्याप्त था अन्यथा यदि राजा नरेश देश के प्रति अनुदार, अनैतिक, असंतुलित, अराष्ट्रीय था तब उसका प्रजा को मुकाबिला करना चाहिए था । उदाहरण के लिए कर्ण सोलंकी अन्धा हो कर मन्त्री को सता रहा था, तो और भी तो वहाँ उसके प्रतिरोधक हो सकते थे । किन्तु ऐसा कुछ प्रतीत नहीं होता है । राष्ट्रीय चेतना की अपेक्षा तथा राष्ट्रीय संगठन के अभाव में व्यक्ति राजा-रहीस, आत्मा को लेकर अहं के शिखर पर बैठकर ही विचारों का विनिमय और जीवन का लेन-देन निपटाया करते थे । इस तरह से सफल नेतृत्व का अभाव रहा है । राणा सांगा ने अवश्य इस तरह के प्रयास किए हैं । इस काल के हिन्दू राजाओं में एक झण्डे के नीचे आकर, सब मिलकर शत्रु से मुकाबिला करने की प्रवृत्ति का अभाव रहा है । विदेशी मुगल, पठान सुल्तानों बादशाहों में यह प्रवृत्ति थी जबकि वे भारतीयों की अपेक्षा अधिक उत्पाती उच्छृंखल थे । उदाहरण के तौर पर दिल्ली की गद्दी पर ११९३ से १५२६ ईसवी तक पाँच वंशों के ३५ सुलतान सत्तारूढ़ हुए जबकि मेवाड़ के सिंहासन पर एक ही वंश के १३ राजाओं ने राज्य किया । हिन्दू राजा तुर्कों की इस कमजोरी का लाभ लेना चाहता तो नहीं ले सकता । क्योंकि कोई भी ग्यास[4] सामने आता और

१. भारतीय इतिहास का उन्मीलन-जयचंद्र विद्यालंकार, पृष्ठ-४३३ ।
२. पृष्ठ-१४ ।
३. मध्यप्रदेश संदेश ४ सितम्बर १९६५, पृष्ठ-७ ।
४. ग्यासुद्दीन तुगलक ।

सभी तर्क उसके झण्डे के नीचे खड़े हो जाते ।

भारतीय जनता की आत्मसाती प्रवृत्ति इस काल में या तो लोप हो चुकी थी या फिर उसमें स्वयं जागरूकता का अभाव था। शक और हूणादि भारत आए और भारतीयों में उनका विलय हो गया। किन्हीं अंशों में प्रजा की सहन शक्ति दोषी ठहराई जा सकती है जो कि निश्चेष्ट होकर सब कुछ सहन करती रही और जिसने की राजनैतिक परिस्थितियों के प्रति सर्वथा उपेक्षा भाव प्रकट किया। इस तरह तत्कालीन हिन्दू सभ्यता के सिर कमजोरी का दोष मढ़ा जा सकता है जिसने कि तत्कालीन समाज में तुर्क व्यवस्था से बढ़कर नई समाज व्यवस्था प्रस्तुत करने में असमर्थता प्रकट की। अन्यथा ये तुर्क भी आत्मसात होकर भारतीय हो जाते। इसमें यदि ठीक तरह से विचार करें तो यह दोष प्रजा के सिर पर भी नहीं आता है। मध्यकालीन समय में शासन व्यवस्था में प्रजा के ऊपर शक्ति सम्पन्न जागीरदार हुआ करते थे। ये जागीरदार छोटे राजाओं के मातहत होते थे। जागीरदार अपने आप में अपनी जागीर की व्यवस्था के लिए स्वतन्त्र शासक हुआ करते थे। प्रजा के कर की वसूली करना, न्याय देना इन्हीं के हाथों होता था। इसके उपलक्ष्य में ये जागीरदार राज्य को लड़ाई के अवसरों पर निश्चित संख्या में सैनिकों सहित स्वयं सहयोगी हुआ करते थे। राजा या नरेश अपनी स्वयं की सेना बहुत ही कम रखा करता था। इस व्यवस्था के कारण प्रजा का राजनैतिक समस्याओं से सम्बन्ध विच्छेद सा हो गया था। आज का बौद्धिक व्यक्ति जब भी इस तरह की समस्याओं पर विचार करता है तब उसे जनता की जागरूकता पर सन्देह होने लगता है किन्तु सही यह है कि आज जैसे साधन सम्पन्न समाज व्यवस्था तब नहीं थी, जहाँ तक न्याय का प्रश्न है, वह तो आज भी उसी को प्राप्त होता है जिसके ऊपर लक्ष्मी की कृपा होती है, तब फिर उन्हें दोषी नहीं कहा जा सकता है। इसके अपवाद भी राजस्थान में अनेक हैं। मेवाड़ के इतिहास को देखने से स्पष्ट विदित होता है कि बप्पा रावल से लेकर महाराणा राजसिंह प्रथय एवं राजा जयसिंह तक हिन्दु धर्म और हिन्दू सभ्यता के लिए मेवाड़ ने विदेशी आक्रान्ताओं एवं शासकों से लगातार लोहा लिया है। राजा और प्रजा ने निरन्तर कष्ट सहन कर अपनी भारतीय मर्यादा का परित्याग नहीं किया है। राणा राजसिंह के उपरान्त भी युद्ध छिड़े है, परन्तु मुगल शासकों की शक्ति कमजोर निस्तेज हो जाने से मेवाड़ शक्ति का अनुभव करने लगा था। इसमें जहाँ बात हिन्दू सभ्यता की है—वहाँ अनेक तथ्य विचारणीय हैं। चौदहवीं पंद्रहवीं शताब्दी तक लगभग आधे भारत में हिन्दू राजाओं के हाथ में शासन व शक्ति थी। यदि ये समस्त राजा सचेष्ट होकर संगठित होते तो आज भारत का नक्शा ही दूसरा होता पर इसके मूल में संकीर्णता और दृष्टि शून्यता थी। अन्यथा क्या कारण था कि हर्ष के उपरान्त जब देश टुकड़ों में बटा तो बटता ही गया। जिस देश का शासन टूटा तो टूटता ही गया और फिर संभला नहीं, उठकर खड़ा नहीं हुआ। उदाहरण के लिए चेदि देश का इतिहास देख सकते हैं। सल्तनतः युग में इसका बड़ा भाग स्वतन्त्र था किन्तु १२वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में यह राज्य स्वतः टूटा तो इसके स्थान में कोई बड़ा राज्य संगठित नहीं हो सका अपितु खण्ड-खण्डशः, छोटे-मोटे सरदारों के ठिकाने खड़े हुए जिनके फिर अहं आत्म तक ही सीमित थे। तो क्या बात यह उठाई जा सकती है कि क्या यदि तुर्क मुगल नहीं आते तब क्या देश खण्ड-खण्डशः होता ही जाता ? कभी नहीं होता। तब भी देश को सम्हालने के लिए सदा-सदा की तरह कोई चंद्र या हर्ष पैदा होता। किंतु वस्तु स्थिति सामाजिक व्यवस्था के कारण बदल गई थी। भारत में जागीरदारी प्रथा तुर्की देन है। राजस्थान फिर भी कुछ समय तक इससे प्रभावित नहीं हुआ था। किन्तु ऐसा होता था कि जैसे-जैसे भूभाग इन तुर्कों के कब्जे में पहुंचते गए, वैसे ये तुर्क शासक अपने विजित भूभाग इन तुर्कों को आपस में बांट देते थे। ये तुर्क सरदार होते थे। ये सरदार स्थानीय शासक हुआ करते थे। इसके पूर्व में इन बंटे हुए इलाकों की व्यवस्था शिल्पियों की श्रेणियाँ, ग्रामों नगरों की सभाएँ या पंचायतें करती थीं। ये नव-आयातित सरदार पूर्ण-व्यवस्था के अनेक अधिकार अपने हाथ में ले लेते थे जो कि क्रमशः पूर्व-व्यवस्था को प्रभावित करते हुए या तो उन्हें निश्चेष्ट कर देते या उसके संचालक अधिकार हीनता से उदासीन हो जाते थे। इस तरह सामाजिक व्यवस्था से प्रजा का सम्बन्ध विच्छेद होना आरंभ हुआ और एक शताब्दी

लगभग में व्यापक से हो गये। आगे चलकर जब भी व्यापक रूप से शासन में परिवर्तन होते तब ये सरदार बदल जाते शेष प्रजा यथावत रहती। यदि युद्ध की स्थिति होती तो उसमें प्रजा लूटी जाती थी। किन्तु युद्ध की सारी चपेट और सीधा प्रहार इन सरदारों पर ही हुआ करता था। बहुधा प्रजा अछूती भी बच जाती थी। इससे प्रजा का राजनैतिक परिवर्तनों में लगाव नहीं रहा और क्रमशः अलगाव बढ़ता ही गया। १३वीं शताब्दी व १४वीं शताब्दी तक अधिकांश भूभाग दो विभिन्न मानसिक खाईयों में संप्रक्त हो गये। ये मानसिक व्यावर्तक खाईयाँ राजनैतिक और धार्मिक प्रारूपों में प्रकट हुई।

मध्यकालीन हिन्दू शासन में प्रजा की स्थिति इससे भिन्न स्वस्थ रही है। राजसत्ता सदैव ही किसानों के हित चिन्तन के लिए तत्पर रही है। नहरों तालाबों और कुओं द्वारा सिंचाई करने का प्रबन्ध राज्य ही किया करते थे। पुराने बांधों व नहरों की मरम्मत तथा नयी नहरों का निर्माण आदि मौजूदा शासक किया करते थे। कल्हण की राजतरंगिणी' में सूर्य नामक शिल्पी का उल्लेख है। इसमें कश्मीर के राजा अवन्ति वर्मा ने सूर्य की सहायता से वितस्ता के पानी को रोककर नहरों में विभक्त कर ग्रामों की आवश्यकतानुसार जल की कमी को दूर किया था। कल्हण के शब्दों में 'सपेरा साँपों को नचाता है' इस तरह नहरों को नचाया था।[1] इससे यही निसृत होता है कि कृषि और किसान तत्कालीन व्यवस्था में प्रमुखता प्राप्त थे। किसानों से खेत की उपज के आधार पर कर लिया जाता था। इसके अतिरिक्त राजा के आगमन पर चाट का तथा गाँव के समीप से सेना के गुजरने पर भट कर कृषकों को देने पड़ते थे। यदि कोई राजकर्मचारी या स्थानीय व्यक्ति इन किसानों के प्रति निरंकुशता का व्यवहार करता था, तब ये किसान सब मिलकर सामना करते थे।[2] इसी तरह शिल्पकारों की व्यवस्था में शिल्प श्रेणियों का पूर्ण तखल होता था। सामाजिक व्यवस्था की सुचारुता भंग होने के मूल में यह था है कि राजस्थान के हिन्दू राजाओं का अलाउद्दीन खिलजी, मुहम्मद तुगलग, पठानों, सैयदों तथा लोदी वंश के शासकों से निरत संघर्ष लेना पड़ा है। विदेशी शक्ति से अन्तिम और भयंकर टक्कर राणा संग्रामसिंह ने ली थी। इतने बड़े संघर्ष के कारण सामाजिक उथल-पुथल होना स्वाभाविक ही था। इस संकटकालीन स्थिति में यहां की प्रजा ने अपने धर्म और संस्कृति को ही प्रधानता दी और किसी भी तरह के त्राण-लोभ में न आते हुए विदेशी संस्कृति को स्वीकार नहीं किया। निम्न वर्ग विदेशी प्रभाव अंशतः आया है और बलात् संस्कृति-स्वीकरण की हुआ है। किन्तु जो योद्धा या व्यक्ति धर्म और संस्कृतिक मर्यादा और असहाय की सहायतार्थ प्राणोत्सर्ग करता, प्रजा उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखती थी। इस प्रकार जूझकर मरने वाले जुझारों की लोग आज भी पाबू जी सदृश्य[3] देवताओं की तरह पूजा करते हैं। १४८५ वि. सं. के लगभग शिवदास कृत 'अचल दास खीची री वचनिका से तत्कालीन राजपूत राजाओं का अदम्य साहस और स्वाभिमान व्यक्त होता है। वीर गति को प्राप्त होते हुए राजपूत राजा अचलेश्वर के कानों में यही स्वर प्रतिध्वनित हो रहे थे कि राजपूत पुरुष और स्त्रियाँ जीवित रूप में मुसलमानों को आत्मसमर्पण नहीं करेंगे। इभ वीर राजपूत राजा की मृत्यु तथा राजपूतों की इस धूमिल अस्तंगन स्थिति का चित्र निम्नोद्धत दोहे में दृष्टव्य है।[4] माण्डों के सुल्तान ने गागरोण को अपने अधिकार में कर आधीनता स्वीकार करानी

---

१. ओझा, मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पृष्ठ १३०।
२. „ „ „ पृष्ठ १३०।
३. माण्डौर, जोधपुर के पास मूर्ति है।
मारवाड़ का इतिहास, द्वारा जगदीश गहलोत पृष्ठ ९८।
४. चिन्तावियौ चहवाणि जजहर की माण्डन जुगति।
हव हुवस्यां हपुर दिसा वगा वगि विहाणि।

चाही किन्तु राजपूती खून उबला और बलिदानी-रक्त से भूमि रंग गई ।[1]

देवताओं के प्रति अगाध श्रद्धा भारतीयों का वैशिष्ट है। सांसारिक सुख और भोग एक तरह से हेय दृष्टि से देखे जाते हैं। बौद्धों के पराभाव के उपरान्त लोक और अलौकिक भावना, ब्राह्मण महाकृपा के उपरान्त जनता की चेतना पर छा गई थी। इस विवच्य काल में लोक और लौकिक उपादानों को उदासीनता से ग्रहण करना विरक्ति परक दृष्टिकोण रखना, तात्कालिक संस्कृति का प्रमुख बाह्य अंग हो गया था। राजनीति में जनता की उपेक्षिता का एक कारण यह भी कहा जा सकता है। जैन, बौद्ध और वैष्णव विचारणा अहिंसा और करुणा को पोषक रही है। इससे भी सामान्यतः जनता ने हिंसा और रक्तपात से स्वभावतः ही बचने की चेष्टा की है। सामान्य जनता से आशय लड़ाकू जातियों को छोड़कर है। जनता की यह बचाव की चेष्टा ग्लानि के भाव के साथ हृदय की उत्तरोत्तर बढ़ती दुर्बलता, लगता है जो कायरता में परिणित हो गई। वैसे इस प्रस्तुत दीर्घकालिक आचरण को विश्व प्रसिद्ध भारतीय उदारता का भी संबोधन दिया जा सकता है। इसी आचरण के प्रति बाबर का अपनी आत्मकथा में कथन है इस देश के निवासी कृषक इत्यादि मेरे व्यक्तियों से दूर रहते थे।[2] कुछ राजा नरेश जैन धर्म से इतने अधिक प्रभावित थे कि उन्होंने अपने शासित भूभाग व देश की रक्षा का भार, जैन मंत्रों के उच्चारण-मात्र पर, छोड़ दिया था। पुरातन प्रबन्ध संग्रह की कुछ पंक्तियाँ इस तथ्य को स्पष्ट करती है—राजा कुमारपाल जैन नमस्कार मंत्र का पाठ कर, जो वस्तु वह अपनी शक्ति शाली सेना से प्राप्त नहीं कर सकता था, वह केवल इस मंत्र के उच्चारण से उसे सुलभ हो जाती थी। इस मंत्र की शक्ति में उसकी इतनी अगाध श्रद्धा थी कि इससे उसके शत्रुओं का दमन होता था। गृह युद्ध तथा विदेशी आक्रमण का संकट दूर होता और उसके राज्य में कभी अकाल नहीं पड़ता था।[3]

इस तरह तीन चौथाई आबादी राजनैतिक चेतना से मुक्त होकर मूक-दर्शक की भाँति राजनैतिक उत्थान-पतन, बनते-बिगड़ते साम्राज्यों के परिवर्तन, देखती रही। यह दृष्टिकोण यही दिशा देता है कि इस तीन-चौथाई जनता ने किसी भी तरह इन विदेशियों से समन्वय, समझौता, यथा-साध्य-ढंग से निभाने का प्रयास किया है। यह तथ्य धार्मिक विचारणा से अनुस्यूत कहा जा सकता है जोकि जनता ने मुसलमानों की अनिवार्यता, थोपी हुई विपदावत ही समझा है और कदाचित् इसके साथ ही हमारे हिन्दू राजाओं ने आरंभ में यह अनुभव नहीं किया कि विदेशी मुसलमान आक्रान्ताओं की विजय केवल राजनैतिक विजय ही नहीं है। जयचन्द का अंत-अंत तक यह विश्वास रहा है कि मुहम्मद गौरी लूट-पाट के उपरान्त चला जाएगा किन्तु उसकी आशाओं के विपरीत स्थिति ने साक्षात् किया। इसके मूल में भारतीय नरेशों के अंतर्मन में महमूद गजनवी की धाक पूर्व-भूमिका के रूप में प्रस्तुत थी। इस महमूदी धाक ने भारतीय नरेशों का आपसी तर्क-वितर्क-कुतर्क से परे सामान्य धरातल पर संगठित होकर विरोध करने या मुकाबला करने में प्रकारान्तर से व्याघात पहुँचाया। शाही वंश का राजा जयपाल और राणा संग्राम सिंह इसके अपवाद हैं।

मध्य एसिया में तोरमन (छठी शताब्दी) के उपरान्त इस्लामियत का विस्फोट बढ़ा। तोरमन का भारत पर आक्रमण हर्ष के समय हुआ। इसके बाद यहाँ की शक्तियों का ध्यान इस्लाम ने खींच लिया। इस कारण से भारत देश लगभग महमूद गजनवी के आक्रमणों तक बाह्य-आक्रमणीय-भय से अंशतः मुक्त रहा। इन शान्ति प्राप्त बृहत चार शताब्दियों में भारतीयों के मन में यह धारणा घर कर गई थी कि उनके देश पर कभी आक्रमण स्वप्न में भी नहीं हो सकता है। इस तरह की धारणा को धार्मिक प्रचारकों से बल मिला है। यह तथ्य सामयिक आयातित घटनाओं से भी

---

१. भुंज भणई मुणालवइ जुब् वन गयं न भूरि।
जइ सक्कर सम खण्ड किय तो इस मीठी चूरि। मेरुतुंग

२. भारत का इतिहास—सर एच. एम इलियट, पृष्ठ ४६।

३. „ „ „ „ पृष्ठ, ४२-४३।

प्रतीत होता है कि इस तरह की मनोदशा रही होगी। अलबरुनी महमूद गजनवी के साथ आया हुआ एक इतिहासकार लिखता है—"हिन्दुओं का विश्वास है कि उनके देश के समान कोई दूसरा देश नहीं है, उनके राष्ट्र के समान कोई दूसरा राष्ट्र नहीं, उनके राजा के समान कोई दूसरा राजा नहीं, उनके धर्म के समान कोई दूसरा धर्म नहीं" यह लिखते हुए अलबरुनी ने टिप्पणी दी है "यदि भारतीय दूसरे देशों का भ्रमण करें तो उनकी यह धारणा मिथ्या प्रतीत होगी।[1] इस दीर्घ-कालीन बाह्य युद्ध रहित स्थिति में भारतीय स्वतंत्रता की रक्षा की चेतना, सार्वजनिक जागरूकता, जोकि निरन्तर सतर्क रहनी चाहिए थी, विलुप्त हो गई। इस पहलू पर विचार करते हुए यह ध्यान में रखना चाहिए देश भक्ति और राष्ट्रीय गौरव की भावना का तात्कालिक अर्थ सामयिक राज्य विशेष की सीमा तक व्याप्त था। वैसे जिस देशभक्ति या राष्ट्रीय गौरव की भावना महमूद गजनवी के समय थी, वह इतिहासकारों के शोध का विषय है। इस तरह का प्रकरण कम ही सामने आता है। के. एम. पणिक्कर का इस संदर्भ में कथन है कि देश भक्ति और राष्ट्रीय गौरव की भावना केवल बाहरी संकट की छाया में पनपती है।[2] किन्तु ऐसा हुआ नहीं है महमूद गजनवी से लेकर तैमूर, बाबर, नादिरशाह, मुहम्मद शाह अब्दाली आदि के आक्रमण बाह्य संकट ही कहे जाते हैं। वास्तव में उस समय इन शब्दों का अर्थ बहुत ही सीमित था। यह व्यापक अर्थ तो आगमन के उपरान्त प्रस्तुत हुआ है। तीन चौथाई उपरान्त जो एक चौथाई आर्य हिन्दू-जन-समूह शेष रहा, यह जन-समूह निरन्तर युद्धों में संलग्न रहता था तथा सदैव जय-पराजय की सम्मिलित अनुभूति के कारण जिसमें एक विशिष्ट मनोवृत्ति का विकास हो गया था। यह जन समूह अधिकांशतः राजाओं से संबंधित राजपुत्रों, राजवंशों का था जिसे कि राजपूत की संज्ञा, इस संक्रान्ति काल में दी गई। ये स्वभाव से भावुक वीर योद्धा रहे हैं। हंसते-हसते प्राणों की आहुति देना तो विश्व इतिहास में राजपूतों की ही विशेषता थी। राजस्थान के युद्धों की और वीरों को कर्नल टाड़ ने, इंग्लैण्ड की थर्मापोली और ल्योनियस के समान कहा है।[3] राजपूतों के समानान्तर ही इस जाति के गुण गायक भक्त चारण जाति है। चारण एक वह जाति है जो वीरत्व की पुजारी स्वामिभक्त और ईश्वर में श्रद्धा रखती है। इस जाति का मुख्य अभीष्ट राजपूत जाति में साहस तथा वीरता का संचार करना उन्हें सन्मार्ग पर चलाने के अतिरिक्त चारण शूर वीरता का निर्माता और उसका जागरूक पहरेदार रहा है। ये दोनों जातियां चारण और राजपूत अन्योन्याश्रितता के लिए स्मरणीय है। आपत्तिकाल में चारण अपने स्वजनों को राजपूतों के घर में सौंपते और राजपूत उनका अपनी माता बहिन समझकर उनकी प्राण रक्षा अपनी अन्तिम श्वांस तक करते और राजपूत भी भयंकर संकटों के समय अपनी स्त्री-पुरुषों-स्वजनों को परिस्थिति-वसात् चारणों की ही रक्षा में सौपते रहे हैं। चारण मूलतः गुण-गायक कवि होता है और यह जिस सीमा तक कवि होता है उतना ही बहादुर-वीर भी होता है। चारण आश्रित राजा को विरुदावलि गाकर, उसके प्राणों में युद्ध का उन्माद भर सकता है और साथ ही आँधी की तरह दुश्मन पर तलवार चलाकर स्वामी की रक्षा भी करता है।

युद्ध और युद्धों का अनवरत क्रम राजपूत राजाओं के शौर्य-शक्ति की सीमा-परिसीमा मापकयंत्र था। राजपूत राजा इसके साथ ही कला के भी अनन्य सेवी थे। एक तरह से जीवन को लांजाइनस के औदात्त स्वरूप में स्वीकारते थे। देशकाल परिस्थिति के साथ कला का सृजन होता रहा है। जब युद्ध ही एक तरह से जीवन हो गया तब इस युग के कवि भी परिवेशकता से प्रभावित हुए हैं। यह राजस्थान के इतिहास का एक ऐसा युग है जिसमें भौतिक आकांक्षाओं की चरम परिणति रंगभूमि के भैरवी समारोह में हुआ करती थी। इस युग में जो काव्य साहित्य प्रणयित हुआ है उसमें वीरत्व

---

१. भारतीय इतिहास का सर्वेक्षण—के. एम. पाणिक्कर पृष्ठ १०७।

२. „ „ „ „ „ पृष्ठ १०७।

३. देयर इज़ नॉट ए पेटी स्टेट इन राजस्थान देट हेज नाट ईट्स थेर्मापोली एण्ड स्केयर्सली ए सिटी देट हैज़ नॉट प्रोड्यूसड इटस ल्योनिडस।

और शौर्य को भड़काने वाली चिनगारी प्रेरणा स्वरूप है। इस तरह के काव्य की रचना चारणों ने की है। इस युग के चारण कवि वंश परम्परा के कवि थे। काव्य सृजन ही इनकी आजीविका थी। युद्ध स्थलों और राजसभाओं के अतिरिक्त अन्य लोक स्थलों पर भी मौखिक गान कर अपने विषय का प्रचार-प्रसार करते थे। युद्धों में साथ रहने के कारण इन चारणों की युद्ध वर्णन की सजीवता इस युग के काव्य का अपना वैशिष्ट है। इन काव्यों की विषय वस्तु राजाओं के युद्धक-जीवन-वृत्त है जो कि गहन-भावना के परिवेशों में प्रस्तुत किए हैं। भावना के साथ ही सहज-गम्यता भी इसका वैशिष्ट्य है। इन काव्यों को रासो की संज्ञा से अभिहित किया है। इन रासो काव्यों के अतिरिक्त इन चारणों ने ख्यात्, बात, कहानी, वंशावली आदि नामों से संबोधित गद्य रचना भी की है। 'राठोड़ां री ख्यात', 'मुहणोत नैणसी ख्यात', 'वंश भास्कर', आदि अमर कृतियाँ हैं जिनमें तत्कालीन जीवन की झाँकी अतिशयोक्ति के साथ प्रस्तुत है। लोकजीवन की परम्पराओं एवं सांस्कृतिक अवसरों पर बधाई गीत, गान, स्तुतिका सृजन भी चारणों द्वारा हुआ है। इसका प्रतिपाद्य भी राजपूत-जीवन से संबंधित है। एक तरह से ऐसा प्रतीत होता है कि इस लम्बे युग में चारण राजपूत-जीवन का मुख्य आधार ही बन गया हो। चारण राजपूतों राजाओं और सामान्य राजपूतों के साथ में सदैव रहता था। चारण और राजपूतों के संदर्भ में यह कथत है कि चारण वह वर्ग है जो कि केवल राजपूत और राजपूत राजाओं के यहाँ ही अपनी गान व काव्य विद्या के आधार पर अपना जीवन अर्जित करता रहा है। राजपूतों के अतिरिक्त किसी अन्य वर्ग से दान दक्षिणा को स्वीकार नहीं करते थे। इन चारण कवियों के काव्य विषयों में राजाओं और सामतों का जीवन ही प्रमुखतया अतिश्लाघा के साथ अभिव्यक्त हुआ है। इनमें व्यक्त परिवेश और वास्तविक संघटनाओं के संश्लेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन राजाओं को अंतः और बाह्य दोनों ओर से सतर्क रहना पड़ता था। रामनारायणदूगड़ की मुँहणोत नैणसी ख्यात करो दृष्टि में रखने से ऐसा प्रतीत होता है कि बलात् विवाह की परम्परा इन राजाओं के शौर्य प्रदर्शन का तरीका था। इस तरह कोई भी पड़ौसी राजा सुन्दरी के हेतु युद्ध का आह्वान कर देता था। आंतरिक रूप में छोटे बड़े राजा व सामंत भी अधिकांशतः विवाह प्रसंगों में युद्ध छेड़ देते थे जिसमें कि संबंधित राजा को किसी एक का पक्ष लेना होता था और साथ ही शान्ति बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील रहता पड़ता था।

विदेशियों के आक्रमण और आपसी युद्धों के कारण धर्म चिन्तन और जीवन विक्षेप और विक्षोभ युवत हो गया था। धर्म और चिन्तन का सम्बन्ध प्रकारान्तर से ब्राह्मण और राजा की प्रवृत्ति के समानान्तर प्रस्तुत हुआ है। राज्य में धर्म के अतिरिक्त शिक्षा एवं संस्कारों का भार ब्राह्मण वर्ग पर ही था। इस वर्ग में संस्कृत का प्राधान्य था। इनमें माघ जैसे महाकवि पैदा हुए। इन ब्राह्मणों ने कुछ मौलिक ग्रन्थों का सृजन किया कुछ संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद भी किया तथा वैद्यक, संगीत, ज्योतिष आदि विषयों पर भी लिखा है।[1] राजस्थान में ब्राह्मण वर्ग काव्य साहित्य और शिल्प के मौलिक प्रणयन क्षेत्र से हटकर अधिकांशतः शिक्षा और संस्कार दीक्षा में रह गया था। ब्राह्मणों का क्रमागत अवसान हुआ, चारणों और जैन यतियों का क्रमागत अभ्युदय हुआ। कवियों में दश से बारहवीं शताब्दी में अन्येतर कवि ब्रजसेन सूरि, शालिभद्र सूर, विनयचन्द्र, जिन पद्म, शार्गंधर, सोम-सुन्दर, नल्लसिंह, नरपति, चन्द्र, रणमल आदि का उल्लेख इसी संदर्भ में किया जा सकता है। सोलहवीं शताब्दी के आते तक ब्राह्मणों का पतन हो चुका था। पतन इस सदर्भ में कि उनकी प्रभुसत्ता हतमान होती हुई लुप्त हो गई और इस स्थिति का प्रभाव साहित्य पर सीधा इस तरह आया कि कोई मौलिक ग्रन्थ की रचना नहीं हुई। यदि कुछ हुआ तो अनुवाद और कहीं नया ग्रन्थ देखने में भी आया तो वह संस्कृत साहित्य से चिरऋणी, बोझ भारी हो कर आया जो कि कालान्तर में संस्कृत साहित्य का अनुवाद सिद्ध हो गया। यह ब्राह्मण वर्ग राजपूत और चारण जाति से हटकर तीन चौथाई जनता का ही अंश

१. बैताल पच्चीसी, सिंहासन बत्तीसी, सुआकहोक्षरी, हितोपदेश, पत्वाख्यान, मौलिक भागवत पुराण, नासिकेता पुराण, भागवत गीता तरंगणी, बिल्हण पंचाशिका, रस रत्नाकर आदि अनुदित है।

प्रतीत होता है।

राजनैतिक दृष्टिकोण से इतर सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोणों पर यदि संपूर्ण समाज का मूल्यांकन किया जाय तो इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम राजस्थान की तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था भी विचारणीय है। राहुल सांकृत्यायन ने दशवीं से बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी का सामाजिक चित्र प्रस्तुत करते हुए कहा है कि इन शताब्दियों में भारत शिल्प, व्यवसाय और वाणिज्य में दुनियां का सबसे समृद्ध देश था। अकेला रोम ही भारत से ढाई लाख तोला सोना का माल आयात करता था।[1] राहुल जी के अनुसार भारत को प्राप्त होने वाली अतुल धन सम्पत्ति का भोग समाज के कुछ वर्गों के व्यक्ति करते थे। राहुल जी के शब्दों में इस तरह प्रस्तुत हुआ है इस सम्पति के सबसे अधिक भाग को सामन्त राजा अपनी मौज और आराम के लिए खर्च करते थे।...नए नए महल, क्रीड़ा उपवन, सिंहासन, राजपलंग....राजमहलों की सजावट, चित्रकला...आदि।...उनके पुत्रों, पुत्रियों...बहुओं, दामादों का खर्चा भी देश की उसी सम्पति के माथे था।...इसके बाद भी देश की भारी सम्पति के मालिक थे वह श्रेष्ठी सार्थवाह, कारवों के अध्यक्ष जिनकी कोठियों के जाल देश के भीतर ही नहीं विदेशों तक में बिछे थे और जिनके जहाज उस समय की सभ्य दुनिया के सभी नगरों तक पहुँचते थे।[2] इस प्रस्तुत चित्र में अधिकाँश भारत का चित्र है। राजस्थान के संदर्भ में यही अर्थ लिया जा सकता है कि जन समाज दो भागों में विभक्त था। एक भोक्ता था और दूसरा वर्ग श्रमकारों, कलाकारों, यह उपार्जकों का था। इसके अनन्तर राहुल जी के अनुसार सत्तर प्रतिशत किसान अथवा कारीगर थे। बीस प्रतिशत दासः सेवक और दस प्रतिशत, सामंत अथवा अमीर थे। सत्तर प्रतिशत जनता पर राहुल जी ने सहानुभूति प्रगट करते हुए कहा है कि इन्हें शरीर से मजबूत अपने तरुण पुत्रों को सामंतों के युद्ध के लिए भेंट करना पड़ता था... अपनी सुन्दर लड़कियो को वैध या अवैध रूप से रनिवास में भेजने के लिए भी तैयार रहना पड़ता था। कितनी ही जगह नवविवाहिता की प्रथम रात भी सामन्त के लिए सुरक्षित रहती थी।[3] बहरहाल इसे शतप्रतिशत भारत की मध्यकालीन सामाजिक अवस्था का चित्रण भले ही न माने किन्तु इसमें अंशतः सचाई है। इससे हटा नहीं जा सकता। यह भी ठीक है कि यह योरोपीय चित्रण अधिक प्रतीत होता है किन्तु नारी की स्थिति सामान्य वर्ग में भोग्या की ही रही है। यही कारण है कि संतों ने सर्वत्र नारी की निंदा की है। जिनदत्तसूरि ने उपदेश रसायन भास में स्त्री-पुरुषों के साथ रहने की मनाई जा रही है।[4] स्त्रियों की स्थिति शिक्षा क्षेत्र में थी। इन्द्र विद्या वाचस्पति ने भारतीय संस्कृत का प्रवाह लिखते हुए राजस्थान के संदर्भ में प्रसिद्ध विद्वान अलबरूनी के लेख का उल्लेख किया है। वह लिखता है कि स्त्रियां सभी शिक्षित होती थीं और वे सार्वजनिक कार्यों में सक्रिय भाग लेती थीं। लड़कियां संस्कृत पढ़ लिख सकती थीं और भली-भाँति समझ लेती थी। वे लिखना, नृत्य और चित्रकला जानती थी[5] विद्वान लेखक मथुरालाल शर्मा ने अपनी पुस्तक भारतीय संस्कृति का विकास में शिक्षा व ग्राम व्यवस्था की रूप रेखा पिछली पाँच शताब्दियों की परम्परा के आधार पर अनुमानतः कुछ इस तरह प्रस्तुत की है। गाँव में प्रायः एक या अनेक आबादी के अनुसार ब्राह्मण परिवार होता था जो कि ग्राम का गुरु होता था। ग्राम में विहित सम्पन्न होने वाले वैदिक संस्कारों के अतिरिक्त मन्दिर की पूजा और ग्राम बालकों की आरम्भिक शिक्षा का दायित्व, ब्राह्मण पर ही होता था। प्राप्त पुजापा, भेंट, चढ़ोत्री के अतिरिक्त कृषक वर्ष में एक निश्चित अन्न राशि भी इस ब्राह्मण को अर्पित करते थे। कृषि कार्यों से प्राप्त

---

१. हिन्दी काव्यधारा पृष्ठ—१४।
२. „ „ पृष्ठ १५-१६।
३. „ „ पृष्ठ १७-१८-१९।
४. अपभ्रंश काव्यत्रयी-लालचन्द भगवान गांधी, पृष्ठ—३६।
५. पृष्ठ—१०७।

अवकाशों में ग्राम वासियों को अपनी योग्यतानुसार भागवत पुराण, गीता महाभारत और अन्य धार्मिक पाठ व टीका सुनाया करता था। पाठोपरान्त ग्राम्य ब्राह्मण को आदर सहित पालकी या घोड़े पर बैठाकर घर पहुँचा दिया जाता था। इस तरह संस्कार शिक्षा और कथा तीन मुख्य कार्यों का दायित्व ब्राह्मण पर था। ब्राह्मण जहाँ कहीं आत्म-न्यूनत्व का अनुभव करता था वहाँ अन्य नगर ब्राह्मण उस न्यूनत्व का पूरक होता था। ग्राप से प्राप्त अन्न व भेंट राशि के अतिरिक्त राज की ओर से कर मुक्त भूमि "मुआफी या डोलही" ब्राह्मण को दी जाती थी। राजस्थान के कई ब्राह्मण परिवारों के पास चार सौ वर्ष पुराने पट्टे हैं। इन पट्टों के आधार पर राजस्थान शासन ने उन्हें नए पट्टे प्रदान किए हैं और राज्यपुनर्गठनोपरान्त उन्हें पेन्शन निर्धारित की गई हैं। इस तरह की मुआफियाँ चन्द्रग्रहण, सूर्य ग्रहण, विशेष पर्व आदि समयों पर, संस्कार शिक्षा और क्या कर्मादि में पटु-पण्डितों विद्वान-ब्राह्मणों को ही दी जाती थीं। ब्राह्मण बालकों को चतुर्मास में शिक्षा देते थे। शेष समयों में बालक गण कुल क्रमानुगत कार्यों में योग दिया करते थे। इन बालकों को प्रारम्भिक शिक्षा के रूप में लिखना-पढ़ना, जोड़-हिसाब, पहाड़ा आदि दो तीन वर्ष में पढ़ाया जाता था। इसके उपरान्त संस्कृत इच्छुक बालक को संस्कृत पाठश लाओं में शिक्षा की व्यवस्था थी। संस्कृत पाठशालाएँ प्रत्येक गाँव में न होकर ग्राम-ब्राह्मण की योग्यता-नुसार ही ग्रामों में हुआ करती थीं। पाठशालाओं का स्थान अधिकतर मन्दिर ही होता था। इससे उच्च शिक्षा के लिए नगरों में व्यवस्था थी। काव्य, व्याकरण, धर्मशास्त्र, नीति, आयुर्वेद, आदि भिन्न शिक्षाओं की वैशिष्टता के लिए विभिन्न केन्द्र हुआ करते थे। छापेखाने की व्यवस्था न होने के कारण, ग्रन्थ हस्तलिखित रहते थे जो कि ब्राह्मण परिवारों की, मन्दिरों की, पाठशालाओं विद्यालयों की निजी प्रमूल्य सम्पत्ति समझी जाती थी। प्राप्त प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों में लिखा होता है—मुझे तेल से बचाओ, जल से बचाओ, भलीभाँति बाँध कर रखो और मूर्ख के हाथ में न दो।[1] उच्च शिक्षा का स्थान आचार्य का निजी पीठ, मठ-मन्दिर आदि हुआ करते थे। राजधानियों में अधिकाँशतः यह व्यवस्था होती थी। धारा नगरी संस्कृत विद्यालय के लिए विख्यात थी। अजमेर का अढ़ाई दिन का झोंपड़ा प्रारम्भ में एक विशाल संस्कृत विद्यालय था जिसे चौहान राजा विशालदेव ने बारहवीं शताब्दी में निर्माण कराया था। कुछ समय बाद इसी शताब्दी में इसे मस्जिद का रूप दे दिया गया।[2] इस संस्कृत पाठशाला को केवल ढाई दिन में मस्जिद का रूप दे दिया गया प्रतीत होता है इसलिए इसे अढाई दिन का झोंपड़ा कहते हैं। मुसलमान आक्रान्ताओं ने इस तरह के विद्यालयों को सचेष्ट रह कर विध्वंश किया हैं।

विद्वानों से राजा-नरेश स्वयं अभिरुचि रखते थे। परमार वंशीय मुंज, सिन्धुराज और भोज स्वयं विद्वान् एवं लेखक थे। राजपूत राजा प्रायः सभी विद्याप्रेमी रहे हैं। इन्होंने विद्वानों को आश्रय प्रदान किए हैं तथा अपनी संरक्षता में सभी तरह की कलाओं के अध्ययन की सुविधाओं को बनाए रखा है। इसी युग के माघ का शिशुपालवध, भर्तृहरि का भट्टिकाव्य, श्री हर्ष का नैषध चरित्र, श्री समृद्धि के चरम स्वरूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। गीतगोविन्द के कवि जयदेव १२वीं शताब्दी में ही हुए। गीतगोविन्द ने राजस्थान के तत्कालीन व परवर्ती चित्रकारों को प्रभावित किया है। इसी तरह कवियों को भी प्रभावित किया है। जयदेव के सरस श्रृंगारिक गीतों की लोकप्रियता तत्कालीन समय से ही अत्याधिक रूप में रही है। इनकी मधुर कल्पनाओं को दिया हुआ चित्रकारों का सुधर रूप देखते ही बनता है। कवि ने इस ग्रन्थ में आदि से लेकर अन्त तक अपनी काव्य प्रतिभा का अद्भुत चमत्कार दिखाया है जिससे परवर्ती काव्य विधा प्रभावित हुई है। विद्यापति पर इनका प्रभाव और प्रेरणा एक जान माना सत्य है। इसके अतिरिक्त भवभूति ने राजपूत राजा यशोवर्मन की सरक्षता में उत्तर राम चरित, मालतीमाधव, महावीर चरित तीन नाटकों की रचना की। प्रकृति के मनोहारी बिम्बों के चित्रण में भवभूति एक दक्ष शिल्पी है। मनोवेगों का स्वाभविक

१. भारतीय सस्कृति का विकास—मथुरालाल शर्मा—पृष्ठ २७७।
२. पुरातत्व लेख—मुख्य पट्टी पर, अजमेर में विद्यालय के सामने।

स्वरूप तथा उसका पाठक व प्रेक्षक पर अभीष्ट प्रभावान्वति में सिद्धहस्त तथा करुणरस के प्रतिपादन में ऐसा बोध होता है कि वास्तव में "एको रसः करुणाः ऐव। कर्पूर मंजरी की रचना भी राजपूती दरबार के चन्द्रशेखर द्वारा दशवीं शताब्दी ने हुई। यह एक सुखान्त नाटक है जिसकी गणना भारतीय साहित्य के चुने हुए नाटको में की जाती है। कृष्ण मिश्र का प्रबोध चन्द्रोदय भी इसी परम्परा में है। आख्यायिका धारा में विश्व प्रसिद्ध पंचतंत्र व हितोपदेश की रचना हुई। बारहवीं शताब्दी में कल्हण रचित राजतरंगणी की गणना इतिहास में की जाती है। प्रसिद्ध ज्योतिषी भाष्कराचार्य, चिकित्सा शास्त्री वागभट्ट, धर्म शास्त्री विज्ञानेश्वर के नाम उल्लेखनीय है। इस काल में समस्त कला संवर्धन पाते रहे।

जन-समूह के सामान्य धरातल पर और शिक्षित वर्ग के मध्य पलने पनपने वाली भावना के सन्दर्भ में ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण धर्म के पुनःअभ्युदय व बौद्ध धर्म के निर्वाण के उपरान्त भारतीय हृदयों में इस धर्म के आने के पहले जो भावनात्मक एकता थी, विश्वासों की समग्रता थी वह वापिस न आ सकी। मूर्ति और मूर्ति पूजा के माध्यम से इस तथ्य पर इस तरह विचार कर सकते हैं कि मूर्ति पूजा तो वैदिक युग में भी थी किन्तु मूर्तियों के प्रारूप सीमित ही थे। किन्तु इस विवेच्ययुग में अनेकानेक ढंगों के देवों की मूर्तियों का निर्माण हुआ था। वैदिक मूर्ति पूजा की भावना प्रकारांतर से महात्मा बुद्ध और महावीर स्वामी तथा अनेक जैन तीर्थकरों की मूर्तियों के रूप में तत्कालीन परिवेशिकता के अनुकूल प्रगट हुई। छठी शताब्दी के उपरान्त इस प्रभाव को संतुलित करने के लिए ब्राह्मण धर्म में देवताओं के अनेक रूपों की मूर्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। अन्यान्य मूर्ति निर्माण, स्थापन और पूजन का सहज फल यह निकला कि धार्मिक क्षेत्र में देवता वाद की भावना दृढ़ होकर धार्मिक संप्रदायों की अनेकता में परिणित हुई। चौदहवीं शताब्दी तक देवताओं की सख्या सीमा अतिक्रमण कर चुकी थी। देवताओं की अभिनव सृष्टियों के साथ ही उनके यशोगान स्वरूप पुराणों की सृष्टियाँ हुई। पुराणों-उप-पुराणों के साथ समाज में जाति-उपजाति की परि-संरचना होती हुई जो कि स्वयं भी अपने चरम को कठोरता के साथ लाँघ गई। मूर्ति कला के संदर्भ में इसका एक सुफल यह हुआ कि प्रत्येक नए देव की परिकल्पना के साथ जहाँ उसकी मूर्ति का उत्खनन होता था, उसके साथ ही अनेक मूर्तिकारों को जीवका मिलती थी। फलतः एक नया मन्दिर भंजकों के हथोड़ों की शक्ति को अजमाने के लिए तैयार हो जाता था। इस प्रकार ये संघर्ष शील शताब्दियाँ, अनेक-अनेकताओं-भरी वैविध्य की जननी बन गयीं। हिन्दू धर्म-शैव, वैष्णवों की विधा से बहकर प्राचीन, नव और अभिनव की धाराओं में फूट-फूट कर बहने लगा। किन्तु इसके साथ ही दार्शनिक चिन्तन की विविधता इस युग की अपनी देन भी है।

जाति के सन्दर्भ में जो वर्णों की संगतराशी हुई और जिस कठोरता के साथ उसकी परिणति हुई उससे निश्चित रूप से भारत का सारा मनुष्य समाज धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से हजारों टुकड़ों में बँट गया। सबसे अनिष्ट कर परिणति यह हुई कि एक जाति से दूसरी जाति में जाना तो दूर रहा, अपितु एक उपजाति के प्रवर्ग से दूसरे प्रवर्ग में जाना भी धर्म विरुद्ध घोषित हो गया। इस अनिष्टकारी परिणति ने आगे चलकर हमारे भारत-देश का बेड़ा गर्क किया। जब विदेशी विधर्मी इस भूमि पर आए तब हम अपने सहजातियों को अपने में न ले सके, वे अनेक, सदा-सदा के लिए हिन्दू धर्म से अलग हो गए। यह प्रक्रिया भारत के लिए हजार-आठ सौ वर्ष लम्बी दासता का कारण बनी। युग-युग से प्रभावित भारतीय संस्कृति की ऐकता का स्रोत सातवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक विभ्रम की संकीर्णतम् बंद कोठरियों में समाज को प्रताड़ित करने के लिए शताब्दियों के लिए बन्द हो गया। इसका दूसरा घातक परिणाम यह हुआ कि भारत में देशभक्ति व राष्ट्रीयता के लोप होने में योगदान मिला। यही कारण है कि हर्षवर्धन के उपरान्त किसी भी हिन्दू राजा ने देश को एक सूत्र में बाँधने का प्रयास नहीं किया। यदि किसी ने किया भी तो बहुत ही हल्के स्तर पर किया क्षत्रिय या राजपूत का कर्तव्य लडने मात्र तक सीमित हो गया। राजा चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, उसे तो केवल लड़ने से काम रहा। अकबर के अनकरीब ४१६ सेनापतियों में से ४७ सेनापति अबुलफजल

अनुसार राजपूत थे जिनके अन्तर्गत पाँच लाख तीस हजार राजपूत अश्वारोही थे[1]। तुलसीदास ने इसी को 'कोई नृप होऊ हमें का हानी' कह कर प्रस्तुत किया है। इस उक्ति के परिप्रेक्ष्य पर विचार करने से दो तथ्य सामने आते हैं। प्रथम तो यह कि भारतीय जीवन पर, विदेशी इस्लामी आक्रांताओं की लगातार विजयों और शासन के अतिभार से नैराश्य के प्रकारान्तिरित प्रभाव में भारतीय सभ्यता और संस्कृति जो कि पूर्व रूपों में सबल रही थी वह इस्लाम की उग्रता में बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी हो गई। इसी के सहारे दूसरा तथ्य इस्लाम के प्रचार व प्रसार के सदर्भ में इस तरह सामने आता है कि इस्लाम अफ्रीका योरोप एशिया जिस देश में भी गया सदा सदा के लिए जम गया। ईरान अफगानस्थान मिश्र टर्की आदि देशों के धर्म इस्लाम के पहुँचते ही विदा हो गए किन्तु भारत में ऐसा न हो सका। इस्लाम की आँधी आई और गंगा की लहरों में डूब गई। इस्लामी आक्रांताओं ने भारत पर राजनैतिक विजय प्राप्त की पर भारतीयों की आत्मा न जीत सके। इन इस्लामी शासकों ने मन्दिरों को तोड़ा, जजिया लगाया, बलात्कार किए, हिन्दुओं को दीवारों में चुनवाया, तरह तरह के अत्याचार किए, पर भारतीय संस्कृति का भवन आत्म रूप में मौलिक विशाल और सुदृढ़ था, उसने इस्लामी आँधी को निरस्त कर दिया। फलतः इस्लामी कठोरता के प्रति भारतीयों ने अपनी आत्म रक्षा के लिए सांस्कृतिक किला बंदी की। इस्लामियों को मलेच्छ कह कर हेय और घृणित घोषित किया और तभी तुलसी जैसे कवि ने उद्घोष किया कि राजा कोई भी हो हमें तो अपने मूल सांस्कृतिक परिवेश को बनाए रखना चाहिए अपने मूल देवता की आराधना ही करनी चाहिए। इस तरह की सामाजिक चेतना जिसने कि तत्कालीन व्यक्ति को राजनीति से अलगाने में अल्पतः प्रेरणा का कार्य किया। इस समय के कवियों में, विशेष कर भक्ति काल के कवियों में राजनैतिक परिवेश की ओर से सर्वथा विमुखता का प्राधान्य रहा है। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्ति का सम्बन्ध और कर्तव्य केवल धर्म और सम्प्रदाय की सीमा तक बद्ध हो गया था देश से नहीं। यह उसी तरह से हुआ जिस तरह से लड़ाकू व्यक्तियों का सम्बन्ध सम्बन्धित तात्कालिक व सामयिक राजाओं की इच्छित सीमा-परिसीमाओं तक निहित था। इस तरह प्रायः पूरा ही जनःसमूह खण्डित मान्यताओं में जीवन यापन कर रहा था।

सांस्कृतिक पहलू को लेकर धार्मिक किले बंदी की नीति का प्रसारण हुआ, घृणा की नीति का परिचालन हुआ, दुर्भाग्य कि उसका समस्त हिन्दू समाज ने संगठित रूप में पालन नहीं किया अपितु प्रत्यावर्तित रूप में अपने जातिगत वर्गों के सीमित दायरों में ही घृणा का प्रसार खानपान और रहन-सहन से लेकर, अस्पृश्यता की सीमा तक पहुंचा जिसका परिणाम यह निकला या दुष्परिणाम यह निकला कि जो उच्च वर्गों में घृणा का प्रादुर्भाव हुआ वह केवल अपनी आत्म रक्षा ही कर सकी साथ में मुसलमानों के ही समान ये उच्च वर्ग के हिन्दू निम्न वर्गों के हिन्दुओं से भी घृणा करने लगे। कालान्तर में घृणित निम्न वर्गों ने इस घृणित जीवन से मुसलमान बन कर घृणित और पतित की अपेक्षा समता परक समाज में सम्मिलित होकर आत्म सम्मान और गौरव का जीवन जीना अधिक उचित समझा। इस घृणा की नीति ने जहाँ एक ओर रक्षा की वहीं हिन्दुओं की एक बड़ी संख्या को धर्म परिवर्तन के लिए प्रेरित भी किया।

लोक संस्कृति के सन्दर्भ में जान इर्विन का कथन है कि वर्गगत सामन्ती समाज में इसे प्रमुखता तभी मिलती है जब कि देश की आर्थिक व्यवस्था सुगठित और स्वाधीन हो, कृषि और शिल्प का निकटतम सम्बन्ध हो और समाज छोटे-छोटे स्वाधीन गणों में विभाजित हो। ऐसी परिस्थितियों में उच्च वर्गीय सत्ताओं और लोक प्रचलित सांस्कृतिक शैलियों में स्पष्ट विभाजन दीख पड़ता है[2]। गौरी शंकर हीराचंद ओझा के अनुसार मध्यकालीन भारत में कृषि, व्यापार व्यवसाय और अमूल्य खानों के कारण बहुत ही समृद्धता थी। निर्यात के बहुत अधिक होने के कारण भारत की संपत्ति

---

१. टाड, राजस्थान का इतिहास अनुवादक केशव कुमार ठाकुर पृष्ठ ९५-९६।
२. मा० क्वा० खण्ड—१ संख्या २, पृ० ७७।

दिन दिन बढ़ती जाती थी। सोमनाथ मन्दिर में २०० मन सोने की सांकल थी जिसके साथ घंटे बँधे होते थे[१]। मध्यकालीन आर्थिक पहलू पर राहुल जी का कथन है कि लोगों के पास अधिक खेत, खेत बनाने के लिए अधिक जंगल, जंगलों में जरूरत के लिए अधिक शिकार थे। साथ ही यह भी अच्छा था कि अमीरों की शौकीनी की प्राय: सभी चीजें देश के भीतर तैयार होती थीं। राहुल जी के अनुसार इस काल में दास प्रथा थी। और सत्तर प्रतिशत जनता के लिए हर अनैतिकता सहने के लिए सदा तैयार रहना पड़ता था। यहाँ तक कि कितनी ही जगह तो नवविवाहिता की प्रथम रात भी सामन्त के लिए सुरक्षित रहती थी[२]। किन्तु सोवियत भारत वेत्ता डा. ए. सुलेकन के अनुसार भारत में दास प्रथा का विकास और सामन्ती शोषण इस कारण आगे नहीं बढ़ा कि ग्राम पंचायतों के अन्दर दास और दासों पर अधिकार रखने वाले सामन्तों को पारस्परिक सहयोग और नियन्त्रण में रहना पड़ता था[३]। उन्नीसवीं शताब्दी के चिंतक एंजेल्स का कथन है कि मध्य युग में समाज शास्त्र, दर्शन, न्याय सभी कुछ धर्म-साधना के अंग बन चुके थे[४]। किन्तु इस काल में भास की किसी सामाजिक समस्या का कोई हल बौद्धों के पास नहीं था। बौद्ध कभी कभी दिंगनाग तथा धर्मकीर्ती के प्रौढ़ दर्शन को सामने रख कर लोगों की आँखों में चकाचौंध पैदा करने की कोशिश करते और कभी योग, समाधि, तन्तर, मन्तर, डाकिनी, साकिनी के चमत्कारों से लोगों को अपनी ओर खींचना चाहते थे। इस प्रक्रिया में बौद्ध कभी कभी सिद्धों के विचित्र जीवन और लोक भाषा की कविताओं को भी इस काम के लिए इस्तेमाल करते, मगर यह सब हवा में तीर चलाना था। बौद्धों के मस्तिष्क व हथियार कुंठित हो चुके थे।[५] दशवीं शताब्दी में शंकर ने उच्च वर्ग और शिक्षित जन समाज में से बौद्ध धर्म का उच्छेद कर दिया था। शंकर के उपरान्त तत्कालीन पूर्वी भारत में बौद्ध धर्म निम्न वर्गों के प्रश्रय में जादू टोने जैसी प्रक्रियाओं में उन्हें काषित किए रहा। दशवीं शताब्दी के पहले राजस्थान के पश्चिमोत्तर इलाकों में बौद्धों को परावर्तित स्वरूप बौद्ध तांत्रिकों के रूप में अवस्थित थी। इसके समानान्तर ही सिद्धों का भी अस्तित्व रहा है। साधारणत: बौद्ध अनुयायी सिद्धों के विरोधी थे। यह विरोध अपना अति की सीमा में भारत देश के लिए बहुत ही घातक सिद्ध हुआ है। इन बौद्धों ने हिन्दू शासकों के विरुद्ध विदेशी यवन आकान्ताओं को खुली सहायता देते थे। सिन्ध में दाहिर की हार के कारण मुख्यता ये बौद्ध ही थे।[६] इस खुली सहायता के तीन प्रसंग स्पष्ट स्वीकारोक्ति के साथ है।[७] सरसरी तौर पर यह कह दिया जाता है कि हर्ष के उपरान्त भारत पर बाह्य आक्रमण ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक नहीं हुए हैं किन्तु दरअसल बात यह रही है कि सीमावर्ती सिन्धु और ओहिन्द पर हिन्दुओं का शासन था। जिन्होंने कि बाह्य आक्रमणों को रोकने में प्राचीर का कार्य किया है। सिन्ध का इस्लामियों के कब्जे में चले जाने के उपरान्त, आगे बढ़ने के प्रयास किए हैं। सिन्ध में बौद्धों की संख्या बहुतायत से थी। इससे इतर राज्यों में सिद्धों का जोर था। सिद्ध हिन्दू शासकों के प्रति श्रद्धालु और सहयोगी रहे हैं। लाभा तारानाथ की मिस्टिक टेल्स में इस तरह के उद्धरण बहुतायत से देखे जा सकते हैं। सिद्ध विरूपा के चमत्कारों से म्लेच्छ आक्रान्ता दो बार भागे हैं। तत्कालीन सम्राट रामपाल की हर तरह की सहायता सिद्ध-साधना से पहुँचाई है।

---

१. भारत की मध्यकालीन संस्कृति, गौ. ही. ओझा पृष्ठ १३७-३८।
२. हिन्दी काव्य धारा पृष्ठ १६।
३. क्वस्चन आफ हिस्ट्री, वैल्यूम—५ नं. थर्ड।
४. प्रो. एंजिल्स द्वारा लुडविग फयूरबाख पृष्ठ ६७।
५. हिन्दी काव्य भारा, साहुल सांकृत्यायन पृष्ट ३५।
६. फ्रैइन वेग : चावनामा, अनूदित-अंग्रेजी से, पृष्ट ७२, ८६, १०५।
७. इसके समानान्तर जबकि सिद्धों ने हिन्दू शासकों की सहायता की है।

इसी संदर्भ में एक ताजिक युवराज के स्वप्न में भयकर ताड़ना दी थी।[1] इसी तरह का दूसरा उद्धरण इसमें शशिगुप्त का है जिसने पश्चिमी भार में जाकर तरुष्क, मुहम्मदी और ताविजों को सिद्धियों द्वारा परास्त किया था। इस तरह इस तरह बौद्ध अनुयायी अपनी घोर पतनावस्था में थे। डा० विनय घोष भट्टाचार्य[2] और राजेन्द्र लाल मित्र[3] ने बौद्ध तंत्राचार्य सानाओं को विकृत रोग ग्रस्त अवस्वस्थ और पतनोन्मुखी कहा है।

बौद्ध मत के संतुलन में जैनमत प्रायः हिन्दू धर्म का एक अंग बन गया था। प्रारम्भ में जैनमत के प्रसार में बौद्धों की तरह राजवंशों का प्रश्रय नहीं मिला। किन्तु जितना विकास हुआ, वह जैन धर्म की क्षमता के आधार पर धीरे-धीरे हुआ इसलिए जहाँ-जहाँ इसको अंगीकार किया गया, वहाँ से फिर यह प्रायः हटा नहीं है। इसके साथ ही जैनाचार्यों ने अपने को कभी भी हिन्दू धर्म के विरोध में प्रस्थापित नहीं किया। गुजरात का जैन धर्म प्रचार इसका अपवाद अवश्य है। इसी कारण से ब्राह्मणों ने जितना बौद्ध-धर्म का विरोध किया उसे जड़ से नष्ट कर देने का प्रयास किया वैसा जैन मत के साथ, इस मत की सहिष्णुता के कारण नहीं किया। राजस्थान की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में जैन मत का योगदान है। यहाँ के राजा शैव वैष्णव ही अधिकांशता रहे हैं। जैन मत का अहिंसा जैसा सिद्धान्त राजपूत राजाओ के किसी अर्थ का नहीं था। जैन मत का अहिंसा मूल सिद्धान्त है। इसलिए यह मत केवल व्यावसायिक वृत्ति वाले वैश्यों तक ही सीमित रहा। वैश्य समाज को केवल अपने व्यापार से मतलब रहता था। यही कारण है कि कोई भी जैन शासन व शक्ति के दावपेचों में हेमू की छोड़कर, आया हो कोई दूसरा उद्धरण नहीं है। यह धर्म निराशावादी नास्तिकता को लेकर चला है पर समय के साथ यह मत पौराणिक धर्म के प्रभाव में आ गया। इसमें भी चौबीस तीर्थकरों की भावना समाहित हो गई। इसी तरह इस धर्म की दोनों ही शाखा श्वेताम्बर व दिगंबर में मूर्तिपूजा का प्रवेश हुआ। ईश्वर की साकार कल्पना का निषेध करने के उपरान्त भी इसमें आस्तिकता का सन्निवेश हुआ। यह आस्तिक सन्निवेशता ललित कलाओं के विकास संरक्षण व फैलाव की पृष्ठभूमि के लिए बहुत ही सहायक हुई। इसमें प्रायः वास्तु मूर्ति चित्र संगीत व काव्य सभी ललित कलाओं को स्थान मिला। ईश्वर की साकार कल्पना के लिए मूर्ति का उत्खनन हुआ। मूर्ति की स्थापना के लिए वास्तुकला का सहारा लेकर मंदिरों की स्थापना हुई।

मंदिरों में पूजा के लिए रास, रासो गेय पद के रूप में संगीत व नृत्य की नियोजना के साथ काव्य विधा में चित्रमय प्रस्तुत किए गए। इनमें गिरिनार, दिलवारा, सोनागिरि के मंदिरों का भव्य निर्माण हुआ। दिलवारा मंदिर की संगमरमरी मूर्ति-आभा नवनीत सदृश्य अपनी सजीवता मार्मिकता एव सुघड़ता के लिए विश्व प्रसिद्ध है। जैन मंदिरों में प्रस्तुत मूर्तिकला का स्वरूप भक्ति-पूजा-आराधना से प्रेरित है। इन मूर्तियों में इसके अतिरिक्त जलात्मक दृष्टिकोण में सामान्य-सौन्दर्य-वैष्ठित मांसल नारी का रूप निखारा गया है। यह ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन लोक-जीवनगत भावनाओं का मूर्तिकरण है। यह सौन्दर्य भौतिक आवरणों से मुक्त होता हुआ आध्यत्मिकता में सन्निवेष्ट होता है। सौन्दर्य एक प्रकार से दर्शक या प्रेक्षक को अपनी ओर आकृष्ट कर एकाग्र करता है। इन जैन मंदिरों के अवलोकन में यह सहज ही निहित है कि ये एकाग्र होती हुई चित्त की वृत्तियां भोग से परोन्मुख होती हैं। इसके सामानांतर ही वह परिवेश जहाँ मांसलता गोचर होती हैं, वह उक्त मनःस्थिति के साथ ही जीवन से तटस्थ प्रतीत होती है। इन मंदिरों का जन-कोलाहल से दूर नगरों से दूर, सुदूर पर्वत शृंखलाओं पर होना ही, सामन्य धरातल से उठा हुआ जो दर्शक, प्रेक्षक या सामान्य सहृदय को अपनी ओर खींच रहा है वह ऊपर पहुँचते-पहुँचते अर्ध सांसारिकता से अपने को मुक्त कर चुका होता है। इस तरह की मंदिरों की वास्तु कला में मनोवैज्ञानिक ढंग का प्रारूप देखा जा सकता है। सहज शब्दों

१. मिस्टिक टेल्स आफ आमा तारानाथ—पृष्ठ १५।
२. संस्कृत बुद्धिस्ट लिरेचर आफ नेपाल पृष्ठ २६१।
३. बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म—भूमिका, पृष्ठ १, ३१, ३३।

में इसे इस तरह भी कह सकते हैं कि प्रेक्षक आगे बढ़ रहा है, उसके सामने उसका अभीष्ट दर्शनीय है। प्रति कदम पर उसका दर्शनीय अभीष्ट उस प्रेक्षक को कुछ न-कुछ अपने प्रति विचार भाव व विश्वास ग्रहण करने के लिए उद्बोधित करता है। यह प्रक्रिया बहुत समय तक चलती है। इस प्रक्रिया काल में प्रेक्षक का मानसिक वातावरण पूर्वा पर राग-द्वेषों से मुक्त होकर पावन-धर्म-संस्कारों से शनैः-शनैः आवृत्त होने लगता है और कि जब वह मदिर में प्रवेश कर ईश्वर के साकार रूप के समक्ष नत होता है, तब वह मन-वचन-धर्म से बद्ध-सा हो जाता है। इसमें भावना का अतिरेक उसे बुद्धिगम्यतर्कों से दूर-दूर शुद्ध भक्तिमय भूमिका पर प्रतिष्ठित करता है। ठीक इसी प्रणाली का अनुगरण बाद में बनने वाले ताज में भी किया गया है। ताजमहल के द्वार से ताज के मुख्य मकबरे के चबूतरे तक की दूर क्रमश. प्रेक्षक के प्रति कदम आकृष्ट करती हुई, समीप आते तक पूर्ण रूप से अपनी भव्यता, बाह्यआकार की एकान्विकता संप्रेषित करने में समर्थ होती है और फिर प्रेक्षक ताज के दृश्य की भव्यता को कभी भी जीवन पर्यन्त नही भूल पाता है। वास्तुकला की एकान्विति-प्रभाव-परम्परा जैन मंदिरों की चयित आधार भूमि के रूप में अपनाई गई है।

इन मंदिरों के अतिरिक्त जैनाचार्यों के द्वारा प्रणीत जैन काव्यों की परम्परा मिलती हैं। ये जैनाचार्य कवि धर्मप्रिय और कलाप्रिय थे। इनके काव्य विषयों में वीर-शान्त और श्रृंगार-रस व्यक्त हुआ है। जैन कवियों को आद्योपान्त देखने से आश्चर्य होता है कि उसी युग के परिवेश में जहाँ चारणों कृत वीर काव्य रासों काव्यों का प्रणयन हुआ है, उसी के समानान्तर समय में इन जैन काव्यों के प्रणयन में प्रस्तुत काव्य भूमि में कहीं भी रण के प्रति उन्माद या प्रोत्साहन नहीं मिलता है। अल्पतः कहीं-कहीं प्रेम प्रसंगों में संयोग वियोग के मार्मिक बिम्ब में को प्रस्तुत करने में शान्त समन्वित-वीर मुखर हुआ है। इन कृतियों में शान्त-रस-प्रेरित लहरियों का अद्भुत स्पंदन, लोक जीवन के मूल-तत्त्व प्रेम से परिपुष्ट होकर, अभिव्यक्त हुआ है। यह सारा काव्य ऐसा प्रतीत होता है कि युद्ध काव्यों की विभीषका का दूसरा छोर है जहाँ जैन यतियों और महात्माओं, जैन साधुओं, मुनियों के द्वारा अहिंसा का प्रतिपादन किया गया है। इन कृतियों में व्यक्त प्रेम इन जैन साधुओं की अहिंसात्मकता में श्रृंगार की आधार भूमि पर पल्लवित हुआ है। जो कि डॉ॰ सरनाम सिंह शर्मा के मत से, जैन काव्यों का अपना वैशिष्ट्य है। उनका कथन है कि "कृतियों में प्रेम का जो गहन रूप चित्रित किया है उसका अविकल आधार लोक सापेक्ष्य होते हुए भी अत्यन्त सूक्ष्म है। और वही सूक्ष्मता पर्याय रूप में व्यापकता है जो प्रेमाभिव्यक्ति की सूक्ष्मता और व्यापकता से अभिन्न है।[1]

जैन काव्यों के प्रेरणा के मूल में राजा, मंत्री, या सामान्य-प्रतिष्ठित-व्यक्ति रहा है जिसका मूल अभीष्ट कल्याण कामना या किसी पुण्य कार्य का प्रतिपादन हुआ है। ये जैन कवि आश्रय प्रश्रय में रहते हुए भी मिथ्या-वर्णन, चाटुकारी, निष्काम पुरुष होने के कारण इनके काव्यों में नहीं मिलती है। मूलतः धर्म का प्रचार ही इन काव्यों का का अभीष्ट था। जैन कवियों ने काव्य परम्परा में रासों की काव्य विधा की अधिकांशतः अपनाया है। रासों या रास, जैन काव्यों में पर्याय प्रतीत होते हैं। रासो चारण कृत रासों से भिन्न, अपने पूर्व रूप रास, को एक तरह से ग्यारहवीं शताब्दी तक उपरूपकों के एक भेद के रूप में स्वीकार किया जाने लगा था। इसमें नृत्य और गेयमान नाट्य दोनों का योग होता था तथा यह एकांकी होता था। इसमें उदात नायक और वासकसज्जा नायिका होती है। उदात्त धर्मानुकूल नायक-नायिका के प्रति विरक्ति को प्रगट कर जन समूह की वृत्तियों को ईश्वरोन्मुख करते हैं। इसके साथ ही गृहस्थोचित, नानक धार्मिक कृत्य, ईश्वर स्तुति, ऐतिहासिक, पौराणिक, नैतिक लौकिक विषयों की भी समायोजना इन रासों में उपलब्ध होती है। जैन मंदिरों में धार्मिक रासों का ही गान, नृत्य और अभिनय के साथ हुआ करता था। जिनदत्त सूरि वि. सं. ११३२, कृत उपदेश रसायन रास, वि॰ सं॰ १२४१ शालिभद्र सूरि कृत भरत नाहु बलि रास, वि॰

---

१. राजस्थान साहित्य परम्परा और प्रगति, पृष्ठ ३१।

२. सेठ गोविन्द दास अभिनंदन ग्रन्थ, पृष्ठ ६५७।

सं० १२६६ धर्म सूरि कृत जंबू स्वामी रास, वि० सं० १३०० के लगभग का गेय सुकुमार रास, वि० सं० १३७१ अब देव कृत समरा रासु, उपलब्ध हैं। इन रास ग्रन्थों की रचना-भूमि में सदर्भ के डॉ० हरिवंश कोछड़ का कथन है कि ये ग्रन्थ प्रायः राजस्थान में ही उपलब्ध हुए है। जैन धर्मानुयायियों की अधिकांश जनता राजस्थान में ही उपलब्ध होती है या रहती है अतः वहाँ इस प्रकार के रास ग्रन्थों का बाहुल्य से मिलना अस्वाभाविक नहीं[1]। जैन मंदिरों में इनका प्रचलन व खेला जाना चौदहवीं शताब्दी तक पाया जाता है।[2] नृत्य और गीत तत्त्व रासों में समान अनुपात से से ११वीं शताब्दी के उपदेश रसायन रास तक उपलब्ध होते हैं इसके उपरान्त स्त्री बंधन, बाह्य-इस्लामी-आचार के कारण प्रारम्भ हो जाते है। इस प्राप्त साहित्य में संगीत और नृत्य का पुष्ट स्वरूप मिलता है। आचार्य हेमचन्द्र ने रासों में विभिन्न राग-रागिनियों के होने से, रास के विकसित रूप को रास काव्य की संज्ञा से अभिहित किया है। इन जैन रासों ने संगीत नृत्य कला को मंदिरों-प्रश्रय प्रदान किया है। डॉ० हरीश का कथन है कि जैन मुनियों तथा राजपुत्रों के दीक्षा ग्रहण करने के अवसर पर भी रासों क्रीड़ाएँ होती थीं। स्त्री पुरुष इन रासों का बड़ी श्रद्धा से खेलते थे और अपनी प्रकृति प्रदत्त अनुभूति को अभिनय या संगीत में डुबोकर साकार व सार्थक करते थे[3] सीकर में उपलब्व प्रस्तर पट्टिका पर नृत्य मण्डली का उद्रेखण देखने से इस युग की स्थिति का सही बोध होता है। इस तरह के लोक रूप प्रायः प्रमुख मंदिरों में तथा सांस्कृतिक केन्द्रों में मिलते हैं। इस परम्परा के अतिरिक्त जैन साहित्य में दूहे कथाएं, गीत, प्रबंध, मुक्तक, कथा, रास, फाग, बारहमाशा, आदि वैविध्य काव्य रूपों का स्वरूप मिलता है। भक्ति, प्रेम, संयोग, वियोग की सरस मधुर रम्य कल्पनाओं की अनुमानता मौलिक निधि, इस वर्ग के साहित्य में सन्निहित है।

सिद्ध शब्द राहुल जी अनुसार प्रथमतः बौद्ध और जैनों के संदर्भ में ईसवी सन् के प्रारम्भ होने के बाद से 'ओम नमः सिद्धम्' के बदलते प्रारूपों से होकर सर्व शक्तिमान गुरुओं के लिए व्यवहृत होने लगा।[4] सिद्धों का जोर पश्चिमोत्तर भारत में पूर्व पृष्ठों में अंशतः स्पष्ट हो चुका है। ये सिद्ध साधारणतः निम्न वर्गों के व्यक्ति होते रहे हैं। अधिकांशतः जन्मना क्षत्रिय या सूत्र बताए गए हैं। कुछ सिद्धों ने निम्न वर्ग की स्त्रियों से विवाह करके उनकी आजीविका ही अपना ली थी। इन सिद्धों की जातियों में कुछ किंवदंतियां और विचित्र तरह की गाथाएँ प्रचलित रही हैं जिनसे महत्वपूर्ण सत्य निसृत होते हैं। डा० धर्मवीर भारत ने इसी परम्परा के परवर्ती संदर्भों के सिलसिले में कहा है कुछ निम्न वर्ती जातियों ने मनु द्वारा निर्धारित नियमों से असंतुष्ट होकर एक ऐसी जीवन पद्धति के प्रति उनका विशेष-प्रवृत्ति-मूलक आग्रह रहा है।[5] एक परवर्ती सहजिया कथा में ब्रह्मा के मनु से इतर द्वितिय पुत्र भरत रेवा के तट पर एक गुफा में ध्यान करने गए। वहाँ उन्होंने एक एक चरवाहे को अपनी प्रेमिका के साथ सहज-प्रणय-केलि में तल्लीन देखा। इसी आश्चर्य के साथ नारायण के पास गए तो उन्हें शक्ति के साथ मग्न पाया तब भरत ने इस रागात्मक सहज जीवन पद्धति का प्रचार किया। इसी तरह का वामाचार तांत्रिकों और गाणपत्यों, शाक्तों में भी मिलता है। शिव, विष्णु की तरह गणेश की भी उपासना प्रारम्भ हुई। गणेश की उपासना गाणपत्य कहलाई। ईसवीं नवमीं के लगभग तक यह कई शाखाओं में बट गया। इस काल में इसके चौथे उप सम्प्रदाय की विधि और आधारों में गणेश का स्वरूप चतुर्भुज, त्रिनेत्र, हाथों में पास आदि धारण किए हुए, अपने शुण्ड से सुरापान करते हुए

---

१. अगर चंद्र नाहट्टा, ना० प्र० प० वर्ष-५८ अंक-४, पृष्ठ ४२०।

२. आदिकाल के अज्ञात हिन्दी रास काव्य, पृष्ठ १५।

३. सन्त परम्परा और साहित्य-धर्मेन्द्र अभिनन्दन ग्रन्थ–११७।

४. सिद्ध साहित्य, पृष्ठ ९३।

उसका आलिंगन करते हुए, शब्दिक चित्रित हैं।[1] इसके पूर्व की शताब्दियों में गणेश को कार्तकेय के रूप में नगर देवता भी माना करते थे। इस तरह के सिक्के उपलब्ध होते हैं। दशवीं शताब्दी के पूर्व और परवर्ती शताब्दियों में इन गाणपत्यों के आधार और उपासना संस्कार बौद्ध तांत्रिक, और बामाचारी शाक्तों से भी अति उच्शृंखल थे जो कि न केवल क्षम्य थे अपितु तत्कालीन इनकी व्यवस्थानुसार विहित स्वीकारे गए थे। इस सम्प्रदाय में अपरिमिति भोग और इन्द्रियों की पूर्ण सन्तुष्टि ही मोक्ष है। इन्होंने वर्ण और यौन भेद को अस्वीकार कर प्रत्येक नर को हेरम्ब तथा नारी को हैरम्ब की शक्ति मान, न केवल उपासना के समय, वरन हर समय योनि-लिंग का स्वतन्त्र-स्वेच्छित-सम्बन्ध-विधान प्रस्तुत कर विवाह प्रथा को अनावश्यक घोषित कर दिया था।[2] यह सम्प्रदाय उत्तर भारत में फैला। देवी पूजा और लिंग पूजा के रूप में अपने परिणित स्वरूपों में यह सम्प्रदाय आज भी असम के सुदूर वर्ती भागों में पाया जाता है।

शंकर विजय में आनंदगिरि ने देवी को शिव की शक्ति मान कर उपासना करने वालों को शाक्त कहा है।[3] शाक्तों को बाम मार्गियों के सिद्धान्तों में, दूषित मनोवृत्ति तथा कुत्सित प्रथा को उच्च दार्शनिकता से आवृत्त करने में प्रमाणिक सिद्धता जुटाने का प्रयास ज्ञात होता है। इनका मूल सिद्धान्त है कि इस मत का सच्चा भक्त साधारण मनुष्यों की अपेक्षा आध्यात्मिक रूप से ऊँचे स्तर का होता है। अतएव इस तरह के भक्तों पर सामाजिक नियमन की आवश्यकता नहीं रह जाती है अतः इस मत के भक्त गण स्वेच्छाचारिता से पाप-युक्त नहीं होंगे, इसमें नारी पुरुष भक्तों की समानता के आधार पर, इस मत के उच्शृंखल घेरे में आकर, घोर अनाचारों से लिप्त हो गए। स्मरण रहे कि देवी की उपासना, शिव की सहचरी मान कर शंव मतावलम्बियों में प्रारम्भ हुई थी कि दशवीं शताब्दी तक उक्त दशा-प्राप्त-शाक्य मत में परिणित हो गई। दक्षिण मार्गी शाक्तों की तांत्रिक पद्धति भी, उक्त परिच्छेद में आनन्दगिरि ने तत्कालीन स्थितियों के परिवेश में कहा है। इसी तरह का सामाजिक परिवेश क्षेमेन्द्र ९९०-१०६५ वि० सं० ने अपने सामयिक समाज का चित्र 'समयमात्रक' के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ में वेश्याओं के कुत्सित जीवन और नैतिक पतन का यथार्थ रूप में चित्रण हुआ है। इसमें प्रस्तुत नायिका, वीरांगना की तरह एक वेश्या, सरदार की पत्नी, गलियों में आवारा घूमने वाली छोकरियाँ, कुट्टनियाँ, छद्मवेशी साधुनी, युवकों को बिगाड़ने वाली व्यभिचारिणी, मन्दिर प्रकोष्ठों में दर्शन देने वाली व दर्शन करने वाली भगतिन, विभिन्न रूपों में प्रस्तुत हुई है। इसमें प्राप्त चित्रणों से ऐसा प्रतीत होता है जैसे समस्त भावनाएँ योनि और लिंग के चतुर्दिक ही केन्द्रित हो गई हो। दामोदर गुप्त की कुटनीमत्तम् तत्कालीन तांत्रिक साहित्य और मंदिर-मूर्ति-रूपों की धुंधली निम्नमनोवृत्ति की परिचायक है। ये दोनों ही लेखक अपने समय के महान व्यक्तित्वों के अधिपति रहे हैं। क्षेमेन्द्र शायद संभवतः अपने समय का सबसे बड़ा लेखक था। जम्मू-काश्मीर के प्रधान मंत्री नगेन्द्र के घराने में पैदा हुआ था। इस कारण से सर्वोच्च वर्ग से सम्बन्धित रहा है, इसलिए क्षेमेन्द्र द्वारा प्रस्तुत चित्र यथार्थ मान्य प्रतीत होते हैं। दामोदर गुप्त भी तत्कालीन काश्मीर नरेश के एक मन्त्री पद की शोभा थे। इसी संदर्भ में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी की कलम ने बाणभट्ट के मुख से तत्कालीन कामनी की श्री शोभा को इस तरह व्यक्त किया है—किशोरियाँ नृत्य के नाना करणों में जब भुज लताओं को आकाश में उदिप्त करतीं थी, तो ऐसा लगता था कि उसके कंकण सूर्य मण्डल को बंदी बना लेगें, उनकी कनक-मेखला से उलझी हुई कुरण्टक माला उनके मध्यदेश को घेर कर ऐसी शोभित हो रही थी मानो कामाग्नि ही प्रदीप्त होकर उनको वलयित किए हैं, उनके प्रदीप्त मुख मण्डल से सिन्दूर और अबीर की छटा बिच्छुरित हो जाती थी और उस लाल-लाल कांति से अरुणायित कुण्डल-पत्र इस प्रकार सुशोभित हुआ करते थे, मानो चन्दन द्रुम की सुकुमार लताओं के विलुलित

१. शंकर विजय : आनंद गिरि, अध्याय १५ : १८। नवीं शताब्दी।

२. " " " " " " ।

३. शंकर विजय : आनंद गिरि, अध्याय १९-२१ तक।

किसलय हों। उनके नीले वसन्ती चित्रक और कौसुम्भ वस्त्रों के उत्तरीय जब नृत्य वेग से आघूर्णित हो उठते थे तो मालूम पड़ता था कि विक्षुब्ध-शृंगार-सागर की चटुल-वीथियाँ तरंगित हो उठी हैं। वे मद को भी मदमत्त बना देती थीं और उत्सव को भी उत्सुक बना देतीं थी।[1] और आगे कामी को और भी कामुक बना देती थीं, पतनोन्मुखी भावना को और भी नैतिक रूप में गिराने में समर्थ होती थीं, जड़-निष्ठुर ठूठ में भी कामी-लोलुप-प्राणों का संचार करती थीं। इसके परिप्रेक्ष्य में यही स्थिति हो सकती है। मध्यकालीन सभी तरह की इन लोक परक साधनाओं और व्यापारों में व्यक्तिकता पर जोर दिया गया है। व्यक्ति प्रमुख रहा है क्योंकि अधिकांशतः व्यक्ति एवं कलाकार अपने में, सामान्य समाज में, एक पूर्ण ईकाई बन गया था।

सामाजिक परिप्रेक्ष्य में नैतिक मर्यादा, सामाजिक अनुशासन, व्यक्ति के समक्ष गौण था। इसका अन्ततः परिणाम उच्छृंखलता, असामाजिकता, अनैतिकता और अनुशासनहीनता से होता हुआ राग द्वारा राग का परिशमन कर अदम्य-वीभत्स-वासना का व्यापक फैलाव हुआ है। अरविंद आदि कुछ विद्वानों ने भी तंत्रादि के कुछ सिद्धान्तों की उदात्तता और गहन आध्यात्मिकता को स्वीकार करने के बाद भी कहा है कि—कालान्तर में इनमें बहुत से ऐसे तत्व आकर जुड़ गए—जिनके कारण अनियंत्रित वामाचार, असंयतता, सामाजिक व्यभिचार, दुराचार का मानों एक पन्थ ही चल गया हो।[2] इस तरह स्त्रियों का पहलू बदलता ही गया। इस बदलते पहलू में मुसलमानों के आगमन ने और भी गति प्रदान की। मुसलमानों में स्त्रियों का दर्जा पुरुष से हेय स्वीकारा गया है। शरीयत ने स्त्रियों की स्वतन्त्रसत्ता को मान्य नहीं किया है। वे केवल भोग्या है। इस विचार धारा ने हिन्दू समाज को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही रूपों से प्रभावित किया है। प्रत्यक्ष रूप में मुसलमानों के आते तक हिन्दू स्त्रियों का उच्च पद समाज अपहरण कर चुका था तथा उनका क्षेत्र सीमित हो कर घर ही हो गया था जिसे कि मुसलमान आगमन ने एक और पर्दे की प्राचीर खड़ी कर कैदी की स्थिति कर दी। आए दिन के बलात्कार और अपहरण वृत्ति ने पर्दे को और भी ठोस कर नारी सत्ता को समूल नष्ट कर दिया जो नारी पर्दे के बाहर थी वह भोग का उपकरण मात्र सामान्य हो गई थी। युद्धोपरान्त विधवाओं की बाढ़ को रोकने के लिए बलात् सती प्रथा का परिचालन सम्भवतः विधवाओं की रक्षा के प्रति जिम्मेदारी को अलगाने के लिए ही काफी समय तक चलता पनपता रहा। इसके अनन्तर नारी की इस स्थिति की प्रतिक्रिया समस्त मध्यकालीन संतों और भक्तों में लक्षित होती है। प्रायः हिन्दू-मुसलमान दोनों ही, एक ही स्वर से नारी को हेय कहते हुए भर्त्सना के मूल में सन्तों का सुधारवाला दृष्टिकोण रहा है। वैसे यथार्थ और कटु सत्यों के ही आधार पर पुरुषों को चेतावनी दी है।

वैष्णव आंदोलन ने हिन्दू समाज की इस कथित-दशा के प्रतिकूल आशा, जागरूकता, एक नारी व्रत उच्चादर्श, दृढ़ नैतिकता का प्रतिपादन किया है। संत कवियों में नारी के प्रति सुधारवादी दृष्टिकोण रहा है। इसके अनन्तर राजस्थान की स्थिति, मध्यभारत, दक्षिणावर्त तथा उत्तरपूर्व भारत से भिन्न रही है। चारण के वीरकाव्य तथा अन्य काव्य विधाओं में प्राप्त अभिव्यक्ति, जैनाचार्यों द्वारा धार्मिक साहित्य की सृर्जना, संतों की कृतियाँ तथा राजवर्ग का काव्य सर्जना में योग रहा है। सत कवियों में मीरा से लेकर सुन्दर दास, चारण दास, हरिदास जसनाथ, पाबू जी, रामदेव जी, हड़बूजी, गोगोजीजामों जी, तेजो जी आदि की वाणी से विवेच्य भूमि प्लावित हुई। इन संतों की वाणी की महत्ता दार्शनिक, धार्मिक और सामाजिक दृष्टिकोणों से है। इन संतों की वाणियों का व्यापक प्रचार प्रसार साधु संन्यासियों के तंबूरों, सितारों, एकतारों और खड़तालों पर समस्त सामयिक जनता में हुआ। जिसकी परम्परा आज भी गाँवों में सुनने को मिलती है। सदियाँ बीत गई किन्तु इन संत वाणियों का अस्तित्व आज लोक जीवन में मौखिक

१. हिन्दी साहित्य का आदि काल—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी–७६।
२. अरविंद–कल्याण, शक्ति अक, पृष्ठ–३१।

परम्परा के रूप में समस्त-भूमि-व्याप्त विद्यमान है।

राजवर्ग में जोधपुर के महाराज यशवंतसिंह, बूंदी के महाराजा बुधसिंह, महारानी मीराबाई, नागरी दास जी, बीकानेर के कुंवर पृथ्वीराज राठोड़ (पीथल), उल्लेखनीय है। इन राजस्थान के वीर पुत्रों ने न केवल काव्य और कला को ही बृहत योग दिया, बल्कि तलवार और कलम का अद्वितीय उद्धरण विश्व साहित्य में प्रस्तुत किया। मीराबाई शुद्ध प्रेम भक्ति की प्रेरक कवियित्री रहीं। इन्होंने आत्म जीवन को ही आधार मानकर भक्ति का प्रचार-प्रसार अपने मधुर गेय गीतों में किया। किसन गढ़ के नागरी दास भी इसी परम्परा के कवि हैं। नागरी दास ने चित्रकला को प्रश्रय दिया है। इनकी प्रिया बनीठनी का व्यक्तिचित्र किसनगढ़ कलम का परिचायक चित्र माना जाता है[1]। अन्य राजकवियों ने शृंगार-वीर से परिपुष्ट काव्य कृतियों का प्रणयन किया है। इनके काव्यों में, एक आज के गद्यकार, कहानीकार या उपन्यासकार का सत्य निहित है[2]। इस सत्य के अनुरूप वास्तव में मध्यकालीन काव्य में अतिरंजना के साथ कवि लेखक या कलाकार स्वयं ही प्रस्तुत विषय का नायक होता है। इन राजवर्गों द्वारा प्रस्तुत सामग्री काव्य के नायकत्व की तरह तत्कालीन विलास-भोग-भाव भी चित्रित हैं। कहीं-कहीं आत्म श्लाघा के बोझ से दबी हुई आत्मा, खुलकर चारण बोध स्वीकारती है। खर इसको इतर रख इस तरह के वीर काव्यों में प्रेम-शृंगार की स्वर लहरीव प्रवाहित है। इससे तत्कालीन समाज की रमणीक भावना का द्योतन होता है। तभी यह बात मूर्ति कला के सन्दर्भ में ठीक सी ही प्रतीत होती है। खजुराहो के देव मन्दिरों में प्रस्तुत मूर्तियों में प्रौढ़ा नायिका का गेंद खेलते हुए चित्रित करना। नारी के हृदयगत भावनाओं की चंचलता का बोध देता है। अर्थूना की नायिका गेंद का प्रहार करने को उद्धत है जबकि खजुराहो के लक्ष्मण मन्दिर की यह नायिका गेंद को ऊपर ले जाने के साथ ही उसकी चढ़ती हुई उमास का भाव अभिव्यक्त करती है। प्रतिमा का अंग अंग नवनीत तुल्य स्निग्धता का द्योतन करता है। यह खुजराहो का अपना वैशिष्ट्य है। तत्कालीन प्रस्तर मूर्तियों के मधुर-सुष्ठ-सौन्दर्य-युक्त भरी-पूरी-देह-मय स्वरूपों को देखकर किसी भी विश्लेषक या प्रेक्षक के मन में उस मूर्ति-उद्रेखक-मूर्तिकार के मनस्तत्व की स्थिति का प्रश्न उभर सकता है जिसका कि समाधान यही है कि मूर्तिकार नारी-सौन्दर्य से अविभूत रहे हैं और यह उस युग की प्रमुख प्रवृत्ति रही है। यह प्रवृत्ति कवित में वीररस सिक्त उपलब्ध होती है। इस सन्दर्भ में आचार्य मेरुतुंग का दोहा है जिसका भावार्थ यह है कि जिसके सिर को तलवार ने भंग नहीं किया, जिसे रमणी की तिरछी चिवन नहीं लगी, या जिसके गले गोरी नहीं मिली ऐसे व्यक्तियों का जीवन ही अकारथ चला गया[3]।

राजस्थान के राजपूत समाज ने नारी की शक्ति रूप में पूजा की है, माँ के रूप में उसका वंदन किया है। वीरांगना के रूप में उसकी तलवार का लोहा माना है, निर्देशक के रूप में स्वागत किया है। इस तरह के उद्धरण टाड के इतिहास में, मुहणोत नैणसी की ख्यात में तथा वीर रासों काव्यों में भरे पड़े हैं[4]। राजस्थानी कहावतों में भी लोक जीवन से सम्बन्धित इस तरह के चित्रण हैं। एक कहावत का भावार्थ इस तरह है जिसमें कि आर्थिक सम्पन्न न होते हुए भी एक मुग्धा द्वारा आयोजित प्रीति भोज का प्रसग है। इसमें मुग्धा का स्वतन्त्र जीवन बोव लड़ाकू वृत्ति के साथ

---

१. रामगोपाल विजय वर्गीय—राजस्थान की चित्रकला—किसनगढ़-चित्र। राजपूत पेंटिंग—मान्टेगोमरी, प्लेट—२५

२. कमलेश्वर, राजेन्द्रयादव, भन्नू भण्डारी, उषाप्रियंवदा आदि का समूह।

३. एउ जम्मु नग्गुहं गिउ भड़सिरि खग्गु न मग्गु।
तिक्खा तुरियाँ न माणियाँ गोरी गलि न लग्गु।
राजस्थानी साहित्य का आदिकाल—नारायणसिंह भाटी—परम्परा पृ० ७

४. रा. का ई. द्वारा टाड़ अनुवाद—ठाकुर, राजस्थान की महिलाएँ पृ० ३०६ से ३३० तक।

परिलक्षित होता है[1]।

इसी विवेच्य काल में अति प्रचलित काव्योपलब्ध प्रवृत्ति प्रेम की है। प्रेमाभिव्यक्ति का प्रचलित स्वरूप तत्कालीन दोहों में मिलता है। राजस्थान में 'ढोला मारु रा दूहा' एक लम्बी और सच्ची प्रेम कथा में मार्मिक प्रेमानुभूति का चित्रण बहुतायत से हुआ है। यह प्रेम कथा काव्य के समानान्तर ही चित्रकला में भी चित्रकारों को प्रेरित करती रही है। बिहारी के पूर्व हृदय की प्रेम-दग्ध-मार्मिकता ढोला की नायिका मारवण में मिलती है[2]। इसी प्रसंग की मार्मिकता को तत्कालीन चित्रकार ने भी प्रस्तुत किया है। जोधपुर के पुराने किले के राजमहल में महाराज तखत विलास कक्ष में ढोला मरवण का चित्र महाराज के काल का ही निर्मित है। इसके पूर्ववर्ती काल में काव्य में स्फुट दोहों और गेयपदों व रासों रूपों में यह प्रेम कथा बहुलता से व्याप्त है। हेमचन्द्र द्वारा प्रस्तुत दोहे ढोला मारवण के चित्रात्मक रूप के द्योतक हैं। नीचे उद्धृत दोहे को देखने से प्रतीत होता है कि नायक-नायिका 'निद्दए गमिही रत्तड़ी' पर चित्र लिखित से अवाक् स्थिर हो गए हैं[3]। मूर्ति कला हो या चित्रकला हो इनमें कलाकार को प्रसंग के साथ प्रभावोत्पादक-निमिष की स्थिर बोधकता का ध्यान रखना होता है। वह चयित स्थिर क्षण पूर्वापर कथा को व्यक्त करने में सार्थक होता है। इसी तरह एक दूसरे दोहे में मारवण दीवार की उपरली पर्त को नाखून से खोद रही है। ढोला सामने बैठा है। समस्त मनोभावना व प्रसंग को व्यक्त करने के लिए मारवण का नाखून से दीवार का खुरचना ही यथेष्ट है[4]। इसी तरह के कुछ शब्द चित्र, नायिका की विरह भावना को व्यक्त करने वाले हैं। परवर्ती काव्य और राजपूत चित्रकला में इस तरह के चित्रों का प्रधानय है, वह पूर्ववर्ती दोहों में प्राप्त होता है। प्रेमी के संयोग या आने की प्रतीक्षा में आकुल प्रिया कौआ उड़ा कर शकुन निकालती है। कौआ उड़ा कर शकुन निकालना है तो बहुत प्राचीन परम्परा पर शाश्वत है। जो आज भी है। कौआ नायिका की विरह विदग्धता को सन्त्वना का कार्य करता है। हेमचन्द्र ने काग उड़ाकर प्रेमिका की चूड़ी तुड़वा दी है[5]। इसी का अगला रूप अल्प फेर के साथ फिर अगले पद में देखिए[6]। यही रूप आप चित्र पट संगीत में 'ऊँची अटरिया पे कागा बोले, मोरा जिया डोले, कोई आ रहा है' में सुनते हैं। प्रेम की अतिशयता में 'तीखी तुरी न माणिय' वगैर राजस्थान के चालु दोहों में 'जलम अकारथ ही गयो' कहते हैं। दिनकर के ब्रह्मचा भीष्म को 'झाड़ी की झुरमुट में कोई विहग न बोला' का दुख है। प्रेम के प्रसंग विशेष कर चित्रों में पनघट का महत्व है। पनघट एक तरह से वह स्थल है जहाँ कि प्रियतम अपनी प्रिय कामणी से किसी भी तरह साक्षात का अवसर पाता है। राजस्थानी भाषा और साहित्य में डॉ० हीरालाल महेश्वरी ने ऐतिहासिक मुक्तक काव्य

---

१. सिरि जरखण्डी लेउड़ी गलि मनिउड़ा न वीस।
तो वि गोट्ठड़ा कराविआ, मुद्दए उट्ठबईस॥

२. चंपा केरी पाँखड़ी—गू थूँ नवसर हार.
जउ गल पहरूँ पीव बिन, तउ लागे अंगार।

३. ढोल्ला मइं तुहुँ वारिया मा कुरु दीहा माणु।
निद्दए गमिही रत्तड़ी दडवड होई विहाणु। हे. चं.

४. ढोला आमण दूमणई, नख ती खोदइ भीति,
हम की कुण छड़ आगली, बसी तुहारइ चीति। २३७।

५. वायसु उड्डावन्ति अए पिउ दिट्ठअ सह सत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय उद्धा फुट्ट तड़न्ति॥

६. काग उड़ावण घण खड़ी, आयो पीव भड़क्क।
आधी चूड़ी काग गल, आधी गई तड़क्क॥

पर सामग्री प्रस्तुत करते हुए पनघट और पनिहारी का चित्र प्रस्तुत किया है।[1] पनिहारी का बार बार पनघट पर जाना उसकी मनोदशा को सूचित करता है। आचार्य सोमप्रभ ने गणगौर के समय का शब्द चित्र प्रस्तुत किया है[2]। राजस्थान में यह पर्व सोमप्रभ के पूर्ववर्ती काल से, होलिका दहन से महिलाएँ सोलह दिन तक, बड़े ही उत्साह और चाव से मनाती हैं। इन दिनों में समस्त राजस्थान गणगौर के नृत्य गीतों से गूंज उठता रहा प्रतीत होता है तभी इस का चित्र सोमप्रभ ने अपने दोहों में सामयिक समय की गणगौर की परम्परा से अविभूत होकर किया है। उसका भावार्थ इस तरह है—आभूषणों की किरणें जिनकी देह पर दिप्यमान है, जिन्होंने सुर-बहुओं के रूप को भी हेय कर दिया है और जिन कुल-ललनाओं के पैर दरवाजे पर गहरे कुंकुम के कीचड़ में फिसलते हैं, वे ही सुकुमार रमणियाँ आज गणगौर में नृत्य रत, स्वर लय-हीन है। इस तरह की नृत्य-गीतों की परम्परा राजस्थान में बहुत प्राचीन है। रण-पिंगल में गीत विधा के ३३ भेदों का उल्लेख है। रघुनाथ रूपक, में ७२ भेद हैं और रघुवर-जस-प्रकाश, में ९४ भेदों का परिचय है। राजस्थान में गीतों की परम्परा दूहा से आरम्भ होकर अनन्त भेदों में परिणत हो जाती है। इन गीतों में स्वर के आधार पर पुरुष गीत और नारी गीत दो भेद हैं। दूसरे प्रकार के गीत राजस्थान की नारियों के कण्ठ की सम्पत्ति है। मर्म-स्पर्शनी कोमल-भावना इन गीतों का अपना वैशिष्ट है।

पुरुष सदा-सदा से नारी सौन्दर्य से मुग्ध होता रहा है और उसकी अति व्यापक प्रतिक्रिया सौन्दर्य के उदात्त रूप में नारी के चित्रण में युग-युग से प्रस्फुटित हुई है। राजस्थान में नारी भाव के मूल में प्रेरणावत रही है। उसके बगैर रण का वीर-वीभत्स तक नीरस है, फिर तो कलाकारों की सरसता का आधार होना स्वाभाविक है। इन्द्र विद्या वाचस्पति के कथनानुसार चित्रकला की शिक्षा, शिक्षा के आवश्यक अंग के रूप में विवेच्यकाल में प्रचलित थी[3]। चित्रकला का गहरा संबंध मूर्तिकला से होता है। चित्रकार और मूर्तिकार में सूक्ष्म और स्थूल का माध्यम भेद है। इनकी भावनाओं का आधार प्रायः एक ही रहता है। इन गुजरी हुई शताब्दियों की प्राप्त मूर्तियों इस आधार-भूत-नारी के प्रेरक सत्य को प्रकट करतीं हैं। मूर्तियों के सृजन में कलाकार जब छेनी और हथौड़ा ले के पत्थर पर सतत् श्रम करता है, तब उसके सामने मन का आधार किसी रमणी की कोमल-भावना होती है (चित्र देखिए २२७१-७२)। उस रमणी के रूप-आकार के सहारे पत्थर पर रूप आकार उभारते हुए जीवन्त प्रभावों की सीमा छूने हैं। इससे परे की स्थिति के संदर्भ में आर्ट और क्राफ़्ट का पहलू है। पत्थर जब ताजमहल की मीनाकारी, एक जैसी ज्यामितिक आकृतियों, की तरह एक ही जैसे रूप ग्रहण करता है तब वह क्राफ़्ट है और पत्थर पर उत्खनन कार्य करने वाले लड़िए या कारीगर का कार्य हो जाता है, वह कलाकार का नहीं होता है। कलाकार प्लेटो और अरस्तू की परिभाषा का अर्थ छोड़कर प्रतिकृति कर्ता नहीं होता है। वह अपने अंतः के प्राप्त संवनित रूप को बाह्यरूप खजुराहों, दिलवारा, गिरिनार, की मूर्तियों की तरह देता है जिसमें कोई भी दो कृतियां समान रूप को प्रस्तुत नहीं करती हैं। ताजमहल क्राफ़्ट का एक अद्वितीय नमूना है जब कि खजुराहों मूर्तिकला का खजुराहों की प्रौढ़ा नायिका का गेंद खेलते हुए चित्रित करना, नारी के हृदयगत भावनाओं की चंचलता का बोध देता है। अर्थूना की नायिका गेंद का प्रहार करने को उद्यत है जबकि खजुराहों के लक्ष्मण मंदिर की यह नायिका गेंद को ऊपर ले जाने के साथ ही उसकी चढ़ती हुई उसास का भाव

---

१. पद्‌मण पांणी जावत प्रांत, रुलंत्ती आवत आधी रात।
विसकवा टावर जोवे बाट, घिनो घर घाट घिनो घर घाट॥
पृष्ठ—१३१,

२. आभरण किरण दिम्पत देह, अहरी किए सुर बहू रूप रेह।
घण-कुंकुम-कद्दम घर-दुवारि, खुप्पंत चलत नच्चहि नारि॥

३. भारतीय संस्कृति का प्रवाह, पृष्ठ-१०७।

अभिव्यक्त करती है। प्रतिमा का अंग-अंग नवनीत तुल्य स्निग्धता का द्योतन करता है। यह खजुराहो का अपना वैशिष्ट्य है (चित्र फलक-१४ देखिए तथा चित्र फलक-७)। इसमें वास्तुकला की दृष्टि को नहीं अपनाया गया है। इस तरह मूल आयातित मूर्तियों के उत्खनन में कलाकार का आत्म मिश्रित होता है। एक और विचार प्रस्तुत किया जा सकता है कि बिना किसी आधार के पत्थर में दिल नहीं लगाया जा सकता है। क्राफ़्ट-गत-कारीगरी के संदर्भ में लगाया जा सकता है किन्तु कला-कार्य में मूर्तिकार के मन की प्रक्रिया निश्चित ही कारीगर से भिन्न भावना-प्रधान नारी-रूप से अविभूत रहती है। राजस्थान के मूर्ति-उत्खनित-विवेच्य काल का प्रवाह ही ऐसा था जिसमें पीढ़ी दर पीढ़ी व्यक्तियों के मन म भावना ही प्रधान रही है। युद्धों के मूल में भी भावना ही रही है। आज के बुद्धिवादी कवि दिनकर ने युद्ध को अनुद्ध कहा है। दिनकर कवि है लेकिन बुद्धिवादी कवि है। उनकी कविता का संभावित श्रोत बुद्धि है। बुद्धि की बात लेकर एक दूसरी बात यह भी कही जा सकती है कि बुद्धिवादी व्यक्ति केवल बुद्धि के दाव पेचों में चल सकता है या वैचारिक सिद्धान्तों को प्रतिपादित कर सकता है। लड़ने जैसी बात में वह कायर हो जाता है। यह बात नहीं है कि भावना का सर्वथा अभाव है किन्तु आज का कवि-कलाकार बुद्धि के माध्यम से जीवन गत तत्वों को स्वीकारता है, फिर कहीं सृजन में प्रवृत्त होता है। वह एक ऐसा युग था जब कि भावना का आवेश कतिपय समयों और स्थितियों तक स्थिर रहता था। इसी भावना के आवेश में ही पृथ्वी रक्तमयी हो जाती थी। राजपूत वीर हँसते-हँसते केसरिया पहन रण में भैरव नृत्य करते-करते वीर गति प्राप्त होते थे। सुकुमार ललनाएं लाल लपटों को वरण कर लेती थीं। और शान्ति समयों में रमणियां महिनों गणगौर में आमोद मनाती, सामूहिक उल्लासों में सम्मिलित होती थीं। कलाकार पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्राप्त कला को ही जीवन का आधेय मान मूर्तियों का सृर्जन करता था।

इन उद्रेखित मूर्तियों के संदर्भ में हैवेल का कथन है "भारतीय शिल्प की मूर्ति में प्रदर्शित जो गहराई तथा अतरिक भाव दीख पड़ते हैं, वे ग्रीस में नहीं पाए जाते हैं[1]। मथुरा के प्राचीन मंदिर जो अब नष्ट हो चुके हैं, के विषय में महमूद के गजनी के हाकिम को लिखे एक पत्र में कलागत अविभूत अपनी दशा को प्रगट किया था[2]। इसी आक्रान्ता महमूद गजनवी के निजी सचिव अलउत्तबीने मथुरा के ही संदर्भ में लिखा है' शहर के दरम्यान सबसे वाला तरीन और उम्दाह बुतगाह है जिसका न बयान किया जा सकता है न नक्काशी। इसके वावत सुल्तान ने लिखा है कि अगर कोई इन्सान इसके मानिन्द कोई इमारत बनाना चाहे तो दस करोड़ सुर्ख दीनार खर्च किए बिना नहीं बना सकता और निहायत तजुर्बेकार और माहिर अफराद के तफर्रुर के बावजूद भी इसकी तामीर में दो सदी सिर्फ होगीं। बुतों में पांच खालिस सोने की बनीं हुई थीं, हर एक पांच गज लम्बी थी और बिना सहारे हवा में टिकी हुई थी। इन बुतों की आंखों में ऐसी बेशवहा लाले जड़ी हुईं थीं कि अगर उनको फरोक्त किया जावे तो हरएक की कीमत पचास हज़ार दीनार उभर सकती है। एक बुत में हीरा जड़ा हुआ था जो पानी के मुकाबले में ज्यादा साफ था और निहायत चमकदार था। इसका वजन ४५० मिसकल था। एक बुत के महज दो पैरों का वज़न साढ़े चार हज़ार मिसकल था। तमाम बुतों के सोने का वज़न अठानवे हजार और तीन सौ मिसकल था। चांदी की बुत दो सौ के करीब थे लेकिन उनका वजन टुकड़े किए वगैर नहीं किया जा सकता था। सुलतान ने हुक्म दिया कि तमाम मंदिर आतिश और नैषधा से जला कर जमींदोज कर दिए जावें[3]। बाड़ौली का मंदिर देख कर कर्नल टाड़ का कथन है 'उसकी विचित्र और भव्य रचना का यथावत वर्णन करना लेखनी की शक्ति से बाहर है। यहां तो मानो हुनर का खजाना खाली कर दिया गया है। उसके स्तभ छत और शिखर का एक-एक पत्थर छोटे से मंदिर का एकाकी दृश्य प्रस्तुत करता है। प्रत्येक स्तभ पर

१. हैवल, इंडियन स्कल्पचर एण्ड पेन्टिंग, पृष्ठ-१४४।

२. ब्रिग्स 'फिरिस्ता' जिल्द-१, पृष्ठ-५८।

३. भारतीय संस्कृति का विकास-मथुरा लाल शर्मा, पृष्ठ २५२।

खुदाई का काम इतना मुग्ध और बारीकी के साथ किया गया है कि उसका वर्णन नहीं हो सकता[1]। मथुरा के संदर्भ में महमूद गजनवी का कथन है कि मथुरा के असंख्य मंदिरों के अतिरिक्त एक हजार प्रासाद मुसलमानों के ईमान के सदृश्य दृढ़ है। उनमें से कई तो सगमर्मर के बने हैं जिनके बनाने में करोड़ों दीनार खर्च हुए होगे। ऐसी इमारतें यदि दो सौ वर्ष लगें तो भी नहीं बन सकती हैं[2]।

राजस्थान में मन्दिरों की विसाल परम्परा है जिसमें ललित कला की तत्कालीन वास्तुस्थिति का बोध होता है। राजस्थान के मन्दिरों को मुख्यत: चार भागों में विभाजित किया जा सकता है। जैन मन्दिर, सूर्य मन्दिर, शिव मन्दिर तथा राजाओं द्वारा बनवाए गए मन्दिरनुमा प्रासाद। विवेच्य स्थान में आफू, रनकपुर, सादरी, चित्तौड़, ग्वालियर, सोनागिरि, ग्यासपुर तथा खजुराहों आदि के जैन मन्दिर समूह है। ये मन्दिर ईसवी शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर चौदशवीं शताब्दी तक बनते रहे हैं। इन स्तम्भों के मन्दिरों के स्तम्भों छतों आदि में जैन धर्म पर आधारित मूर्तियाँ तथा कथाएँ होती हैं। मुख्य मन्दिर के चारों ओर छोटी-छोटी देव कुलिकाएँ बनी रहती हैं, जिनमें भिन्न-भिन्न तीर्थंकारों की प्रतिमाएँ स्थापित की जाती हैं। इन मन्दिरों के गर्भगृह-मूर्ति-स्थापन स्थल के समक्ष कहीं एक मण्डप कहीं दो मण्डप और एक विस्तृत वेदी भी होती है। गर्भ-गृह के ऊपर शिखर और उसके सर्वोच्च भाग पर आमलक नाम का बड़ा चक्र होता है। आमलक के ऊपर कलश होता है और वहीं ध्वज दण्ड भी होता है। इस तरह यह एक विशाल मंदिर का मन्दिर का प्रारूप है। इस विशाल मन्दिर के इर्द गिर्द परवर्ती काल में निर्मित मन्दिर भी होते हैं। आबू में मन्दिरों की अधिकता नहीं है। विशालता और भव्यता ही यहाँ के मन्दिर—वास्तु-कला का वैशिष्ट है। रनकपुर, चित्तौड़, ग्वालियर, ग्यारसपुर के मन्दिर जैन धर्म के अातीत की स्मृति का बोध कराते हैं। सोनागिरि का १०५ मन्दिरों का समूह, खजुराहों के मन्दिरों का समूह अपनी भिन्न स्थितियाँ रखते हैं। सोनागिरि का मन्दिर समूह कला की अपेक्षा आस्था का प्रतीक है वहीं खजुराहों कला का प्रतीक अधिक है। आबू का दिलवारा मन्दिर संगमरमर की मूर्तिकला की दृष्टि से उल्लेखनीय है। इस प्रसिद्ध जैन मन्दिर को देखकर, भारतीय शिल्प के मर्तत्र मि० फर्गूशन का कथन है कि आबू के मन्दिरों में जो संगमरमर के बने हुए हैं, अत्यन्त परिश्रम सहन करने वाली हिन्दुओं की टांकी से फीते जैसी बारीकी के साथ ऐसी रम्य मनोहर आकृतियां बनाई गई हैं कि उनकी नकल कागज पर बनाने में कितने ही समय तथा परिश्रम से भी मैं सफल नहीं हो सका।[3] गुजरात के सीमावर्ती मंदिरों में प्राप्त मूर्तियों का शिल्प गिरिनार, पालीताना के मन्दिरों से प्रभावित है। महावीर के रूप की कल्पना प्राय: सभी मन्दिरों में समान रूप से प्रस्तुत की गई है। जैन कथाओं को प्रस्तुत करने वाली दिलवारा या खजुराहों या इतर प्राप्त मूर्तियाँ जैन-मिनियेचर्स के बाह्य रूपाकार-भेद से भिन्न स्थानीय शैली की है। खजुराहों के जैन मन्दिरों की मूर्तिकला चंदेलों के सदृश्य है। महावीर स्वामी के अतिरिक्त जो अन्य तीर्थंकारों की भावना को प्रस्तर रूप दिया गया है वह महावीर स्वामी की बाह्य बनावट से प्रभावित प्रस्तुत की गई है। प्राय: मुख की मुद्रा, वक्ष स्थिति हीरक चिन्ह हस्त स्थिति प्रभाव के स्पष्ट बोधक हैं। चेहरे की दाड़ी की बनावट कहीं कहीं पर हिन्दू के देवताओं पर भी आरोपित की गई है। सिरोही और चंद्रावती में प्राप्त मूर्तियों की शिल्प विधा (दिलवारा के समीप है) दिलवारा से मिलती जुलती है। पल्लू से प्राप्त कला सामग्री[4], व जैसलमेर का जैन यातियों का भण्डार इसी क्रम में उल्लेखनीय है। जैसलमेर का जैन भण्डार १३वीं शताब्दी के लगभग अजयपाल

---

१. टाड-राजस्थान, जिल्द-३, पृष्ठ १७५२-५३ (आक्सफोर्ड प्रेस)

२. ब्रिग्स 'फिरिस्ता' जिल्द-१, पृष्ठ ५८-५६।

३. इंट्रोडक्सन—'पिक्चर इलसटेशन आफ एनसियेन्ट आर्कटेचर इन हिन्दुस्तान।

४. पालपुर—पुराना नाम है। यह सातवीं शताब्दी से लेकर १२वीं शताब्दी तक पश्चिमी व फारसी देशों से व्यापारिक महत्व की मण्डी रही है। यहाँ केवल जैन व्यापारियों के ही एक लाख प्रासाद थे।

के पुत्र कुमार पाल के भय से गुजरात से हट कर समृद्ध हुआ था। पल्लू में प्राप्त सामग्री मिश्रित है। उसमें स्थानीयता का क्रमशः विकास प्रतीत होता है। बीकानेर संग्रहालय में प्रस्तुत पल्लू-उपलब्ध सरस्वती जिसे कि जैन सरस्वती का संबोधन दिया गया है, इस संदर्भ में देखी जा सकती है।

राजस्थान में सूर्य मन्दिरो का निर्माण हुआ है। इन मन्दिरों में सबसे विशाल सगमरमर का बना हुआ सिरोही राज्य के बरमाण गाँव का ६वीं १०वीं शताब्दी का मन्दिर है। इस मन्दिर की मूर्ति अन्य विशेषताओं के अतिरिक्त पैरों में जूते हैं। इसका अनुसंधान करने पर पुराण में ऐसा लिखा है कि सूर्य के पैर खुले नहीं रहना चाहिए इसलिए जूते पहने हुए हैं। राजस्थान में सूर्य भगवान का सबसे पुराना मन्दिर मन्दसौर का है जो कि ई० शताब्दी के ४३७ में बना था जैसा कि उसके शिलालेख से ज्ञात होता है। हिन्दुओं में पूजी जाने वाली एक यही मूर्ति है जिसके पैरों में जूते हैं। यह ऐसा प्रतीत होता है कि मूर्ति की दाड़ी और बनावट आदि देखने से, ईसवी उपरान्त इस मूर्ति के रूप का आयाम फारस से शकों के साथ हुआ है। ओसिया का सूर्य मन्दिर भी १०वीं शताब्दी का है।[1] मदसौर का मन्दिर छोड़कर इतर सूर्य मन्दिर वास्तु कला की दृष्टि से जैन मन्दिर की वस्तु से भिन्न रूपाकार में है। गर्भगृह के समक्ष मण्डप तथा ऊपर गोल शीर्ष, जिसके ऊपर कमलाकृति का सम्भुट होता है। इसकी अवस्थिति चौड़ाई में द्विगुण लम्बाई के उच्च चौरे पर आयताकार होती है। मण्डप के स्तम्भों में प्रस्तुत नक्काशी व अलंकारवत अल्प मूर्तियाँ हैं। समस्त भारत में कोणार्क का सूर्य मन्दिर मूर्ति कला की दृष्टि से १०वीं शताब्दी का श्रेष्ठ मन्दिर भी इसी सन्दर्भ में में उल्लेखनीय है।

राजस्थान में शिव मन्दिरों का बहुतायत से राजपूत राजाओं ने परम्बरागत निर्माण कराया है। कोटा के दक्षिण में अक्लेरा नदी के तट पद सघन वन के अन्दर मन्दिरों का समूह है। ये प्रायः सभी शिव मन्दिर हैं। इनमें कुछ मन्दिर गिर रहे हैं कुछ अध बने रह गए हैं जो कि वैसे ही पड़े हैं। कुछ मन्दिर स्वस्थ स्थिति में हैं, इनमें भगवान् शंकर की मूर्ति विराजती है, उसमें भजन पूजन होता है, यहाँ के शिव मन्दिर का प्रत्येक पत्थर कलाकारों मूर्तिकारों की संग तराशी की कहानी मुंह जवानी सुनाता है। गर्भगृह का द्वार, गर्भगृह का आसन और मण्डप पर कारीगरों ने विशेष रूप ध्यान दिया है। यहाँ से उत्तर पूर्व में कोटा से ६७ मील आगे, मांगलोर में रामगढ़ के पास गोलाकार पर्वत श्रेणी के मध्य शिवमन्दिर हैं। इस मन्दिर की वास्तु विधा अन्य राजपूत मन्दिरो के सदृश, राजपूत शैली है। यह मन्दिर गिर रहा है। इसका आसन, मण्डप, गोपुर, शिखर और मण्डप का पार्श्वभाग, शिल्प अलंकरण राजपूत शैली में उत्कीर्ण है। प्रतिमाओं में ताजगी, सुडौलता और कोमलता यहाँ का अपना वैशिष्ट्य है। इस मन्दिर का प्रत्येक पत्थर शिल्पकार की भावनाओं का जीवन्त प्रतीक होता है। कोटा के ६० मील पश्चिम में कभी कोई भव्य नगर रहा है। पर आज तो बीरान होती हुई विशाल नगरीं मात्र है जिसमें अनेकानेक हिन्दू और जैन मन्दिर भूमि चुम्बित हो रहे हैं। हिन्दू मंदिरों में शिव और विष्णु के मन्दिर हैं। इन मन्दिरों के लुण्ठित स्तम्भ शिखर-पार्श्व-पश्च्य सभी शिल्प का बाना धारण किए हैं। कुच प्रस्तर खण्ड अपने आप में स्वतन्त्र कला की खण्डात्मकता सत्ता के प्रतीक कहे जा सकते हैं। पशु-पक्षियों को विविध बेलबूटों के साथ प्रस्तुत किया है। यहाँ इससे यह सत्य सहज निसृत होता है कि मुगल कलम के सन्दर्भ में जहाँ यह प्रस्तुत किया जाता है कि पशु-पक्षी का चित्रकला में आयाम मुगलिया देन या परम्परा है सो बात नहीं है। ये पत्थर अपनी जवानी-बयां में उद्‌घोष करते हैं कि भारतीय कलाकार शिल्पकार, कवि मूर्तिकार और संगीतज्ञ सभी ने इन्हें प्रतीक नई नई उद्‌भावनाओं के साथ स्थाव दिया है। भारतीय शिल्पकारों ने विविध बेलबूटों के साथ पशु और पक्षियों को सदा से प्रस्तुद करते आ रहे हैं। यह हस्थि सज्जा उसी परम्परा के मध्य की एक कड़ी है। कोणार्क के सूर्य मन्दिर का हाथी इस संदर्भ में एक उदाहरण है जो परम्परागत है। जहांगीर का हाथी बहु चर्चित है किन्तु उसका

१. इंडियन आर्कटेक्चर वाई पर्सी ब्राउन—८२।

स्वरूप कोणार्क हाथी के सदृश ही है अपितु प्रस्तुतीकरण में हेय भी है।

चम्बल के बाएँ तट पर बाड़ोली के निकट, बूँदी राज्य में ही, शिव मंदिर है। यह मंदिर १०वीं शताब्दी का बनवाया हुआ प्रतीत होता है। इसके आस-पास तीन मंदिर और हैं। इनका निर्माण काल शिव मंदिर के कुछ ही पश्चात् का होना चाहिए। ये भी राजपूत शैली के मंदिर का गोपुर, मण्डल, शिखर, कला की दृष्टि से उल्लेखनीय है। स्तंभों पर भव्य प्रतिमाएँ और बेलबूटे उत्कीर्ण हैं। प्रतिमा मांसल, सुगठित, रमणीय के साथ-साथ सजीवता इन मूर्तियों में है। इस मदिर के चतुर्दिक मीलों तक सघन और बीहड़ जंगल है। झालवाड़ा में चंद्रभागा के पास शिव मंदिरों का समूह है। इन मंदिरों का आकार छोटा प्रतीत होता है किन्तु कलात्मक दृष्टिकोण से श्रेष्ठ है। ये मन्दिर राजपूत शैली के हैं तथा इनका निर्माण काल १०वीं शताब्दी के लगभग ठहरता है। यहाँ सबसे बड़ा शिव मंदिर है। शेष तीन में केवल एक ही मंदिर में देवी की प्रतिमा है, ये नष्ट होते जा रहे हैं। मंदिरों के स्तंभों, दरवाजों, चौखटों के पार्श्वों में में पुष्प, पशु, और मनुष्यों की बेले यथार्थ रूपों में उद्रेखन में अजंता का प्रभाव प्रतिलक्षित होता है। किराडू का ११वीं शताब्दी का शिव मंदिर सुघरे रूप में आज भी दर्शनीय है। इसके समीप ही बने विष्णु मंदिर की छतें गिर चुकी हैं, स्तंभ खड़े हैं। स्तंभों पर उद्रेखित नक्काशी व मिनाकारी के साथ प्रस्तुत मानव मूर्तियाँ तत्कालीन कलाकारों की सुन्दर यादगार है। इन्हें देखकर बरबस उन कलाकारों के हाथ चूमने को दिल हो आता है। इसके पास ही ११वीं शताब्दी का सोमेश्वर मंदिर अपने दीर्घ-गाथा के साथ अवस्थित है। इसका मण्डप, शिखर टूटता व ढहता-सा प्रतीत होता है। किराडू में कुल अठारह मंदिर हैं। ओसियाँ ९वीं शताब्दी का ढहता मंदिर भी कलात्मक अभिरुचि का परिचायक है।

विश्व प्रसिद्ध खजुराहों ८५ मंदिरों का समूह है, जिनमें से अब केवल २५ मंदिर अच्छी स्थिति में हैं। इनका निर्माण सन् ९५० से १०५० ईसवी के लगभग राजपूत राजा यशोवर्मन, धंग और गंड चन्देल राजाओं द्वारा, इनके ही शासन काल में निर्मित हुए। पश्चिमी पूर्वी और दक्षिणी तीन समूहों में ये मंदिर है। यहाँ मंदिरों के शिव, वैष्णव तथा जैन, समूह हैं। मदिर निर्माण कला की दृष्टि के इन मंदिरों का स्थान विशिष्ट है क्योंकि इस काल तक मंदिर-निर्माण-कला की विकासोन्मुख विधा एक समन्वित सम्पूर्ण रूप रेखा को प्राप्त कर चुकी थी जो कि इन मंदिरों के व्यक्तित्व से स्पष्ट होता है। मंदिरों के विकास में क्रमशः गर्भगृह, गर्भगृह मण्डप, गर्भगृह अंतराल मण्डप के बाद इन मंदिरों में पूर्ण विकसित रूप में गर्भगृह अन्तराल महामण्डप मण्डप और अर्ध मण्डप मुख्य अंग हो गए। शिखर अत्यंत विकसित एवं उत्कृष्ट अलंकरण में यहाँ का कांदरिया महादेव मंदिर में है। यहाँ मुख्य शिखर के चारों और छोटे-छोटे उरु शिखर होते हैं जो क्रम से ऊपर उठते हुए मुख्य शिखर की पवित्र भव्यता में लीन हो जाते हैं। यह मानव चेतना की चिरन्तन ऊर्ध्वमुखी प्रवृत्ति का प्रतीक हैं। इस मंदिर के गर्भगृह की परिक्रमा सूक्ष्म ज्यामिति के आधार पर निर्मित छत में नवकाशी एवं मानव मूर्तियों को अलंकरण पट्टिका सहित प्रस्तुत किया है। इन मंदिरों में बाह्य एवं अन्तः भित्तियों पर मुख्य देवी देवताओं की मूर्तियाँ विशेष कर अष्ट दिग्पाल, अप्सराएँ, देवांगनाएँ, गन्धर्व-मिथुन, विद्याधर, सर्प, बाईल अंकित है। काम क्रीड़ा-रत मूर्तियों में भी भव्यता कलात्मकता, भावों की बहुरगी विविधता, जीवन गत समस्त व्यापार आदि के साथ, प्रेक्षक का साक्षात, होता है। दार्शनिक विचार एवं धार्मिक वातावरण में मिथुन दृश्य चरम सत्य की सुन्दर खोज में समर्पित प्रतीत होते हैं। इन मंदिरों में शिव मंदिर अधिक हैं। एक सूर्य मंदिर भी है। मदिरों में अंकित मूर्तियों मे विश्वनाथ मंदिर में, एक युवती अपने दाहिने हाथ में फलों का गुच्छा लिए दिखाई गई है, जिसके बाएँ हाथ पर तोता बैठा है। इसी तरह इस मंदिर की दक्षिण भित्ति पर एक युवती बच्चे को अलिंगन करती है। उत्तरी भित्ति पर वंशीवादन रत महिला भी अंकित है। चित्रगुप्त मंदिर की बाह्य भिति पर उत्कीर्ण आखेट के दृश्य, शाही जुलुस, सुन्दर बालाओं के नृत्य एवं मस्त हाथियों का युद्ध, कलाकार के अंकन की वास्तु की दृष्टि से अपनी महत्ता रखते हैं। इसमें कला का लोकोन्मुखी दृष्टिकोण सामने आता है।

राजाओं द्वारा निर्मित मंदिरनुमा-प्रासाद भी इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। इस तरह की निमितियों में

ग्वालियर का मान मंदिर, आमेर किले का राजमहल व गरोश मंदिर, भाण्डौरा का मंदिर नुमा आरामगाह या सैरगाह, जोधपुर किले के महल, चित्तौड़ का कीर्तिस्तंभ, बीकानेर लालगढ़ किले के राजशाही महल, उदयपुर के राजमहल तथा जहाजमहल, ओरछा का नदी तट का राजमहल भी वास्तुकला के अतिरिक्त मूर्ति और चित्रकला की महती समिधा रखते हैं।

विवेच्य काल की आरम्भिक सदियों में मूर्तियों के निर्माण में हजारों शिल्पी कलाकार रत रहा करते थे और ये कलाकार पीढ़ी दर पीढ़ी मूर्तियों का ही उत्खनन किया करते थे किन्तु बाद में ये कलाकार मुगल आगमन के उपरांत प्रभावित हुए। मूर्तिकला के विकास पर इस्लामिक दण्ड प्रहार-प्रक्रिया और निर्गुण वाद ने कुठाराघात किया[1]। इस्लाम की मूल धार्मिक विचार भावना में मूर्ति कला और सौन्दर्य-परक अन्य उपकरणों को धार्मिक दृष्टि से त्याज्य समझा गया है। इसलिए इस्लामी बादशाही निगाहों में कलात्मक मौलिक सूझों के लिए कोई विशेष स्थान नहीं है। इन इस्लामी विजेताओं ने बौद्ध स्तूप, बिहार, हिन्दू व जैन मन्दिर आदि भारतीय कला प्रतीकों का ध्वंश, उन्हें धर्म का आधार मान कर किया। इस ध्वंश-प्रक्रिया की प्रतिक्रिया मूर्तिकारों पर पड़ी। एक ओर मूर्तिकार सहज ही उदासीन हो गया तथा प्रकारान्तर से इस्लामी-भंजन से धर्म के बचाव के लिए धर्म में निर्गुण भावना का प्रतिपादन किया किन्तु हिन्दू राजाओं ने विशेष कर राजस्थान के राजपूत राजाओं में प्राचीन शिल्प और संस्कृति की रक्षा की, उसे प्रश्रय-बढ़ावा अपना बलिदान देकर किया किन्तु अशान्ति और सघर्षों के कारण दक्षिण भारत की तरह मूर्तिकला में, प्रगति न हो सकी। कुछ शताब्दियों बाद मुगल शासक इस्लामी मकतबे के विपरीत सौन्दर्य-प्रिय रहे हैं जिसके प्रोत्साहन में शिल्पकारों की सोयी हुई पीढ़ियाँ तो न जाग सकीं, पर अन्य कला रूपों का विकास हुआ है। इसमें चित्रकला का विकास हुआ तथा साथ में उद्यान और वास्तु कला का भी विकास हुआ है। पंजोर का उद्यान, ताज का वास्तु शिल्प की दृष्टि से प्रेक्षक पर अपने समस्त उपकरणों से एकान्वित-प्रभाव संप्रेषित कर भव्यता के प्रति आकर्षित करने के अद्वितीय उद्धरण हैं।

इस तरह विचार करते हुए एक सहज सत्य यह निसृत होता है कि इस दीर्घकालीन सामाजिक और सांस्कृतिक संकटों में प्रायः तीन चौथाई जन समाज के मूल में भावना का ही प्राधान्य रहा है। विशेषकर राजपूत भावुक थे। भावुक होने के साथ ही घोर आस्तिक थे, अपने वचनों एवं प्रण के पक्के होते थे। इनकी भावुकता ने इन्हें धार्मिक परिवेष्ट से आवृत्त कर दिया। वैसे इनकी आस्तिकता अंध विश्वास की सीमा लाँघ चुकी थी। बारहवीं शताब्दी तक यह जाति स्व-संदर्भ में अनेक प्रकार के धार्मिक, साम्प्रदायिक विश्वासों के घेरे में आ चुकी थी। इसके तदनन्तर इतर हिन्दू विचारकों द्वारा प्रतिपादित वैष्णव आन्दोलन ने हिन्दू जनता में आशा और जागरूकता का संचार किया। जयदेव से लेकर मीरा तक की वाणी ने मन को स्थिर आधार दिया, धर्म की स्फूर्ति शाश्वत बनी रही। सूर तुलसी सामयिक तत्त्व चिंतक व विचारकों ने प्राणों को नव आवेग दिया। कबीर से नानक तक की संतों की वाणी ने लोक हृदयों में आश्चर्यजनक धर्म और संघर्ष की प्रतिष्ठा कर निर्गुण आध्यात्मिकता की भावना से ओतप्रोत किया। इस्लाम के सपर्क में भारतीय संस्कृति व धर्म की रक्षा और परिपोषण की भावना प्राणवान रही। राजपूतों में हम्मीर से लेकर कुंभा तक धर्म की रक्षा और परिपोषण की भावना प्रमुख ही रही। राजपूत राजाओं के काल में वास्तुकला में मंदिरों का निर्माण हुआ जिसमें कि मूर्तिकला को अलंकरण से हटकर-स्वतन्त्र-खण्डात्मक सत्ता स्वरूप स्थान मिला। नृत्य कला में कुमारियाँ और वारांगनाएँ प्रवीण होती थीं। नृत्य की मुद्राओं का मूर्तियों में प्राप्त प्रारूप इस विधा की श्रेष्ठता का द्योतक है। अर्थूना के मन्दिर के स्तम्भों की मानव प्रतिमाओं में नृत्यक मुद्राओं को देखकर तत्कालीन स्थिति का अनुमान किया

---

१. इस्लामिक-दण्ड-प्रहार-प्रक्रिया को मीरा मंदिर अहर की प्रस्तुत मूर्ति में देखा जा सकता है।

जा सकता है। यह नीलकण्ठ के दक्षिण में स्थित है (चित्र फलक ७ देखिए)। इसी तरह चित्रकला के सन्दर्भ में भी यह कहा जा सकता है कि जिस प्रदेश में चित्रविधा शिक्षा के अनिवार्य अंग के रूप में प्रचलित हो वहाँ चित्रकला की एक निश्चित परम्परा और शैली का होना सहज ही सम्भव है। अभी तत्कालीन शृंखलाओं को जोड़ने वाले संदर्भ चित्रों का अभाव है। चित्रकला का सम्बन्ध मूर्तिकला से बाह्याकार, रूपाकार की दृष्टि से होता है। चित्रों का निर्माण भी हुआ है किन्तु अत्याधिक समय के अप्रत्यासित बाह्य आक्रमणों ने इन्हें नष्ट कर दिया है। तत्कालीन मूर्तियों के ध्वंशशेष इस सत्य के साक्षी हैं। मुसलमान सूफी कवियों की शनै शनै उपलब्ध होने वाली कृतियाँ और अब्दुर रहमान से कुतबन के लगभग तक की रचना-शून्य सदियाँ भी इस बात की साक्षी देती हैं कि कार्य हुआ है किन्तु या तो वह भुला दिया गया है, नष्ट कर दिया गया है या फिर उपलब्ध नहीं हो रहा है। स्वयंभू जैसे महान कवि की कृति पिछले दो दशकों तक विस्मृति के गर्त में रही है। जैन वर्ग में पिछली परम्पराओं और भण्डारों का गुजरात में अनुसंधान व अनुशीलन हुआ है जिसके फलस्वरूप गुजरात का इतिहास प्रस्तुत हुआ है किन्तु यह क्रम राजस्थान में अभी प्रारम्भ ही हुआ है। इसलिए वर्तमान के पूर्व या आज भी यहाँ की उथल-पुथल आरम्भ और परिणामों के संदर्भ में अधिकांश लेखक प्राप्त लिखित प्रकाशित व कथित तथ्यों के ही आधार पर अटकलें ही लगाते हैं या एक दूसरे के कथन पर टिप्पणियों का संचयन करते हैं। इसमें अल्पतः प्राप्त सामग्री और अनुमान के आधार पर प्रस्तुत स्पष्टोक्ति सही भी हो सकती है और गलत भी हो सकती है। इस सन्दर्भ में राजस्थान प्राच्य प्रतिष्ठान, राजस्थानी शोध संस्थान, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, शोध व कार्य में रत है। इन संस्थाओं द्वारा प्रस्तुत सामग्री के ही आधार पर राजस्थान की सामाजिक सांस्कृतिक गतिविधि का यथातथ्य स्वरूप निखारा जा सकेगा।

अध्याय-४

चित्रकला और काव्य कला के समान आधार

समान आधारों की चर्चा लिपिबद्ध साहित्य और चित्रकला में करते हुए, ७ नवम्बर १९५४, अर्नेष्ट हेमिग्जवे, जिन्हें नोबुल पुरुस्कार दिया गया था, का संदर्भ उल्लेखनीय है। उस समय इनका कहना था कि मुझ से भी तीन अन्य योग्य व्यक्ति हैं, उन्हें यह पुरस्कार मिलना चाहिए था[1]। उन तीन व्यक्तियों में बरनार्ड वेरसन चित्रकार का नाम भी प्रस्तुत किया था। इस तथ्य से इसकी पुष्टि होती है कि चित्रकला का क्षेत्र किसी भी तरह काव्य या लिपि बद्ध साहित्य के क्षेत्र से कम नहीं है। यह बात दूसरी है कि अभी तक 'नोबेलप्राईज' से कोई चित्रकार पुरस्कृत नहीं किया गया है।

यह तथ्य केवल हेमिग्जवे ने ही क्यों अभिव्यक्त किया, अन्य किसी पुरस्क्रेता ने क्यों नहीं कहा? ऐसा प्रश्न भी हो सकता है। हेमिग्जवे के संदर्भ में यह बात कहना इसलिए भी उचित होती है, चूँकि चित्रकला के प्रति उनका विशेष सम्पर्क व संबंध एक प्रेक्षक, द्रष्टा, प्रशंसक, समीक्षक और प्रेमी के रूप में रहा है। अपनी यात्राओं में सदैव अमेरिका, स्पेन, फ्रांस, इटली, जर्मनी, इंग्लैंड और अन्यत्र स्थानों के कला-भवनों (आर्ट-गेलरीज) का अवलोकन समय समय पर करते रहे हैं। चित्रकला और चित्रों के सम्बन्ध में व्यक्त अभिमतों से इसकी पुष्टि होती है[2]।

इन सन्दर्भों के माध्यम से काव्य या लिपिबद्ध साहित्य और चित्रकला के मूल में एकरूपता से कार्य करने वाली आत्मा के दर्शन हेमिग्जवे में होते हैं। जिस मूल सौन्दर्यात्मक विशेष की विधा से साहित्य का सृजन व अनुशीलन करते थे, उसी का रूप चित्रकला के प्रति प्रस्तुत चिन्तन व समीक्षात्मक लेखों में दृष्टव्य है। काव्य या लिपिबद्ध साहित्य देशकाल और समय के दायरों से बढ़कर उच्च, उच्चतर, उच्चतमता को ग्रहण करता है, इसकी चर्चा हेमिग्जवे ने १९३४ में जान मिरो चित्रकार के विषय में टिप्पणी देते हुए, कला कृति का रूप, विचार और अभिव्यक्ति का कृतिकार के सर्जनाकाल की मनःस्थिति, लक्ष्य, उद्देश्य के साथ की थी[3]। यही श्रेष्ठता का प्रश्न, प्रकारान्तर से पिकासों की कला पर टिप्पणी देते हुए कला में व्यवसायिकता के माध्यम से कहा है। इन्होंने १९३२ में पिकासों को एक व्यापारी कहा है[4]। इसके साथ ही व्यवसायिक कृति वाले कलाकारों को भी सम्बोधित किया है कि "इस तरह के अन्य महान् कलाकार भी जीवन जी रहे हैं[5]।"

कलाकार की कृति के सन्दर्भ में हेमिग्जवे का विश्वास था कि महान् चित्रकार की कृति पर सामान्य जन साधारण का श्रेष्ठतम विश्वास उस कृति की महानता तक होना चाहिए। कृति कलाकार के लिए उसी तरह है जिस तरह माँ के लिए बेटा। ऐसा स्वीकारते हुए उन्होंने कला-भवन में विक्रय के हेतु लटकी हुई पिकासों की अति-मूल्य-धारी कृति को देखकर आए हुए विद्वानों को सम्बोधित करते हुए कहा—"मैं संसार में किसी भी चित्र का व्यापार नहीं

---

१. न्युयार्क टाइम्स, बुक रिव्यू, ७—११—१९५४।
२. माडर्न आर्ट एण्ड दी न्यु पोस्ट : द्वारा जेम्स थार्सले।
३. ऐसे वाई हेमिग्जवे "डी-आर्ट एवाउट जान मिरो" स (१९३४)।
४. 'पिकासो इज ए विजनेश मेन' माडर्न आर्ट एण्ड दी न्यु पोस्ट वाइ जान थार्सले, पृष्ठ—११४।
५. 'सो वेयर सम आफ दी ग्रेटेस्ट पेन्टर डेट एवर लिव' सेम वर्क सेम पेज।

करूँगा[1]।" इस सन्दर्भ से यह स्पष्ट होता है कि जिस तरह माँ अपने बेटे का विक्रय नहीं करती, उसी तरह एक महान् कलाकार को अपनी कृति का विक्रय नहीं करना चाहिए। और संभवता शायद इसीलिए जहाँ वरनार्ड वरसन चित्रकार का नाम नोबेलप्राइज के हेतु समीचीन संबोधित किया था, पिकासो का नाम प्रस्तुत नही किया।

हेमिग्जवे की चर्चा का मेरा आशय यही है कि चित्रकार साहित्य सृष्टा से अन्य अतिरिक्त व्यक्ति नहीं होता उसकी मूलभूत सौन्दर्यात्मक चेतना में साम्य होता है, जिसकी एकरूपता ललित कलाओं की अभिव्यक्ति में प्रतिलक्षित होती है। सौन्दर्य ललित कलाओं में समानाधिकरण का कार्य करता है। प्रत्येक कार्य करता है। प्रत्येक ललित कलांग की सीमाएँ हैं, जिनके सूक्ष्म अन्तर्भावों को विभिन्न विद्वानों ने अनेक दृष्टिकोणों से निरूपित किया है।

प्लेटो ने ललित कलाओं में मूल में समानाधिकरण का कार्य करने वाले सौन्दर्य के विषय में दर्शनशास्त्र से प्रभावित व्याख्या प्रस्तुत करते हुए अपने विचार व्यक्त किए हैं। इन्होंने सौन्दर्य के स्वरूप में तीन तथ्य बताए हैं, पहला सौंदर्य ही वस्तुओं की सुन्दरता का कारण है, दूसरा : समस्त सुन्दर वस्तुएँ एक ही सौन्दर्य को अलग-अलग ढंग से प्रतिबिम्बित करती हैं, तीसरा : किसी भी वस्तु में सौन्दर्य की पूर्णत: अभिव्यक्ति नहीं है। सौन्दर्य में नैतिक मूल्यों को स्वीकार कर शुभाशुभ का विचार करने हुए सौन्दर्य और उपयोगिता में तादात्म स्थापित किया है। सौन्दर्य से शिवत्व का आविर्भाव होता है जो कि आनन्द का प्रदायक है। केवल वह आनन्द ही इस सीमा में आता है जो केवल आँख और कान के माध्यम से प्राप्त है। वास्तु, मूर्ति, चित्र, रंग, इत्यादि देखने पर, तथा सगीत, काव्यादि सुनने पर, आनन्द की अनुभूति होती है।[2] कर्मेन्द्रिय, स्वादेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा प्राप्त आनन्द, वैयक्तिक आनन्द के सूचक हैं, जो नैतिक मूल्यों में अशुभ हैं। दृष्टि और श्रवण से प्राप्त आनन्द, प्लेटो नैतिक, शुभ और लभाप्रद मानते हैं।[3] प्लेटो की दृष्टिगत सौन्दर्यानुभूति में सुन्दर आदमी की गणना है। यदि यह कहा जाए कि षोड़शी का नग्न तन भी केवल दृष्टि के माध्यम से आनन्द का प्रदायक है, यह बात प्लेटो को तत्कालीन प्रस्तर मानव मूर्तियों के नग्न-देह सौन्दर्य की अवभूति के माध्यम से स्वीकार थी। यहाँ नैतिकता का प्रश्न मूर्तिकला की तीव्र प्रखर अवभूति में प्लेटो नहीं उठा सके हैं।

कलाओं के वर्गीकरण में प्लेटो ने उपयोयी कलाओं और ललित कलाओं को अलग-अलग स्थान नहीं दिया है।[4] इसका आशय इस तरह है कि कला किसी भी तरह की हो वह शुभ एवं उपयोगी या लाभप्रद होनी चाहिए। यही कारण है कि प्लेटो रूपात्मक सौन्दर्य के सद्गुणों की व्यंजना इस तरह करते हैं कि सुन्दर कला मस्तिष्क के सुन्दर गुणों की अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति के रूपों में चित्रकारी के समकक्ष, बुनाई, शिल्प कला, कसीदाकारी आदि की गणना की है। पर साथ ही व्यवहारिक कला और ललित कला के अन्तर को स्पष्ट किया है, जैसे चित्रकला और खेल। खेल शरीर की शिक्षा है, चित्रकला मन की शिक्षा और आदर्श राज्य के नागरिक के लिए दोनों को ही अनिवार्य बताया है। इसके मूल में प्लेटो का सुखवादी नीतिमूलक कला का सिद्धान्त है। चित्र या अन्य ललित कलाओं के अतिरिक्त काव्य कला को केवल शुभ प्रकृति, शुभ संवेग और गुणों की ही अनुकृति स्वीकारते हैं।

प्लेटो के दर्शन की सीमा के भीतर कला मात्र अनुकृति है।[5] अनुकर्ता कलाकार है जिसकी तीन श्रेणियाँ हैं। पहला कलाकार ईश्वर है जिसने अपनी अद्वितीय कल्पना के आधार पर जगत् का निर्माण किया है। दूसरा कलाकार काष्ठ-कर्मक है जिसने जगत में उपयोगी रूप-चारपाई का निर्माण किया है और तीसरा रूप चित्रकार का है। जिसने उस

---

१. 'आइ उड नाट ऐड फार एनी पिकचर इन दी वर्ल्ड" दी फार्म—१६३४।
२. ए हिस्ट्री आफ ऐस्थेटिक, के. ई. गिलवर्ठ : पृष्ठ-५२।
३. दी ग्र क्रिटिक्स : स्मिथ एण्ड पार्कस, थर्ड एडीसन, पृष्ठ-१७।
४. ए हिस्ट्री आफ ऐस्थेटिक, के. ई. गिलबर्ट पृष्ठ-१६।
५. " " " " पृष्ठ-२८।

काष्ठ-कर्म-निर्मित-चारपाई की अनुकृति प्रस्तुत की है। यह चित्रकार की निर्मित प्लेटो की दृष्टि से सत्य नहीं अपितु छाया की छाया, स्पष्टतः परम सत्य से तीन बार परे है। इस तरह कला भ्रामक है जो कि सहृदयों को बच्चों की तरह सत्भास देकर फुसला लेती है। चित्रकला के अनुरूप ही प्लेटो काव्य कला का संज्ञादि करता है। काव्य की वास्तु, शिल्प मूर्ति की अपेक्षा भर्त्सना ही प्लेटो द्वारा हुई है। इनके अनुसार काव्य सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना के साथ सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति है, इसलिए उसे अवश्य ही दोष रहित और शिव स्वरूप होना चाहिए अन्यथा फूलों का हार पहना कर कवि को आदर्श राज्य से विदा कर देना चाहिए। संगीत पर टिप्पणी करते हुए प्लेटो ने ऐसा विश्वास व्यक्त किया है कि संगीत का उद्देश्य आत्मा की विरोधी गतियों मे लय और सामंजस्य लाना है। निष्कर्षतः इसमें भी सकीर्ण संयम का दृष्टिकोण अपनाया है।

इन प्रारूपों से एक सत्य की ओर संकेत किया है कि नैतिक उद्देश्य और पवित्रता, सौन्दर्य की शुद्धता को अहितकर हो सकते हैं किन्तु अशुद्धता और अनैतिकता कलागत सौन्दर्य को कम करने में असफल रहे हैं, अन्यथा हेसियाड के ग्रन्थों का प्रचालन जिसमें देवताओं का व्यभिचार चित्रित है सर्व व्याप्त न होता, प्लेटो के उपरान्त नग्न मूर्तियों का निर्माण न होता, काव्य में ट्रेजेडी, मृत्यु और भय की परम्परा समाप्त हो गई होती। अतएव कला के प्रति प्लेटो द्वारा अपनाया गया दृष्टिकोण एक राजनैतिक सुधारक का दृष्टिकोण है।

अरस्तु द्वारा प्रतिपादित 'अनुकरण' भी ललित कलाओं में समानाधिकरण कर्ता है। इसके अनुसार महाकाव्य त्रासदी, कामदी और रौद्रस्त्रोत तथा वंशी वीणा संगीत के अधिकांश भेद अपने सामान्य रूप में अनुकरण के ही प्रकार हैं। इसमें अनुकरण का माध्यम अर्थात् विषय-विधि अथवा रीति प्रत्येक में पृथक है। काव्य और चित्रकला में प्रतीयमान, संभाव्य और आदर्श रूपों का सृजन समान रूप से "चित्रकार अथवा किसी भी अन्य कलाकार की तरह ही कवि अनुकर्ता है।[1]" के माध्यम से स्पष्टतः व्यक्त किया है। चित्रकार के उद्धरण से अनुकरण के तीनों रूप प्रत्यक्ष हैं क्योंकि अरस्तु ने अपने काव्य शास्त्र में तत्का लीन पोल्युग्नोतस[2], पाऊसौन[3], दिओन्युसिजस[4], और जेऊक्सिस[5], का उल्लेख किया है। इन चित्रकारों की निर्मितियाँ उक्त रूपों की परिधि में हैं। अनुकरण में अभ्यास का योग है जिस प्रकार कुछ लोग स्पष्ट शिल्प विधान अथवा अभ्यास द्वारा रंग-रूप या स्वरों के माध्यम से विभिन्न विषयों का अनुकरण अथवा अभिव्यंजन करते हैं, उसी प्रकार उपर्युक्त कलाओं में, समग्र रूप में अनुकरण की प्रक्रिया लय, भाषा अथवा सामंजस्य में से किसी एक या एकाधिक द्वारा सम्पन्न होती है। नृत्य में केवल लय का प्राधान्य है।[6] सौन्दर्य, अनुकरण की अर्थ परिधि में स्वीकार है। अरस्तु ने अपने काव्य शास्त्र में चित्रकार के माध्यम से व्यक्त किया है कि चित्रकार मूल का स्पष्ट प्रत्यांकन करने के अतिरिक्त एक ऐसा प्रतिरूप का अंकन करते है जो जीवन के अनुरूप होने के साथ ही उससे कहीं अधिक सुन्दर होते हैं। इससे स्नष्ट बोध होता है कि सौन्दर्य अनुकरण में अपेक्षित है।

अरस्तू के अनुसार संगीत, चित्र, नृत्य, काव्यादि समस्त ललित कलाओं का मूलाधार अनुकरण ही है इनके पृथक वैभिन्न के तीन आधार विषय, माध्यम और रीति है। अभ्यास इन कलाओं की अभिव्यक्ति का समान रूप से साधक है। सौन्दर्य स्वतः अपेक्षित है।

---

१. अरस्तु का काव्य शास्त्र नगेन्द्र, पृष्ठ-६६।
२. ४२२ ई. पू. कलासिद्ध मानव का अति भव्य रूप अंकित करने वाला यूनानी चित्रकार।
३. ३६०-३३० ई. पू. प्रतीयमान हीनतर रूपों में अंकित करने वाला यूनानी चित्रकार।
४. अरस्तु के समकालीन सिद्धहस्त यथार्थवादी व्यंग चित्रकार।
५. ४६८ ई. पू. सिसली का सर्वगुण सम्पन्न सुप्रसिद्ध चित्रकार।
६. अरस्तू का काव्य शास्त्र, डा. नगेन्द्र, पृष्ठ-७।

प्लाटिनस (२०५-२७० ई. पू.) ने दर्शन और धर्म का समर्थन करते हुए सौन्दर्य को आध्यात्मिक कहा है। मानव-मूर्ति, चित्र, या अन्य रूपाकृतियों में सौन्दर्य का प्रकाश देखता है। आत्मा उनसे सहानुभूति दर्शाती है किन्तु उनसे संतुष्ट न होकर अद्वय सौन्द्वर्य (ईश्वरीय सौन्दर्य से एकता स्थापित करना चाहती है। व्यवहार जगत की वस्तुएँ रंग, रूप, और कला उसी आध्यात्मिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है। कलात्मक सौन्दर्य के विषय में कहना है कि सृष्टि सृष्टा से, अभिव्यक्ति विचार से और प्रतिबिम्ब प्रत्यय से हेय है।[1] इस मान्यता पर स्पष्ट रूप से प्लेटो का प्रभाव है। दूसरा तथ्य यह कि कलाकार प्रकृति के नियम सिद्धान्तों के बल पर वह सृजन करता है। इस तरह कला प्रकृति नियमों की तरह अपने नियम रखती है। तीसरा यह कि कला का सृजन करते समय किसी वस्तु का प्रतिरूपण नहीं करता अपितु सर्वथा एक नई रचना करता है। वह सौन्दर्य को दोषमुक्त करने के लिए अपनी ओर से उसमें कुछ जोड़ता और कुछ घटाता भी है।

प्लाटिनस की विशेष उपलब्धि यह है कि इन्होंने सौन्दर्य का लक्षण जीवन माना है। सौन्दर्य को रूपात्मक विशिष्टाओं से ऊपर प्रज्ञा के समानान्तर माना है। इनका कहना है कि मूर्ति से चाहे वह कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, एक कुरूप मनुष्य से अधिक सुन्दर नहीं है, क्योंकि उसमें जीवन अधिक है। इस तरह रूपात्मक नियमों को महत्व न देकर जीवन को महत्व दिया है। इसी आधार के अनुरूप ललित कलाओं में जो कला जीवन के अधिक निकट है, वही श्रेष्ठ है।[2]

एक्विनास (१२२५-१२४७ ई. स.) ने सत्य और शिव का, रूप के आधार पर तादात्म्य स्थापित किया है। सौन्दर्य के मूल तत्वों में पूर्णतः, अनुपात और स्पष्टता को ही व्यक्त किया है। सौन्दर्य बोध के नेत्र और श्रवण दो ही साधन हैं। ये दोनों ही बुद्धि के प्रबल माध्यम हैं अतएव इनके अनुनार सौन्दर्य बुद्धि की प्रक्रिया है। बुद्धि धर्म और और नैतिकता का आग्रह स्वीकारती है। इस तरह सौन्दर्य इस युग तक सर्वत्र ही धर्म और नैतिकता से दबा हुआ प्रस्तुत हुआ है।

लाईबनीज़ (१६४६-१७१६ ई. स.) सौन्दर्य को व्यक्तिगत रुचि और इच्छा से भी स्वतन्त्र बतलाते हैं।[3] इनके अनुसार सुन्दर वस्तुओं का मनन स्वयं अपने आप में रुचिकर होता है। राफेल का एक चित्र उसी को प्रभावित करेगा जो उसे प्रबुद्ध दृष्टि से देखेगा। इस व्याख्या की विशेषता यही है कि इसमें बामगोटेन व कान्ट के विचारों का पूर्वाभास देखा जा सकता है।

डेविड-ह्यूम (१७११-१७७६ ई. इंग्लैण्ड) ने मानव प्रकृति पर निबन्ध लिखते हुए कला को समझने के लिए मानवीय प्रकृति से भिज्ञ होना आवश्यक बताया है। इनका कहना है कि कला की उत्पत्ति मानसिक कारणों से होती है। दृष्टि और श्रवण सौन्दर्यानुभूति के माध्यमों के अतिरिक्त, मनोवेग, मनोभाव और संवेग अधिक महत्व पूर्ण प्रतिपादित है। इन्द्रिय जन्य रुचिकर और अनोनुकूल संवेदना सौन्दर्य की अनुभूति है। विवेक, अनुपात और समानुरूपता के संदर्भ में इनको ऐसी मान्यता है कि जब एक अनुपात मुक्त चित्र या मूर्ति को सुन्दर कहते हैं तब इसमें बुद्धि का योग होता है, मूल प्रकृति और संवेग सहायक होता है।[4] यही प्रवृत्तियाँ सौन्दर्यमूलक रुचि का निर्माण करती है। रुचि सौन्दर्य भावना को जगाती है। विवेक सत्यासत्य का ज्ञान कराता है। ह्यूम के अनुसार सौन्दर्य विदग्धता की तरह ही अवर्णनीय है, किंतु आगे कहते हैं कि सौन्दर्य को रुचि या संवेदना के माध्यम से अनिवार्य रूप से अनुभव किया जा सकता है। इस तरह सौन्दर्यानुभूति मनोभावों पर आधृत है।

---

१. ए हिस्ट्री आफ ऐंस्थेटिक, के. ई. गिलबर्ट, पृष्ठ-११५।

२. ए हिस्ट्री आफ एस्थेटिक : के. ई. गिलबर्ट, पृष्ठ ९६ और ११५।

३. „ „ „ „ पृष्ठ २२९ और २२८।

४. „ „ „ „ पृष्ठ २३५ और २३६।

बामगार्टन (१७१४-१७६२ ई. इंग्लैण्ड) के अनुसार तार्किक ज्ञान का अभीष्ट या अंतिम छोर सत्य है और रागात्मक ज्ञान का लक्ष्य सौन्दर्य है।[1] इन्द्रिय जन्य संवेद्य ज्ञान पार ब्रह्म सौन्दर्य है, बुद्धि जन्य सवेद्य ज्ञान ब्रह्म सत्य है, नैतिक संकल्प द्वारा गम्य ब्रह्म शिव है।[2] बामगार्टन ने पूर्ण के अनुप्राणित व्यक्त रूप प्रकृति में, सौन्दर्य की उच्चतम प्रतिकृति, का भाव व्यक्त किया है। इस तरह कला का उच्चतम लक्ष्य प्रकृति की अनुकृति करना ही सिद्ध होता है, जो कि प्लेटो से साम्य रखता है। बामगार्टन की सौन्दर्य भावना सत्य शिव सुन्दर पर आधारित है।

विंकलमेन (१७१७-१७६८ ई० जर्मन) का सौन्दर्य सिद्धान्त कला को शिव से दुराता हैं। सौन्दर्य को वस्तु के बाह्याकार, रूप में कला के अभीष्ट के साथ घोषित करता है। इस तरह सौन्दर्य की अवमान्यता कला की दृश्यमान सौन्दर्यात्मकता तक ही सीमित सीमा प्रदान करता है। कला का विधान और लक्ष्य केवल सौन्दर्य तक सीमित हैं। इस से तीन तथ्य प्रस्तुत होते हैं—रूप, विचार और अभिव्यक्ति जो कि पूर्व अभिव्यक्ति विधा में भी उपलब्ध हैं। इस अवमान्यता के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि प्रस्तुत वर्त, गत का अनुशरण करे या उसे शास्त्रीय मानकर, अनुकरण पद्धति को अपनावे।[3] ऐसा होने से कला की युगों की जीवंत प्रभावों की अनुप्राणिकता दूर होकर वह बाह्य-रूढ़-रूपों तक ही रह जावेगी।

इमेनुअल काण्ट ने प्राकृतिक व्यवस्था का औचित्य और नैतिकता[4] की समस्या उठाकर अनिवार्यता और नैतिकता के दो जगतों को अलग-अलग प्रस्तुत किया। आगे चलकर 'निर्णय शक्ति की आलोचना' में सौन्दर्यमूलक चेतना को इन्द्रियानुभावों एवं नैतिक अनुभवों का मिलन बिन्दु बतलाया।[5] यह चेतना या इसके प्रति अभिरुचि काण्ट के अनुसार सर्व-सामान्य में नहीं होती है अपितु यह बोध उनके लिए है जिनके विचाराभ्यास' पहले से ही शिव के प्रति प्रशिक्षित हो चुके हैं। न्यायतः केवल इच्छाशक्ति की किसी क्रिया द्वारा होने वाली सृष्टि है जो तर्क बुद्धि को अपनी क्रिया के मूल में स्थान देती हैं, उसे कला की संज्ञा से अभिहित किया जाना चाहिए। इन्होंने प्रकृति की कृति और मानवीय कृति से दो भेद किए हैं। पूर्णतः कलाकृति प्राकृतिक कृति से सदैव पृथक होती है। दूसरा : इसे सैद्धान्तिक शक्ति से उदभूत होने वाली व्यवहारिक क्षमता, सिद्धान्त जन्य प्राविधि, ज्ञान से प्राप्त अर्हता, से भी पृथक किया जाता है। इससे आगे इसे हस्त कुशलता से भी अलगाया है। इस तरह सर्वत्र अलगाव कर ललित कला का स्वरूप व्यक्त किया है। ललित कला को जहाँ 'ललित विज्ञान' की संज्ञा से अभिहित करना चाहा है और कहा है कि कला के लिए उसकी पूर्णता की समग्रता में विज्ञान का एक विपुल भण्डार अपेक्षित है। यहां काण्ट की उक्ति इस तरह है कि ऐतिहासिक विज्ञान ललित कला के लिए अभीष्ट तैयारी और मूलाधार का काम करते हैं और केवल अंशतः छंद शास्त्र के रूप में प्रयुक्त हैं। कला उस संज्ञा (कागनीशन) के लिए जिसके लिए कि वह उपयुक्त है किसी संभाव्य वस्तु को मात्र वास्तवीकृत करने का प्रयत्न करती हुई उन सभी क्रियाओं को करती है जो तदर्थ अपेक्षित है, वहाँ यांत्रिक होती है। शुद्ध ललित कला के रूप में यदि आनन्दानुभूति (फीलिंग आफ प्लेज़र) ठीक वही हो जिसे वह व्यवहृत रूप से अभीष्टार्थ रही हो तो वह सौन्दर्य बोधी कला (एस्थेटिक आर्ट) संज्ञा से अभिहित की जाती है। जिस कला में केवल निरे संबोधन

---

१. ए हिस्ट्री आफ ऐस्थेटिक, के. ई. गिलबर्ट, पृष्ठ २६२।

२. शैसलर (१८७२ ई.) कृत 'सौन्दर्य निरुपण' पृष्ठ-३६१।

३. "दी हिस्ट्री आफ आर्ट एमस एट एक्सपोण्डिग इटस ओरीजन, ग्रोथ, चेन्ज एण्ड फाल टू-गेदर विथ दी डायमर्स स्टायटलआफ पीपुलस, एजेस एण्ड आर्टिस्स एण्ड एट डिमान्सरेटिंग दिश, एस फार एस पासीवल, फ्राम दी एक्सटेन्ट वर्क आफ ऐन्टीकुटी" हिस्ट्री आफ एसथेटिक, पेज-२४२, वाई बेरनार्ड बोसांके।

४. ए हिस्ट्री आफ ऐस्थेटिक, के. ई. गिलबर्ट : पृष्ठ ३४१।

५. " " " " ३३२।

मात्र होंगे वे कलाकृतियाँ भी ललित के अन्तर्गत यहीं आवेंगी। इन्हें एक तरह से अनुकूल वेदनीय कलाएँ कहा है। उनका लक्ष्य उपभोग, मनोरंजन मात्र होता है। हास्य विनोद, उल्लास-स्फूर्ति, संलाप इसी तरह की कलाएँ हैं। बड़े भोज, गोष्ठियाँ आदि में संगीत का आयोजन भी इसी श्रेणी में आता है।

ललित कला की व्याख्या काण्ट ने इस तरह की है कि इसके प्रतिरूपण 'आंतरिक रूप से सोद्देश्य ('इंट्रिंसीकली फायनल) हैं और जो उद्देश्य शून्य होते हुए सामाजिक हितों में मानसिक शक्तियों की संस्कृति के उत्कर्षण का सामर्थ्य रखती है। ललित कला जन्य आनन्द अपनी सार्व भौमिक संप्रेषणीय संकल्पना में चिन्तन का आनन्द है अर्थात् वह ललित रूप जो सुन्दर है, जिसका मानदण्ड चिन्तनात्मक निर्णय है और वह उसी सीमा तक कला है जिस सीमा तक वह कला होने का आभास-देती है। कला को केवल वहीं सुन्दर की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है जहाँ उसके प्रकृति का आभास देने पर भी सहृदय प्रेक्षक उसके कला होने के प्रति सचेत रहता है। इसमें प्रतिभा (जीनियस) प्रवणता (टेलेन्ट), के रूप में कलाकार की एक सहज सर्जनात्मक शक्ति है, स्वयं प्रकृति सम्बद्ध है, एक मानसिक रुझान है' जिसके द्वारा कला व्यक्त होती है।

काण्ट की इस परिभाषा से ऐसा ध्वनित होता है कि ललित कला अनिवार्यतः प्रतिमा जन्य कला है। प्रकृति सौन्दर्य और कला सौन्दर्य के मूल में क्रमशः रुचि और प्रतिभा का प्रतिपादन करते हुए अंततः रुचि को सामान्यतः निर्णय की भाँति प्रतिमा शोधक कहा है। रुचि निष्ठुर भाव से प्रतिमा के पंख कतर उसे परिष्कृत बना नियंत्रित कर निर्देशन प्रदान करती है। अतएव इस तरह काण्ट के अनुसार ललित कला के लिए अपेक्षित वस्तुएँ कल्पना, बुद्धि, प्रतिभा, अन्तरात्मा और रुचि है।

काण्ट ने शब्द, संकेत, स्वर (टोन) के आधार पर ललितकला के तीन भेद किए हैं, वाक्कला (दी आर्ट आफ स्पीच), रूपात्मक कला, संवेदन व्यापार कला (दी आर्ट आफ प्ले एण्ड सेन्सेशन)। काव्य, वाक कला है, कल्पना के एक स्वच्छन्द व्यापार के संचालन की कला है जैसे मानो वह बुद्धि का गंभीर व्यापार हो। दूसरा रूपात्मक कला में, एन्द्रिय सत्य और एन्द्रिक आभास दो भेद किए हैं। ऐन्द्रिय सत्य अनिघटन कला (प्लास्टिक आर्ट) है और दूसरी चित्रकला है। मूर्तिकला और शिल्प कला, रूपात्मक ललितकला, रूप अभिघटन कला के अन्तर्गत आता है। पहली : वह है जो वस्तुओं की संकल्पनाओं (कानसेप्ट आफ थिंगस) को पार्थिव रूप से प्रस्तुत करती हैं। यह रूप सौन्दर्य चरमता की ओर प्रवृत्त होता है। दूसरी चित्रकला में वस्तुओं की संकल्पनाएँ स्वच्छन्द उद्देश्य से सौन्दर्य परक चरम रूपों में व्यक्त होती है। मूर्ति और शिल्प में भेद को प्रस्तुत किया है। शिल्प कला में उस कलात्मक वस्तु का एक विशेष उपयोग है जिस तक उपाधि रूप में मूल सौन्दर्य-परक विचार सीमित होते हैं जब कि मूर्तिकला में सौन्दर्य परक बिचारों की केवल अभिव्यक्ति ही मुख्य लक्ष्य होता है।

चित्रकला के भी दो रूप प्रस्तुत किए हैं। पहले को समीचीन चित्रकला कहा है (प्राप पेटिंग)। इसमें एंद्रिक आभास को विचारों के कलामय संयोजन जिसमें शारीरिक विस्तार का आयाम होता है। दूसरी है : भू-दृश्य-उद्यान-सेवन : इसमें प्रकृति का सुन्दर चित्रण (पोरेवल आफ नेचर) है। अपने सत्य के अनुसार रूपों के भावन कल्पना के व्यापार से विभिन्न लक्ष्यों के लिए आत्म नियोजन का आभास होता है। शिल्प और मूर्ति को नेत्रेन्द्रिय के अतिरिक्त स्पर्शेन्द्रिय से भी सम्बद्ध कहा है। वास्तुकला की स्थिति शिल्प में अन्तर्भूत है। शिल्प में कलात्मक भवन, तोरण, आदि के अतिरिक्त फर्नीचर आदि को भी स्थान दिया है। उद्यान को मानव कृत प्रकृति चित्र माना है जो कि परवर्ती विद्वानों को स्वीकार नहीं हो सका है।

संवेदन व्यापार की कला में, स्वर से शब्द के व्यापक अर्थ में, श्रुति और दृष्टि के संवेदनों के कृत्रिम व्यापार में परिणामतः संगीत और वर्णमाला (आर्ट आफ कलर) को प्रस्तुत किया है। इसमें तर्क यह दिया है कि ये दोनों ही इन्द्रियाँ बाह्य वस्तुओं की संकल्पनाओं की ग्रहण क्षमता रखती हैं। वर्ण और स्वरों में यह विचार रखा है—क्या ये

मात्र अनुकूल वेदनीय संवेदन है या स्वयं अपने संवेदनों के एक रमणीय व्यापार में और सौन्दर्य परक विधा में रूप-गत आनन्द यथावत् प्रेषित करते हैं। दोनों के द्वारा प्रदत्त संवेदन निरे इन्द्रिय संस्कार न होकर अनेकानेक संवेदन-व्यापार गत रूप के आकलन की प्रभावान्वित है। इसमें संवेदनों के 'सुन्दर' व्यापार के रूप की व्याख्यानुसार केवल 'ललितकला' में अन्तर्भूत होगा जब कि दृष्टिगत संवेदना केवल अनुकूल वेदनीय कला के रूप में प्रतिरूपित होगी। इस तरह के ललित कला के विभाजन के साथ ही कृति में ललित कला को और भी अधिक कलात्मकता प्रदान करता है। उदाहरण के लिए नृत्य के साथ संगीत और काव्य, पृष्ठ भूमि में चित्र मूर्ति आदि, तोरण मंच आदि वास्तु गत, सयोजन में मिलकर, समस्त ललित कला के अनिवार्य तत्व रूप (फार्म) में निहित होते हैं जो निरीक्षण और आकलन के लिए सोद्देश्य होता है।

सौन्दर्य इन सभी ललित कला रूपों में समानाधिकरण का कार्य करता है। इसके तुलनात्मक आकलन में काव्य को समस्त कलाओं में प्रथम स्थान व्यापकत्व के आधार पर दिया है। चमत्कार और मानसिक उद्दीपन पर विचार कर 'स्वर' कला अर्थात् संगीत को द्वितीय स्थान दिया है। रूपात्मक कलाओं में चित्रकला को श्रेष्ठता प्रदान की है। मूर्ति और शिल्प क्रमशः चित्रकला से निम्न स्तर के प्रस्तुत किए हैं।

इस तरह सारांश में काण्ट के अनसार कला एक ऐसी सार्वजनिक वस्तु है जो न तर्क पर आश्रित है और न वस्तु मूलक ही है, वस्तुतः वह रूपात्मक है।

लान्सिग (१७२६-१७८१ ई.) ने काव्य और चित्रकला का मौलिक अन्तर्भेद प्रस्तुत किया है। लेसिंग ने बतलाया है कि इन दोनों कलाओं के माध्यम भिन्न हैं। चित्रकला की अनुकृति का माध्यम आकार और रंग आकाशीय गुण है। इसमें वस्तु चित्रित होती है, उसी के अनुरूप उसमें प्रतीक भी प्रयुक्त होते हैं। ये चित्रगत प्रतीक काव्य प्रतीकों से सर्वथा भिन्न होते हैं। इसमें व्यवहृत रंग और रूपाकृतियाँ भौतिक शरीरों के अनुरूप हैं। काव्य की विषय वस्तु ध्वनियाँ हैं, जिनका अस्तित्व काल में व्याप्त है। काव्यात्मक प्रतीक काल के माध्यम से क्रियाओं की गतियों के अनुरूप होते हैं जो शरीरों का भी प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। कभी-कभी चित्रकला के प्रतीक क्रियाओं का संकेत दे सकते हैं, इसमें काल क्रम भी स्थिर रहते हुए परिवर्तित हो जाता है। इस तरह काल में भी इसका अस्तित्व है और वे निरन्तर बने रहते हैं, निरन्तरता के अवधान में विभिन्न रूप उभरते हैं। वस्तुतः काल की गित्यता में पिछला क्षण अगले क्षण में वर्तमान रहता है और अपने जीवित वर्त के क्षण के जन्मार्थ प्रस्तुत रहता है। चित्रकला के प्रसंग में यह सत्य है कि इसमें सिर्फ एक ही क्षण को व्यक्त किया जा सकता है इसलिए वह क्षण जीवन का या वस्तु का सर्वोत्तम क्षण होता है अतएव कलाकार अपनी चित्रकला में एक विशिष्ट क्षण की क्रिया को चित्रित करता है जो कि पिछले और आगे आने वाले क्षणों का संकेत दे सकता है।[1]

काव्य की उचित वस्तुएँ क्रियाएँ हैं। जीव से अलग इन क्रियाओं की सत्ता नहीं है। जीव से तात्पर्य शरीर से है। अतएव काव्य में शरीरों का चित्रण है किन्तु यह क्रियाओं के माध्यम से होता है। काव्य गत क्रमिक अनुकृतियाँ एन्द्रिय बिम्बों के प्रस्तुतीकरण में शरीरिक गुण का उपयोग करती हैं। कला का लक्ष्य और प्रयोजन सौन्दर्य ही स्वीकारा है। उपादान मूलक सौन्दर्य के संदर्भ में रूपात्मक दृष्टिकोण है। लेसिंग के अनुसार मूल तत्वों में सामंजस्य, संतुलन, अनुपात और अलंकार है।

गेटे (१७४६-१८३२ ई.) के अनुसार कलाकार का सौन्दर्य से सीधा सम्पर्क है। कलाकार अनुभूति के माध्यम से सौन्दर्य के स्वरूप को जानने का प्रयत्न करता है। फाउस्ट के शब्दों में 'अनुभूति ही सर्वस्य' स्वीकार है।

---

१. ए हिस्ट्री आफ ऐस्थेटिक : के. ई. गिलबर्ट : पृष्ठ-३०६।

सौन्दर्य विवेक एवं तर्क की वस्तु नहीं अपितु अनुभूति एवं प्रेम की वस्तु है।[1] कलात्मक कल्पना प्रकृति का पुनः उत्पादन करती है जिसकी अनुभूति सौन्दर्य प्रदायक हैं। सौन्दर्य का उदय प्रेम से होता है और इसी में इसका अन्त भी होता है। प्रेम ही प्रेमिका की प्रतिभा को क्षण प्रतिक्षण नए नए रूपों में ढालता रहता है, उसमें सतत् आकर्षण बनाए रखता है। यह प्रेम स्थूल सत्य की ओर उन्मुख रखता है। यह प्रेम स्थूल सत्य से परम सत्य की ओर उन्मुख रखता है। प्लेटो का भी यही कहना है।

हम्बोल्ट (१७६७-१८३५ ई.) के अनुसार कला कल्पना के माध्यम से प्रकृति का निरूपण करती है। इस तरह कलाकार कल्पना शक्ति के माध्यम से प्रकृति का पुनः निर्माण करती है।[2] अर्थात् कला प्रकृति के सत्यों का उद्घाटन करती है। रचना प्रक्रिया में निश्चित वस्तु परकता, एन्द्रिय निरूपण, जीवन्तता, वास्तुगत वास्तविकता का समान रूप से काव्य और चित्रकला में होना स्वीकारा है।

कला सौन्दर्य के सन्दर्भ में जर्मन के सौन्दर्य सिद्धान्त का निरूपण करने वाले विद्वानों में हीगेल (१७७०-१८३१ ई०) का दृष्टिकोण बहुसंख्यक समुदाय द्वारा मान्य हुआ है और जो कि आज भी प्रखरता से स्वीकार्य है। हीगेल के अनुसार ईश्वर अपने को प्रकृति में व्यक्त करता है और सौन्दर्य के रूप में कला में पुनः निरूपित होता है। ईश्वर की स्वतः अभिव्यक्ति रूपों में है यथानुरूप : वस्तु और विषय में, प्रकृति और आत्मा में। भावना का कलाकृति में व्यक्त रूप सौन्दर्य है। यहाँ इनका पक्ष प्रतिपक्ष और समन्वय के सिद्धान्तानुसार विश्वात्मा पक्ष, अभिव्यक्त प्रकृति प्रतिपक्ष और सौन्दर्य है। सौन्दर्य का निकष स्पष्टता और जीवन है। इसलिए जो कलाकृति जितनी जीवन्त होगी उतनी ही सुन्दर और स्पष्ट होगी हीगेल प्रकृति में सौन्दर्य अनिवार्य रूप से मानते हैं, किन्तु वह स्पष्ट और जीवन्त नही होता है। प्रकृति से जड़, जड़ से अर्धचेतन, और अर्धचेतन से मानव को क्रमशः सुन्दर कहा है।[3]

कला को हीगेल ने तीन रूपों में व्यक्त किया है, प्रतीकात्मक कला, क्लासिकल कला और रोमांटिक कला इन तीनों रूपों में कला की पूर्णता की धारणा व्यक्त की है कि कला में पूर्णता तभी आवेगी जब रूप और विषय वस्तु का आपस में समन्वय हो जाय।[4] प्रतीकात्मक कला में रूप और विषय वस्तु का द्वन्द्व समाप्त नहीं होता है। इस दायरे में स्थापत्य कला आती है। इस कला में प्रधानता आत्मा की जगह वस्तु या पदार्थ को मिलती है। हीगेल इसकी व्याख्या इस तरह करते हैं कि स्थापत्य कला में प्रतिरूपित वस्तु की समानरूपता न होने के कारण अस्पष्ट विकृत उदात्त और विद्रूप होता है। हीगेल का आशय है कि पेरामिड़ों, मकबरों, मुर्दाघरों, व ताजमहल, कुतुबमीनार, विक्टरी-टावर आदि में, कोई संगति या गति नहीं होती है। गति न होने से वह जीवंत नहीं होता है। अतएव यह अन्य कलाओं में हीगेल के अनुसार हेय कला है।

क्लासिकल कला में हीगेल का रूप और वस्तु का द्वन्द्व समाप्त हो जाता है। इसमें शिल्प कला की गणना है। यद्यपि स्थापत्य-कला की तरह इसमें भी प्रस्तर साधन हैं[5], किन्तु हीगेल की ऐसी अवमान्यता है कि यह स्थापत्य की अपेक्षा अधिक जीवी होने से आत्म चेतन के अधिक निकट ठहरती है। ऐसा कहना है कि मानव शरीर का एक निश्चित आयाम जो कि आत्म चेतन के अधिक निकट ठहरती है अथवा आत्म चेतन के अनुरूप है, उसका प्रस्तुतीकरण ही शिल्प कला में व्यक्त होता है। इस दृष्टि से प्राचीन ग्रीक मूर्तिकला में, भारतीय पूर्व मध्यकालीन मूर्ति कला में, क्लासिकल कला अपने चरम उत्कर्ष पर दृष्टव्य है, क्योंकि वहाँ मनुष्याकृति में आत्मा की प्राण-प्रतिष्ठा की गई है।

---

१. ए हिस्ट्री आफ ऐंस्थेदिक : के. ई. गिलबर्ट : पृष्ठ-३५३।
२. " " " ३५५ और २५६।
३. ए हिस्ट्री आफ ऐंस्थेटिक—के. ई. गिलबर्ट—पृष्ट ४४०।
४. " " " " पृष्ठ—४३८।
५. ए हिस्ट्री आफ ऐंस्थेटिक : के. ई. गिलबर्ट : पृष्ठ—४३८।

इसमें यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि हीगेल का, रूप और वस्तु का द्वन्द्व, विलय हो गया है तभी हीगेल ने ग्रीक मूर्तियों को देख कर कहा है—"इससे सुन्दर कला न हो सकती है न होगी।" यहाँ हीगेल के इस मत को समझने के लिए यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ऐसी अभिव्यक्ति ही-हीगेल ने जियस, हेरा अपोलो, डायनोसियस आदि ग्रीक देवताओं की मूर्तियों को दृष्टि में रखकर व्यक्त की है। ये ग्रीक मानव मूर्तियाँ, शरीर का संकेत नहीं देती अपितु वृत्तियों को व्यक्त करती हैं जो आध्यात्मिक शक्तियों की प्रतीक है। दूसरी बात यह भी है कि हीगेल का दृष्टिकोण समझने के लिए यह कभी भी नहीं भुलाया जा सकता है कि हीगेल एक दार्शनिक है जो कि एक मात्र सत्य ब्रह्म की सत्ता को स्वीकारते हैं। यही कारण है कि हीगेल ने कला में विश्वात्मा के चेतन रूप को देखना ही अपना अभीष्ट समझा है। यह तभी कि हीगेल ने ग्रीक देवताओं को देख कर व्यक्त किया कि इससे सुन्दर कला न होगी, जो कि वृत्तियों से मृत व्यक्तियों को, मृत-आत्माओं को, गतिमय करती है। वास्तव में इसी आत्मा के चेतन रूप को हीगेल ने मूर्तियों में देखा है।

हीगेल ने अपने ही सिद्धान्तानुसार पक्ष-प्रतिपक्ष का समन्वय रोमान्टिक कला में कहा है। इसमें चित्रकला क्रमशः वास्तु, मूर्तिकला के बाद प्रथम रोमानी कला है जिसमें भावाभिव्यक्ति का माध्यम, रंग हो जाता है। इसमें सूक्ष्मता के कारण आत्मचेतन अथवा सत्य की अधिक अभिव्यक्ति होती है क्योंकि रंग प्रस्तरों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और कम ऐन्द्रिय होता है। हीगेल के सूक्ष्मतानुसार इसमें तीन आयाम हैं, अर्थात् इसमें विषय वस्तु की व्याप्ति अधिक है। छाया-प्रकाश होने से प्रथमतः प्रकाश, दूसरा इसमें आकाश है तथा तीसरा आयाम भारहीनता है। जो कि ये तीनों गुण विश्वात्मा के गुण है। अतएव यह वास्तु और मूर्ति की अपेक्षा अधिक जीवन्त और स्पष्ट है। सूक्ष्मता या ऐन्द्रियता के अनुरूप संगीत दूसरी रोमानी कला है। चित्रकला में जहाँ रंग का प्रयोग होता है, संगीत में वह भी नहीं होता है, न ही किसी तरह के आधार (आकाश) का ही चुनाव करना पड़ता है। कहने के लिए कुछ वस्तुएँ ऐन्द्रिय होती हैं किन्तु वे मानसिक होती हैं। केवल तारों का कम्पन और उनकी झंकार ही मूर्ति वस्तुओं का स्थान लेती है। श्रवेणेन्द्रिय चित्रकला में प्रयुक्त नेत्रेन्द्रित की अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म है क्योंकि संगीत सुनते समय किसी वस्तु का ध्यान नहीं करना पड़ता है। इसमें केवल स्वरों का अनुगमन ही अभीष्टर्थ तक ले जाता है जो कि एक तरह से आत्मा की गति है। श्रोता स्वरों में लय लीन हो जाता है और रागिनी का संवेग हो जाता है। यह संवेग भाव प्रवण होता है। इसलिए संगीत, चित्रकला की वस्तु परकता से अर्थ मुक्त अगली कड़ी है तथा काव्य की चिन्तन प्रणय संवेग की पिछली कड़ी है।

तीसरी रोमानी कला काव्य कला है। यह चित्र और संगीत की अपेक्षा ऐन्द्रियता से पूर्णतः अल्प हो जाती है। इसमें स्वर ही एकऐन्द्रिय वस्तु रह जाता है, किन्तु काव्य में प्रयुक्त शब्द के रूप में एक प्रतीक बन जाता है। काव्य का माध्यम, स्वर नहीं, शब्द होता है। हीगेल के अनुसार काव्यात्मक प्रतीक विचार और दर्शन के बीच की स्थिति का होता है। इसमें आत्मा बाह्य स्थूल वस्तुओं पर निर्भर नहीं होती है, वह अपने विचारों और अनुभूतियों के माध्यम से करने में समर्थ हो जाती है सर्व ऐन्द्रियता से मुक्त आत्मा को बोध होते ही हीगेल अभिव्यक्त आत्म चेतन को कला के क्षेत्र से हटाकर दर्शन के क्षेत्र में ले जाते हैं। इनका यह कहना है कि विश्वात्मा की पूर्णतः का बोध कला में न हो सकने के कारण दर्शन में व्यक्त हुआ है।

कलाओं के इस सस्लेषण में हीगेल का दृष्टिकोण एक दर्शन शास्त्री का रहा है जिसका कि मूल अभीष्ट सत्य वह जो विश्वात्मा है, का अन्वेषण रहा है। यही कारण है कि हीगेल कला के प्रति विश्वास प्रकट नहीं कर सके हैं। आगे चल कर तो कला की मृत्यु की भविष्य वाणी की है। इन्होंने सौन्दर्य की परिभाषा दर्शन के आधार पर रहस्य मय भ्रम मूलक की है। सौन्दर्य की अपने आप सत्ता भी स्वीकार नहीं की है। सौन्दर्य की स्थिति, ईश्वर और वस्तु के समन्वित कला रूपों में प्रस्तुत होने से, भावना का कलाकृति में व्यक्त रूप सौन्दर्य है। इस तरह सौन्दर्य की समाहिति

सत्य में अर्थात् सौन्दर्य और सत्य हीगेल के मत से एक ही वस्तु, अल्पतः चेतन के भेद से, है। निष्कर्षतः हीगेल के अनुसार चेतन का व्यक्त रूप ही सौन्दर्य है।

शोपेनहोवर (१७८८-१८६० ई० जर्मन शास्त्री) के अनुसार मानव कला की सर्वोत्तम उपलब्धि है। ये जर्मन के निराशावादी दार्शनिक हैं। इनका विश्वास है कि मुक्ति केवल ज्ञान से सम्भव है। ज्ञान न तो इच्छा का दास है, न स्वयं वह इच्छा है, वह शान्ति है। इनका ज्ञान से आशय प्रत्यय ज्ञान से है। यह ज्ञान कलाकार की अन्वेशण पद्धति से प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि कला का मूल कार्य इन्हीं प्रत्ययों का संप्रेषण करना बताया है।[1] कलाकार को अपनी प्रतिभा के कारण वस्तु के प्रत्यय भी ज्ञात हो जाते हैं। ज्ञान की इस अवस्था में कलाकार रागद्वेष से मुक्त निर्विकार देवत्व की स्थिति को प्राप्त करता है। ऐसा इसलिए माना है कि कलाकार वास्तविक वस्तुओं से अलग, उनसे प्राप्त प्रत्यक्ष ज्ञान संवेदना को, कला में व्यक्त कर देता है, जिसके माध्यम से जन-सामान्य-सहृदय सौन्दर्यानुभव करते हैं। सौन्दर्यानुभव के समय में सहृदय का तादात्म वस्तु के साथ पूर्वापर राग द्वेष से मुक्त होकर स्थापित हो जाता है, तब इच्छा का जगत मिट जाता है, सिर्फ प्रत्ययों का जगत शेष रह जाता है। प्रत्ययों की बहुलता के आधार पर ही वस्तु श्रेष्ठ सार्थक और अभिव्यंजक होने से सुन्दर हो जाती है। मानव समस्त वस्तुओं की अपेक्षा अधिक सुन्दर है अतएव उसका प्रकृति का उद्घाटन करना कला का प्रमुख लक्ष्य शोपेनहोवर के दृष्टिकोण से होना चाहिए। मानव का रूप और भावाभिव्यक्ति शिल्पकला और चित्रकला की वस्तु है तथा भाव की क्रियाएँ काव्य की मुख्य वस्तु है। कठोरता, गुरुता, तरलता, और प्रकाश ऐसे प्रत्यय है जो स्वयं को चट्टान, भवन, जल, आकाश, में व्यक्त करते हैं। जिन्हें कि कलाकार अपनी प्रतिभा शक्ति से अनुभव करके अपने को कला में व्यक्त करता है जिसका कि स्वरूप सभी सहृदयों के भाजन योग्य होता हैं।

इन्हीं प्रत्ययों के आधार पर शोपेनहोवर वास्तु, मूर्ति, और चित्रकला से क्रमशः अपेक्षाकृत काव्य कला को ऊच्च कला मानते हैं। ये कलाएँ प्रत्ययों के एक-एक क्षण को व्यक्त करती हैं, उसे सम्पूर्ण रूप में व्यक्त नहीं कर पाती हैं। संगीत कला, अन्य कलाओं की तरह प्रत्ययों का अनुकरण नहीं करती अपितु वह दार्शनिक शब्दावली में स्वयं इच्छा की अनुकृति है और प्रत्यय ईसा इच्छा की प्रतिच्छाया है। संगीत जीवन और जगत से प्राप्त सुख-दुख, भय-पीड़ा आदि के सामान्य और सार्वभौमिक रूप को अभिव्यक्ति देता है, जगत की आंतरिक प्रकृति का उद्घाटन है। इन्हीं कारणो से शोपेनहोवर संगीत कला को सभी ललितकलाओं से उच्च और श्रेष्ठ मानते हैं।[2]

सौन्दर्य के सन्दर्भ में नीत्से (१८४४-१९०० ई०) का कहना है यह सिर्फ आत्माभिव्यक्ति के माध्यम से प्राप्त है। आत्माभिव्यक्ति के क्षणों में कलाकार वास्तविकता का शासक बन बैठता है। मानवीय आवश्यकता के अनुरूप ही वास्तविकता सुन्दर हो सकती है। अर्थात् सीधा सत्य सुन्दर नहीं हो सकता। नीत्से ने इच्छा को सत्य माना है। इसी इच्छा शक्ति को ऐषणा के रूप में देखा है। कलाकारों की खुले मुंह भर्त्सना भी की है। जो कि अर्थ के वश में होकर परिस्थितियों के आगे अपने को टूट जाने देते हैं। नीत्से के अनुसार मानव सर्व शक्तिमान है और इनमें भी कलाकार उच्च और श्रेष्ठ होता है। एक तरह से वह सृष्टा होता है जो अपने आप में पूर्ण है। जो कला आत्मा को शक्ति रूप में जितनी भी अधिक व्यापक होगी वह कला उतनी ही अधिक श्रेष्ठ होगी। इस दृष्टि से ललित कला का ही पूरा मानदण्ड ही रहा है किन्तु महत्व की बात यह रही है कि नीत्से ने वस्तु के सौन्दर्य का सीधा सम्पर्क कलाकार के माध्यम से प्रेक्षक तक स्वीकारा है। कवि या कलाकार वस्तु के सौन्दर्य का उद्बोधक है।

इस संदर्भ में क्रोचे (१८६६-१९५२ ई०) का दृष्टिकोण समझने के लिए, उनका कला के प्रति अभिव्यक्त-मत जान लेना आवश्यक है। क्रोचे के लिए कला एक स्वप्न या सहजानुभूति है। कलाकार एक स्वप्न या बिम्ब को

१. ए हिस्ट्री आफ ऐथेटिक : के. ई. गिलबर्ट—पृष्ठ ४६८।
२. ए हिस्ट्र आफ ऐस्थेटिक : के० इ० गिलबर्ट पृष्ठ ४७०।

अभिव्यक्ति देता है। क्रोचे ने स्पष्ट किया है, कला क्या नहीं है और क्या है। प्रथमतः उनका कहना है कि कला भौतिक कथ्य नहीं है। इसका रंग, रूपाकृति, ध्वनि आदि से सम्बन्ध धूप-विद्युत की तरह नहीं है। मानव का सौन्दर्य-प्रेमी-मन, सौन्दर्य कारणों को प्रकृति में बुलबुलों की तरह पकड़ना चाहता है और सौन्दर्य के पक्ष-विपक्ष की कुछ धारणाएं कुछ विश्वास बनाता है। यही सौन्दर्य के नियामक हैं। विज्ञान के तथ्य सौन्दर्य शास्त्र पर लागु नहीं होते। कला उपयोगिता शून्य होकर आनन्द प्रदायक है। कला नैतिक आवरणों से प्रच्छन्न है और निश्चित रूप से तार्किक ज्ञान से भी भिन्न है।

क्रोचे के अनुसार कला का मूल तत्व तादात्म भाव उत्पन्न करता है जोकि सभी ललित कलाओं में कम-अधिक प्रभावोत्पादकता में विद्यमान रहता है। तादाम्य भाव के परे यदि कलाकार आलोचक बन जाता है तब उसकी कला क्षय हो जाती है। इसी तरह सहृदयों के सम्बन्ध में भी चरितार्थ है। सहजानुभूति बिम्ब निर्माण करती है, वस्तु की सम्पूर्णता को, अनुपात और सामंजस्य को अभिव्यक्ति देती है। समस्त अभिव्यक्ति को समानुरूपता और एकता प्रदान करने वाला तत्व अनुभूति है। सहजानुभूति केवल अनुभूतियों का निरूपण करती है जिससे कि कला प्रभावोत्पादक होती है। अनुभूनि की सघनता कला को प्रगीतात्मकता प्रदान करती है। कला में, रूप की पूर्णतः, एकता सामंजस्य, और कृति की सुसंतिता वांछनीय है। क्रोचे का रूप के प्रति स्पष्ट कहना है कि जो कलाकार रूप के प्रति सजग नहीं है वह स्वयं अपने प्रति सजग नहीं है क्योंकि रूप का यथागत बोध ही उसे कलाकार बनाता है और रूप की अभिव्यक्ति को उचित सीमा प्रदान करता है।

कलाओं के वर्गीकरण में क्रोचे के अनुसार कोई तात्विक भिन्नता नहीं है, केवल बाह्य भेद है।[1] मूल कलाकार के अन्तर की अभिव्यक्ति एक रस बनी रहती है। कलाकार तो केवल अपनी मानसिक अभिव्यक्ति को जिसे क्रोचे 'कला' कहता है, कभी चित्र में चित्रित करता है, कभी मूर्ति मे प्रस्फुटित करता है और कभी साहित्यि में सन्निबद्ध करता है। इस तरह उसकी मानसिक अभिव्यक्ति कला का बाह्य रूप धारण करती है।

सौन्दर्य के प्रश्न पर प्राकृतिक और कृत्रिम दो तरह के विभाजन है। क्रोचे ने कला की समस्याओं का विवेचन करते हुए कहा है, कला किसी साध्य का साधन नहीं है, वह अपनी सीमा में स्वयं पूर्ण है। इसके अनुसार 'विशेष' ही कला की वस्तु है। व्यक्ति विशेष की सत्ता वास्तविक और स्वतन्त्र है, इसी तरह उसकी तत्कालीन सहजानुभूति सदैव के लिए सुन्रद है। सौन्दर्य प्रभावों की पूर्ण अभिव्यक्ति है। इस तरह क्रोचे का मानना यह है कि अभिव्यंजना में ही कला और सौन्दर्य है जो सभी ललित कलाओं में दृष्टव्य है।

सौन्दर्य शास्त्र पर अपनी प्रसिद्ध बृहत्काय और विशद पुस्तक की प्रस्तावना में जर्मन सौन्दर्य वादी शैसलर (१८७२-ई०) ने कहा है—"मुश्किल से ही दार्शनिक विज्ञान के किसी क्षेत्र में अनुसंधान और व्याख्या के इतने विभिन्न प्रकार पायेंगे जितनी कि सौन्दर्य शास्त्र के क्षेत्र में। ये प्रकार कभी कभी आत्म विरोधी भी होते हैं। एक ओर तो हम एक तरफा छिछलेपन से पूरित, तथ्यहीन सुन्दर शब्दावली पाते हैं और दूसरी ओर अनुसंधान की अस्वीकार्य गहराई और विषय वस्तु के वैभव के साथ दार्शनिक शब्दावली का घृणोत्पादक भोंडापन—जहाँ सरलतम विचारों को, सूक्ष्म विज्ञान के परिधान में लपेटा जाता है, मानो इस पद्धति के पुण्य प्रासाद में प्रवेश पाने योग्य उन्हें बनाया गया हो, और अन्ततः अन्वेशण और निरुपण के इन दो प्रकारों के बीच एक तीसरा प्रकार है, नैतिक समाहार जो एक प्रकार से दूसरे तक का संक्रमण पथ है—कभी वैभवशाली शब्दावली का और कभी पाण्डित्य पूर्ण विद्वता का प्रदर्शन करता है। निरुपण की वह शैली जो इन तीनों दोषों से मुक्त हो, वस्तुतः ठोस और महत्वपूर्ण विषय को स्पष्ट और जनप्रिय

---

१. लिटरेरी क्रिटीसिज्म : एलन क्लार्क, पृष्ठ—६२८, ६२९।

दार्शनिक भाषा में व्यक्त करती हो—और कहीं भले ही पाई जाय, परन्तु सौन्दर्य शास्त्र के क्षेत्र में तो बहुत कम प्राप्त है ।[1]

सौन्दर्य की तर्क विभिषिका से त्राणित हो कर फ्रेन्च लेखक वेरोन ने सौन्दर्य शास्त्र सम्बन्धी अपनी पुस्तक की पृष्ठभूमि में कहा है, "सौन्दर्य विज्ञान से अधिक कोई भी विज्ञान तत्व चिन्तकों के स्वप्नों को नहीं सौंपा गया। प्लेटो से लेकर अब तक के प्राप्त सिद्धान्तों तक व्यक्तियों ने कला को तत्व पूर्ण कल्पनाओं और आध्यात्मिक रहस्यों का विचित्र मिश्रण बना दिया है जिनकी श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति उस आदर्श सौन्दर्य की धारणा में है जो वास्तविक वस्तुओं का स्वर्गिक और अपरिवर्तनीय प्रतिरूप है ।[2]

शैसलर और वेरोन के उद्धरण फ्रान्सीसी कलावाद के संघर्ष के पूर्वाभास है। कला के विषय में अनेकानेक कला की परिधि के बाहर मन्तव्य सामने आने लगे। एक खास वर्ग कला की मर्यादा का रक्षक बन गया। इसकी शनैः शनैः प्रतिक्रिया हुई जो कि उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध से प्रारम्भ होती है। इस फ्रान्सीसी कलावाद का संघर्षित प्रतिपादन, बुर्जुआ वर्गीय सेन्ट साइमन के अनुगामी, भाववादी कोंत प्रकृतिवादी ऐमिल ज्योला, यथार्थवादी तेन ने यह कह कर किया कि कला का यदि कोई अर्थ हो सकता है तो यही कि वह जीवन के लिए है। इस तरह यथार्थ नैतिकता, उपयोगिता और तथ्य, वस्तु तत्व की प्रमुखता के साथ, कला की परिसीमा निश्चित की। मूलतः फ्रान्सीसी कलावाद इसके विरोध से ही प्रारम्भ होता है। विरोध के संस्थापक गौतेयर ने स्पष्ट घोषणा की—नहीं ! बेवकूफों नहीं !! किसी किताब को सरेस के द्रव में नहीं बदला जा सकता, न तो उपन्यास से सीवन रहित जूतों की एक जोड़ी ही बन सकती है।"

पूर्व प्रतिपादित रूप में कला साधन थी किन्तु कलावाद के संघर्ष में, कला को, साध्य एवं नैतिक आदर्शों से परे, अपने आप में पूर्ण स्वीकारा। कला की वस्तु और उसका उच्चतम मूल्य सौन्दर्य ही घोषित किया। इनके अनुसार सत्य और शिवे नैतिक मूल्य होने से नीतिशास्त्र के तत्व है, कला के क्षेत्र में वे अर्थहीन है। फ्लाबेयर ने कहा भी—"...लेकिन तुम उन्हें (कलाकृतियों को) नैतिक दृष्टि से नहीं देख सकते।" विषय की अपेक्षा रूप को प्राधान्य देकर सौन्दर्य को एक मात्र लक्ष्य माना। इसमें कला को परखने के लिए कलात्मक निकष ही उपयुक्त है अन्य नहीं। यथारूप में कलाकृति सौन्दर्य को किस सीमा तक अभिव्यक्ति देने में सफल हुई है, कृति का रूप कितना स्पष्ट और इन्द्रिय ग्राह्य प्रस्तुत हो सका है, मन के सघन संवेदनों को जागृत करने कहां तक सफल हैं, आदि इसके कलावादी आंतरिक निकष हैं। कलावादियों के लिए सौन्दर्य ऐहिक सत्ता है। सौन्दर्य का गुण रुचिकर संवेदन उत्पन्न करना कहा है।

इंग्लैंड के वाल्टर पेटर के अनुसार रूप और वस्तु अलग तत्व नहीं हैं। इनके अनुसार रूप और वस्तु का तादात्म्य ही सौन्दर्य की उत्पत्ति का कारण है। स्विन बर्न के अनुसार सामंजस्य ही कला का सर्वोतम नियम है। फ्लाबेयर रूप की महानता वस्तु की महानता पर मानते हैं। पेटर ने गुण को कला की सफलता का निकष मान कर कहा कि "विषय वस्तु की महानता के कारण कला महान होती है।" इनका विचार था कि महान कला महान मानव आत्मा की अभिव्यक्ति है। रचना प्रक्रिया की दृष्टि से कलाकार का जीवन दुरुह और श्रम साध्य कहा है। दा विंची, माईकेल-ऐन्जलो इसके प्रतीक हैं। इन कलावादियों में गोतेयर और बादलेयर ने यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि ललित कलाओं का एक दूसरे के साथ प्रभावान्वित होना चाहिए। कला इनकी दृष्टि से विचार और अनुभूति का ऐन्द्रिय निरूपण है। कला में, कलाकार का यथार्थता का आत्म बोध, की महत्ता है। इस तरह जीवन एक कला है। पेटर का कहना था कि

---

१. शैसलर कृत सौन्दर्य निरुपण पृष्ठ—१३, खण्ड प्रथम—१८७२ ।

२. वेरोन कृत "सौन्दर्य शास्त्र" पृष्ठ ५, वर्ष १८७८ ।

कला जीवन को विस्तार और मस्तिष्क को बल देती है। किन्तु आस्कर वाईल्ड ने कला को जीवन से अलग मानते हुए कहा है कि "कला सीखने की पाठशाला जिन्दगी नहीं, अपितु कला ही है।" यह दृष्टिकोण आलोचकों की दृष्टि में संकीर्ण था। इस तरह के विपरीत दृष्टिकोणों के संबंध में केवल बुर्जुआ वर्ग और नव्यतम् कलावादी समुदायों द्वारा कला के विषय में ली जाने वाली गहरी रुचि और द्वन्द कारण था। मेरे विचार से तटस्थ होकर विचार किया जाये तो ये दोनों ही वर्ग घोर एकान्तिक थे।

साम्यवादी सिद्धान्तों के अनुसार सब कुछ मानव जीवन को सुखी बनाने के लिए है। अतएव सौन्दर्य एवं कला भी जीवन के लिए है, उनका अपने में कोई उद्देश्य नहीं और न ही सौन्दर्य की कोई अतीन्द्रिय सत्ता ही है। इस तरह सौन्दर्य जीवन है, व्यक्ति-मन से स्वतंत्र सौन्दर्य का बाह्य अस्तित्व है, अतएव इनके अनुसार सौन्दर्य वास्तुगत है। कलात्मक सौन्दर्य एक सचेतन कृति है जिसे कलाकार समाज सापेक्ष अनुभव खण्डों में ग्रहण कर प्रस्तुत करता है। इस तरह सौन्दर्य अनिवार्य रूप से सामाजिक तत्व है और कला श्रम का परिणाम है।

पाश्चात्य देशों में ललित कलाओं के अन्तर्गत ही काव्य-साहित्य की गणना की गई है। जिस तरह का सूक्ष्म वर्गीकरण और विद्वानों के अभिमत पाश्चात्य देशों के उपलब्ध होते हैं, उसी तरह का सूक्ष्म विवेचन, वर्गीकरण और उसके अंग-अंगों का संस्लेषण भारतीय साहित्य विधा में उपलब्ध कम होता है। यहाँ सौन्दर्य का सीधा सम्बन्ध आत्मा से है जिसका सूक्ष्म विश्लेषण दर्शन की वस्तु है न कि साहित्य की, अलौकिक है लौकिक नहीं, अतएव उसे मानव अभिव्यक्ति, अभिव्यंजना या भाव कृतियों में नहीं खोजा जा सकता। आत्मा का सौन्दर्य जगत ब्रह्म का सौन्दर्य है। जड़ चेतन में सौन्दर्य व्याप्त है। उसके सौन्दर्य का बोध भी ब्रह्म सौन्दर्य का बोध है। काव्य ज्ञान के विभाजित दो भागों में से, विद्या है, कला उपविद्या है। काव्य शिवेतरक्ष्येत है, शिव अर्थात आनन्द मूलक है। वह आनन्द जो ब्रह्मानंद सहोदर है और कला उपविद्या के अन्तर्गत जीवन को व्यवस्थित करने वाली उद्दीपक है, सहायक है, साधन है, साध्य नहीं। संस्कृत के विद्वानों ने इसे जीवन-उपयोगी चौसठ कलाओं के अन्तर्गत रखा है। महाराज भृर्तृहरि ने काव्य और कला का विभाजन करते हुए कहा—"साहित्य संगीत कला विहीनः, साक्षात् पशु तुच्छ विषाण हीनः।" अर्थात् वृत्तियों के आधार पर साहित्य के रहित मानव पशुधर्मा है और संगीत कला के रहित पुच्छ विषाण हीन पशुवत है, एक तरह से पुच्छ, पशु का आवश्यक अंग नहीं है और विषाण ही, अपितु एक का सहायक धर्म और दूसरे का रक्ष्येत धर्म है। जिस तरह साहित्य मानव कों आत्म-चेतना प्रदान करता है, संगीत उस आत्म चेतना का सहायक तत्व है जबकि कला विषाण वत केवल जीवन की, मानव की, उपकरण मात्र, एक साधन है। पुच्छ और विषाण पशु के उपकरण है। साहित्य का धर्म चेतन है और उसे अन्य कलाओं से श्रेष्ठ विद्या माना है।

दण्डी ने कला को "नृत्य गीतं प्रभृत्यः कला कामार्थ संश्रमाः" कहकर काव्य को अन्येतर ललितकलाओं की कोटि से ऊपर उठा लिया है। इसका यह स्पष्ट अर्थ है कि काव्य से अन्येतर ललित कलाएँ नृत्यगीत आदि काम के उद्दीपन में सहायक मात्र हैं। उनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं हैं। वे जीवन के लिए साधन हैं, वे अपने आप स्वतः न पूर्ण है और न ही वे साध्य हैं। काव्य से अन्येतर कलाएँ भारत में लौकिक आनन्द की वस्तुएँ समझी गई हैं जब कि काव्य या लिपिबद्ध साहित्य आत्माभिव्यक्ति होने के कारण अलौकिक आनन्द की वस्तु है। मम्मट जहाँ काव्य की आत्मा रस को 'ब्रह्मानंद सहो-दर' कहकर उसे अलौकिकता की ओर खींच ले गए हैं, वहाँ उनका आशय स्पष्ट अन्य कलाओं के पार्थक्य को स्वीकार कर केवल काव्य या लिपिबद्ध साहित्य से रहा है। अन्य कलाओं के सम्बन्ध में सम्भवता ऐसा प्रतीत होता है या माना गया है कि इसका आनन्द स्थूल तथा बाह्य होता है, केवल पुनः सम्भवतः इसीलिए अन्य कलाओं का उद्देश्य किसी वस्तु के रूप को संवारने वाला माना गया है। रूप से आशय केवल लौकिक है, सौन्दर्य : वस्तु का प्रकृत सौन्दर्य के संवारने से, उसे चरम सौन्दर्यता तक पहुंचाने तक, कदापि नहीं रहा है। केवल वहीं तक जहाँ तक वह मानवीय वृत्तियों की सहज भोग्य तुष्टि करता है। क्षेमराज ने "शिवसूत्र विमर्शिणी में कला को "कलयति स्वरूपं आवेशमति वस्तूनिवां"

कहकर स्पष्टत: कला को वस्तु के स्वरूप को सुशोभित या अलंकृत करने वाली कहकर, शोभाकारक धर्म को प्रस्तुत करने वाली कहा है जिसके न रहने पर भी कालिदास की शकुन्तला सदृश्य, जीवन केवल प्रकृत 'वल्कल वसन' में भी पूर्ण है।

वस्तुत: भारतीय काव्य, साहित्य परम्परा में काव्य कलाओं के अन्तर्गत या ललित कलाएँ काव्य के अन्तर्गत नहीं है, वरन् काव्य और कला के कलेवरों का पृथक्-पृथक् प्रतिपादन होने के उपरांत भी यदि उनकी आत्मा में प्रवेश किया जाए तो वे एक ही हैं। काव्य की आत्मा कलाओं को अनुप्राणित करती है और कलाएँ काव्य को अनुप्राणित करती हैं। यह ठीक है कि काव्य की परिगणना चौसठ कलाओं में नहीं हुई है किन्तु काव्य का अधिकांश पक्ष, कलाओं में आ जाता है। नाटकों में अभिनय करना, नाटकों का देखना, दिखाना, उसकी प्राविधि, अभिधान, कोष, छन्द का ज्ञान, प्रहेलिका आदि सब साहित्यिक विधाएँ कलाओं में परिगणित हैं। भरत मुनि के "न तत्ज्ञानं न तच्छिलयं न सा विधा न सा कला" से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कला को न केवल काव्य साहित्य से अलगाया है अपितु उसे ज्ञान शिल्प और विद्या से भी पृथक् प्रकट किया है। अभिनव गुप्त ने "कला गीत वाद्यादिका" कहकर कला को गाने बजाने तक संकुचित सीमित कर दिया है। भामह का कला के प्रति दृष्टिकोण उदार प्रतीत होता है। भामह ने काव्य को कला से भिन्न माना है। यह तथ्य भामह की 'वैचक्षणम् कलासु च' से ध्वनित होता है। भामह ने काव्य के चार भाग प्रस्तुत किए हैं। वे इस तरह हैं—देवचरित शांसि, उत्पाद्य, कलाश्रम, शास्त्राश्रम। इन चार में एक भाग कलाश्रम है। इससे सहज दो तथ्य निसृत होते हैं। पहला तो यह कि कला काव्य से भिन्न है और दूसरा यह कि कला और काव्य का निकट का सम्बन्ध है।

काम सूत्र में वर्णित चौसठ कलाओं में "गीतं बाद्य, नृत्यम्, आलेख्यम्...वास्तु विद्या...।" की परिगणना है। काम सूत्र व अन्य साहित्य में जो चौसठ कलाओं का सन्दर्भ है वह जीवनोपयोगी दृष्टिकोण को लेकर ही है। यहाँ भी कला जीवन में सहायक उपकरण के रूप में है।

जयशंकर प्रसाद ने कला के वर्गीकरण के प्रति ऐतिहासिक सन्दर्भ प्रस्तुत करते हुए कहा है—भारत में ललित कलाओं का वर्गीकरण भिन्न रूप से हुआ है। काव्य मीमांसा से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समय में पाटलीपुत्र और उज्जयनी में क्रमश: शास्त्रकार और काव्यकार की परीक्षाएँ हुआ करती थीं जो इस बात की प्रतीक हैं कि भारतीय ज्ञान दो भागों में विभक्त था। अर्थात् काव्यकार एतद् काव्य की गणना विद्या में और इतर कलाओं की अविद्या में थी। प्रसाद के अनुसार "कलाओं का कामसूत्र में जो विवरण मिलता है, उसमें संगीत और चित्र तथा अनेक प्रकार की ललित कलाओं के साथ साथ काव्य-समस्या-पूरक भी एक कला है, किन्तु वह समस्या पूर्ति (श्लोकस्य-समस्या-पूरणम् क्रीड़ार्थम् वादार्थम् च) कौतुक और वाद-विवाद के कौशल के लिए होती है[1]।" प्रसाद ने काव्य को ललित कलाओं में स्थान नहीं दिया है। ज्ञान के वर्गीकरण में पूर्व और पश्चिम का सांस्कृतिक रुचि भेद सौन्दर्यानुभूति—विषयक विचार धारा के आधार पर हीगेल के भूतपूर्व रूपों के द्वारा प्रतिपादित कलाओं का लघुत्व और महत्व का विरोध किया है। प्रसाद के अनुसार कला के इस तरह विभाग करने वालों का दृष्टिकोण यह है कि मानव-सौन्दर्य-बोध की सत्ता का निदर्शन तारतम्य के द्वारा स्थूल और बाह्य तथा भौतिक पदार्थों के आधार पर मूर्त है। प्रसाद के शब्दों में "सम्भवत अमूर्त संगीत आभ्यान्तर और मूर्त शरीर बाह्य के आधारों पर कला की नींव ग्रीस के विचारकों ने रखी, सो भी बिल्कुल भौतिक दृष्टि से आध्यात्म का उसमें संपर्क नहीं[2]।" पश्चिमी सौन्दर्यानुभूति बाह्य को विशेष मान उसी को पूर्ण बनाने की चेष्टा है।

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ—३१ जयशंकर प्रसाद, पंचम सं.

२: ,, पृष्ठ—३३ ,,

'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' की भूमिका में आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी का मत भी इसी आशय का द्रष्टव्य है—"हीगेल ने कलाओं के मूर्त्त आधार को लेकर उनकी सूक्ष्मता और स्थूलता के विभेद से वर्गीकरण किया है, जिसके अनुसार अत्यन्त सूक्ष्म, भावमय होने के कारण साहित्य को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। और सबसे नीचे स्थापत्य का स्थान है : क्योंकि उसका उपकरण अपेक्षाकृत स्थूल है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि यह विभाजन व्यवहारिक है और इन कलाओं की वास्तविक उच्चता और नीचता का परिचायक नहीं। काव्य भी निम्न कोटि का हो सकता है। सुन्दर मूर्ति उससे कहीं श्रेष्ठ कलावस्तु मानी जा सकती है[1]।

प्रसाद काव्य को कला से अलगाते हैं। उनका कथन है कि "काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिस का सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान धारा है[2]। संकल्पात्मक मूल अनुभूति से प्रसाद का आशय आत्मा की मनन शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है। प्रसाद की इस मान्यता के मूल में उसके ऊपर वैदिक, साहित्य का प्रभाव है। उन्होंने ज्ञान की परम्परागत मननधारा के तर्कों को उद्वत कर काव्य को विद्या 'तन्मे मन: शिवसंकल्पमस्तु' कहा है। काव्य वैदिक साहित्य के स्वरूप में उषा सूक्त और नारदीय सूक्त इत्यादि तथा उपनिषदों में अधिकांश स्थलों पर संकल्पात्मक प्रेरणाओं की अभिव्यक्ति है।

संगीत प्रसाद ने काव्य के अन्तर्गत ही माना है, क्योंकि संगीत के द्वारा मनोभाव की अभिव्यक्ति केवल ध्वन्यात्मक होती है और ध्वन्यात्मकता परा, पश्यन्ती, मध्यमा, बेखरी वाणी का गुण है। (इसमें आनन्दता तथा तल्लीनता की मात्रा अधिक है।) वाणी का विकास वर्णों में पूर्ण होता है जो कि काव्य का माध्यम है। काव्याभिव्यक्ति मनन की प्राणमयी क्रिया, आत्मानुभूति की प्रकट होने की चेष्टा है। इसलिए संगीत का उपयोग काव्य के वाहन के रूप में स्वीकारा है जो कि काव्य की दृष्टि से उपयोगी और आकर्षक है[3]।

प्रसाद की दृष्टि में वास्तु, मूर्ति और चित्र कलाएँ शास्त्रीय रूप में शिल्प हैं क्योंकि इन सबकी विशेषता भिन्न-भिन्न होने पर भी, ये सब उपविद्या के अन्तर्गत की वस्तुएँ हैं[4]।

भारतीय विचार धारा ज्ञानात्मक होने के कारण मूर्ति और अमूर्त का भेद हटाती हुई बाह्य और आभ्यान्तर का एकीकरण करने का प्रयत्न करती है। मूर्त नश्वर और अमूर्त अनिश्वर दोनों ही ब्रह्म के रूप हैं। बृहदारण्य के अनुसार—"स आदित्य कस्मिन प्रतिष्ठित इति चक्षु प्रीति कस्मिनु चक्षु: प्रतिष्ठितमिति रूपेष्वति चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठिमिति हृदय इति हो वाच हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठिानि" अर्थात् वह आदित्य आलोक पुन्ज आँखों में प्रतिष्ठित है। आँखों की प्रतिष्ठा रूप में है और रूप ग्रहण का सामर्थ्य, उसकी स्थिति हृदय में है। यह निर्वचन मूर्त और अमूर्त दोनों में रूपत्व का आरोप करता है क्योंकि चाक्षुष प्रत्यक्ष से इतर जो वायु और अन्तरिक्ष अमूर्त रूप हैं, उनका भी रूपानुभव हृदय ही करता है। इस दृष्टि से सौन्दर्य बोध बिना रूप के हो ही नहीं सकता है। अतएव यह मूर्त-अमूर्त के एकीकरण की दिशा है। इस तथ्य को अंशत: अभिव्यक्ति, अभिव्यंजना के छोर पर स्वीकारते हुए प्रसाद का कथन है कि "व्यंजना वस्तुएँ अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है। क्योंकि सुन्दर अनुभूति का विकास सौन्दर्य पूर्ण होगा ही। अभिव्यक्ति के अन्तरालवर्ती संबंध को जोड़ने के लिए हम चाहें तो

१. ,, पृष्ठ—२१ ,, ।
२. काव्य और कला तथा अन्य निबंध, प्रसाद, पृष्ठ—३७-३८।
३. ,, ,, पृष्ठ—४०, ।
४. ,, ,, पृष्ठ—४१।

कला का नाम ले सकते हैं[1] ।" इसी तथ्य की ध्वनि आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी की हीगेल के मत पर दी हुई टिप्पणी में है ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य की चर्चा करते हुए काव्य को कला से अलग ही रखा है । इस तरह की मान्यता के मूल में वात्सायन के काम सूत्र में चौसठ कलाओं में वास्तु मूर्ति, चित्र तथा संगीत की, की हुई परिगणना है । इन परिगणत चौसठ कलाओं में काव्य को स्थान नहीं है । शुक्ल जी के विचार से काव्य को कला व सौन्दर्य प्रकरण से नहीं जोड़ा जा सकता है । उनका कथन है "सौन्दर्य शास्त्र में जिस प्रकार चित्रकला, मूर्तिकला आदि शिल्पों पर विचार होने लगा उस प्रकार काव्य की भी, सबसे बेढंगी बात तो यही हुई ।" इनका ऐसा विचार रहा है कि काव्य को कला के अंतर्गत स्थान दे देने से ही हिन्दी समालोचना क्षेत्र में अभिव्यंजनावाद, सौन्दर्यवाद और रहस्यवाद आदि को स्थान मिला है । कवीन्द्र रवीन्द्र मानव की समस्त सौन्दर्य मूलक अभिव्यक्ति को कला मानते हैं । कला को व्यापक रूप में ग्रहण किया है । रवीन्द्र की दृष्टि से कला का मूल, सौन्दर्य की भावना है । सौन्दर्य का बोध विश्व की विभूतियों में आनन्द की प्रतीति देकर, कला को अधिक सुन्दर और सम्पन्न बनाता है । आत्मा के सौन्दर्य का बोध, विश्वात्म के परम-आनन्द का अनुभव, कला को कल्याण और प्रेम के मार्ग से असीम की ओर ले जाता है । अतः रवीन्द्र के विचार से कला को सुन्दर और सम्पन्न बनाने के लिए आत्म सौन्दर्य और विश्व सौन्दर्य की अनुभूति की व्यंजना अनिवार्य है । इसका आशय यह है कि मानव ने विश्व सौन्दय के रूप में व्यक्त चिरन्तन आनन्द की आत्मानुभूति को, जीवन के प्रति आस्था, शक्ति और प्राण सत्ता के विस्तार के लिए व्यक्त कर देने की वेदना अनुभव की, आवश्यकता अनुभव की । रवीन्द्र इसी आवश्यकता को कला की जननी मानते हैं । इन्होंने कला की अभिव्यक्ति के मूल में आत्म सौन्दर्य और विश्व सौन्दर्य को व्यक्त कर कला का सम्बन्ध आध्यात्म से स्थापित किया है । जहाँ रवीन्द्र कहते हैं "विश्व सौन्दर्य द्वारा प्राप्त आनन्द बोध की स्वानुभूति मनुष्य ने सचेष्ट होकर जिस क्षमता के साथ व्यंजित की, वही कला है[2] ।" इस तरह की व्यंजना काव्य, संगीत, चित्र, मूर्ति और वास्तु आदि सभी ललित कलाओं में प्राप्त है । इनकी दृष्टि में सौन्दर्य सभी कलाओं में समानाधिकरण का कार्य करता है । एक तथ्य और इसके साथ ध्यान रखने का है कि रवीन्द्र एक ही साथ सिद्ध कवि, सफल संगीत साधक, चित्र-कला-कुशल, मूर्ति प्रवण तथा वास्तु निपुण थे । रवीन्द्र द्वारा व्यक्त और व्यंजित सभी कला रूपों में उनका आत्म-अनुभूति-सौन्दर्य, परम-आत्म-व्यक्त-सौन्दर्य : ऐतद् विश्व सौन्दर्य के साथ एकीकृत होकर अभिव्यक्त हुआ है । यह उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि " कला में मनुष्य बाह्य वस्तुओं की नहीं अपितु स्वानुभूति करता है ।"[3] इन्होंने वास्तव में भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोणों का समन्वय करने का प्रयत्न किया है ।

डा. श्यामसुन्दर दास ने साहित्यालोचन में कला का विवेचन करते हुए व्यक्त किया है कि बाह्य सृष्टि मनुष्य पर सुख-दुख, रूप-विरूप, हित-अहित आदि की जो भावनाएँ उत्पन्न करती हैं, उनको अभिव्यंजित करना मनुष्य के लिए अनिवार्य सा है । अभिव्यंजना शक्ति के विकास के साथ अनेक विविध विधियों में अस्तित्व में आई है । डा. श्याम सुन्दर दास के अनुसार इन्हीं विविध-विधियों को ही कला की संज्ञा से अभिहित किया गया है[4] । इसका सहज आशय यह है कि अभिव्यंजना कला है, किन्तु सभी तरह की अभिव्यंजना कला नहीं है ।

कला को उपयोगी और ललित की सीमा रेखाओं में रखकर भी इनका कहना है कि ललित कलाओं में भी उपयोगिता होती है और उपयोगी कला में भी लालित्य होता है । इनकी दृष्टि से ये सापेक्ष्य शब्द है जो केवल कला के

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबंध, प्रसाद-पृष्ठ—४३ ।

२. 'पर्शनाल्टी' रवीन्द्र 'वाट इज आर्ट' ऐसे में व्यक्त ।

३. „—"इन आर्ट मेन रिमीलस हिम शेल्फ एण्ड नाट हिज आबजेक्ट ।"

४. साहित्यालोचन पृष्ठ १०-११, बारहवीं आवृत्त ।

बाह्य विशेषण उसके अंतरंग गुण नहीं अतएव यह स्वीकार किया कि इस प्रकार का वर्गीकरण केवल व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से किया जा सकता है। इसी सुविधानुसार 'पूर्ण-अपूर्ण', 'सफल-असफल' दो विभाग है, जिसका निकष अनुभूति पक्ष और रूप पक्ष है। अनुभूति का मूर्ति रूप, कला की अभिव्यक्ति है : अनुभूति की रूप-व्यंजना से कला वस्तु का संगठन होता है। इनके अनुसार इन दोनों को लेकर कला का वर्गीकरण किया जा सकता है।[1] यह स्पष्टतः अनुभूति और रूप की कमावेशी पर आधारित है। इस तरह का वर्गीकरण मान्य नहीं हो सका है।

कलात्मक सौन्दर्य के संदर्भ में इनका कहना है कि ललित कला का अनुभव इंद्रियों के माध्यम से मन को प्रतीत होता है और जो बाह्यार्थों से भिन्न है। जिनका प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियाँ अनुभव करती हैं। अतएव इनके अनुसार ललित कलाएँ मानसिक दृष्टि में सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण है।[2]

तटस्थ विचार से सौन्दर्य कला की देन है। कला ने मानव आत्मा में व्याप्त सौन्दर्य को परिस्फुरित कर परिमार्जित किया है। समय और अभ्यास के सतुलन में चित्रकला उस महान सौन्दर्य को अपने में सीमित रखती है जो कि न केवल अप्रत्यक्ष का साक्षात् कराती है अपितु वह जड़ को भी सजीव रूपों में प्रस्तुत करती है। मृत व्यक्तियों के जीवन्त प्रभावों को सदियों उपरान्त भी अपने सौन्दर्य के बल पर यथावत रूप में बनाए रखती है। चित्र या मूर्ति के माध्यम से प्रस्तुत विषय वस्तु गत अभिव्यंजना सदा-सदा मूल भावों का सप्रेषण करती है। 'रोमन इतिहास में प्लुटार्च[3] ने एक संदर्भ प्रस्तुत किया है कि सिकन्दर के एक कप्तान के अंग-अंग काँप उठे थे क्योंकि उसका अपने राजा के व्यक्ति-चित्र से अचानक साक्षात् हो गया था। सिकन्दर का शौर्य एवं तेज व्यक्ति चित्रगत जीवन्त प्रभाव और कलागत सौन्दर्य है जो कि व्यक्ति की अनुपस्थिति में उसका न केवल बोध ही देता है अपितु शाश्वत जीवन्त गत्यता को प्रेक्षक में अनुप्राणित करता है। सहृदय मानव आत्मा स्वभाव से ही उदात्त सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होती है और तज्जन्य प्रभाव में स्फुरित होती है।

प्लुटार्च ने एक और रोचक संदर्भ प्रस्तुत किया है कि 'लेकेडायमोनियन' के 'अंकेसिलोस' राजा ने कभी भी अपना चित्र या मूर्ति बनाने की किसी को भी आज्ञा नहीं दी।[4] वास्तव में उस राजा का रूपकार इतना सुन्दर न था कि जिसे वह चाहता कि आगे आने वाली पीढ़ियाँ उसका रूपाकृति-बोध ग्रहण करे। इस संदर्भ से इस तथ्य पर बल पड़ता हैं कि सौन्दर्य की स्फुरणा समानाधिक रूप से सहृदय-मानव-आत्मा में होती है। इसके साथ ही इस तथ्य पर भी ध्यान आकर्षित होता है कि चित्र या मूर्ति कला मृत व्यक्ति को उसके यथावत जीवन रूपों में सदैव जिलाए रखती है। यह वस्तु के अतिरिक्त सभी ललित कलाओं के संदर्भ में समान रूप से मानव-जीवन-व्यापारों के प्रस्तुतीकरण में सत्य है।

इससे यह मान लिया जाय कि कला का मूल अभीष्ट सौन्दर्य है तो समीचीन ही होगा, पर यदि कला के लिए कला अर्थात् सौन्दर्यवाद की स्थापना वाले मत पर विचार किया जाए तो यह आशय व्यक्त होता है कि सच्ची कला का सार प्रस्तुत कृति के रूप सौन्दर्य में निहित होता है। और स्पष्टतः से कहें तो यह होगा कि यदि कथा इस सिद्धान्त के अनुसार खरी और सत्य है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह जिसका भी चित्रण करे बहुत सुन्दर होना चाहिए। इसके अनुसार कलाकार के समक्ष चित्रण के हेतु जो भी वस्तु हो एक शिलाखण्ड से लेकर, दूर्वादल, जूही की कली से लेकर नग्न शरीर सभी सुन्दर होना चाहिए। इसमें सौन्दर्य की अनिवार्यता समीचीन है। इस तरह से यदि विचार करते हैं तो बहुत सारे चित्रण जो कुछ विशिष्ट रसों को मूल विषय के सहायक रसों के या उत्प्रेरक रसों के रूप

---

१. ,, पृष्ठ १२, बारहवीं आवृत्ति।

२. ,, ,, १६, ,, ,,।

३. लाइफ आफ अलेक्जेण्डर एल-२४, ४, प्लुटार्च।

४. ,, ,, ,, एज रेडयस ११, २,।

में योग प्रदान करते हैं, उन्हें छोड़ देना होगा। बीसवीं शताब्दी के अन्तिम पूर्वार्ध में पलने पनपने वाली आधुनिक कलाओं के नवीन सौन्दर्य बोध का क्या होगा, जो कि यथार्थ के नाम घिनोने रूपों में ही सौन्दर्य की 'टोह' लेते हैं। यह सिद्धान्त समस्त कला को अपनी सीमा में समेटने में असमर्थ है। सुन्दर और सुखद कला कृतियाँ नगण्य और अशिव भी हो सकती हैं।

एक तरह से यदि कला का सार-सौन्दर्य वस्तुतत्व की श्रेष्ठता में स्वीकार करते हैं तो कलाकार के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उसकी निर्मित शुभ नैतिक और शिक्षा प्रद प्लेटो की सुख-वादी नीतिमूलक अवमान्यता से अनुप्राणित हो। अर्थात् कलाकार को, अपने विशिष्ट कौशल के माध्यम से युगीन समाज को रुचने वाले सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय को लेकर उसे (कृति को) कलात्मक प्रतीत होने वाले आवरणों से आच्छादित कर एक खरी सच्ची कलाकृति की सृष्टि करना चाहिए। वस्तुतत्व की श्रेष्ठता पर यदि इस तरह से विचार करें तब तो फिर धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि के, सभी तरह के सत्य जो प्रतीयमान कलात्मक आवरणों से युक्त होंगे कलात्मक कृतियों की श्रेणी में आ जाते हैं। इस तरह की अवमान्यता में वही संकट है जो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को, काव्य को कला मान लेने में, अतिव्याप्ति का था। वस्तुतत्व की जहाँ श्रेष्ठता को स्वीकार करते हैं वहाँ अभिव्यक्ति गौण हो जाती है, उसका छिछलापन भी स्वीकार्य हो जाना चाहिए। राम के चरित पर कि 'राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है, कोई कवि बन जावे सहज संभाव्य है' यह केवल काव्य गत व्यक्ति को गौरव प्रदान करने के लिए व्यक्त की गई अति-शयोक्ति है। क्योंकि राम की श्रेष्ठता भारतीय जीवन धारा में संस्कृत साहित्य-काल से ही स्वीकार्य है। वह राम रीतिकाल में आकर "झाऊ भीतर करने लगे रति मतिधीर" के रूपों में एक तरह से लम्पट कामी हो जाते हैं। यह तो स्पष्टतः न काव्य है न कला। इसी तरह के उद्धरण अन्य कलाओं में भी दिए जा सकते हैं। चित्रकला में इसी रीतिकाल में राजाओं महाराजाओं के यहाँ आश्रित चित्रकारों ने कृष्ण को राधा के नग्न उरोजों पर हाथ रखे हुए चित्रित बहुतायत से किया है : यह तो निरी व्यक्ति वासना में सम्पृक्त अभिव्यक्ति ही है। इसी तरह मूर्ति कला में काम जन्य संभोगरत युग्नों के विविध रूपों का उत्खनन भी है। खजुराहो के पार्श्वनाथ मंदिर की शिव और पार्वती की प्रतिमा में शिव का हाथ पार्वती के वक्ष पर अंकित किया है। इस तरह की देव मूर्तियों के उरेहण की परम्परा है जो कि आगे चल कर राजपूत कलम के चित्रों में देखी जाती है। होली के समय के गीतों, धुनों तथा संगीत में भोग तत्व प्रचुरता से होता है। अतएव केवल वस्तुतत्व की श्रेष्ठता को लेकर चलना दोषपूर्ण है। वस्तुतत्त्व की श्रेष्ठ के अभिव्यवित के साथ उदात्तता का होना अनिवार्य है तभी कलागत सौन्दर्य और तज्जन्य आनंद की सृष्टि अभिप्रेय और श्रेय कही जावेगी।

वस्तुतत्त्व की प्रधानता के साथ इन तत्त्वों व प्रश्नों को इसलिए उठाया है कि सौन्दर्य की निसृति मानव अपने नित्य-जीवन-व्यापारों में देखना चाहता है, क्योंकि मानव सौन्दर्योपासक प्राणी है। मानव को सौन्दर्य उतना ही अभिप्रेय है जितना कि आनंद। सौन्दर्य और आनंद कला का लक्ष्य होता है। इन दोनों तत्त्वों की अनुभूति का आधार कृति और प्रेक्षक दोनों में ही रहता है। कलिदास ने कुमारसंभव में "सरसिज मनुविद्धं शैवलेनापि" कह कर सौन्दर्य को दोनों के मध्य व्यक्त किया है। अतएव अभीष्ट सौन्दर्य की निसृति के लिए प्रेक्षक का अभ्यस्त होना भी अपेक्षित है।

कला में सौन्दर्य के अतिरिक्त उसका लक्ष्य भौतिक उपादेयता को स्वीकार न कर सहृदय प्रेक्षक को आनंद देना ही मानते हैं। आनंद से आशय, वह आनंद जो आत्मा का उत्थान और उन्नयन करे। इससे दो तथ्य स्पष्ट होते हैं, पहला तो यह कि इसका कोई सृष्टि करता है और दूसरा यह कि किसी अन्य के आनंद, उत्थान और उन्नयन के लिए है। सृष्टि करता भी रसास्वादक के रूप में आता है। इन दोनों की प्रस्तुत रूपों से स्वच्छन्द अर्थ के निसृति की अधिक संभावनाएँ हैं क्योंकि सृष्टि करता, किस वस्तु का किस तरह का निर्माण करे जिससे कि उक्त अभीष्ट को प्राप्ति हो सके। इसके अतिरिक्त किसी भी व्यक्ति को किसी भी कृति से आनंद का अनुभव हो सकता है जबकि दूसरे को वह आनन्द का प्रेरक नहीं भी हो सकती है, तब फिर वह वस्तुकला तो नहीं हो सकती और न ही उससे कलागत ऐषणाओं

की ही अपेक्षिति हो सकेगी ।

कलाकृति वह मानसिक परिणति है जो स्पष्टतया अनुभूत भावों को, स्पष्टता की ऐसी सीमा तक ला देती है कि वे भाव अन्य व्यक्तियों तक पहुँच जाते हैं। कोई भी कलाकृति के स्वतः में पूर्ण होने का अनुभव तभी हो सकता है जबकि वह इतनी स्पष्ट कर दी जावे कि अन्यों तक अपने को प्रेषित कर सके और उनमें भी वही भाव उत्पन्न कर दे जो रचना करते समय कलाकार को अनुभूत हुए थे। भाव: भावना के इसी अनुरोध की अनुभूति इसकी संतुष्टि जिसे कि रचना निर्माण करते समय कलाकार ने अनुभव किया, यही वह सौन्दर्यानन्द है जिसे कि समस्त कलाओं का अभिप्रेय कहा जा सकता है।

यदि इस ढंग से कहा जाय कि ललित कलाओं में या कला में यथार्थ का स्फुरण स्पृहनीय है या कला के यथार्थवादी रूप का सश्लेषण सौन्दर्य में समानाधिकता के आधार पर किया जाय तो इस तरह व्यक्त किया जा सकता है कि यथार्थवाद कला के प्राण, मूल सत्य के यथा-तथ्य वास्तविक निरूपण में है। इसका सहज आशय यह हुआ कि कलाकार जिस भी रूप में जीवन और जगत को पाता है उसी रूप में उसे चित्रित करना चाहिए। इस तरह की अवमान्यता में कला कार्य एक केमरे का कार्य प्रतीत होता है। इसमें न तो वस्तुतत्व की श्रेष्ठता को ही स्वीकार किया गया है न ही वस्तु के रूप-सौन्दर्य को ही महत्व दिया गया है। इसकी सीमा परिसीमा में वे सभी वस्तुएँ समाहित होती है जिनका कि उपयोग कलाकार जीवन और जगत से सीधा ही ग्रहण कर चित्राँकन में कर सकता है। इस प्रक्रिया से निर्मित कृति कलाकृति हो सकती है। कला के निकष पर वस्तु का ज्यों का त्यों रूप प्रस्तुत कर देना कला नहीं हो सकती क्यों कि जीवन और जगत् का यदि यथा तथ्य वर्णन या चित्रांकन ही करना है तो बुराइयों का चित्रण ही अधिक करना होगा। इस तरह कला सत्य से परे हट जावेगी। कला में वस्तु का वांछनीय रूप ही अपेक्षित होता है। अतः यह सिद्धान्त अंतः-बाह्य दोनों ही दृष्टियों से समीचीन प्रतीत नहीं होता है। इसमें कलाकार अपने ऊपर पड़े हुए अच्छे बुरे सभी तरह के प्रभावों को व्यक्त कर सकता है जो कि घिनोने और अरुचिकर, हो सकते हैं।

वास्तव में इस तरह प्रतिपादित यथार्थता सही अर्थों में सभी कलाओं में गोचर नहीं होती है और न ही इस तरह के ययार्थ रूपों को काव्य चित्र के अतिरिक्त अन्य कलाओं में उतने वीभत्स परिमाण में खोजा ही जा सकता है। संगीत में भी इस तथ्य का स्थायी प्रभाव नहीं है। किन्हीं रूपों में काव्य कला ही सर्वाधिक प्रभावित है। यह अवश्य है हैं कि चित्रकला में यथार्थ के नाम पर नारी के नग्न चित्रों का बाहुल्य फ्रान्स आदि देशों में आज भी धड़ल्ले से प्रचलित है। यह बात नहीं कि भारत इससे प्रभावित नहीं है। माधव सातवलेकर द्वारा जुलाई ६३ में जहाँगीर आर्ट गेलरी, बम्बई में 'वन मेश शो' इस सत्य का सार्थक बोधप्रस्तुत करता है। कला-जीवन में यह ठीक है कि चित्रकार का प्रायः प्रमुख आधार नारी और नारी के चतुर्दिक ऐन्द्रिय व्यापार ही हैं और नारी के अंग-अंग का आकृत्यात्मक बोध कलाकार के लिए आवश्यक होता है जिसके हेतु वह नग्न-नारी-सौन्दर्य का वह अभ्यासी होता है किन्तु उसके सहज प्रेय और श्रेय रूप को ही सर्वाधिक प्रस्तुत किया जाता रहा है, पर यह स्थिति अब नहीं रही है। उक्त प्रदर्शनी में नारी गत नग्न स्थितियों का कलाकार द्वारा भुक्त क्षणों का प्रदर्शन ही मूल अभीष्ट था। ऐसा सहज ही अनुमान लगता है कि यदि कोई कहे कि नग्न मूर्तियों का रिवाज भारत व ग्रीक आदि देशों में यथार्थ रूपों के चित्रण का ही एक रूप है, तो यह बात मान्य तथा स्वीकार्य इसलिए नहीं होगी कि तत्कालीन काव्य कला साहित्य की प्रवृत्तियाँ जीवन के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण को अपनाए हुए नहीं थीं, उनमें देवत्व की गरिमा को प्रस्तुत करने की सतत् चेष्टा रही है। संदर्भ स्वरूप कण्डरिया महादेव मंदिर का एक अंश प्रस्तुत चित्र में देखा जा सकता है।

वास्तव में सौन्दर्य और उससे अभिप्रेत आनंद सभी ललित कलाओं में, समय-समय की कला को शाश्वत सीमा-परिसीमाओं के अंतर्गत निराला की जूही की कली के सदृश्य 'निद्रालस बंकिम विसाल नेत्र मूंदे रही' की स्थिर सौन्दर्यानंदानभूति के सदृश्य 'गिरा अरथ जल बीचि सम' (सभी ललित कलाओं में) शाश्वत है।

तुलसी की समकालीन परिस्थितियों के पूर्व बाबर ने राजपूतों की स्फूर्ति, उनकी आत्म सम्मान पर बलिदान होने की प्रवृत्ति, उनकी आलौकिक वीरता को, अच्छी तरह समझा। आगे चलकर हुमायूँ को भी शान्ति न मिली, उसे भी राजपूतों से लोहा लेना पड़ा, किन्तु अकबर के समय तक अधिकांश हिन्दू राजाओं ने मुगल आधिपत्य स्वीकार लिया था। आमेर-राज राजा बिहारीमल ने अकबर के राज दरबार में पधार कर भेंट उपस्थित की थी। अकबर ने सहर्ष उनका कन्या रत्न ग्रहण किया।[1] इसके पहले भी दो राजपूत कुमारियाँ रुक्मा और सलीमा से अकबर निकाह कर चुका था।[2] वैसे अकबर का हरम कितनी ही कुलीन हिन्दू नारियों से भरा था। जहाँगीर के हरम में राजा उदयसिंह, बीकानेर के राजा राय रामसिंह, राजाभान सिंह के पुत्र जगत सिंह, रामचन्द्र बुन्देला आदि की बेटियाँ पहुँच गई थीं। तुलसी का सामाजिक परिवेश चतुर्दिक मुगल संस्कृति से प्रभावित राजवर्ग के हिन्दू राजाओं का था। जिस युग के राजा के हरम में हिन्दू राजाओं की फूफियाँ, बहनें और बेटियाँ पहुँची हों, उस युग के अन्य सामान्य सामाजिकों की भी स्थिति इसी तरह भयावक हो सकती है।

तुलसी का जन्म इसी तरह की विषम राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों के बीच हुआ।

डा. माताप्रसाद गुप्त के अनुसार तुलसी का जन्म संवत् १५८९ का है।[3] जन्म स्थान संभवत: बांदा जिले में राजापुर या उसके अति निकट किसी स्थान में कान्य-कुब्ज ब्राह्मण कुल में हुआ था।[4] इनकी निधन तिथि श्रावण श्याम तीज संवत् १६८० मानी है।[5] तुलसी के ग्रन्थों में क्रमिक रूप से रामाज्ञा संवत् १६२१, रामचरितमानस संवत् १६२१, चैत्र शुक्ल नवमीं, पार्वती मंगल संवत १६४२, फाल्गुन शुक्ल पंचमी, दोहावली और कवितावली-- रुद्रबीसी के अनुसार संवत् १६५६ से १६७६ (इनमें संकलित कविताएँ हैं), बरवै अनुमानत: संवत् १६६५ से ६९ तक, विनय पत्रिका—अनुमानत: १६६६ के कुछ पूर्व, कृष्ण गीतावली, जानकी मंगल, नहछू और वैराग्य संदीपनी के तिथि क्रम अघोषित है।[6]

डा. भगीरथ मिश्र के अनुसार भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के अन्तर्गत रामचरित मानस की रचना एक बड़ी महत्वपूर्ण घटना है।[7] तुलसी ने अपने जीवन काल में पठानों और मुगलों के युद्ध और सत्ता परिवर्तनों के महत्वपूर्ण अंशों को, अपनी आँखों देखा था। क्या राजा क्या प्रजा सभी का जीवन स्थिरता और सुरक्षा से हीन था। उस समय कुछ भी स्थायी न था।[8] इन परिवर्तनों के मूल में अधिकांश अधिकार लिप्सा और शक्ति ही नियम मर्यादा और

---

१. डा. स्टेनली लेनपूश 'मेडिएवल इंडिया अण्डर मुहम्डन रूल' पृष्ठ २३८।
२. ,, ,, ,, ,, ,, ,, २५१।
३. 'तुलसी' डा. माताप्रसाद गुप्त, पृष्ठ-३० प्रथम संस्करण-१९५२।
४. ,, ,, ,, ३५-३६ ,, ,, ।
५. ,, ,, ,, ५३ ,, ,, ।
६. ,, ,, ,, ५७-६३ ,, ,, ।
७. 'तुलसी रसायन' डा. भगीरथ मिश्र पृष्ठ ३।
८. जहांगीर 'स इंडिया, मौरे लैण्ड' पृष्ठ-५६।

आदर्शों से रहित होकर प्रेरक रही है। सगे-सम्बन्धी, मामा-साले, भाई-भतीजे, पिता-पुत्र, परस्पर संघर्ष रत थे।

उपरला वर्ग राजा और शासकों का प्रायः अशिक्षित, अहमन्य, विलासी और क्रूर, अदूरदर्शी था। सिकंदर लोदी की मृत्यु के उपरान्त तथा अकबर के शासन काल के पूर्व, किसी भी तरह की सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति नहीं हो सकी। लगभग एक शताब्दी तक प्रजा युद्ध और राजपरिवर्तनों की वीभत्सताओं से प्रताड़ित रही। तुलसी ने इसका चित्र जिस तरह से प्रस्तुत किया है, वह निम्न उद्धरण में द्रष्टव्य है।[1] स्मिथ का कथन है कि पठान बादशाहों और जहाँगीर मुगलों के द्वारा सामाजिकों को कठोर दण्ड दिया जाता था। सिर उतार लेना, फाँसी चढ़ाना, खाल खिंचा कर मरवाना आदि तरह के दण्ड विरोधियों और विद्रोहियों के लिए प्रचलित थे। जबकि विरोधी और विद्रोही किसी भी अनमयस्कतावशात् सहज ही सिद्ध कर दिया जाता था।[2]

मुगलों और पठानों की क्रूर सौन्दर्य लिप्सा ने कलाकारों और मूर्तिकारों की अध्यात्मकपरक सौन्दर्यात्मिक दृष्टि पर आघात किया और यह मूलतः मुगलों और पठानों का नारी के प्रति शुद्ध वासनासक्ति आकर्षण एवं केवल विलासात्मक महत्व से आघात पहुँचा था। कलाकार या मूर्तिकार जब किसी नारी के प्रति आकृष्ट होता है तब उसके मूल में वासनादि विकार नहीं होते हैं या यह भी कह सकते हैं कि उसके मूल में वासना का प्राधान्य नहीं होता है अपितु वह स्वयं उसके रूपाकार से अभिव्यक्त गुण आकर्षण से अभिभूत होकर नारी के रागात्मक सानिध्य के लिए विकल रहता है, नारी उसकी सही रूप में अर्धांगिनी का बोध होता है। यही स्पृहणा तुलसी में थी तभी तो रत्नावली ने 'धिक्-धिक्' से संबोधन कर तुलसी के अपरिमित आवेग को राम के प्रति प्रवाहित कर दिया। तुलसी ने नारी की निन्दा की है वह वासना रत, भोगातुर, भोग्यानारियों की, जो अधमसंशायित थीं। सीता, तुलसी की आदर्श नारी पात्र हैं। सीता में, तुलसी की नारी भावना, तुलसी की आदर्श नारी के प्रति परिकल्पित स्वरूप की अवतारणा है जो कि सभवतः रत्नावली है जिसके वियोग में तुलसी अर्ध रात्रि में गंगा पार कर सर्प के सहारे चढ़ जाते हैं। इन्हीं तुलसी के राम 'खग-मृग' से 'सीता मृग-नैनी को पूछते हैं। नारी के प्रति अनुराग और एकात्मकता का चरम तुलसी में 'सिया राम मय' जब 'सब जग' को परिकल्पित करते हैं, तब उसकी सिक्तता नारी-निंदा से परे स्पृहणीय है। गीतावली, सांस्कृतिक एवं स्त्री सुलभ भावनाओं का वर्णन करने वाला काव्य अपेक्षित महिला समाज के लिए ही रचा गया है। अतएव वस्तुतः तुलसी सदृश्य कवि-कलाकर, जिसने समाज में नारी के उस चित्र को प्रस्तुत करना चाहा है जो कि ठीक उसके विपरीत अवस्थित होना चाहिए था। तत्कालीन समृद्ध समाज में बहुपत्नीव, विलासिता, दुराचार, विलास लिप्सा की महाधारा प्रवाहित थी तब तुलसी ने राम सदृश्य शक्तिशाली पुरुष को, एक पत्नीत्व-व्रतधारी चित्रित किया केवल नारी के प्रति पुरुष में अगाध श्रद्धा, अनुराग और एकात्मीयता को जागरूक करने के लिए। निष्कर्षतः यह तभी संभव है जब कि व्यक्ति ने गोया तुलसी ने तुलसी सी निरपेक्ष्यता पकजवत्, जिसकी समता के लिए दूसरा उद्धरण नहीं है, धारण की। ऐसा अन्य किसी कवि-कलाकार के लिए संभव नहीं हो सकता। निर्माणाधीन, सर्जनालीन कवि या मूर्तिकारों का वर्ग किसी एक महान आत्मा की परिछाया में शान्त कार्य रत रहता है। इस काल का राजा प्रजा के लिए नहीं था वरन् प्रजा राजा के लिए थी। हिन्दू समाज में कुछ राजाओं और बादशाहों के कृपा-पात्रों के अतिरिक्त अधिकांश जन साधारण महत्वाकांक्षा से हीन, निर्धन, जीवन से उदासीन सतत आतंक, दुर्दशा में जी रहा था। ऐसी स्थितियाँ अल्पतः ईश्वर भक्ति की प्रेरक रहीं हैं। परिणामतः सामूहिक प्रयत्नों में त्याग और संगठन की भावना विलीन होकर, उदर-पोषण के लिए कला-रत-समाज स्वतन्त्र रूप से पेशेवर व्यवसायी हो गया। पेट भरने के लिए कभी-कभी बेटा-बेटी को

---

१. अकबर दी ग्रेट मुगल, पृष्ठ ३९३, द्वितीय संस्करण।

२. गोंड, गवांर नृपाल कलि यवन महिपाल।
साम न दाम न भेद अब, केवल दण्ड कराल॥

को भी बेच देते थे।[1] 'वर्ण धर्म नहीं आश्रम चारी'[2] के अभाव में मातु-पिता बालकन बोलावहिं। उदर भरे सोइ धर्म सिखवहिं।[3] स्थिति में परम्परागत कला व्यवसाय भी नष्ट हो रहे थे।

तत्कालीन नारी समाज में भद्दे एवं फूहड़ किस्म के सोहरे यज्ञोपवीत व विवाह संस्कार के समय प्रचलित रहे होंगे अतएव सामाजिक और सांस्कृतिक आवश्यता की पूर्ति के लिए लोक-प्रचलित रसिकता के अनुकूल बीस छन्दों की रचना रामलला नछहू प्रस्तुत की। यह सरस और लोकगीत के ढांचे में ढली हुई अवधी रचना आज भी नारी समाज में सर्वाधिक गेय है।

तुलसी की इन कृतियों के साथ, चित्र और शिल्प की पृष्ठभूमि पर, विचार करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसी ने अपने जीवन को दो भागों में जिया है। पहला तो वह जिसमें तुलसी ने एक गृहस्थ संसारी की तरह अपना जीवन व्यतीत किया है। इस जीवन में तुलसी ने जीवनगत सामान्य व्यापारों के मध्य संघर्ष और भाव भरी मार्मिक वेदना की अनुभूनि ग्रहण की है, किसी एक हद तक पत्नी के सीख के पीछे, तुलसी की यह मौतिक खीज भी विरक्ति भवना में सहायक हुई है जिसने कि आगे चलकर तुलसी को तटस्थ फ़लक पर खड़ा कर, समस्त जातीय भावना का विचारक बना दिया।

तुलसी विचारक के साथ ही साथ कलाकार भी थे। वास्तव में चित्र, शिल्प का आधार नर और नारी का प्रकृत शरीर और उसकी सौष्ठवता ही प्रारम्भ से लेकर तुलसी पूर्व तक रही है। प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण उद्रेखण अल्पांशों में ही प्रस्तुत हुआ है। तुलसी युग तक आते-आते नारी, समाज का एक दुर्बल अंग बन चुकी थी। वह भोग का एक उपकरण मात्र थी। सन्तों ने मानव जाति के उत्कर्ष मार्ग में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य—छह शत्रुओं में नारी-संसर्ग जन्य काम का स्थान सर्व प्रथम कहा है। ब्रह्मचर्य के पालन में वाणी, मन, श्रवण, हास्य, स्पर्श, रत्यादि आठ प्रकारों से निग्रह का उपदेश दिया है। सन्तों ने मूलतः अपनी कृतियों में नारी को 'नारी निंदा को अंग', 'कामी नर को अंग', 'काम निंदा को अंगा' आदि स्वतन्त्र स्पष्ट रूप से बानियों, साखियों में नारी के प्रति निन्दनीय धारणा को अभिव्यक्त कर, निंदा के योग्य ठहराया है। गोरख नाथ ने नारी के साथ पुरुष की स्थिति को उस वृक्ष के यदृश्य कहा है जो नदी की धारा के पास किनारे पर है। धारा के प्रवल वेग के कटाव में वृक्ष समूल नष्ट हो जाता है।[4] पल्टू का कथन है कि नारी को देखना भी नहीं चाहिए क्योंकि उसकी नैन की चोट से केवल हरिजन ही पारब्रह्म की ओट में बच पाते हैं।[5] एक दूसरी जगह पल्टू ने संसार को खरबूजा और वाणी को छुरी कहा है और नारी की निगाह को शेर का पंजा बताया है।[6] इसी तरह भोग में डूबे हुए मनुष्य को नारी नख-शिख से खा जाती है।[7]

पल्टू सा अस्सी वर्ष की नारी से जो कृश, क्षीणकाय, असंभोग्या रहने पर भी उससे भयभीत प्रतीत होते हैं।

---

१. कवितावली, उत्तर काण्ड ९६।
२. रामचरितसानस, उत्तर काण्ड—९७।१।
३. „ „ ९८।८।
४. 'नदी तीरे विरषा, नारी संगे पुरुषा' गोरखबानी पृष्ठ २५४
५. नारी नहीं निहारिए करे नैन की चोट,
कोई इक हरिजन ऊबरे, पारब्रह्म की ओट। संतबानी सं० पृष्ठ १०३
६. खरबूजा संसार है, नारी छूरी बैन,
पलटू पंजा सेर का, यों नारी का नैन। पा. सा. की बानी-३, पृ० ११३
७. नारी कहौं कि नाहरी, नख सिख से यह खाय,
जल बूड़ा तो उबरै, भग बूड़ा बहि जाय। संत वाणी संग्रह, भाग कबीर पृष्ठ-५८।

उनका कथन है कि 'असिउबरस की नारि पलटू ना पतियाय'।[1] दादू जी के विचार से संयमशील व्यक्ति का यह परम कर्तव्य होना चाहिए कि वह न तो नारी को देखे, न मुख से उसकी किसी प्रकार से चर्चा करे और न ही उसकी चर्चा सुने। उसे तो नारी के प्रति से मुख, आँख, कान बन्द करके आत्म रक्षा करना चाहिए। उनका दोहा है—

नारी नैन न देखिए, मुख सों नाम न लेय।

कानो कामणि जिनि सुणे, यह मन जान न देय (दा. वा. पृष्ठ १२०।

इनके अनुसार दोनों की एक दूसरे के घोर शत्रु है—नारी वैरणि पुरुष की, पुरुषा बैरी नारी। कह कर, समाज को बदलना चाहते हैं। सुन्दर दास ने नारी को वीभत्स रूप में प्रस्तुत कर पुरुष वर्ग में घृणा पैदा करने की चेष्टा की है। उनका उद्धरण इसकी घोर पुष्टि करता है—भाषा इस तरह है—

कामिनी अंग मलिन महा अशुद्ध,
रोम रोम मलिन, मलिन सब द्वार हैं।
हाड़ मांस मज्जामेद चाम सूँ लपेटि राखै,
ठौस ठौर रक्त के भरे भंडार हैं।
मुत्रहू पुरीष आंत एक मेक मिलि रही,
और ही उदर मांहि विविध विकार है।
सुन्दर कहत नारी नखसिख निंद्य रूप,
ताहि जो सराहै सौ तो बड़ोई गवांरहै। सुन्दर विलास—३।

संतो द्वारा प्रस्तुत नारी की स्थिति का एक वह छोर है जो कि तुलसी के दृष्टिकोण के विपरीत विन्दु को छूता है। अव्यवस्था उसके प्रकाशन या घृणा से दुरुस्त नहीं होती अपितु उसके सामानान्तर एक नई स्वस्थ व्यवस्था चाहिए, जो कि तुलसी ने दी है, उसे समयानुकूल प्रस्तुत किया है।

कुछ संत ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने नारी को जननी, जगत जननी के रूप में देखा है। उसमें समस्त सामान्य रूपों का अनुभव किया है तथा भर्त्सना करने वालों को मूर्ख का सम्बोधन दिया है।[2] नारी को पुरुष की माता तथा पुरुष को नारी का पुत्र कह कर अज्ञानियों को ज्ञान के साथ, बुद्धि के साथ विचार करने की बात कहते हैं।[3]

तुलसी, संत कवि थे। नारी के संदर्भ के दो तरह के वर्ग भिन्न विचारों के साथ अस्तित्व में रहे हैं। एक वर्ग बुराई को निंदा के माध्यम से दूर करना चाहता था तथा दूसरा उसमें उसकी गुण परकता का प्रसार कर उसे ऊपर उठाना चाहता था। तुलसी में दोनों ही रूप हैं। नारी को जगत जननी का सम्बोधन देकर, नारी की निंदा करने से भी नहीं चूकते हैं। तुलसी उस नारी की सहज ही निंदा करते हैं जो कि तुलसी के नारी आदर्शों से हटकर है। पर कहीं-कहीं युग के बोध तुलसी के अन्तःचेतन से, अनजाने ही मुखरित होकर, कलम के माध्यम से प्रकट हो गए हैं। लंका युद्ध में लक्ष्मण को शक्ति लगती है। इस अवसर पर राम बंधु-शोक में विह्वल हो कहते हैं—

---

१. पल्टू सा की वानी—३, पृष्ठ ११३।

२. नारी जननी जगत की, पाल पोष दे पोष।
मूरख राम बिसार कर, ताहि लगावत दोष॥
संत वाणी दरिया पृष्ठ १६२।

३. नारी माता पुरुष की, पुरुष नारी का पूत।
दादू ज्ञान विचारि कर, छाँडि गए अवधूत। दादूदयाल वाणी पृ० १२५।

जेहऊं अवध कवन मुँह लाई। नारि हेतु प्रिय भाई गंवाई॥
बर अपजस सहतेऊं जग मांही। नारि-हानि विशेष छति नाहीं॥

इन दो पंक्तियों के सदर्भ में डा. नगेन्द्र का कथन है कि वास्तव में 'स्त्री का हरण पुरुष के पौरुष के लिए सबसे बड़ी चुनौती है, परन्तु यहाँ ऐसा प्रतीत होता है मानो नारी के प्रति पतन कालीन हिन्दू-समाज की हीन भावना राम पर भी हावी हो जाती है।'[1]

दादू[2] की भांति तुलसी भी कहते हैं—

दीप सिला सम जुवति तन, मन जनि होइ पतंग।
भजहु राम, तजि काम मद, करहु सदा सत्संग॥

मेरे एक विद्वान मित्र का कथन है कि ऐसे संत किस काम के जो आदमी को आदमी से घृणा करना सिखाते हैं।[3] यह ठीक उस तत्कालिक मनोवृत्ति का ही परिचायक है जो कि बामाचार को औचित्य में प्रस्तुत करती थी। यह ध्यान रहे कि लगभग सातवीं शताब्दी से लेकर तक नारी साधना का उपकरण रही। अपने में अतिवाद के रूप में प्रस्तुत होकर, इन संतों की नारी निंदा की परम्परा में प्रकारांतर से हुई प्रतिक्रिया है। तुलसी में व्यक्त घृणा काम और मद से है न कि नारी से, और इस तरह की तुलसी के संदर्भ में कई भ्रांतियाँ नारी विषयक दृष्टिकोण को लेकर है।

आज का युवा समाज भी यौन-बन्धन-मुक्त-जीनन का आकांक्षी है। तभी शायद इसी तरह की भावना से प्रताड़ित समाज के लिए सम्बोधन करते हुए आत्म-परक टिप्पणी-वत् निम्न उक्ति को तुलसी ने व्यक्त किया होगा।

माता पिता पुत्र उर गारी, पुरुष मनोहर निरखत नारी।
होइ बिकल मन सकहि न रोकी, जिमि रबि मनि द्रव रबिहि बिलोकी।

इसमें 'द्रव' शब्द में नारी की रसाद्रता की विलक्षण-व्यंजना वीभत्सता की सीमा तक प्रतीत होती है। एक तथ्य और इसमें नारी के संदर्भ में तत्कालीन समाज की भावनाओं को प्रस्तुत करता है कि तुलसी के युग में दोनों तरह के सामाजिक थे। प्रथम तो वे जो मानव कोटि में आते हैं और दूसरा वे सामाजिक जो अमानव कोटि के हैं। इन दोनों तरह के सामाजिकों ने नारी को एक ही, उपकरणीय दृष्टिकोण से देखा है। प्रथम कोटि का दृष्टिकोण रखते हुए तुलसी ने इस तरह टिप्पणी प्रस्तुत की है—

बिधिहु न नारी हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी॥

इसी तरह द्वितीय कोटि के अमानव वृत्ति के पुरुषों की कथित नारी के प्रति उक्ति, रावण के मुख से इस तरह प्रस्तुत हुई है—

नारि स्वभाव सत्य कवि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक असौच अदाया॥

'कवि' शब्द को लेकर यह कह सकते हैं कि यह तुलसी की भावना है किन्तु ऐसा मानने में पूर्णतः संकोच है, पर एक जगह तुलसी कालीन नारी का चित्र 'शबरी' नारी के ही मुख से स्वीकारात्मकता से प्रस्तुत किया है—

---

१ तुलसी एक विश्लेषण, आकाशवाणी पुस्तक माला-४, पृष्ठ-२१।

२. दादू जहां कनक अरु कामनी, तहाँ जीव पतंगे जाहिं।
आगि अनंत सूझे नहीं, जरि-जरि मुए मांहि॥
दादूदयाल वाणी, पृष्ठ १२०।

३. सुमत प्रकाश जैन।

अधम ते अधम अति नारी । तिन्ह महँ मैं मति मंद गँवारी ।।

अर्थात् जहाँ स्वयं नारी अपनी स्थिति की परिचयोक्ति दे रही है, वहां टीका-कर्ता, समीक्षक चुप हो जाता है ।

जनमत के रूप में अयोध्या वासियों ने नारी की भर्त्सना इस तरह की है—

सत्य कहहिं कवि नारि-सुभाऊ । सब विधि अगहु अगाव दुराऊ ।।

इस तरह की उक्ति तुलसी दास के समस्त सामाजिक परिवेश की नारी के प्रति धारणा की द्योतक है । इन सब तत्कालीन तथ्यों और सामायिक नारी की स्थिति तथा धारणाओं के सहारे यह सत्य पुष्ट होता है कि इस समय तक नारी के प्रति लोक-वृत्तियों के केवल भोगीय उपकरणात्मकता के कारण एक तरह से भीषण प्रतिक्रिया हुई जिसमें कि समस्त हिन्दू समाज नारी की कमनीयता से घृणा करने के लिए तैयार किया जाने लगा और किन्हीं अंशों तक आन्दोलन संतों की परम्परा से सफल भी है ।

मूर्तिकला में नवमीं शताब्दी के पहले की मूर्तियों में अलंकरण की प्रवृत्ति का अभाव गोचर होता है । १२ ज्यों-ज्यों समय आगे आता है, मूर्तियों में सज्जा और अलंकरण की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। प्रस्तुत संगीतज्ञा में अलंकरण की स्थिति देखी जा सकती है इसके समानान्तर मथुरा की यक्षिणी, (सद्य स्नाता) तथा सांची की यक्षिणी (शालिभंजिका), अटरू का शिवप्रतिमा (२७१०-६) वरुआ सागर (पृष्ठ ७३) में अनुमाना जा सकता है। अजंता, बाघ, मदनपुर के चित्रों में सज्जा और अलंकरण का जो रूप प्राप्त होता है, उससे भी कहीं आगे अधिक सज्जा के साथ मूर्तियों की संरचना है । नारी मूर्तियों में एक तरह से कमनीय रूप और भाव का प्रादुर्भाव प्रारम्भ हो जाता है । यह तत्कालीन और सम-सामयिक नारी जीवन की प्रतिछाया है । नारी की इसी कमनीय प्रतिछाया के प्रति संतों ने चेतावनी दी है ।

जब नारी को देखना तक विलास का अंश हो गया, तब उसके कमनीय रूप का प्रस्तरों और भित्तियों पर उद्रेखण और चित्रण, पूर्व-युगों की तरह वैसे सहज हो सकता है । अतएव मूर्तिकार जहाँ नारी को सौन्दर्यात्मक ढंग से प्रस्तरों को छेनी और हथौड़ी की निरन्तर चोटों और प्रहारों से रूप दे रहा था, उसमें नारी का मांसल रूप, आभा और अभिव्यंजना प्रस्तुत करने में व्यस्त था । उसमें एक तरह से सामाजिक लोक मान्यता का अभाव आने से एक और बाधा उसे अनुभव होने लगी थी । यह बाधा आगे चल कर अन्य बाधाओं के समानान्तर ही, एक तरह से परम्परागत मूर्ति निर्माण की आजीविका अपनाने वाली कौम को अपना पेशा परिवर्तित कराने लगी । सदा ही मूर्तिकार हो या चित्रकार हो, उसके मन के गुह्वरों में नारी का अंग-अंग समाया होता है । जिस तरह एक साहित्यकार के मन में जीवन के विविध चित्र, समय-बे-समय के, संगृहित होते रहते हैं, वे अक्सर या बहुधा उसके मन पर उभरा करते उस तरह चित्रकार या मूर्तिकार के मन में नारी जीवन के समस्त क्रियाओं के विविध बिम्ब क्रमशः पहलुओं के साथ रहते हैं जो कि उसके मन में मूर्ति-निर्माण की वेला में अनेक रूपों के साथ कलाकार के सर्जनारत मन के समक्ष उभरा करते हैं । नारी का अंग-अंग हाड़, मांस, मज्जा, पहिनावे के साथ क्रमशः प्रस्तर या कागज पर कलाकार की तन्मयता के साथ प्रस्तुत होते हैं । नारी जीवन के अनन्त रूपों के सान्निध्य में कलाकार अपने विषय को रूप देता है ।

यह युग जब कि नारी का स्मरण मात्र अधर्म था, असामाजिक कार्य था, तब मूर्ति और चित्रों का निर्माण वृहत रूप में न होकर अल्प प्रायः ही हुआ होगा । अल्प प्रायः इसलिए कि, किसी भी कला का जो कि एक बार अपने चरम अस्तित्व में आ चुकी होती है, उसका कभी भी सर्वथा विनाश नहीं होता है । तुलसी के पहले मूर्तिकला अपने चरम विकास के प्रति तीव्रतर गति से बढ़ रही थी किन्तु इस्लामी आक्रान्ताओं के कठिन कुठाराघातों से एवं उनकी अन्य हेय-वृत्तियों के कारण, इस कला का सर्वाधिक ही अहित हुआ है फिर भी जो कुछ निर्माण होकर मूर्ति रूपों में प्रस्तुत हो चुका था वह तुलसी की प्रज्ञा व ज्ञान के परे नहीं था । अपितु एक तरह से इसकी प्रतिक्रिया ही तुलसी में

नारी के कमनीय रूप के प्रति हुई है। नारी की कमनीयता का मार्जन करते हुए भी तुलसीदास ने नारी का जो शब्द चित्र प्रस्तुत किया है वह भी राम के लिए कुछ कम कमनीय नहीं है—

कंकन किंकणि नूपर धुनि सुनि, कहत लषन सन रामु हृदय गुनि।
मानहु मदन दुंदभी दीन्ही, मनसा विश्व विजय कहं कीन्ही॥ अर्थात् नारी के कमनीय रूप की प्रशंसा केवल सीमित पात्रता तक ही तुलसी स्वीकार करते हैं। तुलसी के परवर्ती अनेक कलाकारों, चित्रकारों का हृदय सीय की शोभा भरते-उभारते न भरा होगा—मूर्तिकारों के अनवरत प्रहार प्रस्तरों पर हुऐ होगें, किन्तु कवि की विश्व विजयी दुंदभी की भावना को कभी मूर्ति रूप न दे सके होगें जो कि साध्य श्रम के उपरान्त उनके हृदयों में कशीश बन कर उतरी होगी।

तुलसी दास के जीवन और साहित्य पर अनेकों शोध प्रबन्धों का प्रणयन अब तक हो चुका है। जब तुलसी गोस्वामी के अस्तित्व में आए, उन्होंने समाज को अनेक रूपों में बहुत दिया और देते चले आ रहे हैं। यह तुलसी ही हैं जिन्होंने हिन्दुओं की हिन्दुत्व की भावना को, रामचरितमानस का प्रणयन कर बल दिया। कथा वाचन और राम-लीलाओं के माध्यम से समाज को धर्ममय रखा। मानसिक बल तो मिला ही, जीवन शक्ति भी प्राप्त होती रही। पण्डितों का अच्छा वर्ग रामचरित का वाचन कर जीवन अर्जित करता चला आया। राम लीलाओं के द्वारा भी बहुतों का कल्याण होता आ रहा है। आज आधुनिक युग में इनके रूप बदले हुए हैं। राम कथा वाचक पण्डित भी हैं, काव्य का संश्लेषण विश्लेषण करने वाले विद्वान और आलोचक भी हैं, गान करने वाली मण्डलियाँ भी हैं। इसके साथ ही राम कथा को चित्रित करने वाला चित्रकारों का वर्ग भी है जो कि अपना परम्परागत कार्य को करता आ रहा है जिन का प्रबन्ध इस विवेच्य ग्रन्थ से है। तुलसीदास जी तत्कालीन या पूर्वकालीन प्राप्त चित्रकला और चित्ररूप से कहाँ तक प्रभावित थे, यह विचारणीय है। वस्तुतः जिस समाज से कलाकार वर्ग प्रभावित था, उससे तुलसीदास जी भी अछूते नहीं थे। यह पिछले पृष्ठों में स्पष्ट हो चुका है।

इतिहास के सहारे यह ज्ञात होता है कि तुलसी दास का सम्बन्ध दो व्यक्तियों से था जो निश्चत रूप से चित्रकला से सम्बन्ध रखते हैं। उनमें से एक थे नवाब अब्दुर रहीम खानखाना। खानखाना संवत् १६४६ से १६४८ के बीच बनारस के हाकिम थे। दूसरे, जयपुर नरेश राजा मानसिंह जी थे[1]। इसके अतिरिक्त अन्य अमीर उमराव भी हो सकते हैं। पर प्रथम दोनों अपने समय की जो महान विभूतियाँ थीं उनके सम्बन्ध, तुलसी दास से रहे हैं। मानसिंह जी स्वयं तुलसी दास के यहाँ आते-जाते थे[2]। मानसिंह जी की चित्रकला में रुचि थी। इसी तरह अन्य जिन अमीर-उमरावों या सामंतों का तुलसी-गृह आयाम रहा होगा उनकी भी अभिरुचि चित्रकला से हो सकती है। पर स्पष्टतः नहीं कहा जा सकता है। खानखाना के विषय में यह स्पष्ट है कि मुगल दरबार के प्रतिष्ठित प्रतिनिधि नवरत्नों में से रहने के कारण, ये अच्छी तरह से चित्र कला को समझने वाले रहे हैं। खानखाना कवि और, भावुक हृदय के व्यक्ति थे। इनके सम्पर्क में तुलसीदास का सम्बन्ध अंश रूप से भी क्यों न हो, चित्रकला से हुआ हो, असम्भव नहीं। राजा मानसिंह कवि अवश्य ही नहीं थे पर चित्रकला से अभिरुचि रखते थे इसके साथ ही ये तुलसी के भक्त तथा उन पर श्रद्धा रखते थे। इनके सम्पर्क में हो सकता है कि तुलसी अंश रूप में राजपूत चित्र कला शैली के चित्रों के सम्पर्क में आए हों। जैसा कि परवर्ती कवि केशव बिहारी आदि, को चित्रकला और उसके परिवेश से प्रेरणा मिली, उससे अनुभूतियों को लेकर काव्य विधा को विस्तार दिया, ऐसा प्रसंग तुलसी के साथ नहीं है, और न ही इस विचार से तुलसी को इस शोध प्रबन्ध में स्थान दिया गया है। हाँ, तुलसी ने अवश्य चित्रकला को प्रभावित किया है। राजस्थान के राजाओं ने रामकथा को

---

१. तुलसी दास—माता प्रसाद गुप्त, पृष्ठ १७८।
२. „ „ पृष्ठ १७८।

चित्रांकित कराया है। स्फुट दृश्यों को रंगारंग रेखाकृतियों में चित्र कारों ने प्रस्तुत किया है। ये दोनों ही तथ्य सीधे-सीधे हैं। तुलसी चित्रकला से प्रभावित नहीं है किन्तु तुलसी उन सांस्कृतिक परम्पराओं से प्रभावित अवश्य हैं, जिन सास्कृतिक परम्पराओं से न केवल चित्रकला वरन् सभी ललित कलाएँ प्रभावित हैं। इसमें वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत और काव्य सभी सम-सामयिक सांस्कृतिक परिवेश तथा उसकी पूर्व से चली आ रही परम्पराओं से, समान रूप से चिर-ऋणी है।

रामायण और रामचरितमानस का चित्रण प्राप्त होता है। रामकथा के चित्रण की प्रवृत्ति बहुत पुरानी है। सुरवाया के एक प्रस्तर-चित्र में राम कथा पंचवटी से लेकर सपाती मिलन तक की उद्रेखित है।[1] राम कथा की तरह राम की अभिव्यक्ति संगीत, चित्र से इतर शिल्प-साध्य मूर्ति में प्रस्तुत हुई है। प्रारम्भ में केवल राम की मूर्तियों का उत्खनन केवल पूजादि, दर्शनार्थ, मन्दिरों में प्रस्थापित करने के लिए, होता था। अजंता आदि गुफाओं में जब बौद्ध धर्म विषयक चित्र मालाओं का चित्रण हुआ। तब उसके ही समानान्तर ऐलोरा में राम कथा माला का प्रस्तर पर उद्रेखण हुआ और फिर चित्रकला में भी राम कथा का चित्रण हुआ है। यह राम की कथा का स्वरूप दक्षिण के मन्दिरों में मिलता है। राजस्थान, मध्यदेश आदि में भी राम कथा के चित्रण की प्रवृत्ति थी। पर राजस्थान में विष्णु में यह रूप मिलता है। खजुराहों में राम की मूर्ति संस्थापित भी है तथा राम के अनेक रूपों को प्रस्तुत भी किया है। प्रस्तर प्रस्तुतीकरण के उपरान्त राम कथा के चित्रण की प्रवृत्ति विकसित होने लगी थी। राजा-महाराजा, सामंत--अमीर-उमराव, प्रायः अपने महलों की भित्तियों को राम की कथा मालाओं में चित्रित कराना, एक धर्म का कार्य समझकर सम्पन्न करते थे।

विवेच्य काल एवं विवेच्य भूमि पर राम कथा का जो चित्रण मिलता है उसमें समय-समय पर राम कथा पर लिखने वाले तथा प्रस्तुत करने वाले कवियों का प्रभाव प्रति लक्षित होता है। मध्यकाल में राजपूत नरेशों ने राम कथा का जो चित्रण कराया है उसमें सर्वत्र रामचरित मानस का ही चित्रण करवाया हो ऐसी बात नहीं है। इसमें सर्वाधिक तीन कवियों की कृतियों का चित्रण है। प्रथम तो बाल्मीकि की रामायण का है जो कि तुलसी के समय के बहुत पहले से प्रस्तरों पर प्रस्तुत होता चला आ रहा है। दूसरा, तुलसी की कथा का है। तीसरा, आचार्य केशवदास की रामचंद्रिका का चित्रण उपलब्ध होता है।

राजपूत नरेशों में विशेष कर राजस्थान के नरेशों ने तुलसी कृत रामचरित मानस का चित्रण अधिक कराया है। साथ ही में केशव की कवि प्रिया और रसिकप्रिया के साथ बढ़ती हुई इनके चित्रण की प्रवृत्ति के साथ ही राम-चन्द्रिका का चित्रण हुआ है। यह चित्रण की प्रवृत्ति पहाड़ी राज्यों में इस तरह की विशेष रूप से फैली रही है। यहाँ के चित्रकारों ने व्यापक रूप से कविप्रिया और रसिकप्रिया को चित्रों का आधार बनाकर, नायिका भेद आदि तत्कालीन परम्पराओं के अनुसार चित्रित किए हैं, उसी के प्रसार के साथ रामचन्द्रिका का प्रसार इतर राज्यों में हुआ प्रतीत होता है।

तुलसीदास के रामचरित मानस के चित्रण के साथ ही गीतावली के पदों का भी चित्रण पाया जाता है। साधारणतः यह चित्रण दो तरह से मिलता है। प्रथम रूप में राम कथा का आधार प्रतीत होता है। उस चित्र में इस तरह का कोई संकेत लिपि रूप में नहीं मिलता है कि जिससे यह कहा जा सके कि यह चित्र रामचरित मानस का है किन्तु चित्र की विषय वस्तु इसका संकेत करती है। दूसरे तरह के चित्रों में रामचरितमानस की चौपाई, दोहा, या उस अंश को जिसका कि आधार मानकर चित्रकार ने चित्र को बनाया है, उसे चित्र की उर्ध्व भूमि पर लिपिबद्ध कर दिया है। जिससे यह समझने में विलंब नहीं लगता कि यह चित्र रामचरितमानस पर आधृत है। कुछ चित्रों में केवल

---

१. १९६२ चित्र-अलबम—पुरातत्व विभाग, जनपथ, नई दिल्ली।

संकेत मात्र हैं, इस तरह से चित्र की उर्ध्व भूमि के ऊपर सीमा रेखा के बाहर लिख दिया है। तथा कुछ चित्रों में उनकी पृष्ठ अंश को उद्धृत करने की चित्रगत पृथा मुगल चित्रों में भी पाई जाती है। राजपूत कलम के चित्रों में प्रायः और अधिकांशतः चित्र के उर्ध्व भाग में ही संदर्भित पद को प्रस्तुत किया गया है। यही परम्परा पहाड़ी राजपूत राज्यों में चित्रित हुई चित्रकला में अपनाया गया है।

राजपूत कलम की ऐसी कोई भी शैली और स्थल नहीं है जहाँ कि तुलसी की रामकथा या अन्य रामकथा का चित्रण न हुआ हो। राम काव्य और कथा का चित्रण मालवा की कलम में इस तरह मिलता है। मालवा (१६३५ ई.) शैली का राम कथा का प्रसंग है। चित्र में एक ओर वाटिका है, दूसरी ओर एक खुला चार स्तम्भों पर आश्रित मंदिर है, जिसमें सीता-सहेली के साथ बैठी है। वाटिका में इसके अतिरिक्त राम लक्ष्मण गुरु वशिष्ठ के साथ चित्रित किए हैं। चित्र का विस्तार बहुत है। इसके विस्तृत कोने में झाड़ के पास दो मृगों को प्रस्तुत किया है।[1] यह चित्रण चित्र का प्रथम विधा में जैसा कि पूर्व संकेत दिया है, किसी तरह का संदर्भ लिपि में प्रस्तुत नहीं करता है किन्तु चित्र गत वातावरण से ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसी दास के निम्न दोहों को अंकित करता हो जो कि सीता और राम के प्रथम दर्शन की पूर्व भूमिका के रूप से चित्रित किया गया है। दोहा इस तरह है—

समय सप्रेम विनीत अति, सकुच सहित दोऊ भाई।
गुरु पद पंकज नाई सिर, बैठे आयसु पाई॥ बालकाण्ड, २२५

और सीता के चरित्रांकन में निम्न को चरितार्थ करता है—

एक सखी सिय संगु बिहाई। गई रही देखन फ़लुवाई॥
तेहिं दोऊ बंधु बिलोके जाई। प्रेम बिवस सीता पहिं आई॥ २२८।७-८।

मालवा कलम के १६५० ई. बने दो चित्र राष्ट्रीय संग्रहालय ५१-६३।१६, २६ हैं तथा इसी समय के लगभग ६६ अन्य चित्र भी इसी संग्रहालय, नई दिल्ली, में ५१-६५। १ से ६६ तक उपलब्ध हैं। इन चित्रों में रामकथा के संदर्भित अंश को लिपि बद्ध नहीं किया गया है। इसमें राम की कथा को चित्रमाला के रूप में चित्रित किया गया है। इन चित्रों की चित्र विधागत तथा काव्य की रसानुकूलता का बोध समर्थ रूप में है। चित्रों में वातावरण के अनुकूल रसनिष्पत्ति में पूर्णतः समर्थ हैं। ५१-६३।२८ में रावण, सीता के समक्ष भीख माँगता हुआ चित्रित किया है। लक्ष्मण रेखा दृश्यमान है। ऐसा प्रतीत होता है कि अभी अभी लक्ष्मण यहाँ से गए हैं, और अब सीता जी रेखा से बाहर होकर इस दुष्ट को भिक्षा देने वाली है जिसके उपरान्त यह खल सीता को पकड़ कर ले जावेगा। सभी प्रेक्षक के मन पर आते हैं। पूर्वा पर का बोध जाग्रत होता है। ५१-६५।४७ में हनुमान राक्षसों से लड़ते हुए चित्रित है। चित्र में युद्धक-वातावरण प्रस्तुत किया है जिससे वीररस की सहज सृष्टि होती है। इसी क्रम में चित्र संख्या ५७ में राम का रौद्र रूप समुद्र तट पर समुद्र में सर संधान करते समय का प्रस्तुत किया है। चित्र संख्या ६८ में वानर-राक्षस युद्ध में, वीभत्सता चित्रकार और कवि को दोनों को ही अभिप्रेय रही है। चि. सं. ७२ में सीता का शुद्धीकरण दिखाया है। चिता में सीता है। बीकानेर कलम में ४७. ११०। १६६ बी, रा. सं. न. दिल्ली, में राम को स्थानीय रूप में पोलो खेलते हुए दिखाया है। जयपुर कलम में प्रस्तुत राम और उनके संदर्भ राजसी ढंग के हैं जबकि मारवाड़ के राम लक्ष्मण और दशरथ (४७.११०।३० रा. सं. न. दि) एक मारवाड़ी परिवार के सदस्य प्रतीत होते हैं।

१६५० ई० के लगभग के बूंदी के रामकथा पर प्रस्तुत चित्रों में भक्ति का परिवेश चतुर्दिक है। भक्ति के साथ ही आहार्य चित्रण में तत्कालीन सामयिकता है तथा क्रियाओं में समानरूपता मिलती है। जैसे कि राम सपत्नीक अयोध्या में समारोह साथ आगे बढ़ रहे हैं (५१.६५ चित्र-माला रा. सं. न. दि.) इसमें चित्रकार के समक्ष बूंदी नरेश

---

१. राजपूत पेन्टिग प्लेठ १८ वाई मान्टेगोमरी—न्युयार्क।

की राज सवारी का बढ़ता हुआ समारोह रहा है। इसमें कुछ चित्र, राम और उनके भाई, ताड़का वध, सुबाहु वध, अहिल्या उद्धार, केवट उद्धार, सीता स्वयंवर, रामसीता आदि चित्र भक्ति के भावों को प्रेक्षक में संप्रेषित करने वाले समर्थ चित्र हैं। कोटा शैली में ५१.३४। ५०, रा. सं. न. दि. का चित्र जिसमें बन में राम और सीता चित्रित किया हुआ है. अपनी विशेष प्रकृति की आवृत्ति के लिए उल्लेखनीय।

ओरछा के लक्ष्मी मंदिर में राम कथा चित्रित है। इनका निर्माण मंदिर के निर्माण के समय का सत्रहवीं सदी ही है। इसे जहाँगीर के समय में ओरछा नरेश वीरसिंहदेव ने निर्माण कराया है। वीरसिंह देव अपने समय का साहसी योद्धा और चतुर राजनीतिज्ञ ही नहीं, कुशल शासक, प्रजापालक, और कला प्रेमी भी था। इसके समय के लक्ष्मी मंदिर की छतों के प्लास्टर पर चित्रित राम कथा वरबस दर्शकों को अपनी ओर खींचती, आकर्षित करती है। राम कथा के इन चित्रों में ओरछा की संस्कृति मुखरित हुई है। चित्रों में मानव आकृतियों में कथा की अपेक्षा स्थानीयता उन चित्रों में दृष्टव्य है। पगड़ी के नीचे गलमुच्छोंदार भरे रोबीले चेहरे, रंगबिरंगे लम्बे चोगों में कसे गठीले शरीर, कमर से लटकती तलवार, क्रोध आशंकाओं से भरा हुआ चित्र गत युद्धक वातावरण, चित्रों में दिखाया गया है। इनमें किसी तरह का लिपि बद्ध उल्लेख न होने से यह नही कहा जा सकता है कि वास्तव में यह चित्रण केशव दास की रामचंद्रिका का है या रामचरितमानस का या फिर इन दोनों में से किसी का न होकर बाल्मीकि की रामायण का है चित्रों की अभिव्यक्ति के अनुशीलन पर तुलसी कृत रामचरितमानस का आधार प्रतीत होता है। किन्तु रूपाकृतियों से पूर्ण स्थानीयता प्रगट होती है।

मेवाड़ कलम में राम कथा माला का चित्रण है। लगभग १६६६ ई. के १०० चित्रों का संग्रह ५४.६७ अनुक्रम में रा. सं. न. दि. में है। ये सभी चित्र मेवाड़ के स्थानीय वेश में हैं। इन चित्रों में राज पुरुषों के वेश का अभाव मिलता है। ऐसा लगता है कि इनका आधार किसी रामलीला का रहा हो। इन चित्रकारों ने विधिवत कथा को समझ कर चित्रित न करते हुए रामकथा के मार्मिक अंशों को चुन लिया है। यह चुनाव किसी सामंत, अमीर उमराव या रहीस की इच्छानुसार हुआ है कि उसने सौ चित्र बनाने की आज्ञा दी हो और तत्कालीन पेशेवर चित्रकार ने सौ मार्मिक अंशों को चयित कर अपने सहयोगियों सहित कथा के चित्रण में तल्लीन हो गया रहा है। सामान्यतः इस युग के पेशेवर चित्रकार अपने संगी-साथियों सहित अपने खेमों में चला करते थे। ये चित्रकार राजा-रहीस या कलाप्रेमियों की तलास में भी रहा करते थे। वैसे ये चित्र स्थानीय विधा में उच्चकोटि के प्रतीत होते हैं। मारवाड़ के चित्रों में भी, जो रामकथा पर आधृत है इसी तरह का स्थानीय प्रभाव है।

बुन्देल खण्ड के रा. सं. ६१.५११ से १३६, के चित्र विशेष रूप से किसी भी खास कवि की कृति के आधार पर चित्रित प्रतीत नहीं होते हैं ये आयताकार स्थानीय विधा में चित्रित किए गए हैं। चित्रों के पीछे उनका केवल नामकरण किया है: इनमें कुछ चित्र सामान्य राम कथा से नवीन प्रतीत होते हैं। जैसे कि एक चित्र में राम और लक्ष्मण अपनी किशोर वय में खेलते-खेलते सांपों को पकड़ लाए हैं। उनके पीछे दुष्ट प्रेतों को खड़े हुए चित्रित किया है। सामने सेवक गण अपने दण्ड लिए उन सांपों को मारने के लिए सन्नद्ध खड़े हैं। उन्हीं के थोड़े आगे हनुमान राम लक्ष्मण को झुक कर नमस्कार कर रहे हैं। हनुमान की राम से भेंट किष्किंधा में सीता हरण के उपरान्त होती है न कि उनकी किशोरावय में। यह यहाँ के चित्रकारों के अपने दिमाक की सूझ है। इन चित्रों में वास्तु और प्रकृति को आकृतियों के समान ही महत्व दिया है। चित्र संख्या ५१४ से ५३६ तक के चित्रों में अहिरावण की प्रासांगिक कथा को चित्रित किया है। इसमें अहिरावण, रावण के पास आता है। यहाँ से राम लक्ष्मण को उठा ले जाता है। अपने भवन में देवी की पुजा यथा यज्ञ आरंभ कराता है जिसमें कि राम और लक्ष्मण की बलि देने की तैयारी होती है। हनुमान कोटि की दीवाल के सहारे चिपटे सरकते हुए चि. सं०. ५१५, में दिखाए हैं। चि० सं० ५१७ में अहिरावण यज्ञकर रहा होता है, उपर झरोखों से रमणियां झांकती होती हैं जो कि असुर पत्नियाँ प्रतीत न होकर राजपूत रमणियां अधिक

लगती हैं। यहाँ तत्कालीन सामयिकता मुखर हुई है। इन समस्त चित्रों में अहिरावण के लंकागमन से लेकर उसके भवन-दाह तक के दृश्यों का चित्रण है। इन चित्रों में जन सामान्य रोचकता बनी रहती है। कुछ चित्र अवश्य ही राम-चरितमानस के निकट के प्रतीत होते हैं।

सामान्य रूप से रामकथा का चित्रण बीकानेर, जोधपुर, जयपुर में समान रूप से हुआ है और जो कि यहां के राजशाही संग्रहालयों में आज भी अन्य कला-सामग्रियों के साथ सुरक्षित रखा हुआ है। चित्रकला की श्रेष्ठता की दृष्टि से जयपुर का कार्य श्रेष्ठ है। जोधपुर के चित्र साधारणतः अन्य जगहों के चित्रों से कहीं बड़े हैं जिन्हें कि लघुचित्रों की सीमा के बाहर ही कहेंगे इनका आकार इंपीरियल साईज के चित्रों के बराबर है। किसनगढ़, अलवर, भरतपुर, अजमेर में राम के चित्रण को अधिक महत्व नहीं मिला है।

राम कथा का चित्रण तो बहुत समय से है। पर इधर राजपूत कलम में जब से चित्रों का मिलना आरंभ होता है तभी से रामकथा के चित्रण की भी परम्परा मिलती है, जो कि समय के साथ ही साथ सभी समयों में हर जगह किसी न किसी रूप में चित्रित होती ही रही हैं, इसका प्रमाण यही है कि हर समय के चित्र मिलते हैं। राजा-महाराजा भी समय-समय पर इस तरह के चित्रों का निर्माण कराते भी रहे हैं।

इस कथा के चित्रण में चित्रकारों ने व्यक्ति गत रूप से भी स्वतन्त्र रहते हुए, चित्रों को बनाया है और उन्हें भक्तों तक पहुँचाया है। इस तरह के चित्रों की बाजार में अच्छी खपत रही है। आज भी भारत की धर्म-प्राण जनता अपने घरों में राम सीता के चित्रों को लगाना अधिक पसंद करती है।

सम्पूर्ण राजपूत कलम की चित्र-शैलियों में चित्रित रामायण के चित्रों में एक प्रधान विशेषता यह है कि एक के आधार को अनेक बिम्बों में विभाजन रंगों के आधार पर प्रस्तुत किया हुआ है। इस पद्धति से प्रेक्षक को यह लाभ मिलता है कि वह एक ही चित्र में वस्तुतः घटना के पूर्व की स्थिति और पश्चात की स्थिति का आभास पा जाता है।

राजपूत पहाड़ी राज्यों में अधिकतर रामचन्द्रिका का चित्रण मिलता है। इन चित्रों में सभी प्रधान घटनाओं के चित्र हैं। यहाँ के अधिकांश चित्र प्रकाशित हो चुके हैं। इन चित्रों का चित्र विधा गत स्वरूप पूर्वकालिक राजपूत-चित्र-कला-शैली से कहीं सुघड़ है। मानव आकृति, वास्तु और प्रकृति सभी सुष्ठ रूपों में है। उदाहरण के लिए लंका युद्ध के जम्मू कलम के तीन चित्रों को देखा जा सकता है। ये तीनों ही चित्र ओ. सो० गंगोली, द्वारा प्रकाशित है।[1] १५, संख्या वाले चित्र में लंका युद्ध का चित्र है। इस चित्र के दो भाग चित्र-विधा-गत हो जाते हैं। जिसमें एक भाग से रावण के असुर सैनिक युद्धोद्धत द्वार से निकल युद्ध भूमि की ओर जाते दिखाई देते हैं। इसी के अगले परिप्रेक्ष्य में प्रकृति प्रदत्त परिवेश में, राम, वानर और भालु दल के बीच अपने सरदारों से मंत्रा लेते हुए चित्रित किए गए हैं। द्वितीय चित्र में अशोक वाटिका में बैठी सीता को असुर कुट्टनियाँ और रावण स्वयं बरगलाता, फुसलाता सा, चित्रित हुआ है। इसके अगले वाले चित्र में, रावण के सैनिक लम्बे युद्ध को व्यथा से व्याकुल हो रावण के दरबार के समक्ष युद्ध वेश में खड़े हैं। सैनिकों का सरदार रावण को युद्ध से परिचित करा रहा है। इसमें का दूसरा चित्र तुलसी की निम्न चौपाई को आकृति स्वरूप देता प्रतीत होता है —

> 'चलेउ निसाधर कटकु अपारा। चुतुरंगिनी अनी बहु धारा।
> बिबिध भाँति बाहन रथ जाना। बिपुल बरन पताक ध्वज नाना।
>
> चले मत्त गज जूथ घनेरे। प्रलय जलद मारुत जनु प्रेरे। लंका काण्ड,७

ये तीनों चित्र एक ही चित्रकार की कलम के हैं। किन्तु जब अगला चित्र देखते हैं तो केशव की रामचन्द्रिका का पद अधिक अनुरूप, प्रतीत होता है।

---

१. मास्टर पीसेज आफ राजपूत पेन्टिग, ओ. सी. गांगोली, १५। १६अ, १६८।

राजपूत पहाड़ी कलम चित्र-शैलियों में इस तरह के चित्रों का सृजन राजाओं के प्रोत्साहन पर हुआ है तथा साथ ही व्यक्तिगत रूप से चित्रकारों ने भी विक्रय के दृष्टिकोण को सामने रखते हुए भी रामकथा का चित्रण किया प्रतीत होता है। इनमें सम्पूर्ण रामायण लिपिबद्ध की हुई होती है तथा उस लिपिबद्ध रामायण में लिपिकार चित्रों के चित्रण केलिए स्थान खाली छोड़ता जाता है। इन खाली स्थानों पर बाद में चित्रकार चित्रों का निर्माण करता था। तथा इन चित्रों में सीमा बन्ध देने वाले भी अलग हाथों का प्रभाव प्रति लक्षित होता है। मुगल कलम में तो सीमा बन्ध की रचना करने वाले चित्रकार ही अलग हुआ करते थे। रेखाचित्र, रंगों का भराव आदि अलग-अलग ही पेशे के व्यक्ति किया करते थे। यही रूप अल्पतः इन चित्रित पोथियों में मिलता है। इस तरह की चित्रित पोथी रामचंद्रिका की है। तुलसी के रामचरितमानस की चित्रित पोथियाँ जोधपुर दरबार और बीकानेर में हैं। राजपूत पहाड़ी राज्यों में कांगड़ा, बसोली, नूरपुर, चाम्बा, बिलासपुर, रामकोट, मण्डी, गुलेर तथा टहरी-गढ़वाल के चित्र, तथा इन नगरों वा राज्यों का कार्य उल्लेखनीय है।

कुल मिला कर तुलसी के संदर्भ में यह कह सकते हैं कि तुलसी प्रत्यक्ष रूप से राजपूत चित्रकला शैली से प्रभावित रहे हैं, ऐसी बात नहीं है पर हाँ, यह अवश्य है कि तुलसी उन सब स्थितियों से प्रभावित रहे हैं जिनसे कि राजपूत चित्रकला शैली प्रभावित रही है। इसके अनंतर रामचरित मानस ने शनैः-शनैः भक्तों, और श्रद्धालुओं को आकर्षित करना प्रारंभ किया और वह क्रमशः बढ़ता ही गया। इस सांचे पर रामचरितमानस का प्रभाव राजपूत चित्रकला शैली के चित्रकारों, एवं उससे अभिरुचि रखने वालों में बढ़ा है।

अध्याय २

सूरदास के काव्य में राजपूत कला शैली के प्रभाव और राजपूत कला शैली पर सूर काव्य का प्रभाव।

सूर के जीवन के विषय में भक्त माल में मद पद इस तरह से है—

उक्ति, चोज, अनुप्रास, वरन अस्थिति अति भारी।
वचन प्रीत निर्वाद अर्थ अद्भुत तुक धारी।
प्रतिबिम्बित दिवि दिष्टि हृदय में लीला भासी।
जनम करम गुन रूप सबै रसना परकासी।
विमल बुद्धि गुन और की, जो वह गुन श्रवनन धरै।
सूर कवित सुनि कौन कवि जो नहि सिर-चालन करै।।[1]

इस पद से सूरदास के जन्मांध होने की बात कही गई है। काव्य प्रतिभा का भी उल्लेख है। डा. हरिवंश लाल शर्मा के अनुसार भक्त माल सूरदास के समकालीन रचना है।[2] महाराज रघुराज सिंह ने अपनी 'राम रसिकावली' में सूर के विषय में विस्तार पूर्वक लिखते हुए उन्हें जन्मांध माना है। डा. दीनदयाल गुप्त ने 'अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय' पर लिखते हुए कहा है कि 'सूरदास ने अपनी रचनाओं में अपने अन्धे निपट अंधे, होने का तो कई स्थलों पर उल्लेख किया है परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वे जन्मांध थे अथवा अमुक अवस्था में अंधे हुए है।[3] डा. ब्रजेश्वर वर्मा सूरदास जी की दृष्टि हीनता की सम्भावना वृद्धावस्था के निकट करते हैं और सूर के काव्य में बाह्य जगत के यथार्थ एवं सूक्ष्म चित्रण को उनके जन्मान्ध होने की संभावना के खण्डन का आधार मानते हैं। मेरा आशय सूर के जन्धांध होने से या वृद्धावस्था में नेत्रहीन के स्पष्टीकरण से है। यदि सूरदास जन्मांध थे तो उन्होंने बाह्य जगत के फलक पर पतले रंगों का किस तरह अवलोकन किया। रंगों की यथार्थता को समझने के लिए नेत्रों का होना अति-आवश्यक है, दिव्य दृष्टि की बात कुछ समकालीन और परवर्ती कवियों ने कही है। इस संबंध में एक संदर्भ कवि देव के विषय में जो कि डा. नगेन्द्र जैसे आलोचक ने किंवदन्ती का आश्रय लेकर दिव्य दृष्टि का आख्यान प्रस्तुत किया है।[4] संभवतः यही स्थिति सूर के साथ सही हो सकती है कि परवर्ती कवियों महानुभावों संतों ने अधिक सम्मान और श्रद्धा के लिए दिव्य चक्षु का संबोधन दिया हो जो कि बाद में लक्षणा के अर्थ की जगह अभिधावत स्वीकार लिया गया है। ऐसा आज भी बीसवीं शताब्दी में, अधिकांश जन समूह दिव्यता के प्रति विश्वास कर लेता है फिर चाहे बम्बई में जल में चलने वाले महात्मा की तरह डुबकी खाने लगने पर, दयापात्र की तरह त्राण पाकर ही जीवन रक्षा हो, इस उड़ती कथा पर बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने विश्वास करके कीमती टिकटें खरीदीं, अमरीका का यात्री टेलीविजन-संस्थान आया। ये तथ्य एक तरह से इस तरह सोचने और धारणा बनाने में सहायक है कि वास्तव में ब्रजेश्वर वर्मा का कथन सत्य है, और जबकि सूर की उम्र १०० से उपर की रही हैं तब और भी वर्मा जी के कथन को बल मिलता है। इसका निष्कर्ष यह प्रतीत होता है कि सूरदास ने इस जगत और जीवन के समस्त व्यापारों का सूक्ष्म परिवेक्षण किया था। सूर की

---

१. श्री भक्तमाल सटीक, पृष्ठ ५३९-४०।
२. सूर और उनका साहित्य पृष्ठ ४।
३. ,, ,, पृष्ठ १७।
४. देव और उनकी कविता, डा. नगेन्द्र पृष्ठ २९।

जन्मभूमि में गोपाचल मथुरा का पड़ौस, रुनकता और सीही, चार ग्रामों का उल्लेख आता है। डा. हरिवंश लाल शर्मा ने दिल्ली के पास का सीही माना है। सूर निर्णय के लेखकों ने भी अंतःसाक्ष्य के आधार पर यही मानी है।[1] इसके उपरान्त की दूसरी घटना यह है कि सूरदास ३२ वर्ष की अवस्था के लगभग वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित हुये यथा सवत् १५६७ में सूररास और कृष्णदास एक ही समय वल्लभाचार्य के शिष्य हुए। इसके पूर्व सूरदास की स्थिति 'काम-जोग पुनि ग्यान उपासन, सब ही मम मरभायो, से व्यक्त होती है। इसके साथ ही सूर कृत काव्य में जीव और जगत के पूर्ण-यथार्थ वर्णन है, इनके माध्यमों से सूर ने रूपक, उपमाएँ, एवं उत्प्रेक्षाएँ अत्याधिक स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक प्रस्तुत की हैं और इसके साथ ही रंगों का यथाक्रम कविताओं में यथावत, रंग-प्रतिक्रिया पद्धति पर है जो कि जन्मांध होने की कथा पर सहज क्या दुष्तर भी विश्वास नहीं करने देता। इस संबंध में विद्वानों के मत इस तरह हैं।

मिश्र बन्धुओं का कथन है कि 'हमें तो इनके जन्मांध होने पर विश्वास नहीं होता। सूरदास ने अपनी कविता में ज्योति के रंगों के और अनेकानेक हाव-भावों के ऐसे मनोरम वर्णन किए हैं तथा उपमाएँ ऐसी चुभती हुई दी हैं, जिन से यह किसी प्रकार निश्चय नहीं होता कि कोई व्यक्ति बिना आंखों देखे, केवल श्रवण द्वारा प्राप्त ज्ञान से, ऐसा वर्णन कर सकता है।[2]

डा. श्याम सुन्दर दास हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखते हैं कि 'सूर वास्तव है जन्मांध नहीं थे क्योंकि श्रृंगार तथा रंग-रूपादि का जो वर्णन उन्होंने किया है, वैसा कोई जन्मांध नहीं कर सकता।[3]

डा. बेनी प्रसाद का विश्वास है कि 'प्राकृतिक दृश्य का अनुपम चित्र-चित्रण किसी प्रकार यह नहीं मानने देता कि वे जन्म से से ही अंधे थे। मिल्टन की तरह अवस्था बढ़ने पर नेत्र विहीन हो गए थे।[4]

श्री नलिनी मोहन सन्याल का ख्याल है कि 'सूरदास ने अपने काव्य में जिस प्रकार से ज्योति का, नाना प्रकार फे वर्णों का तथा नाना-हाव-भावों का बर्णन किया है और प्रकृति से जिस ढंग नाना प्रकार की उपमाएँ प्रस्तुत प्रस्तुत की है, वह चक्षुष्मान व्नक्ति के अतिरिक्त अंधे के द्वारा केवल श्रुति की सहायता से संग्रहीत नहीं हो सकता।... संभवता वह जन्मांध नहीं थे और पीछे वह अंधे हो गए थे, ऐसा अनुमान होता है।[5]

सूर संदर्भ में आचार्य नंद दुलारे जी वाजपेयी का कथन है कि सूरदास की रचनाओं में प्रकृति का और मनुष्य के उतार-चढ़ाव का जैसा सूक्ष्म चित्र है, उसे देख कर यह कहने का साहस नहीं होता है कि सूरदास ने बिना अपनी आंखों के देखे केवल कल्पना से यह सब लिखा है।[6]

त्रिपाठी एवं भटनागर द्वारा प्रसूत 'सूर साहित्य की भूमिका' में इन प्रभृति विद्वानों ने विश्लेषण के आधार पर अपने मत व्यक्त किए हैं जो कि अत्यधिक समीचीन प्रतीत होते हैं। मत इस तरह है कि 'जहाँ-जहाँ कवि ने नेत्रहीनता का उल्लेख अपने पदों में किया है, वहाँ-वहाँ अपनी वृद्धावस्था का भी उल्लेख किया है। विचार करते हुए यह अनुमान किया जा सकता है कि सूरदास जन्मांध नहीं थे, परन्तु प्रौढ़ावस्था पार करते-करते वे नेत्र विहीन

---

१. सूर निर्णय पृष्ठ ५३।
२. हिन्दी तवरत्न, पृष्ठ २३०।
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डा. स्याम सुन्दर दास, पृष्ठ १८५।
४. संक्षिप्त सूर सागर, पृष्ठ ६।
५. भक्त सिरोमणि सूरदास, पृष्ठ १०।
६. सूर सागर, नन्द दुलारे वाजपेयी, पृष्ठ ३४।

हो गये।[1] डा. दीन दयाल गुप्त सूरदास के बाल्यावस्था में अंधे होने का अनुमान करते हैं।[2]

सूरदास का वल्लभ की शरण में आने से पूर्व ३२ वर्षों का कोई निश्चित जीवन प्राप्त नहीं होता है। त्रिपाठी तथा भटनागर के मत से मैं सहमत हूँ क्योंकि सूर को जन्मांध मान लेने से अन्य अनेक चमत्कारों और अंध विश्वासों पर भी विश्वास कर लेना पड़ेगा। जैसा कि डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा ने आधुनिक युग की बात उठाकर कहा है कि 'यदि सूरदास जी को जन्मांध माना जाए तो इस विचार और युक्ति के युग में भी हमें चमत्कारों पर विश्वास करना पड़ेगा[3]। इन तथ्यों के साथ यह भी विचारणीय है कि सूर का समस्त साहित्य जीवन का केवल यथार्थ नहीं है अपितु सूरदास उपमा, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति के कवि हैं साथ ही दृष्टकूटों के भी सृजेता हैं। शब्द लक्षणा और व्यंजना की गरिमा लिए हुए हैं। जहाँ सूरदास 'जन्म-अंधे', 'जनम को आंधरो' आदि कुछ कहते हैं वहीं साथ ही यह भी कहते हैं-- सूर' कूर आंधरौ हौं द्वार परयौ गाऊँ" का आशय आंधरा होकर द्वार पर पड़ा गाता हूँ, से है। यदि इस व्यंजना से वास्तविकता का दोहन किया जाए तो यही होगा कि सूरदास जन्मांध नहीं थे। जीव और जगत को उन्होंने देखा है और उपरांत कहीं अंधे हुए हैं जिससे कि 'सूरदास' नाम की संज्ञा प्राप्त कर समस्त चेतना को ईश्वर भक्ति में लगा दिया अतएव 'सूरदास' नाम की संज्ञा के प्रथम क्षण से सूरदास अंधे थे। सूरदास का वास्तविक नाम तो अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। 'सूरदास' तो बाद में भक्तों द्वारा दिया हुआ सम्बोधन है। अष्टछाप में इतर सभी के नाम के साथ प्रायः 'दास' जुडता है। अतएव जैसा कि ये 'सूरे' थे, इसलिए सूरदास की संज्ञा से विभूषित हुए।

जहाँ तक इनकी यात्राओं का सम्बन्ध है, वे सूर संज्ञा उपलब्धोपरान्त संभवतः नहीं हो सकी है। अतएव यात्रा और स्थानगत प्रभावों का प्रश्न सामने नहीं आता है। साधारणतः सूरदास वल्लभाचार्य के साथ गोवर्धन पहुँचकर रहे हैं। वहाँ आचार्य जी ने सूरदास को श्री नाथ जी के मन्दिर में कीर्तन करने का आदेश दिया तो संवत् १६४० के लगभग—मृत्यु पर्यन्त तक सूरदास की शब्द-स्वर साधना चलती रही।

ईसवी सन् के हिसाब से सूर का समय १४७८ से १५८३ तक रहा। इन १०५ वर्षों में दिल्ली में चार वंशों के १२ बादशाहों ने राज्य किया तथा लोदी, मुगल, सूरी व हेमूँ में राज्य सत्ता परिवर्तित रही। इन बादशाहों का समय इस तरह है—

१	बहलोल लोदी	सन १४५१ ई०	से	१४८७ ई०	तक,
२	सिकन्दर लोदी	" १४८६ "	से	१५१७ "	तक,
३	इब्राहीम लोदी	१५१७	से	१५२६	तक,
४	बाबर	१५२६	से	१५३०	तक,
५	हुँमायूँ	१५३०	से	१५३६	तक,
६	शेरशाह सूरी	१५३६	से	१५४५	तक,
७	इसलाम शाह	१५४५	से	१५५४	तक,
८	मुहम्मद आदिलशाह }				
९	सिकन्दर शाह }	१५५४	से	१५५५	तक,
१०	हेमूँ }				
११	हुँमायूं (पुनः)	१५५५	से	१५५६	तक,
१२	अकबर	१५५६	से	१६०५	तक.

इन बादशाहों के राजनैतिक सामाजिक और धार्मिक परिवेशों को इस शोध प्रबन्ध में अलग से विचार किया

१. सूर साहित्य, पृष्ठ १३।

२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ २०२।

३. सूरदास, ब्रजेश्वर वर्मा, पृष्ठ ३४।

जा चुका है, यहाँ सूर के संदर्भ में लिखने का आशय यह है कि सूर का जन्म निवास सीही, दिल्ली के समीप था। ३२ वर्ष के उपरान्त गोवर्धन पहुँचे, तब भी वह दिल्ली से दूर नहीं था। मथुरा उस समय दिल्ली का पड़ौसी नगर व प्रान्त माना जाता था। दिल्ली की कोई भी वारदात से मथुरा और समीपस्थ गाँव व नगर बेखबर व अप्रभावित नहीं रहते थे। अतएव जीवन की तात्कालिक वास्तविकताओं में सूर की आत्मा इतनी दयार्द्र और करुणा से प्लावित हो चुकी थी कि एक समय प्राप्त भागवत विधा में समस्त चेतना के साथ फूटकर गेयपदों में बिखर गई। समस्त खोजों के उपरांत भी सूर के पिछले ३२ वर्षों का जीवन केवल अटकलों पर है, इनका पूर्व नाम ज्ञात नहीं हो सकता है, वैसे सम्भावना यह प्रबल प्रतीत होती है कि सूर को यह नाम 'अष्टछाप' में मिला है। आज भी समाज में चाहे जन्मांध हो चाहे वय-प्राप्तांध हो, 'सूरा-सूरे' का ही सम्बोधन मिलता है। वल्लभ के शिष्यों में दो स्वामी और पांच दास हैं, छठे 'सूरा या सूरे' भी दास के साथ मिल कर सूरदास हो गए।

अगर यह मान कर चलते हैं कि सूर जन्मांध नहीं थे, तब तो इस तथ्य पर विचार किया जा सकता है कि चित्रकला, स्थापत्य कला का सूर पर सीधा प्रभाव किसी भी रूप में पड़ा होगा। किन्तु इसके विपर्यय में समस्या ही नहीं उठती है। किन्तु जैसा कि अनेक विद्वानों के मतों की अभिव्यक्ति से इस तथ्य को बल मिला है कि सूर बाद में किसी रोग से नेत्र हीन हुए हैं। इनकी ज्योति पूर्ण न भी रही हो किन्तु किसी न किसी अंश में अवश्य थी। सूरदास ने अपने पूर्व जीवन में क्या देखा परखा होगा यह विचारणीय है क्योंकि चित्रकला एक वह विधा है जिसका नेत्रहीन व्यक्ति से किसी भी तरह का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता है। विदेशियों की महाकृपा से छह अंधे और हाथी की कथा आज भी बहु प्रचलित है, वह स्थिति भी चित्रकला के साथ नहीं समोई जा सकती है। मूर्तिकला से हट कर सीधे जीवन के क्षेत्र में आकर उन आकृतियों को टटोलकर अनुमाना जा सकता है। एक अंधा व्यक्ति सभी आगुन्तकों के अंग-अंगों को तो नहीं टटोल सकता है, यह तो सभी बौद्धिक सहृदय स्वीकार करेंगे, तब फिर इस तरह से यह निष्कर्ष निकला कि सूरदास ने अपनी आँखों जीव और जगत का साक्षात् किया था। इस जगत के साक्षात् में चित्रकला के साक्षात् की स्थितियों का विश्लेषण करते हैं, तो सर्वप्रथम वही सत्य सामने आता है कि सूर का पूर्व इतिहास स्पष्ट नहीं है तथा सूर की यात्राएं न के बराबर हैं। अतएव चित्र या मूर्ति शिल्प एक वह स्वरूप है जो कि स्वयं चल कर किसी के पास नहीं आता। काव्य को मौखिक संवाहक स्वीकार करता है किन्तु ये दो कलाएं नहीं। जिन स्थितियों में इन कलाओं का संवहन होता है, वे स्थितियाँ सूर को उपलब्ध नहीं थीं। ललितकलाओं में सौन्दर्य समानाधिकरण कर्त्ता है जो कि इन्हीं ललित कलाओं में अभीष्ट है, प्रस्तुतीकरण या अभिव्यक्ति के माध्यम केवल अलग-अलग होते हैं। एक और दूसरा तथ्य इनके साथ जुड़ा होता है वह जातीय संस्कारों का है। ललित कला के अंतर्गत आने वाली कलाओं में जातीय संस्कारों की एक परम्परा समान रूप से सभी में समय के अनुपात से व्याप्त रहती है। सूर काव्य में ये परम्पराएं व्यापक रूप से परिलक्षित होती हैं। इस तरह प्राकारांतर से सूर के काव्य में चित्रक-बिम्बों को देखा जा सकता है, यही कारण है कि सूर के पदों का राजपूत कला में और राजपूत पहाड़ी कलम में अत्याधिक चित्रण मिलता है।

इस सबके साथ एक तथ्य और भी उल्लेखनीय है, वह यह कि सूर भक्त कवि थे और लीलागान करते थे। लीलागान में आज के गेय गीतों की तरह कोई न कोई सापेक्ष्य आधार होता ही है। प्रभु कृष्ण और राधा तथा उनके जीवनगत व्यापार, सूर के चित्र-परक बिम्बों के मूलाधार थे, तभी हर भक्त, राजा-महाराजा, अमीर-उमराव सामंत ने अपने चित्रकारों को इसके चित्रण की दिशा में प्रेरित किया है। भक्ति का एक आधार चित्र-दर्शन भी है। लीलागान और चित्र दर्शन का, यह परम सानिध्य भक्तों को रुचिकर प्रतीत हुआ।

सूर सागर में चित्रपरक बिम्ब कथा तत्वों के साथ आयातित हैं। सूरसागर में कुल बारह स्कंध है। एक से लेकर नौ तक बहुत ही लघुकाय है। दशवां स्कंध शेष समस्त स्कंधों से बहुत ही बृहताकार है। प्रथम स्कंध में शुकदेव,

जन्म, विदुर और द्रौपदी की कथाएं, भक्तिमहात्म, हरि-विमुखन-निंदा, भगवान् का विराट् रूप, हिरण्यकशियपु और हिरण्याक्ष की कथाए हैं। तृतीयेतर स्कंधों में शैवों के पतित चित्र, सामाजिक संकेत धार्मिक उपदेश, गुरु भक्ति, मानव-वर्ण-स्त्री-धर्म, पौराणिक कथाएं तथा राम नाम की महिमा और नवम में अनेक इसी तरह की कथाएं हैं। एकादश और द्वादश स्कंध दार्शनिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं। सूर सागर का समस्त सार दशम स्कंध में है। इसे पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में विभक्त कर विचारणीय है।

दशम स्कंध के पूर्वार्द्ध में कृष्ण के जन्म से लेकर राधा की अनन्य भक्ति की चरम परिणति तक है। कृष्ण के जन्म के अवसर पर सूरदास ने जो चित्र उपस्थित किया है, उसमें 'देवनि दुंदभी बजाई' के साथ 'विद्याधर-किन्नर कलोल' की स्थिति के साथ ही गंधर्वगान में 'सूर-नर-रसिक', 'सब नचति' हैं।[1] भरहुत, साँची, अजंता, ऐलोरा में जन्म अवसरों में यह सब प्रस्तुत संदर्भ, प्रस्तर और भित्ति पर उद्रेखित और चित्रित है। सूर इस तथ्य को कृष्ण के जन्म-अवसर पर सर्व प्रथम प्रस्तुत करते हैं। यह प्राचीन परम्पराओं का पुन: प्रस्तुतीकरण काव्य के माध्यम से हुआ है। इसके अनंतर पुत्र का मुख देखना, यमुना पार जाना, यशोदा के घर आनंद मंगल-गान, दान, भेंट आदि के स्थिर और गतिमय चित्र-परक-बिम्ब प्रस्तुत किए हैं। एक व्यापक गतिमय चित्र-परक बिम्ब इस तरह है—

माथ मुकुट, श्रवन मनि कुण्डल, पीत वसन भुज चारि सुहाई।
बाजत ताल-मृदंग जंत्रगति, चरचि अरगजा अंग चढ़ाई।
अच्छत दूब लिए रिषि ठाढ़े, बारनि बंदन वार बन्धाई।
छिरकत हरद दही, हिय हरषत, गिरत अंक भरि लेत उठाई॥[2]

'चारि' भुजा सूर की अति कल्पना है, शेष प्रथम पंक्ति में कृष्ण का अलंकरण है। स्थापत्य कला में अलंकरण पद्धति का सन्निवेश १२वीं शताब्दी के लगभग से बहुल प्रयोग में प्राय: प्रारम्भ हो गया था। इसके प्रतीक रंगपुरम के मंदिर, गुजरात के मंदिर तथा राजस्थान का कीर्ति स्तम्भ-चित्तौड़, आबू-दिलवारा के जैन मन्दिर, रनकपुर मन्दिरों की सज्जा, मण्डौर, ओसिया, केकिण्ड, नीलकण्ठ, के मन्दिरों की सज्जा-शिल्प पद्धति, है। शेष तीन पक्तियों में गतिमय चित्रों की स्वाभाविक-अभिव्यक्ति है। जसौदा का हरि को पालने में झुलाना, कंस-पूतना प्रसंग, कागासुर वध, सकवसुर वध, तृणावर्ध वध, के धर्म-जन्य-प्रसंग चित्रकारों के चित्रण के विषय हुए हैं। अनेक स्थलों पर अनेक ढंगों से इसे प्रस्तुत किया है। राजपूत पहाड़ी चित्र शैली के चित्रकारों ने कहीं तो भागवत को ही सीधा आधार मान कर चित्रण किया है और कहीं सूरदास का पद उद्धृत कर, आत्मानुकूल अनुगमन किया है। अधिकांश चित्र स्वतंत्र रूप में भी मूल कथाओं की संज्ञा मात्र पर आधारित हैं। 'नान्हीं दंतुली', 'दूध की दति' और 'दूध दतुलियाँ' में 'हरिकिलकत जसुमति की कनियाँ' सूर का सहज दृष्टि सापेक्ष चित्रण है जो कि पाठक श्रोता के समक्ष, रूप को जागृत कर चित्र बिम्ब को पुन: प्रस्तुत करता है।

हिन्दू संस्कृति के नामकरण, अन्न प्रासन, वर्षगांठ, कनछेदन, सस्कारों के बाद कृष्ण घुटुरुवों चलने लगते हैं जिसमें 'लटकन-लटकन ललित माल पर, काजर विन्दु भ्रुव उपर 'की शोभा नैननि भरि' सूरदास देखते हैं[3] और

---

१. देवनि दिवि दुंदभी बजाई, सुनि मथुरा प्रगटे जादव पति।
विद्याधर-किन्नर कलोल मन उपजावति मिलि कंठ अमित गति।
गावत गुन गंधर्व पुलकितन, नचति सब सुर-नारि रसिक अति॥
६।६२४, नंद दुलारे वाजपेयी, सूरसागर, पृष्ठ २५६।

२. सूरसागर, नंद दुलारे वाजपेयी, पृष्ठ पद सं. १६। ६३७, पृष्ठ-२६३।

३. सूरदास ६८। ७१३, नंद दुलारे वाजपेयी, पृष्ठ-२६५।

पाठकों को देखने के लिए प्रेरित करते हैं। जसोदा कृष्ण की अगुरनि-गह पाइन चलना सिखाती है। चलते हुए बाल-कृष्ण की पैंजनियाँ झनक-झनक बजती हैं।[१] चूंकि कृष्ण चलने लगते हैं, अतः दधि माखन के अति प्रचलित चित्रों को विविध रूपों में अभिव्यक्त किया है। यहीं से कृष्ण चाँद के लिए रूठना प्रारम्भ करते हैं। कृष्ण को चाँद तो नहीं मिलता है अपितु सूर कलेवा कराने लगते हैं और फिर कृष्ण स्याम रूप में ग्वाल सखा संग क्रीडांहेतु गमन करते हैं। ये पद और प्रसंग पढ़ते हुए सहृदय चैतन्य पाठक को यह आभास सहज ही होने लगता है, कि यह लीला है, व्यक्ति जान बूझ कर यह सब कर रहा है। एक तरह से अतिशयोक्ति है जिस पर यह नहीं कहा जा सकता कि आज का जन-सामान्य का कितना विश्वास शेष है। स्याम, मोहन, कान्ह, प्रौढ़चर्या का बोध देता है किन्तु चित्रो में ये प्रसंग रंग विधा से आकर्षित हो जाते हैं तथा गायन काल में संगीत की विभिन्न राग-रागिनियाँ जिनमें यह निबद्ध है, सांगीतिक प्रभावान्विति के साथ मूल भाव, आत्म के गहरे-तल तक सम्प्रेषित हो जाता है।

कृष्ण का माखन खाने से लेकर माखन चोरी के कई तरह के बिम्ब और व्यापक चित्र हैं। कहीं कृष्ण चलती रई, मटकी से निकाल कर खाते हैं, कही सखाओं के साथ कहीं अकेले ही खाते हैं, कोई न कोई देखता अवश्य होता है। इस तरह के चित्र प्रायः सभी तरह की भारतीय चित्र कलमों में तथा सभी स्थानीय शैलियों में प्रस्तुत किए गए हैं जो कि कहीं स्वतन्त्र है और कहीं सूर के पद के साथ तो कहीं भागवत के प्रसंग पर या किसी अन्य ग्रन्थ के आधार पर आधारित हैं।

कृष्ण का दधि मटकी के खम्भे से बाँधा जाना, जसोदा का आना और वास्तव में जसोदा से कृष्ण की शिकायत करने वाली को, अपने पति को ही बंधा पाना, कृष्ण की दैविक लीलाएँ हैं। इस तरह के प्रसंगों के माध्यम से कृष्ण का दैविक रूप और कृष्ण का एक सामान्य मानव रूप जो कि जीवन के छोटे से छोटे व्यापक में भी प्रवृत्त होता है, प्रस्तुत किया गया है। कहीं-कहीं चोरी के अवसर के घात-प्रत्याघात के प्रकरण बहुत ही सजीव गति के साथ शब्द विधा में उतरे हैं।[२] गोदोहन में कृष्ण और राधा भी अधिक लोकप्रिय हुए हैं गोचारण में कृष्ण बकासुर का वध करते हैं।[३] इसके उपरान्त ब्रह्मा-बालक-वत्स-हरण का प्रसंग कहीं-कहीं प्रचलित रहा है। इन प्रसंगों में सदैव कृष्ण की शक्ति दैवक रूप में प्रस्तुत हुई है। धेनुक वध, कालीया-दहन, काली-दह जल-पान के साथ ही कृष्ण की वंशी बजने लगती है। वंशी की स्वर लहरियों में बड़ी-बड़ी भंवरियाँ पड़ने लगती हैं।

दावानल के प्रसंग में सभी जगहों के चित्रकारों ने अभिरुचि दिखाई है। क्योंकि इस में अग्नि और ज्वालाओं का चित्रण चित्रकारों को नई सामग्री देता रहा है। इन आग की लपटों के साथ रंग योजगा के विकास के अबसर भी चित्रकारों को मिलते रहे हैं।

स्याम की वंशी के साथ ही 'जुवती स्याम अंग निरखि' भुलातीं है। यहाँ से कृष्ण रीतिकालीन राजपूत चित्र शैलियों के चित्रण के प्रमुख विषय बनते हैं। सूर ने मुरली को राग गूजरी, नट, घनाश्री, गौरी, सारग, कन्हरा, मल्हार की गायन पद्धति में प्रस्तुत कर, जीवन के वैविध्य को प्रस्तुत किया है। राजपूत कलम की चित्र शैलियों में संगीत विधा को भी चित्र-परक रूप दने का व्यापक प्रयास हुआ है। प्रत्येक राग का अपना वातावरण अलग होता है, उसी वाता-

---

१. सूरदास १३२। ७५०, नंद दुलारे वाजपेयी पृष्ठ-३०५।

२. रोकयौ भवन-द्वार ब्रज-सुन्दरि, नूपुर मूंदि अचानक ही कै।
अब कैसे जैयतु अपनै बल, भाजन भांजि दूध दधि पी कै।
भारि गंडूष, छिरक दै नैननि, गिरधर भाजि चले दै कीकै।
सूर सागर, २८७। ९०५, नंद दुलारे वाजपेयी, पृष्ठ-३५७।

३. सूर सागर ४२७। १०४५, नंद दुलारे वाजपेयी, पृष्ठ-४०४।

वरण को कवि शब्दों का रूप देता है तथा चित्रकार, आकृतियों का रूप देता है। मालवा, मेवाड़, मारवार, कोटा, बून्दी शैलियों में प्रस्तुत रागों के चित्रों में कृष्ण का आयाम बहुतायत से हुआ है। सूर के पद इनमें बहुत ही अल्पतम् मिलते हैं। कृष्ण और मुरली का चित्रों में आयाम तत्कालीन इसी सूर की अनुप्राणित चेतना का परिणाम है जो समान रूप से काव्य और चित्र विधा में अभिव्यक्ति हुआ है। मालवा के चित्रों में जो कि सोलहवीं शताब्दी-पूर्वार्द्ध के हैं, उन चित्रों में हालांकि बहुत कम हैं तथा जिनमें मुरली और कृष्ण का आयाम है, वह सूर पूर्व सांस्कृतिक परम्परागत है। इसे भागवत का प्रभाव कह सकते हैं। कृष्ण की इस तरह की रूपाकृतियाँ प्रस्तरों पर भी उत्कीर्ण प्राप्त होती हैं। अधिकांशतः १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से सूर के पदों का चित्रण बहुतायत से मिलता है। किसनगढ़ में वल्लभाचार्य के मत को मानने वाला राज्य परिवार रहा है। यहाँ सूर की मान्यता सामान्य जन समाज पर सीधी रही है और यही रूप चित्रकारों में भी रहा है।

राधा और कृष्ण का मिलाप सूर सागर की अपेक्षा चित्रकारों का प्रधान विषय रहा है। सूरदास के स्याम 'कौन तू गोरी' बूझ कर 'भुरई राधिका भोरी' को 'संग मिलि जोरी' खेलन को ले जाते हैं।[1] पहले इनकी 'नैन-नैन' 'सब बात' होती है फिर हरी (कृष्ण) राधा के 'विसाल चंचल अनियारे लोचन' को मीचते हैं। वृषभानु सुता को अपना घर नैकु नहीं सुहाता है। दोनों एक दूसरे के प्रेम में खो जाते हैं। सूर के स्याम, राधा की नीबी गहते हैं, सरोज को श्रीफल पर रखते हैं तभी जसोदा देख लेती हैं, तब स्याम उरोजों को गेंद कह कर राधा को चुराने का दोष लगाने का बहाना बनाते हैं। इस पद का चित्रण बहुतायत से रीतिकालीन चित्रकारों ने किया है किन्तु चित्रों में जसोदा को हटा दिया है। पद का उल्लेख भी नहीं है। ऐसा प्रतीयमान है[2]। एक अगला चित्र है, जो इस तरह है—

धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी।
एक बार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहं प्यारी ठाढ़ी॥
मोहन-कर तैं धार चलति, परि मोहन-सुख अति ही छबि गाढी॥

इस शब्द चित्र में स्थिति स्थिर होते हुए भी पूर्वा-पर की कथा को कहने में यह स्थिर पल समर्थ होने के कारण न केवल मध्यकालीन के राजपूत कलम के चित्रकारों को चित्रण के लिए प्रेरणा मिली है अपितु आज के भी नाथ-द्वारा के भक्त चित्रकार, इस पद के आशय के बिम्ब के रूपाकृति में प्रस्तुत करते हैं। कहीं कहीं राधा को भी गाय दुहते हुए दिखाया है।

जमुना तट तक कृष्ण की रूपाकृति "मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल, पीत वसन, तन चंदन" मय हो जाती है। कृष्ण की रूपाकृति क्रमशः विकास ग्रहण करती है। चीर हरण प्रसंग में सूर के कृष्ण जल के भीतर 'पीठ सबनि कैं

---

१. बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति, काकी बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज खोरी॥
काहे को हम ब्रज तन आवति, खेलति रहति आपनी पौरी॥
सुनत रहत श्रवनन नंद-ढोटा करत फिरत माखन-दधि-चोरी॥
तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलो संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि, बातनि भुरइ राधिका भोरी॥
६७३। १२९१ सूर सागर, नंद दुलारे वाजपेयी, पृष्ठ-४९७।

२. नीबी ललित गहि जदुराई।
जबकि सरोज धरयौ श्रीफल पर, तब जसुमति गई आई।
६८२। १३०० सूरसागर, नंद दुलारे वाजपेयी, पृष्ठ ४९९-५२५।

पाछैं',[1] 'तन की परनिदूरि' करते हैं। इस तरह के चित्र देखने में नही आए चीर हरण के प्रसंग में कृष्ण किसी वृक्ष या कदंब या लतान्तरालों में खड़े दिखाए गए हैं। गोपियों के वस्त्र और आभूषणों को वृक्ष की डालों पर लटका दिया है। कृष्ण की दृष्टि नग्न स्नान करती हुई गोपियों पर न होकर, शून्य में बिखरी हुई है। केतिक चित्रकारों ने कृष्ण को गोपियों की ओर देखते हुए भी चित्रित किया है। पहाड़ी चित्रकारों ने इस प्रसंग को अधिकाधिक रूपों के साथ, प्रायः हर समय के राजाओं के समय, इसे रंग-रूपों में विविध-विधा में प्रस्तुत किया है। इसका मूल पद सूर सागर में इस तरह है—

बसन हरे सब कदम चढाए।
सोरह सहस गोप कन्यानि के, अंग-अभूषन सहित चुराए।
नीलंबर, पाटंबर, सारी सेत, पीत चुनरी अरुनाए।
अति विस्तार नील तरु तामें, लैं-लैं जहाँ-तहाँ लटकाए।
मनि आभरन डार-डारनि प्रति, देखत छबि मनही अटकाए।
सूर स्याम जुवतिनि ब्रत पूरन कौ फल डारनि कदम फराए।।[3]

चित्रों में सोरह सहस गोपियों का आयाम नहीं हो सका है। क्योंकि काव्य में अंक तो कितने ही बढ़ाए जा सकते हैं किन्तु चित्र में आकृति का आयाम करना होता है अतएव कहीं भी बीस-पच्चीस गोपियों से अधिक चित्रित नहीं हो सकी है। इसके चित्रण में भी चित्रकारों ने गोपियों को नत सिर अपने गुप्तांगों को छिपाते हुए चित्रित करने का प्रयास किया है। वस्त्रों के लौटाने के लिए 'मो आगे सिंगार करौ तब', 'सूर-स्याम' चीर देने को कहते हैं।

वैसे साहित्य विधा में यह एक आध्यात्मिक रूपक है जो इस सत्य को प्रकट करता है कि कृष्ण परमात्मा है और प्रभु से गोपी रूपी आत्मा का किसी तरह का भेद नहीं रह सकता है। परमात्मा आत्मा का स्वामी है, इसी रूप में वल्लभ-भक्ति है। सूर के मुरारी कहते हैं—'मैं पति तुम मेरी सब प्यारी तुमहि हेतु यह वपु ब्रज धारयौ'[4]। इसके उपरान्त सभी गोपियों में 'हरि देखन की साध' भर जाती है। इन गोपियों में परकीया भाव मिलता है। राजपूत कलम के चित्रों में यह भाव नहीं दर्शाया गया है। राधा और कृष्ण के युगल चित्र अनेक रूपों में, अनेक भावों के उन्मेष के साथ प्रस्तुत किए हैं कहीं कृष्ण छिपकर राधा को देखते हैं, कहीं राधा कृष्ण का रूप निहारती है, कहीं वर्षा के कारण कांमली में, दोनों बचने का प्रयास करते हैं। यह कृष्ण और राधा का मेल मिलाप गोया संयोग का समय है। इसमें जितने भी रूप सूर को संभावित प्रतीत हुए, उन्हें शब्द रूपों में प्रस्तुत किया है। चित्र विधा में यह बात नहीं हो सकी है, उसमें रतिभाव शृंगार के अंतर्गत, ही प्रमुख व्यापक है। कहीं हरि राधा के रूप को निहारते हैं, कहीं घास पर लेटी हैं कहीं हरि राधा को छेड़ रहे हैं—खिजा रहे हैं। नई प्रीत और मिलन के चित्रों की व्यापक परम्परा सर्वत्र प्राप्त होती है।

वैदिक काल का समन, महाभारत काल का समज्जा, पाणिनि काल का समवाय, और आज की पिकनिक : विनोयात्रा का दौर गोवर्धन पूजा के रूप में सूर सागर में है। गोकुल के सभी नर नारी नंद के साथ सज संवर कर— 'सकट साजि जब ग्वाल चले मिलि गिरि पूजा कैं' निमित्त बढ़ते हैं। ब्रज की नारियों की शोभा या तो चित्रों में देखिए या फिर इस पद में—

---

१. १७६। १३८६ सूरसागर, नंददुलारे वाजपेयी, पृष्ठ-५२५।
२. सूरसागर ७८४। १४०२, आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी, पृष्ठ ५२९।
३. ,, ७९९। १४१७ ,, ,, पृष्ठ ५३३।
४. ७९९। १४१७ सूर सागर नंद दुलारे वाजपेयी पृष्ठ ५४७।

चली घर घरनि तै ब्रजनारि ।
मनौ इंद बधूनि पंगति, लखति शोभा भारि ।
हिरि सारी सुरंग, पंचरंग, षष्ट-दस सिंगारि ।।[१]

इन स्थितियों का चित्रण बहुत ही सराहनीय ढंग से हुआ है । जिसमें प्रकृति का आयाम स्पृहनीय है । वस्तु-स्थिति में गोवर्द्धन, ग्वालों के कुल देवता के रूप में पूज्य है । इस कथा प्रसंग के साथ इन्द्र का वृतांत जुड़ा हुआ है । सूर के स्वरों में इन्द्र को ऐसा लगता है कि जैसे अब उसकी पूजा नहीं होगी । इस पर इन्द्र स्वशक्ति का बोध कुपित होकर घनघोर वर्षा कर, कराते हैं । ग्वाल चिल्लाते हैं—माधो महामेघ बिरि आयो,

घर कौ गाइ बहोरों मोहन, ग्वालिनि टेरि सुनायौ ।।[२]

वर्षा पूर्व स्थिति के रूप में बादलों का चित्रण चित्र विधा में उपलब्ध होता है । कृष्ण का गोवर्धन पर्वत को कनिष्ठका पर धारण करने के पूर्ण चित्र, अनेक रूपों में अति ही स्वाभाविक रूपों में और ढंगों से चित्रित हुए हैं । ग्वाल, बाल, नंद, गाएँ सभी पर्वत के नीचे हैं । कोई ग्वाल अपनी लाठी का सहारा दिए है इस तरह का आदि-आदि स्वरूप हैं । कागज की पृष्ठ भूमि सीमित होती है अतः पर्वत का कागज की पृष्ठ भूमि पर आयम हो और उसके साथ मानव आकृति हो, इन दोनों को मिलाकर प्रस्तुत करना दुस्तर कार्य है अतएव इन चित्रों में पहाड़ों की आकृति का संकोच कर दिया है । लघु चित्रों की परम्परा रहने से कम से कम स्थान में पहाड़, नदी, वर्षा, वर्षा का जल, झाड़, लता, द्रुम, गाएँ ग्वाल, बाल, ब्रज नर नारी तथा अल्पतः गृह सामग्री आदि का समायोजन है ।

मुरली के सन्दर्भ में सूर गोपियों के स्थिर रह जाने की स्थिति को 'चित्र लिखि काढ़ी' में उत्प्रेक्षा में प्रस्तुत करते हैं[३] । यह प्रस्तुत बिम्ब इस तरह के तथ्य को प्रगट करता है कि सूरदास ने चित्रों को देखा था । यह अंतःसाक्ष्य प्रमाण है अन्यथा चित्र विधा में आकृति का भाव क्या हो सकता है, यह बिना देखे नहीं कहा जा सकता है । सूरदास के पदों में स्थिर जगह विभाजित रूपों में गोया, चित्रक परिप्रेक्ष्य में 'कोउ जेवनारि करति, कोउ बैठी, कोउ ठाढ़ी ही धाम, कोउ जेवति, कोउ पतिहिं जिवावति, कोउ सिंगार में बाम' मुरली की ध्वनि सुनते ही सब की सब गोपी स्थिर हो गईं । इस स्थिति की संज्ञा सूर चित्र-स्थिर-स्थिति से देते हैं । साथ ही कारण भी देते हैं कि गोपियां 'सुनत भई बौरी' अर्थात् कृष्ण के रास की यह पूर्व भूमिका है । कृष्ण के रास की चित्रों की विशाल परम्परा मिलती है । रास और रास मण्डल के बीच स्याम और राधा होते हैं । किन्हीं किन्हीं चित्रों में स्याम राधा तो बीच में होते ही हैं, पर साथ ही घेरे के जितने भी अन्य जोड़े होते हैं वे भी राधा कृष्ण के चित्रित होते हैं[४] । सूर ने राधा के चित्रण में 'अंगिया नील, मांडनी राती' के द्वारा रंगों को स्पष्ट किया है । इसी तरह और रूप सज्जा इस पद से सहज ही व्यक्त होती है । पद इस तरह है—

नीलांबर पहिरे तनु भामिनि, जनु घन दमकति दामिनि ।
सेस, महेस, गनेस, सुकादिक, नारदादि, की स्वामिनी ।।

---

१. ८२६ । १४४७ सूर सागर ,, ,, पृष्ठ ५४८ ।
२. ८२६ । १४४७ पृष्ठ ५४७ सूरसागर, नद दुलारे वाजपेयी ।
३. आजु बन बेनु बजावत स्याम स्याम ।
मनो चित्र कैसी लिखि काढ़ी, सुनत परस्पर नाम ।।
६६३-१६११ पृष्ठ ६०४ सूर सागर, नंद दुलारे वाजपेयी
४. रास मण्डल मध्य स्याम राधा ।
मनो घन बोचि दामिनी कोंधति सुभग एक है रूप, द्वै नहिं बाधा ।;
१०५२ । १६७०, पृष्ठ ६२२, सूर सागर नंद दुलारे वाजपेयी ।

ससिमुख तिलक दियौ मृगमद को खुभी जराई परी है ।
नासा तिल प्रसून बेसरि छबि, मोतिन मांग भरी है ।
अति सुदेश मृदु चिकुर हरतचित, गूँथे सुमन रसालहिं ।
सकरी कनक, रतन मुक्तामय लटकन, चितहिं चुरावै ।
काम—कमान—समान भौंह दोउ, चंचल नैन सरोज ।।
कंबु कण्ठ नाना मनि भूषन, उर मुक्ता की माल[1] ।

ब्रज नारियों की सज्जा के साथ चेष्टाओं का आलेख सूर के सूक्ष्म परिवेक्षण साथ ही एक नायक और अनेक नायिकाओं का चित्रक प्रसंग भी प्रस्तुत करता है[2] । स्याम की मुरली-धुनि सूर के अनुसार बैंकुंठ तक पहुँचती है । इसके उपरान्त श्रीकृष्ण विवाह का प्रसंग है । यह ध्यान देने की बात है कि श्रीकृष्ण विवाह पर किसी भी चित्रकार ने अभि-रुचि नहीं दिखाई है, न ही किसी मूर्ति शिल्पकारों ने प्रस्तर पर इस रूप को उरेहा है । कृष्ण के अनेक चित्र-परक पद सूर ने पनघट पर ग्वालिनों के साथ प्रस्तुत किए हैं, इसी तरह के राह में दधि-मटकी से छेड़-छाड़ कर गिरा देना, बिथुरा देना, आदि का चित्र उपलब्ध होता है । इस तरह के चित्रों के पीछे सूर के पदों का अभाव है, पर किन्हीं में पद अवश्य दिए हुए हैं । सूर के शब्दों में 'जब दधि बेंचन जाहिं, मारग रोकि रहे गिरधारी' यह केवल अतिरंजना में प्रस्तुत किया है । ऐसा स्वरूप समाज सापेक्ष सूर के समय में भी नहीं रहा होगा । सूर ने शुद्ध भक्ति परक, प्रतीक रूप में ऐसा प्रस्तुत किया है जो कि आगे चलकर चित्रकारों का रोचक विषय बना । रंग-समज्जा में जहाँ कि विविध रंग मस्ती में फैल रहे हों वहाँ दधि का स्वेत छिरकता रंग, अध-सब्ज-पीत भूमि पर फैला हुआ दधि रंग, मटकी को पकड़ झुकते कृष्ण, अन्य ग्वालिनों का विस्मय से देखना, जिसका दधि गिर रहा वह भी—क्रोध या रोष की जगह कृष्ण को देखती हुई आदि विविध विभावनाओं के साथ चित्रित हुई है । ये सभी रूप चित्रकारों को बहुत ही भाए हैं जो कि सूर के, केवल सूर के हैं। ये तो कुछ रीतिकाल कवि संदेह करने लगे थे कृष्ण के प्रति कि वे ग्वालिनियों के पास 'गोरस हित नहिं आए' । इन चित्रों में कहीं कहीं कृष्ण के साथ दधि गोरस को छीन खाने में आनन्द लेने में उनके गोप सखा भी लंगोटी, या कच्छा,

---

१. १०५५ । १६से३, पृष्ठ ६२४ „ „ ।
२. गति सुघंग नृत्यति ब्रज नारि ।
हाव-भाव नैननि सैननि दै, रिझवति गिरिवर धारि ।।
पग-पग पटकिं भुजनि लटकावति, फूंदा फरनि अनूप ।
चंचल चलत भूमिका, अंचल अद्भुत है वह रूप ।
दुरि निरखत अंग, रूप परस्पर दोउ मन हीमन रीझत ।।
१०५७ । १६७५ पृष्ट ६२५ सूर सागर, नंद दुलारे वाजपेयी
× × ×
गोकुल सकल गुबालिनी, घर-घर खेलत फाग ।
× × ×
चोवा, चंदन, अरगजा, उड़त अबीर गुलाल ।
कर करताल बजावहीं, छिरकत सब ब्रजनारि ।।
× × ×
ढप, वासुरी, रंज अस महुअरि, बाजत ताल मृदंग ।
अलि आनंद मनोहर बानी, गावत उठति तरंग ।। (३४७८)

फटका पहने, चित्रित किए गए हैं। वे साधारणतः कृष्ण के सखा गोप-गण शान्त अचिर मुद्रा में स्थूलता लिए हुए ही प्रतीत होते । इन गोपों में कृष्ण के प्रति अनुराग लक्षित होता है ऐसा ही सूर ने केवल भक्ति भाव से ही इन गोपों को अपने पदों में दधि-क्रिया में रखा है जो कि तत्कालीन भक्ति भावना के ही प्रतीक हैं। सूर के शब्दों में पद इस तरह है—

ग्वारिनि जब देखे नंद-नंदन।
यह सुनि अनिंद बढ़ाओ, मुख कहै, बात डराई।[1]

'ब्रज के लरिकिन संग लिए' कृष्ण घर-घर होली खेलते हैं। मोहन 'हाथिन कनक पिचकारी लिए' रंग प्यारी को तकि-तकि छिरकत' है।[2] ब्रजखोरियों में अबीर अरगजा, केसरि, आड़, गुलाल, नव-कुम-कुम, हरद, लिए 'अग्रज अनुज, सुबाहु श्री दामा, ग्वाल बाल सब सखां समेत, 'चंग, मृदंग तार', 'दुंदुभि ढोल पखावज आवफ, डफ मुरली'[3] बाद्य वृन्दों के साथ, कुमारि, जोवन भरी विपुल नारि, वृषभानु किशोरी, 'संग नारि गन' होली, दोनों ओर से प्रबल वेग से चलती है। सूर के एक ही पद में बहुत कुछ रूपाकृति स्पष्ट होती है यथा देखिए—

गृह-गृह ते सुंदिर चलि देखन, श्री ब्रज राज कुमार।
देखत बदन बिथकित भई, मोहन ठाढ़े सिंह द्वार।
डिमडिम, पटह ढोल, डफ बीना, मृदंग चंग अरु तार।
गावत प्रभृति सहति श्री दामा बाढयो रंग अपार।
इत राधिका सहति चन्द्रावलि, ललिता घोष अपार।
उत मोहन हलधर दोउ, भैया खेल मच्यो दरबार।
रत्न जटित पिचकारी कर लिए छिरकति घोष-कुमारि।
मदन मोहन पिय रंग रस माती, कछुवन अंग सम्हारि।[4]

ब्रज की होरी आज भी लोक प्रसिद्ध है। होली पर, कृष्ण राधा और ग्वाल बालों के अनेक चित्र अनेक समयों के है। इन चित्रों में यह नहीं कहा जा सकता कि कौन वास्तव में सूर के पदों के आधार पर चित्रित हुए है और कौन नहीं। पर हां, कुछेक ऐसे हैं जो कि निश्चित रूप से उपर्युक्त वर्णित बाद्य-वृःदों और कृष्ण, कृष्ण-सखा, राधा और उनकी सहेलियों के साथ चित्रित हुए है तथा सूर के पदांश भी उन चित्रों की उपरली पृष्ठ भूमि पर या चित्र के नृष्ठ भाग पर अंकित है। सूर ने प्रायः होली के रंगों में तीन मूल रगों का उल्लेख किया है। 'नीलाम्बर' का वस्त्र से आशय होते हुए भी नीले रंग का प्रतीक है। लाल और पीला रंग भी इस होली की समा में अबीर, अरगजा केसरि, आड़, गुलाल, नव कुंम-कुंम, हरद के बतौर प्रयुक्त हैं। ये रंग दोनों ही मूल रंगों के समिश्रण से तैयार होते हैं। यहाँ हालांकि समिश्रण की बात नहीं है अपितु रंग का आधार ही समिश्रित विधा का प्रतीक है। मूल रूप में तीनों मूल रंगों को यहाँ देख सकते हैं। मूल रंगों के माध्यम से या उनके ही प्रश्रय में समस्त रंग अपना रूप धारण करते हैं। स्वेत के रंच मात्र सम्मेलन के लिए सूर ने 'अरगजा' का उपयोग किया है। इस रंग विद्या में किसी तरह की खींच-तान नहीं की गई है। सूर के मूल शब्दों को ही उद्धृत करके उन्हें आधार मानकर यह अनुमान, धारणा में परिवर्तित कर प्रस्तुत किया गया है। चूंकि रंग का और होली का गहन सम्बन्ध होता है, इसी तरह चित्रकल। तो रंगों पर

---

१. सूर सागर, नंद दुलारे वाजपेयी पृष्ठ ७८१ पद सं. २१२०।
२. ,, ,, पृष्ठ १२३१ ,, ३५१४।
३. ३५११ पृष्ठ १२२६ सूर सागर : नंद दुलारे वाजपेयी।
४. ३५२४ पृष्ठ १२४० ,, ,, ।

आधारित ही है। यह उल्लेख यह तथ्य स्पष्ट करता है कि सूरदास रंग-विद्या से परिचित थे तथा यह भली-भाँति जानते कि किस रंग का किस पर क्या प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि उन्होंने जिस पर रंग का असर दिखाना था उसे पीतांबर पहिना दिया है तथा जिस को इस प्रभाव से वंचित रखना था उसे नीलांबर में आधृत किया है। एक बात यह कि यदि सूरदास जन्म से अंधे होते तो इस रंग परिवर्तन तथा रंगों की गहराई तथा नजदीकी-पन का इन्हें परिचय नहीं हो सकता था। यह साहित्य के पाठकों को मालूम होना चाहिए कि चित्रकला में सबसे पास का रंग पीला है और सबसे दूर का रंग नीला है। पीला कोमलता, किशोरिता, अनभेदे मोती की प्रकृति का प्रतीक है जिस पर सभी रंग अपना प्रभाव डालने मे समर्थ होते हैं। पर नीला रंग ऐसा होता है कि एक तो वह सबसे दूर का और दूसरा सभी रंगों को किसी न किसी रूप में प्रभावित कर देता है। इस स्थिति का अच्छा खासा ज्ञान सूरदास को था। प्रकृति के चित्रणों में यही सूर काव्य में भली-भाँति गोचर होती है। चित्रों या दृश्यों के प्रस्तुतीकरण में स्थान-गत गहराई रंग प्रस्तुत करती प्रतीत होती है। चित्रकला में लम्बाई और चौड़ाई के अतिरिक्त गहराई जो कि दार्शनिक रूपों में छाया प्रकाश गोया काला और सफेद के माध्यम में होती है तथा वस्तुगत में विविध रंगों में गोचर होती है, जिसे कि सूरदास देख सके हैं तथा उसका समर्थ चित्रण किया है। झूला, बसंत और होरी के उपरान्त कृष्ण को गोकुल से मथुरा लाने के लिए कंस द्वारा अक्रूर को भेजने का प्रसंग चित्र विधा में अधिकतर चित्रित हुआ है किन्तु इसके बाद का ब्रजवासियों गोपियों तथा जसोदा की विरह वेदना का विस्तृत व्यौरा चित्र-परक न होकर भाव-परक ही काव्य के रसिकों, कवियों तथा भक्तों का विषय हुआ है। केवल मात्र भाव या रस पर चित्र तैयार नहीं किया जा सकता है। भाव और रस रंगों और आकृतियों के तालमेल से व्यक्त कर दिए जाते हैं। इस तरह के चित्रों में केवल अकेली राधा को दिखाते हुए, कहीं राधिका को सखियों के संग विरह वेदना से दुखी. आकृति देते हुए, कहीं नाम रूप राधा तत्कालीन सामन्त, राजा महाराजा, अमीर उमराव की प्रिया के वास्तविक रूप में शाही ठाट-बाट में किसी ऊँची अट्टालिका के एकान्त प्रकृतिहीन कक्ष की स्थिति में पड़ी दिखाई देती है। राजपूत चित्रकला शैली के चित्रकारों में यह प्रवृत्ति क्रमश: जीवित रही है और हर समय के चित्रकारों ने इसे अपने तात्कालिक समसामयिकता के परिवेश में चित्रित किया है। इसकी मुखरता किसनगढ़, जयपुर के चित्रों में अधिक है। राजपूत पहाड़ी शैली के चित्रों में भी इस प्रवृत्ति का प्रचलन रहा है।

इस प्रसंग की लगभग कुछ मूल कथाएँ रजक वध, दर्जी, माली, कुब्जा का उल्लेख, कुवलयापीड़ हाथी. मुष्टि और चाणूर मल्लों का वध, कंस वध का आयाम चित्ररचना में कलाकारों ने किया है। बध के उपरान्त कृष्ण के राज्याभिषेक तथा कुब्जा के पटरानी बनने का उल्लेख एवं चित्र दोनों ही मिलते हैं।

उद्धव का ब्रज में आना, गोपियों का समझाना तथा उन्हें निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश देना तथा गोपियों द्वारा उद्धव के ज्ञान को हृदय की मार्मिकता से पराभूत करना, आदि प्रसंग रुचिकर हैं। राधा का विरह समस्त जीवन गत कठोरताओं को गला देने की शक्ति रखता है। सूर का उद्देश्य यही था कि किसी भी तरह ज्ञान मार्ग पर भक्ति मार्ग की हृदय गत भावना द्वारा विजय दिखलाना, जिसमें कि सूर सफल हुए हैं। राधा का कृष्ण से अन्तिम मिलन कुरुक्षेत्र में हुआ है यहाँ सूर का मनोवैज्ञानिक रूप प्रकट होता है सूर सागर में राधा के पाँच चित्र मिलते हैं। पहला चित्र भोरी राधा का है जिसे कि कृष्ण ब्रज की खोरी में पाकर मीठी बातें देकर भुरइ लाते हैं। इस चित्र में प्रेम की उत्पत्ति में, लिप्सा और साहचर्य दोनों का ही योग प्रेम व्यापारों के विकास में प्रस्तुत हुआ है। दूसरा चित्र राधा का परकीया का है। इसमें राधा 'कुल की कानि', 'लोके लाजि छांडि', 'दिनन की थोरी' कमसिन होते हुए स्याम के रंग में रंग जाती है। तीसरा चित्र स्वकीया भाव का है जिसमें राधा मानवती के रूप में चित्रित है। चौथा चित्र राधा का, वियोगिनी राधा का है जिसमें मानव का अति अहँ गल जाता है, यथा दो पंक्तियाँ देखिए—

मेरे नैना बिरह की बेल बई।
सींचत नीर नैन के, सजनी मूल पताल गई।

और राधा का अन्तिम चित्र, कुरुक्षेत्र के अन्तिम मिलन का है जिसमें राधा तम और रज से मुक्त सात्विक रूप में है यहाँ राधा भौतिक आवरणों से मुक्त होकर, परम भक्ति में लीन सामने आती हैं। जिसे सूर ने इस तरह प्रस्तुत किया है—

राधा माधव भेंट भई।
माधव राधा के रंग रांचे, राधा माधव रंग रई।
माधव राधा प्रीत निरन्तर, रसना करि सो कहि न गई॥[1]

सूर की राधा जयदेव की परकीया राधा, विद्यापति की विलास कला मयी किशोरी राधा, तथा चण्डीदास की पागल राधा से भिन्न, न तो विलासनी है, न पागल, न ही ग्वालिन है अपितु एक शुद्ध प्रेम मयी राधा है। राजपूत चित्र कला शैली की राधा में प्रेम है, अनुराग है, सूर के हाव-भाव तथा अनुभाव है, सूर के रंग हैं साथ ही में राजपूती शक्ति और शौर्य से अनुप्राणित राजपूती रूपाकृति है, वही चांचल्य, वही परिवेश और वही जीवन की विधा है, जो आज संग्राहकों के पास संगृहीत हैं।

सूर ने स्त्री श्रृंगार में नारियों को रंग-बिरंगे वस्त्रों से सज्जित प्रस्तुत किया है। घर से बाहर जाते समय नारियाँ पूर्ण सज्जित होकर ही किसीं मंगल कार्य के लिए जाती थीं। इन अवसरों पर सूर के ही शब्दों में निम्न श्रृंगार प्रचलित था जो कि चित्रों में भी दृश्यमान है। यथा—

ब्रज भयो महर के पूत, जब यह बात सुनी।
सुनि धायी सब ब्रजनारि, सहज श्रृंगार किए।
तन पहरे नूतन चीर, काजर नैन दिए।
कारी कंचुकी, तिलक लिलार, शोभित हार दिए।

यह तो सुनते ही दौड़ आने के समय का श्रृंगार है। इसमें गोरे अंगों पर कारी कंचुकी मयावक-मोहक आकर्षण रखता है। बीकानेर कलम की यह विशेषता है कि वह गोरे अंगों पर कारी कंचुकी पहिनाता है या फ़िर गोरे-गोरे अंगों पर आभूषणों की बाह्य रेखाएं काले रंग में चित्रित करता है। इन दोनों प्रकरणों में गोरे अंगों पर कारी कंचुकी आज का आधुनिक फैसन भी है। सूर का सौन्दर्य बोध बहुत ही तीक्ष्ण और स्थायी था, यह इस तथ्य का प्रतीक है। प्रसाद की तरह—'बांधा था विधु को किसने इन काली जंजीरों से' काला और गोरे का एक साथ तालमेल सौन्दर्य को बढ़ाकर ही प्रस्तुत करता है।

'फटा हुआ था नील वसन क्या, ओ यौवन की मतवाली' प्रसाद की नायिका का पूर्व बोध सूर की अभिव्यक्ति में 'फाटे चीर दिखावे गात' में एक सामान्य मुक्त भोक्ता के दृष्टिकोण में, चित्रकार के दृष्टिकोण में, मध्यकालीन सामाजिक के दृष्टिकोण में, कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता है। और भला 'फाटे चीर दिखावे गात' वाले कवि को कोई जन्मांध क्यों कर मानेगा।[1] अनेक अवसरों पर ब्रजनारियां या सूरदास के समकालीन नारियां अपने को अधिक सुन्दर बनाने के लिए विविध रंगों का प्रयोग करती हैं। शरीर पर चंदन, तेल, फुलेल का लेप आज के प्रसाधनों की तरह करतीं थीं। आभूषणों में पैरों में पैजनि, कमर में मेखला, हाथों में चूड़ियां, कड़े, कानों में तर्की, कर्णफूल, बेसरि नथ, कठला, कण्ठ-श्री, हरि, शीशफूल आदि का उल्लेख आया है। ठोड़ी पर नीला या काला बिन्दु लगाती थीं। सूर के शब्दों में इस तरह है—

---

१. पद ६५०, सूर सागर, नंद दुलारे वाजपेयी।

पगनि पेहरि, लाल लहँगा, अँगा पंचरँग सारि।
किंकिनी कटि, कनित कंकन, कर चुरी झनकार।
हृदय चौकी चमकि बैठी, सुभग मोतिनि हार।
कण्ठश्री, दुलरी, वराजति चिबुक स्यामल बिन्दु।
सुभग बेसरि ललित नासा, रीझि रहे नंद-नदु।।[1]

बालों का बढ़िया केश-कलाप' करती थीं। मांग का मोती और फूलमाला से सुसज्जित करती थीं। लम्बे बाल सौन्दर्य के प्रतीक थे।[2] पुरुष वेश में कृष्ण 'कटि तट पीत वसन' में सज्जित 'नृत्यत स्याम नाना रंग' गोचर होते हैं। यह एक तरह से सूरदास की कल्पना और भावना के साथ ही साथ तत्कालीन सांस्कृतिक परिवेश का भी अभिव्यक्ति-करण है। सामान्य जीवन का परिवेश साहित्य लहरी में अधिक मुखर हुआ है। किन्तु भ्रमर गीत सार, सूर सारावली आदि अन्य सूर के काव्य ग्रन्थ भी अल्पत: चित्र विधा में चित्रित हुए हैं।

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी के कथनानुसार सूरदास की प्रतिज्ञा यह है कि निर्गुण ब्रह्म के पीछे निरावलंब न दौड़कर सगुण पदगान कर रहे हैं।[3] इस सगुण पद गान की पृष्ठ भूमि में कृष्ण और उनके जीवन-गत-गेय प्रस्तुत व्यापारों की मूर्त कल्पना रही है जिसे कि चित्र-परक परिकल्पना की संज्ञा से अभिहित कर सकते हैं। सूरदास ने पहले कृष्ण के उन रूपों को अपने आत्म में सगुण रूप में अनुमाना और फिर उनका गान आरंभ किया। ये सगुण रूप चित्र विधा की क्रियात्मक स्थिति के पूर्व की स्थिति है।

सूर काव्य की सांगीतिकता भी सूर का वैशिष्टय है। सूर काव्य में ६८ रागों की पद रचना मिलती है। पदों में संगीत के सात स्वर, तीन ग्राम, २१ मूर्छनां, ४६ तान तथा ६ राग तथा ३६ रागिनियों के उल्लेख मिलते हैं।[4] १५वीं शताब्दी के लोचन कृत राजतरंगिणी में ७५ रागों का उल्लेख है। सूरदास कवि होने के साथ-साथ श्रेष्ठ संगीतज्ञ थे। इन्होंने पद के प्रारंभ के पहले राग का नाम दिया है। राग-रागिनी की शास्त्रीय परम्परा के अनुसार प्रत्येक समय का अगल राग तथा रागिनी है। इसी तरह से दिन-रात के २४ घण्टे में रागों को समयानुकूल वर्गीकृत रूप में ऋतु परिवर्तन के साथ शास्त्रीय विधा में प्रगट किया है। सूरदास ने इस विधा का पूरा पालन किया है। चित्र और काव्य में राग-रागिनियों का आयाम एक शास्त्रीय पद्धति को अपनाए है। इस पद्धति में संगीत के विभिन्न भावों के द्योतक है जिनका कि वर्ण विषय और वस्तु से निकट का संबंध रहता है। संगीत में शृंगार ही रस राज है, वीर, शांत गौण हैं, शेष सभी इन्हीं रसों में अंतर्भूत हो जाते हैं। अत: सूर की पद रचना में विभिन्न भावों के साथ विभिन्न वातावरण स्वत: समन्वित होते गए हैं। चित्र विधा में राग-रागिनियों के चित्रण की परम्परा इसी मूल प्रवृत्ति के ही समानान्तर प्रतिफलित हुई है। डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी सूर काव्य की भाषा का सबसे बड़ा गुण चित्र-मय होना मानते हैं।[5]

---

१. पद १६६१ सूरसागर, नन्द दुलारे वाजपेयी।
२. ,, ३२३५ ,, ,, ।
३. महाकवि सूरदास, पतीक योजना पृष्ठ १२६, वाजपेयी।
४. सरगम सुनि के साधि सप्त सुरन गाई। (११५१-सूरसागर)
....
तीनि ग्राम, इकईस मूर्छना, कोटि उनचास तान। (१३५३ सूरसागर)
--- --- ---
छहो राग छत्तीस रागनी, इक-इक नीके गावेरी। (१२३८ सूरसागर)
५. सूर साहित्य, पृष्ठ—१६३, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी।

सूर काव्य गत चित्रों का संदर्भ सर्व प्रथम पोद्दार अभिनंदन ग्रन्थ में वासुदेव शरण अग्रवाल ने प्रस्तुत किए हैं। इसमें पृष्ठ २६५ पर राधा के स्वरूप में किसनगड़ की बनीठनी का चित्र है। ६१० पृष्ठ के समक्ष गोवर्द्धन धारण का चित्र दिया हुआ है। पृष्ठ ७२५ के सामने राधाकृष्ण किसनगढ़ कलम का चित्र है। किसनगढ़ वल्लभ सम्प्रदाय के देवालय में कृष्ण भक्ति के अनेक तत्कालीन चित्र उपलब्ध होते हैं। मालवा कलम में प्रस्तुत नायिका भेद में कृष्ण और राधा का ही चित्रण है। सन १६६० ई० के लगभग के २५ चित्र राष्ट्रीय संग्रहालय में, चित्र संख्या ५१-६३। ३ से २५ तक तथा कुछ अन्य, नई दिल्ली में संग्रहित है। इनका विषय निसंदेह राधा कृष्ण है। सूर ने नायिका भेद को जिस रूप में प्रस्तुत किया है उससे कहीं सुघड़ तथा प्रेरक रूपों में ये चित्र हैं। यहाँ के सन् १६५० ई० के उपलब्ध कृष्ण सम्बन्धी चित्रों का आधार सूर की अपेक्षा भगवत पुराण का है। इन चित्रों की यह विशेषता है कि श्रृंगारिकता से परे हैं। इनमें ५१-६१।२४ कंस वध, २५ कृष्ण उग्रसेन, तथा २६ कृष्ण बलराम वासुदेव देवकी चित्रित हैं। ये भक्ति के सदर्भ में उल्लेखनीय है। ये चित्र रा. सं. में सग्रहित हैं।

नायिका भेद के चित्रों में जैसा कि सूर के वर्णनों में कृष्ण 'सरोज को श्रीफल, पर रखते हैं। यशोदा आ जाती है। कृष्ण राधा से गेंद चुराने की कहानी की गढ़ना करते हैं। ऐसे चित्र हैं। केवल यशोदा नहीं है। मालवा का चित्र सं० ५१-६३। ७ रा. सं. का इसी तरह का चित्र है। इसमें कृष्ण का हाथ राधा के वक्ष को दबाता हुआ चित्रित किया गया है। सन १६७५ ई० के लगभग की चित्रित कृष्ण लीलाओं के अनेक चित्र रा० सं० में है।

मारवार के चित्रों में कुछ चित्र उद्धव गोपियों की वार्ता के सूर सागर के आधार पर चित्रित किए गए हैं। ४७-११०। रा० सं० नई दिल्ली, चित्र में उद्धव महराज गोपियों को समझा रहे हैं। इससे आगे की कथा को व्यक्त करने वाले तीन अन्य चित्र चित्रमाला में और भी हैं। मेवाड़ में सूर के अनुकूल चित्रणों की लम्बी परम्परा रही है। विशेष कर नाथद्वारा में इस के चित्रों को तैयार करने तथा उन्हें भक्तों तक पहुँचाने का एक व्यवस्थित पेशेवर व्यवसाय आज भी वहाँ धड़ल्ले से चल रहा है। कोटा-बूंदी के चित्र भी इस तरह के पेशेवर व्यक्ति बनाते रहे हैं। इन पेशेवर चित्रकारों के हाथों में कोई प्रवृत्ति आ जाती है तो उसका स्तर नीचे आ जाता है। यह स्थिति मारवार में तथा नाथ-द्वारा तथा कोटा बूंदी में अधिक चित्र परम्परा को प्रभावित करती है। बूंदी-५५-२४।६८ रा० स० नई दिल्ली सन १७७५ के चित्र में रास मण्डल को दिखाया गया है। रास मण्डल का परिप्रेक्ष्य बहुत ही ऊपर से लिया गया है जिससे कि कृष्ण की माया एक ही केन्द्र बिन्दु से देखी जा सकती है। कोटा ५-१-७२।८, अठारवीं शताब्दी, रा० स० नई दिल्ली के चित्र में कृष्ण राधा से बाग में, प्रकृति के सानिध्य में चुपचाप अकेले मिल रहे हैं। इसमें राधा का समर्पण भाव द्दष्टव्य है। इसी सं० में इसी चित्र माला के ६६वें चित्र में कृष्ण कुंजर पर सवारी कर रहे हैं। यह 'कुवलिया' का सन्दर्भ है। ११६वें चित्र में एकान्त में वंशीवादन करते हुए चित्रित कर रहे हैं, या वंशीवादन प्रारम्भ किया हो, और सूर सन्दर्भ के अनुकूल ब्रजनारियाँ बस अब आने वाली हैं, ऐसा प्रतीत होता है।

जयपुर शैली के चित्र जिनमें कि राधा और कृष्ण की लीलाएँ प्रस्तुत की हुई हैं, बाह्य रूपाकृति के सौन्दर्य को देखते हुए सर्वाधिक आकर्षक हैं। रा० सं० की ४६-१६ चित्र माला से २११ से आगे कोई २५ के लगभग चित्र है। कृष्ण और राधा के प्रति संचित आत्मिक सौन्दर्य और इन चित्रों में व्यक्त दैहिक सौन्दर्य एक साथ साक्षात करते हैं। सूरदास के बचपन के राधाकृष्ण, ५५-२४।२५ चित्र में प्रस्तुत भवन में काम और वासना से परे अपनी किशोरा वय में खेल रहे हैं। जयपुर के राधाकृष्ण कमनीय अधिक चित्रित हुए हैं जबकि नाथद्वारे के कृष्ण किसी-किसी चित्र में आफ्रीकी काले रंग में चित्रित किए हैं। उनकी रूपाकृति मथुरा के पण्डितों, चौबों के सद्दश है। नाथद्वारा की कृष्ण लीला के चित्रों का ढंग, रंग, शैली सब अपरिपक्व स्थानीय प्रतीत होता है। मेवाड़ कलम के ४७-११० चित्र माला के उद्धव गोपी संवाद के २८६ से ३०४ तक के चित्र में सूर सागर का आधार है। ये चित्र बहुत ही अच्छे बन पड़े हैं।

किसनगढ़ शैली का एक चित्र जिसमें कृष्ण गाय को दुह रहे हैं, राधा खड़ी है, अन्य गोपियां देख रही हैं। (४९-१९। २६५, सन १७५० रा० सं०) यह चित्र सूर के संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है।

बीकानेर लालगढ़ किले के राजमहलों में, कृष्ण लीला, राधा कृष्ण, रास मण्डल का चित्रण हुआ है। अनूप संस्कृत पुस्तकालय में राधा-कृष्ण पर १२२ चित्र हैं जो कि भागवत के ही हैं। ये चित्र जोधपुर शैली के हैं। जोधपुर उमेद भवन-चित्र-पेलेश से जो राधा-कृष्ण के चित्र संग्रहित हैं वे अधिकतर की अपेक्षा पूर्णता श्रीमद् भागवत के दशम स्कंध की कथा के आधार पर बने हैं।

कुल मिला कर सूरदास अंधे नहीं थे, उन्होंने जीव और जगत को अपनी आंखों देखा था तथा उसका प्रभाव ग्रहण किया था। सूर काव्य पर प्रत्यक्ष राजपूत कला का प्रभाव नहीं पड़ता है पर सूरदास को चित्रकला की विधा का परिचय जैसा कि आम किसी सहृदय को होता है, वैसा ही रहा है। उनके काव्य वर्णनों में चित्रों और दृश्यों के प्रस्तुतीकरण में सापेक्ष गहराई है वह सूर के सबल पर्यवेक्षण का प्रतीक है। सूर के पदों का कीर्तन मन्दिरों में प्रचलित हुआ है। सूर द्वारा प्रस्तुत राधा-कृष्ण के बिम्बों को चित्रित करने की परम्परा का भी परिचालन हुआ है। भक्तों में इनका स्थान रहा है। इसी तरह की प्रवृत्ति जिन नरेशों में रही है उन्होंने सूर के पदों के चित्रण को प्रोत्साहित किया है। धार्मिक स्थानों पर व्यवसायिक रूप भी मिला है एक तरह से सूर के पदों का चित्रण प्रसंगानुकूल रुचि के आधार पर स्थान-स्थान पर हुआ है। जयपुर शैली में होली आदि का चित्रण, इसी तरह का है। किसनगढ़ शैली में भक्ति भाव के चित्रण को महती महत्ता मिली है।

राजपूती चित्रकला को सूर द्वारा वर्णित खुल कर राधा-कृष्ण की श्रृंगार भावना से, उनके काम और वासना-परक-चित्र बनाने की प्रेरणा मिली है। चित्रकारों ने भक्ति तत्व की अवहेलना समय के प्रभाव के कारण की है। सूर ने जो कुछ भी प्रस्तुत किया, उन्होंने जीवन गत समस्त व्यापारों में भक्ति भाव से कृष्ण की अति व्याप्ति दिखाने के उद्देश्य को सामने रखा। एक सामान्य गृहस्थ भी कृष्ण का सगुण भक्त हो सकता है। दोनों में सादृश्य तो स्थापित न हो सका। फिर भी जो भी कार्य सूर के पदों के चित्रण के सिलसिले में राजपूत चित्रकला शैली के चित्रकारों ने किया वह सराहनीय है।

राजपूत पहाड़ी राज्यों की चित्रकला में राधा-कृष्ण उन चित्रकारों के प्रधान आधार हैं। इन राजपूत पहाड़ी चित्रकारों ने सूर को भी अपना प्रमुख आधार माना है। वैसे इनके चित्रों में बहु वैविध्य देखने को मिलता है। विषय और वस्तु दोनों ही दृष्टियों से उत्तम हैं।

अध्याय-३

केसवदास के काव्य में राजपूत कला शैली क प्रभाव और राजपूत कला शैली पर केसव काव्य का प्रभाव।

कवि केसवदास का जन्म, रसिकप्रिया[1] की रचना के लगभग पैंतीस छत्तीस वर्ष पूर्व गोया सम्वत १६१२, रामचन्द्र शुक्ल, डा. रामकुमार वर्मा, रामनरेश त्रिपाठी, मिश्र बन्धु आदि विद्वानों के अनुसार है। अर्थात ईसवी सन् १५५५ में इनका जन्म हुआ। राजनीतिक दृष्टि से अकबर इनके जन्म के एक वर्ष बाद सन १५५६ ईसवी में गद्दी पर बैठा जो कि सन् १६०५ तक रहा। केसवदास का मृत्यु सम्वत् १६७४ है[2] अर्थात् १६१७ ईसवी सन् इनकी मृत्यु तिथि है। सन् १६०५ ईसवी में जहांगीर सिंहासन पर आरूढ़ हो गया था।

ऐतिहासिक दृष्टि से अकबर और जहांगीर का राज्यकाल केसवदास के लिए वह समय था जहां कि जन-सामान्य ने कई सदियों के उपरांत राहत और शान्ति का अल्पतः अनुभव किया हो। क्योंकि खिलजी वंश के शासन काल से लेकर शेरशाह के पूर्व समयों तक मुसलमान राज्यों का शासन हिंदुओं के प्रतिकूल ही रहा है। उदाहरण के लिए अलाउद्दीन खिलजी हिन्दुओं से उनकी आय का आधा भाग ले लिया करता था।[3] फिरोजशाह तुगलग ने, उसकी आज्ञा के विरुद्ध एक ब्राह्मण को धार्मिक कृत्य करने के अपराध में, जिन्दा जला दिया था। यह विधर्मी शासक की क्रूरता तथा धर्मान्धता की चरम सीमा थी।[4] सिकन्दर लोदी मंदिरों को गिरवाता तथा मूर्तियों का भंजन कराता था। बाबर हुँमायूँ के उपरान्त अकबर ने शेरशाह सूरी की हिन्दुओं के प्रति अल्प उदार नीति को व्यापक रूप देकर अपनाया। इन मुगल बादशाहों के काल में हिन्दुओं के प्रति शासन की नीति उदार और परस्पर सहयोगी होने लगी थी। इसी तत्व को दृष्टि में रखकर अकबर हिन्दू राजपूत राजाओं के यहाँ वैवाहिक संबंधों को स्थापित करने लगा था तथा हिन्दू राजाओं को ऊँचे-ऊँचे ओहदों पर नियुक्त करने लगा था। अकबर के ही काल में सामाजिक, सैनिक, और माल संबंधी सुधारों से, प्रजा को बल तथा राहत मिली। राजा टोडरमल की भूमि सुधार योजना में बादशाह और प्रजा दोनों को ही लाभ हुआ।

इन सब सुख समृद्धियों के साथ अकबर का मीना बाजार, जहाँगीर का शेर अफगान की हत्या कराना, आदि ये घटनाएँ वासनात्मक विलासिता पूर्ण प्रकृति का ही परिचय देती है। यह वासना और विलासिता अकबर द्वारा पालित पोषित ललितकलाओं में देखी जा सकती है। ठीक उसकी परम्पराओं का परिपालन जहांगीर ने भी किया है। इन बादशाहों की प्रवृत्तियों का अंशतः या किसी पर विपुलता से वातावरणीय प्रभाव देशी नरेशों के क्रिया कलापों में भी पहुँचा है।

साहित्य और अन्य इतर कलाओं को देशी राजा नरेश अपने यहाँ प्रश्रय तो सदा से ही देते चले आ रहे थे

---

१. संवत सोरह से बरस बीते अड़तालीस।
कातिक सुदि तिथि सप्तमी बार बरन रजनीस ॥ ११ ॥
अति रति गति मति एक करि, विविध विवेक विलास।
रसिकन को रसिक प्रिया कीन्ही केसवदास ॥ १२ ॥

२. आचार्य केसवदास : हीरालाल दीक्षित : पृष्ठ-३३।

३. मेडिवल इंडिया : लेनपूल : पृष्ठ १०४-१०६।

४. „ „ १४६।

किन्तु इस काल की धारा में इन नरेशों की आत्म रुचियां, कवियों, चित्रकारों, संगीतज्ञों, की कला प्रवृत्तियों को प्रेरित और प्रभावित करने लग गई। साहित्य में नारी के प्रति भोग्या का दृष्टिकोण परम्परा से चली आती हुई प्रवतित और परावर्तित नाथ, सिद्ध, बज्रयानी, सहजयानी की नारी विषयक वृत्तियों में, जो कि संतों की महाकृपा से सुधार की दिशा में प्रवहमान थीं, के विपरीत मुक्तिवादी वृत्ति को मुसलिम संस्कृति ने बढ़ावा दिया। नारी के प्रति रागात्मकता की अपेक्षा शारीरिक गठन मांसलता की शाब्दिक मुखरता मुगलिया दरबारों, हरमों आदि की नेक-नियतों की महाकृपा का फल है।

संगीत में बड़ा ख्याल और गायकी की जगह छोटा ख्याल, मुगलिया मनोबल की चंचल धारा का ही प्रतिफलन कहा जा सकता है। ठीक यही स्थिति यदि ध्यान पूर्वक विचारी जाए तो कला के क्षेत्र में हैं। इस सिलसिले में यह स्पष्ट है कि रीतिकालीन भोग-परक दृष्टिकोण इन मुगल बादशाहों के आगमान का परिणाम नहीं हैं। यदि ये मुगल न भी आते तब भी साहित्य में इस तरह का दृष्टिकोण स्वतः ही बदलता हुआ आ रहा था। यह अवश्य कहा जा सकता है कि इन बादशाहों की वृत्तियों को देखते हुए, प्रजा में भी—'यथा राजा तथा प्रजा' वाली कहावत स्थान पा गई और इस परिवर्तन की दिशा में शीघ्रता हुई।

मूर्ति और स्थापत्य कला की दारुण भंजन-प्रक्रिया के दौरान कलाकारों की आत्मा प्रस्तर के टूटते-टुकड़ों की तरह टूट-टूट कर बिखरने लगी। पत्थरों पर चलने वाली उनकी छेनी, कल्सुम और प्रहार की प्रक्रिया, पनाह की राह खोजने लगी। एक तरह से कलाकार अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम सुरक्षा की दृष्टिकोण से बदलने लगा अन्यथा युगों से विकास पाती, चली आ रही मूर्ति कला और स्थापत्य कला का आज स्वरूप ही विश्व के समक्ष कुछ और ही होता। खजुराहों जैसे विश्व प्रसिद्ध मूर्तिकला केन्द्र भारत के कोने-कोने में होते। खैर, कलाकारों ने मूर्तियों के निर्माण से अपनी आत्मा को हटाकर चित्रों के निर्माण में शनै-शनै व्यस्त कर दीं। जिसका कि प्रखर निखरता रूप मूर्ति कला के समानान्तर ही प्रगट होता रहा जो कि मालवा, चावण्डा, मेवाड़ के चित्रों में अपने आरम्भ की अवस्था में दिया हुआ है।

केशवदास बुंदेलखण्ड के ओरछा राज्यान्तर्गत तुंगारण्य के निकट वेतवा नदी के तट पर स्थित ओरछा नगर में रहते थे।[1] केसव कृत वीरसिंह देव चरित से ज्ञात होता है कि जिस समय रामशाह और बीरसिंहदेव आदि भाईयों में अनबन थी तथा युद्ध की भयानक स्थिति आ पहुँची थी, उस समय केसवदास रामशाह की आज्ञा से बीरसिंह के पास संधि प्रस्ताव लेकर गए थे। इसमें इन्हें आंशिक सफलता भी मिली थी। इस प्रकरण से यह ज्ञात होता है कि केसवदास पर तत्कालीन दोनों ही नरेशों की श्रद्धा थी। मिश्र बन्धु विनोद के अनुसार ओरछा नरेश महाराज रामसिंह के भाई इन्द्रजीत सिंह के यहां इनका विशेष आदर था। यही नहीं, केसव ने महाराज बीरबल के मार्फत इन्द्रजीत का एक करोड़ रुपए का हुआ जुर्माना माफ करवाया था।[2] जिससे ओरछा दरबार में इन्हें विशेष मान मिला। यह तथ्य केसवदास की तत्कालीन व्यापक ख्याति का द्योतन करती है। इन्द्रजीत का जुर्माना बादशाह अकबर ने पातुरी प्रवीणराय को मुगल दरबार में न भेजने के उपलक्ष्य में किया था। इसकी सत्यता का अनुसंधान तो किसी इतिहासकार ने नहीं किया है किन्तु अकबर को सौन्दर्य लोलुपता और कामुक मनोवृति को ध्यान में रखते हुए, उसके द्वारा यह सब होना असंभव नहीं कहा जा सकता है।

---

१. नदी वेतवै तीर जहं तीरथ तुंगारन्न।
नगर ओरछा बहु बसै, धरणी तल में धन्न ॥ ३ ॥
दिन प्रति जहं दूनौ लहैं, जहां दया अरु दान।
एक तहां केशव सुकवि, जानत सकल जहान ॥ ४ ॥ रसिक प्रिया पृष्ठ—९, १०।

२. भूतल को इन्द्र इन्द्रजीत जीवै जुग-जुग,
जाके राज केशोदास राजु सो करत है ॥

कुछ केशददास के संबंध की किंवदंतियां भी केसव के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालती हैं। जैसे बीरबल की मृत्यु का अकबर को समचार देना। क्योंकि अकबर ने कह रखा था कि जो भी कोई बीरबल की मृत्यु का समाचार देगा, वह भीषण दण्ड का भागी होगा, तब किंवदंती के अनुसार केसवदास जी ने बादशाह के समक्ष निम्न संदर्भित दोहा निवेदित किया था। इस किंवदंती से इस सत्य पर प्रकाश पड़ता है कि केसवदास का अकबर के दरबार में भी अच्छा सम्मान था। केसवदास का दरबार में खुला आवागमन रहा है। इस आवागमन के माध्यम से केसवदास के जीवन चिन्तन में मुगलिया परिवेश का आयाम हुआ है जिसका कि प्रतिफलन और प्रतिरूपण रामचंद्रिका के स्थूलगत परिवेशों तथा राजसभाओं के चित्रण में स्पष्टता से मुखरित हुआ है।

केसवदास का अंतःसाक्ष्य के आधार पर राजस्थान में राजा चंद्रसेन का आश्रित होना संवत् १६२५ से १६४२ के बीच ठहराता है। अंतःसाक्ष्य के संदर्भ का पद इस तरह है—

रजैरज कैशवदास दूटत अरुण लार, प्रति भट अंकन ते अंक पै सरतु है।
सेना सुन्दरीन के विलोकि मुख भूषणनि, किलकि किलकि जाही ताही को धरतु है।
गाढ़े गढ़ खेल ही खिलौननि ज्यों तोरि डारै जग जय यश चारु चंद्र को अरतु है।
चंद्रसेन भुअपाल आंगन विशाल रण तेरो करवाल बाल लीला सी करतु है॥[2]

इस छंद की अंतिम पंक्ति में प्रयुक्त 'तेरो' से प्रतीत होता है कि कवि केसवदास ने जोधपुर के राजा मालदेव के पुत्र चंद्रसेन के समक्ष पढ़ा था।

चंद्रसेन संवत् १६२५ में अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त जोधपुर से भाग कर, सिवाना के किले को अधिकृत कर, वहाँ से पर्यन्त संवत् १६४२, तक अकबर से लोहा लेता रहा है।[3] अतएव इस बीच में कभी भी केसवदास की यहाँ उपस्थिति अल्प या दीर्घ काल की सिद्ध होती है। इस सन्दर्भ से तात्पर्य यह है सर्वप्रथम कवि केसवदास कविप्रिया और रसिकप्रिया की रचना के पूर्व हिन्दू संस्कृति और हिन्दू राज्य परिवेश के सम्पर्क में आए। यह परिवेश वीरसिंहदेव के चरित्रांकन में मुखर हुआ है। वीरसिंहदेव के चरित्रांकन में युद्धावसरों की स्थितियों का सापेक्ष्य चित्रण बिना युद्धों में उपस्थित रहे प्रतीत नहीं होता है। इसमें युद्ध विषयक ज्ञान और अनुभव केसवदास को सिवाना में चंद्रसेन के आश्रय में अनुभूत हुए हैं। उनका अभिव्यक्तिकरण स्थान-स्थान से हटकर भागकर युद्धक आचरणों में झलकता है। इसके साथ यह भी ठीक है कि केसवदास तत्कालीन ओरछा नरेशों के साथ भी गृह और रण की पीठकाओं में साथ रहे हैं। यह कि केसव के दूसरे और सबसे प्रसिद्ध आश्रय दाता महाराज इंद्रजीत थे। रसिकप्रिया आपके ही आश्रय में धन्य हुई है। इनके तीसरे आश्रयदाता, इंद्रजीत सिंह के भाई वीरसिंह देव थे। यह एक स्वतन्त्र और उदात्त प्रकृति का वीर था जिसने अकबर सम्राट से कई किले तलवार के बल पर छीने थे, और कई बार मुगल सेना को परास्त भी किया था। इनके चौथे आश्रयदाता संभवतः मेवाड़ के राणा एक छंद के आधार पर प्रतीत होते हैं[4]। यह सम्भव इसलिए है कि

---

१. याचक सब भूपति भए, रह्यो न कोउ लेन।
इन्द्रहु को इच्छा भई, गयो बीरबल देन॥

२. कविप्रिया : छंद संख्या ३८, पृष्ठ २५९।

३. टाड, राजस्थान : द्वितीय भाग, पृष्ठ—६५८-६६०।

४. परम विरोधी अवरोधी ह्वै रहत सब, दातिन के दानि कवि केसव प्रमान है।
अधिक अनंत आप, सोहत अनंत संग, अशरणशरण, निरक्षक निधान हैं।
हतमुक हितमति, श्रीपति बसत हिय, भावत है गंगाजल, जग को निदान है।
केसोराय की सौं कहै केसोदास देखि-देखि रुद्र की समुद्र की अमरसिंह रान है।

सेवाना से लोटते हुए मेवाड़ होते हुए वापिस आए हों। एक जगह केशवदास के स्वकथन "एक तहाँ केसव सुकवि जानत सकल जहान" से भी यही ध्वनित होता है। पिछले पृष्ठ में उद्रित पद में चिह्नांकित शब्द भी यही बोध प्रकट करते हैं। यह कवि की प्रख्याति एवं व्यापक परिवेश का ज्योतन करता है।

केसवदास को महाराज इन्द्रजीत सिंह के दरबार में उनके आश्रय काल में सांगीतिक परिवेश मिला। इन्द्रजीत के संगीत-नृत्य-रताँगनाओं में केसव-कवि-प्रिया प्रवीणराय भी थी। केसवदास ने पाण्डित्य प्रदर्शन के विचार से सांगीतिक विधा के सूक्ष्म ज्ञान का परिचय दिया है[1]। नीचे दिए हुए संदर्भ की चौपाईयों का अनुशीलन करने से संगीत के सूक्ष्म ज्ञान से पाठक परिचित होता है। 'स्वर' संगीत के साधन क्रम में उच्चरित ध्वनि को कहते हैं। नाद सगीत की समवेद स्वरों की आहत प्रतिक्रिया है। संगीत रत्नाकर के अनुसार 'नदति ब्रह्म रन्ध्रा नो तेन नादः प्रकीर्तितः' है। कल, मद्र और तार में नाद विभाजित हो जाता है। स्वरों के समूह को ग्राम कहते हैं यथा 'ग्रामः स्वर समूहः'। संगीत और नृत्य में समय की माप रखने वाला मानदण्ड ताल होता है। सताल अर्थात् नृत्य, संगीत, तथा वाद्ययंत्र 'सताल' थे। स्वरों के दीर्घ आयाम को, राग के अनुकूल गाने को अलाप कहते हैं। ताल में मात्रा का विचार 'कलि' अर्थात् कला है। एक अलाप से दूसरे अलाप के समय को मूर्च्छना कहते हैं। गीत के प्रबन्ध को भाग स्थान विशेष पर स्वर के कंप को गमक कहते हैं। केसव द्वारा प्रस्तुत सांगीतिक विधा की शब्दावली को पाण्डित्य प्रदर्शन कहना इसलिए भी सहज और उचित प्रतीत होता है कि केसवदास जी ने जहाँ नायक-नायिका के अनेक भेदों का सोदाहरण उल्लेख किया है, वहाँ सूर, मीरा आदि के काव्य के सदृश्य केसवदास के काव्य में राग-रागिनियों में आबद्ध, उपलब्ध नहीं होता है। इसी तरह नृत्य के सन्दर्भ में भी अनेक भेदों का उल्लेख केवल 'ज्ञान' के रूप में किया है।

चित्रकला का ज्ञान केसवदास को था या नहीं, इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है। केसव के आश्रय दाताओं के पास चित्रकारों को भी प्रश्रय मिला है, इसका भी उल्लेख केसव के काव्य में या संगीत, नृत्य की तरह सन्दर्भ-मात्र, में नहीं आता है। क्या फिर केसव काल के ओरछा राजाओं के पास चित्रकार नहीं रहे हैं, इस तरह की बात सामने आती है। इसका उत्तर इतिहास के माध्यम से दिया जा सकता है। ओरछा में निर्मित लक्ष्मी मन्दिर, जहाँगीर महल, रनिवास, फूलमहल आदि भवनों में चित्र कला का आयाम है। इस उपलब्ध चित्रकला का स्वरूप ओरछा शैली के नाम से राजपूत कलम में जाना जाता है। लक्ष्मी मन्दिर में चित्रित रामायण की दृश्यावली को देखने से यह, तत्कालीन ओरछा में सम्पन्न होने वाली, चित्रकला का आभास मिलता है। ओरछा की राज्य सभा में चित्रकारों को स्थान न मिलने का एक कारण यह भी हो सकता है कि ओरछा में व्यवसायी चित्रकला गोया पेशेवर स्थानीय चित्रकार रहे होंगे, सम्भवतः जिन्हें समाज में स्थान तो मिला हो, लेकिन सभासदों के योग्य न समझा गया हो। ओरछा में केसव के आरम्भ का समय भी विवाद ग्रस्त रहा है। चित्रकला का स्वतन्त्र रूप से विकास होने की संभावनाएँ अधिक हैं, और इसी तरह स्वतन्त्र चित्रशालाएँ भी रही हैं। केशवदास ने अपने काव्य में 'चित्रशाला' और 'चित्रसारि' का प्रयोग किया है। हालांकि इस प्रयोग में हास्य भी कहीं कहीं झलकता है। क्योंकि जिस चित्रशाला का वर्णन हास्य को समाहित करके किया है, वह चित्रशाला लंकेश की है। यथा स्वरूप देखिए—

---

१. स्वर नाद ग्राम नृत्यत सताल।
सुख बरन विविध अलाप कलि॥
वहु कला जानि मूर्च्छना मानि।
बड़ भाग गमक गुण चलत जानि॥

—राम चंद्रिका उत्तरार्द्ध छंद

भगीं देखि कै शकि लंकेस बाला। दुरी दौरि मंदोदरि चित्रशाला॥
तहाँ दौरिगो बालि का पूत फूल्यो। सबै चित्र की पुत्रिका देखि भूल्यो॥
गहै दौरि जाको तजै ता दिसा को। तजै जा दिशा को भजै बाम ताको॥
भलै कै निहारी सबै चित्रसारी। लहै सुन्दरी क्यों दरी को बिहारी॥
तजै देखि कै चित्र की श्रेष्ठ धन्या। हंसी एक ताको तहीं देव कन्या॥[1]

इसमें बानर गण रावण की चित्रशाला में मंदोदरी को ढूंढते हुए पहुंचते हैं। अगद चित्र खचित पुतलियों को रावण की रानियाँ समझकर पकड़ने दौड़ते हैं—यहाँ पर चित्रों की सजीवता तथा यथार्थता का अनुमान लगाया जा सकता है तथा साथ ही में केसव का चित्रकला का ज्ञान, चित्रशाला के प्रति हेय—दृष्टिकोण का अनुमान भी लगता है। क्योंकि चित्र से, काव्यगत प्रेक्षक भ्रम में पड़ता है जो कि पाठक वर्णित वस्तु को हास्य की सामग्री ही समझता है। इसमें अंगद जैसे राजकुमार सम्पन्न परिवार वाले सदस्य के चरित्रांकन में उसे चित्रकला से अनभिज्ञ प्रदर्शित किया है जिससे केसव के समय की स्थिति का यदि अनुमान बैठाया जाए तो कोई असंगति नहीं होगी। या यह हो सकता है कि केसव ने चित्रकला के कर्ता और प्रेक्षक को उचित स्थान न देना चाहा हो, या उसकी महत्ता केसव के निजी दृष्टिकोण में नगण्य, हास्यास्पद, हेय रही हो।

केसव चित्रकला से अपरिचित थे यह तथ्य नहीं हो सकता है। क्योंकि केसव का मुगल दरबार में स्थान था। अकबर की सभा के प्रसिद्ध रत्न—महेश दास दुबे उपनाम 'बीरबल' इनके प्रगाढ़ मित्र व स्नेही थे तथा राजा टोडरमल, अब्दुर रहीम खानखाना, अबुलफजल, फैजी, मानसिंह, आदि से भी इनका परिचय था। इनके यहाँ केसव आते जाते थे, जहाँ कि केसव का मुगल कलम के चित्रों से साक्षात होना सहज ही सम्भव है। अकबर और जहाँगीर के समय में चित्रकारों द्वारा मुगल कलम में प्रस्तुत किए गए व्यक्ति चित्रों की भरमार रही है। इन व्यक्ति-चित्रों की सजीवता केसव भूल नहीं सके हैं, तभी उसे हास्य की सीमा में प्रकारान्तर से प्रस्तुत किया है। रामचंद्रिका के एक अन्य स्थान पर 'चित्री बहु चित्रनि परम विचित्रनि'[2] में भी यही ध्वनित होता है।

केसव की व्याप्ति जैसे-जैसे जीवन में होती जाती है, उसी के अनुसार उनके ज्ञान और रुचियों का समावेश उनके काव्य में होता चला गया है। यदि किसी भी तरह का ज्ञान केसव में प्रवेश पाता है वह किसी न किसी रूप में काव्य में अवश्य कर ही व्यक्त हुआ है। इनकी कृतियों को कालक्रम की दृष्टि से विचार करना अधिक समीचीन है। इनकी कृतियाँ समयानुसार इस तरह हैं—

रसिकप्रिया	१	संवत्	१६४८, फालगुन शुक्ल पक्ष,
कविप्रिया	२	,,	१६५८, फालगुन शुक्ल पक्ष,
रामचंद्र चंद्रिका	३	,,	१६५८, कार्तिक शुक्ल पक्ष,
छंदमाला	४ }	,,	१६५८
शिखनख	५ }	,,	
रतनबावनी	६	,,	१६५८ से १६६४,
वीरसिंहदेव चरित	७	,,	१६६४,
विज्ञान गीता	८	,,	१६६७,
जहाँगीर जस चंद्रिका	९	,,	१६६९,

१. रामचंद्रिका—पूर्वार्द्ध, पृष्ठ—३३१, पद सं० २६-२७-१। २८॥
२. रामचन्द्र चन्द्रिका : केसव ग्रन्थावली भाग-२, छंद-४४, पृष्ठ-२३३।

रसिकप्रिया और कविप्रिया में केसव ने जो भी वातावरण प्रस्तुत किया है वह शास्त्रानुकूल मानव जीवन के व्यापारों को उद्धरणों के रूप में प्रस्तुत करता है और शास्त्रानुमोदित इन उद्धरणों का अपने चित्र लेखन में उपयोग, समकालीन तथा परवर्ती चित्रकारों ने व्यापक रूप से राजपूत चित्रकला शैली तथा राजपूत पहाड़ी चित्रशैली के चित्रकारों ने, बहुतायत से किया है। रामचन्द्रिका के छन्दों तथा पदों को भी चित्रित किया गया है। स्वयं रामचन्द्रिका में चित्रकला विषयक संदर्भ बहुत ही अल्प हैं जहाँ कि ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने चित्रकला के संदर्भों को काव्य के समानुरूप स्थान दिया हो। इस समय तक केसवदास की चित्रकला के प्रति जो भी विचार थे वे अपरिपक्व थे। छंदमाला तथा नखशिख भी उल्लेखनीय महत्ता से हीन हैं।

रतनबावनी के चित्रण में केसव के इस तरह सँदर्भ अधिक है। रामचंद्रिका में जहाँ मुगल संस्कृति, दरबारी संस्कृति की झलकें मिलती हैं, विशेष रूप से रावण की सभा आदि के चित्रण में, यह प्रक्रिया रही है, वैसा रूप यहाँ नहीं है। मन: स्थिति परिणित होती सी प्रतीत होती है। यह ठीक है कि केसवदास राज्य के समस्त व्यापारों से परिचित थे। यहाँ तक कि सेना के बाह्य एवं अंतरंग परिवेश केसव-काव्य में मुखर है। इस में युद्ध-पीठिका का विस्तृत-ज्ञान शब्द-शब्द से टपकता है। रतनबावनी का एक उद्धरण स्थिति को स्पष्ट करता है। यथा देखिए—

साजि जमू मधुशाह-सुत हरवल-दल करि उग्र।
हय गय पयदर सजि सकल छांड़ि ओड़छो नग्र ॥[1]

राजपूतों के सैन्य प्रशासन में हरावल-सेना की वह टुकड़ी होती है जो सेना के अगले मोर्चों को सम्हालती है। है। युद्ध की मध्यकालीन भूमिका में, हरावल टुकड़ी का राजस्थान में महत्त्व रहा है। यह टुकड़ी शौर्य शक्ति की प्रतीक मानी जाती है। रतनबावनी युद्ध भूमिका को प्रस्तुत करती है। इसमें कुल ५३ छन्दों में युद्ध का वर्णन है। इस कृति से यही प्रतीत होता है कि केसवदास रत्नसेन के साथ कभी किसी समय युद्ध के मैदान में पहुँचे रहे हैं, जिसमें रत्नसेन ने विजय प्राप्त की है। राज दरबारों में रहने के कारण तथा युद्धों में भी कभी-कदाचित पहुँचने के कारण इस कृति में युद्ध का वातावरण समयानुसार सजीव प्रस्तुत हुआ है। इसमें 'क्षत्रिय, तुव नौन' से 'उबारहिं' का बोध ग्रहण करते हैं।[2] तथा रणभूमि में 'राजा सन्मुख तनु तजै करै स्वर्ग में भोग' की भावना पर कवि का विश्वास है।

रतनबावनी का प्रस्तुत शोध-प्रबंध में उल्लेख का आशय कवि पर समय के साथ घटित होने वाले समस्त जीवनगत व्यापारों का रागात्मक प्रभाव व्यक्त करता है तथा कवि उनके प्रति संवेदना ग्रहण कर उन्हें काव्य कौशल से अपनी काव्याभिव्यक्ति में स्थान देता है।

वीर सिंहदेव चरित की रचना के मूल में केसवदास राजा को ईश्वर का अंश मानकर चले हैं।[3] इसमें 'नव रस मय सब धर्म मय राजनीति मय' का मधुर सम्मिलन है। इसमें गंगातट प्रयाग में गगा का महत्त्व ज्ञापित करते हुए केसव तत्कालीन समाज में व्याप्त नारी गत भवना को नहीं भूल सके हैं, तभी 'एक देत पुरुषानि कौ नारि' कह गए हैं। 'पुस्ता पीवहि मांगहि खाइ-मदिरा पी बिस्वा पहं जाई' को बुरा न समझते हुए 'जैसो सेवक तैसो नाथ'[4] कह दिया है। समय गत अर्थसत्ता 'सोई पण्डित सोई साधु, जाके घर में बित्त अगाधु'[5] केसव के समकालीन सत्य की मुक्त अभिव्यक्ति है। इसी ग्रन्थ के तेरहवें प्रकाश में व्यक्त करते हैं जिसमें केसव कालीन नारी की स्थिति प्रकाश में आती है।

---

१. रतनबावनी : केसव ग्रन्थावली : धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ ४६५।
२. केसव ग्रन्थावली : वीर : २-३, पृष्ठ-४७६, धीरेन्द्र वर्मा।
३. „ „ २-१३, पृष्ठ ४७७, „ ।
४. „ „ २।२०, १।२१, पृष्ठ-४७८।
५. „ „ २।४१, पृष्ट-४८१।

पति पतिनी बहु करै, पति न पतिनी बहु करहीं।
पति हित पतिनि जरहिं, पतिनी न पति हित मरहीं॥

और यही दृष्टिकोण स्त्री व्यथा में फूट पड़ता है......

एक नायिका दुख कहा बहु नायक दूखै।
सूखे सरिता एक कहा, बहु सागर सूखै॥[1]

इसी ग्रन्थ में केसव ने 'मैना एक गयो तब देखि'[2] में मैना पक्षी को संवाददाता, भेदिये के रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रकरण में वीरसिंह देव की अकबर के साथ अनबन ओड़छा राजवंश की थी जिसमें ओड़छा नरेश वीर सिंह देव जू का वीर उदात्त चरित्र अंकित किया है। वीरसिंह जी धोती भी पहिनते थे। 'पहिरि धोवती, बसन उतारि'[3] में, गंगा में स्नान करने के लिए, तत्कालीन प्रचलित वस्त्रों को उतार कर शास्त्रानुमोदित 'धोवती' पहन वेद-विहित क्रिया में प्रवृत्त होते हैं। सम्राट हर्ष ने भी पीत वसन पहन, गंगा तट पर सर्वस्व दान दिया था। यह 'धोवती': धोती हिन्दू सस्कृति का परम्परागत पहनावा है। केसव की कृतियों में मुस्लिम दरबारी संस्कृति भी है: 'के तसलीम गहे'[4] में 'तसलीम' शब्द केसवदास का मुगल दरबार से सम्पर्क होना, उनसे अच्छी तरह परिचित होना प्रगट करता है तथा अगले पदों में अभिव्यक्त वस्तुस्थिति में 'पायनि परि तसलीम करि' में प्रत्यक्षदर्शी होना व्यक्त होता है।

आग लगाना, नगर लूटना, अनाचार आदि को केसव ने शब्द साक्षी का रूप दिया है। 'मए सघूम अटारी अटा', 'लूटन लग्यो पुर सघन अपार' के साथ विजेताओं ने 'काम कल्प तरु' वत 'पकरी सूरन की सुन्दरी' एक भीषण अवस्था का ज्योतन करती है।[5] अंत:पुर का रहन-सहन कवि के निम्न शब्दों में मुखर होता है जो कि तत्कालीन नारी जीवन का ज्योतन करके साथ ही साथ चित्र-विधा का स्पष्ट स्वरूप भी प्रस्तुत करता है......

तहं रमनी राजति बहु भाँति। पद्मिनि चित्रिनि हस्तिनि जाति॥
गावत कहूं बजावत बीन। कहूँ पढ़ावति पढ़ति प्रबीन॥
कहुँ चौपर खेले बनि बाल। कहुँ सतरंज मतिरंज रसाल॥
कहुँ चरित्रिनि चित्रिहिं चित्र। कहुँ मनि माला गुहै विचित्र॥
कहुँ तिय भंजन अंजन करै। अंगराग बहु अंगनि धरै॥[6]

नूपुर, किंकिनी, कंकन नारी अलंकार केसव के रूप वर्णनों में आए हैं। सहनाई पखावज रुंज, झालर, झांझ आदि संगीत वाद्य सदर्भों में आए हैं। केसव की नारियां 'तोरति फूले फूल', 'सींचति तरु मूल'[7] 'चतुर चुगावति मोर, हँस चुनावति, मृगनि चरावति, पढ़ति पढ़ावति सुकनि समर्थ',[8] हैं। नारियों के शृंगार में 'सेंदूर मांग भरी', 'तापर मोतिन की आवलि', 'सीसफूल', मांगफूल', बेंदा मध्य भाल मनि भाल', 'बेनी फूलनि की बरकोल' है।[9] 'भाल

---

१. केसव ग्रन्थावली : वीर १३।१.४१८ पृष्ठ-५३८, धीरेन्द्र वर्मा।
२. „ „ ४।१-४३। , पृष्ठ-४६६, „ „ ।
३. „ „ ५।२-२६ , „ ५००, „ „ ।
४. „ „ ५।२-४६ , „ ५०१, „ „ ।
५. केसव ग्रन्थावली : वीर १४।१५-१६ पृष्ठ-५४२ धीरेन्द्र वर्मा;
६. „ „ २०।१८-२० तक „ „
७. „ „ २२।४१ पृष्ठ-५७० „ „
८. „ „ २२।४२-४४ पृष्ठ-५६९ „ „
९ „ „ २२।५४-५६, पृष्ठ ५७० „ „

तिलक', 'मृग लोचन', 'भृकुटि कुटिल', 'गोरे गोल कपोल', 'मुक्ताफल' मय 'नासा', 'सोम सुधा का मूल सूंघती', लटकत 'ग्रलक ग्रलक चीक' में 'नेह नचावत' हैं। 'पीत सित ग्रीवनि' तले 'कलश रचे', तत्कालीन दृष्टि में 'कटि को तत्व न जान्यो' गयो। 'कटि के विभव लूटि' कर 'गुर नितंब', 'छवा छबीले' हो गए। 'चरन महावर चर्चित' होकर 'उदार दान' दाता कहे गए।[1] 'बरनबरन ग्रंगिया उर' घर 'ग्रंचल ग्रति चंचल', हो 'लोचन संग', (नचै) नाचतौ है।

नारी की शरीर रचना के प्रति केसवदास एक चित्रकार या मूर्तिकार की भाँति, उसकी नग्न बाह्य संरचना शब्दों में व्यक्त करते हैं। केसव के संदर्भित ग्रंशो से ज्ञात होता है, जैसे उनके समक्ष 'माडल' बैठा हो ग्रौर वे एक चित्रकार की तरह उस 'माडल' की शरीर रचना की रूपाकृतियात्मक रेखाग्रों को केनवास पर छाया प्रकाश के साथ उसके उभारों ग्रौर निचले गढ़ों को प्रस्तुत कर रहे हों। 'कर रहे हों' इसलिए कि केसवदास एक लघु बिम्ब के पश्चात् क्रमानुसार शिख से नख तक ग्राते हैं जो कि क्रियात्मकता का द्योतन करता है। यही क्रियात्मकता वर्णनों में भी हैं जहां ग्रन्य जीवन गत पिय—संग व्यापारों में 'क्रीड़ा सरबर में नृपति के, बहुविधि जलकेलि' होती है। 'भीजे वस्त्रानि सों' 'जलकन जाल' छूटते हैं। सामान्य जन (समूह) समाज 'उदार बिन्द्र', 'पीत धोवती पहिरै', 'कुंम-कुंम तिलक', 'हिमगिरि विन्ध्य धरै' प्रगट होता है।

केसवदास द्वारा प्रस्तुत इन समस्त जीवन व्यापारों में जीवन के प्रति तत्कालीन समाज ग्रौर राजा सामंतों का दृष्टिकोण मुखर होता है। जहाँ यह प्रश्न उठता है कि भारतीय हिन्दू समाज को मुस्लिम संस्कृति ने पतनावस्था में ढकेला है, सो बात नहीं प्रतीत होती है। वह तो उनके जीवन का दृष्टिकोण है जो कि भारत ग्राने के पूर्व भी था। दोषी तो वे ही ग्रधिक कहे जाना चाहिए जिन्होंने उनसे प्रेरणा ली, ग्रनुकरण किया। जहाँगीर जस चंद्रिका में, ग्रामतौर पर मुगल दरबार के चित्रों में जो रूपाकृतियों का ग्रायाम हुग्रा है, वैसा शब्द चित्रण ग्रल्पांशों में केसव ने इस ग्रन्थ के कुछ छंदों में दरबार ग्रौर पातुरियों के फड़ का चित्रण है।[2] नीचे संदर्भित ग्रंश से, दुंदभी, सुन्दरी, नृत्यकारी, भाण्ड, भल्ल, भाट—भाटों, बेड़नी, बैल-भैसा-मेष-मत्तदंती, मुगल दरबारी मनोविनोद मुगल चित्र कला शैली में बहुतायत से चित्रित हुए हैं। रामचंद्र चंद्रिका में राम तत्कालीन राजा-महाराजाग्रों के प्रतीक वत हैं। वन विश्राम-काल में राम सीता का श्रम दूर करने के लिए ग्रपने ग्रंचल से हवा भलते हैं। इसके उपलक्ष्य में सीता तत्कालीन नायिका वत् चरित्र प्रस्तुत करती हुई राम की ग्रोर 'चंचल चारु दृगांचल' से कटाक्ष प्रस्तुत करती हुई राम के श्रम का वासना सिक्त-मुवावजा तत्काल चुकाती हैं। राज्याभिषेक के उपरान्त राम ग्रस्त्रशाला, शृंगारशाला ग्राखेटादि को गमन करते हैं। कभी रनिवास की स्त्रियों की जलक्रीड़ा में मग्न होते हैं। कभी नखशिख में रुचि लेते हैं। केसव में यह देशकाल का प्रभाव सघन रूप से चेतन रहा है जो कि उनकी ग्रभिव्यक्ति में सर्वत्र व्याप्त है।

केसव की कृतियों को देखने से यह लक्षित होता है कि जो सादृश्य एक समय के दो चित्रकारों में सामयिक तत्वों के ग्रहण करने में ग्रनायास मिलते हैं, वे ही एक चित्रकार ग्रौर केसवदास में सहज उपलब्ध होते हैं।

---

१. केसव ग्रन्थावली : २२। ८१-८३, पृष्ठ-५७२।

२. कहूँ सोभना दुंदभी दीह बाजै। कहूँ भीम भंकार कर्नाल साजै॥
कहूँ सुन्दरी बेनु बीना बजावै। कहूँ किन्नरी किन्नरी लै सु गावै॥
कहूँ नृत्यकारी नचै सोम साजै। कहूँ भाड बोले कहूँ भल्ल गाजै॥
कहूँ भाट भाटों करै भान पावै। कहूँ बेड़नी लोलनी गीत गावै॥
कहूँ बैल भैसा भिरैं भीम भारी। कहूँ एक एनीनि के जूथ भारी॥
कहूँ बोक बाँके कहूँ मेष सूरे। कहूँ मत्त दंती लरैं लोह पूरे॥
पृष्ठ-६२३।

केसवदास ने प्रारंभिक कृतियों में चित्र विधा और चित्र सामग्री का प्रयोग अल्पतम् रूप मे आवश्यक होने पर ही रूढ़िगत किया है। रतनबावनी में ऐसे प्रसंग न के ही बराबर हैं। यह आयाम वीरसिंह देव की बैठक और आवास भवन के शब्द चित्रण में हुआ है। इनमें कुछ चित्र रहे हैं जिन्हें कवि ने "जाके जे गुन रूप विचित्र। तहं-तहं ताके चित्रै चित्र।[१]" के रूप में प्रकट किया है। अर्थात् भवन के कक्षों की कार्य-कारण को देखते हुए, उसके अनुकूल ही चित्रों का चित्रण हुआ है। बैठक में बैठक के अनुकूल चित्रों का रहना ही उचित है। चौक की 'शोभन सभा' में सभा के अनुकूल, इसी तरह 'नृत्य गीत' मण्डप, 'भोज' गृह, 'सैन्य सुमंत्र' गृह, 'दिव्य खण्ड' गृह आदि चौदह भवनों में विभिन्न 'भाव रस' के 'चित्र चित्रै' गए हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि ओड़छा नरेश का आम दरबार इस समय तक तत्कालीन चित्र विधा के स्वरूप से परिचित हो चुका था।

केसवदास ने अन्य प्रसंगों में मधुपुरी के वर्णन के साथ भित्ति चित्रों का उल्लेख किया है।[२] केलि गृह जहाँ 'रमनी राजति बहु भाँति'[३] में रमणियां 'कहूं चरित्रनि चित्रहिं चित्र'[४] में तल्लीन हैं। इस रंगमहल में नृप जब आते हैं तब उन्हें पदमावती, नख से शिख तक शृंगारिक चित्रण में चित्र सदृश्य, परमेश्वर की विचित्र कृति के सदृश्य, सद्य निर्मित प्रतीत होती है।[५] यह कवि का आरोप वीरसिंह देव जू के माध्यम से प्रस्तुत है उपमा या उत्प्रेक्षा में हेय को बड़ के साम्य पर प्रस्तुत करते हैं। यहां पदमावती को चित्र के समक्ष समानान्तर प्रस्तुत किया है। इसके दो ही अर्थ निसृत होते हैं कि तात्कालिक स्थिति में कवि, चित्रकला के प्रति पहले की अपेक्षा अधिक रुचि सम्पन्न हो चुका हो जिसमें जहाँ विचित्रनि का भाव समाहित होकर सुघड़ विचारणा की समर्थता रखने लगा हो ऐसा इसलिए कि पहले केसवदास का चित्रकला के प्रति हेय परक दृष्टि कोण प्रतीत होता है। किन्तु जैसे-जैसे केसव का चित्रकला की अभिरुचि रखने वालों के साथ सम्पर्क बढ़ता गया है उनकी रुचि में अल्पतः परिष्कार होता गया है। यह रचना कवि के प्रौढ़काल की है। दूसरा पूज्य भाव या आदर भाव को दिखाने के लिए भी प्रस्तुत किया जाता है। वस्तुतः साहित्य में अतिरंजना कोई दोष नहीं समझी जाती है। पर चित्रक विधा में अतिरंजना दोष ही मानी जाती है। अंगद और चित्रशाला के प्रकरण में अंगद एक सामान्य पात्र है। राजकुमार है। रावण खलनायक है, उसकी हंसी उड़ाना ठीक भी कहा जा सकता है। किन्तु वस्तुस्थिति के विश्लेषण से ठीक विपरीत मालूम हुआ कि अंगद जैसा समझदार राजकुमार जिसे भगवान राम ने अपना दूत बना कर भेजा था, वह रावण की यथार्थवादी पद्धति में प्रस्तुत चित्रशाला में चित्रित पुतलियों को रावण की पत्नियाँ समझ कर पकड़ने दौड़ता है। वह चित्र और व्यक्ति के भेद में असमर्थ है। यहाँ अंगद का चरित्र फीका पड़ता है और रावण के कला गत संस्कार, श्रेष्ठ, परिष्कृत प्रतीत होते हैं। वस्तुतः यहाँ कवि केसवदास का चित्रकला विषयक अपक्का ज्ञान केवल पाण्डित्य प्रदर्शन की भावना से हृदय से छलक पड़ा है।

केसव ने प्रारंभ में चित्रों का अवलोकन अवश्य किया है किन्तु चित्रक विधा की गहराई में नहीं उतरे हैं। ठीक यही स्थिति संगीत के सिलसिले में रही है। रसिकप्रिया केसवदास की प्रथम रचना है। केसवदास इस रचना की सर्जना के पूर्व या दौरान में, अनेक राजपूत राजाओं के दरबारों को देख चुके रहे हैं उसमें एक उद्धरण में लिखते हैं

---

१. केसव ग्रन्थावली, पृष्ठ ५५२—संदर्भ पंक्ति १७-१-११।

२. 'चित्रनि चिए भित्तनि लसी' के ग्रन्थावली, पृष्ठ-५५८, सं० पं० १८-१-१६।

३. २०।१-१८, केसव ग्रन्थावली, धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-५६२।

४. २०।२-१६, „ „ पृष्ठ ५६२।

५. नखशिख ते जहं चित्र्यौ चित्र। परमेश्बर के परम विचित्र।
बनि आई तहं बाला नई। निकरि चित्र जनु ठाढ़ी भई।
केसव ग्रन्थावली, २०।२६:३०, पृष्ठ ५६३।

'चित्र देखे मित्र के मिले को सुख पाय हैं ।'[१] इसमें केसव की आत्मानुभूति झाँक रही है । केसवदास इस समय तक निश्चित रूप से राजपूत नरेशों के यहाँ भी भ्रमण कर चुके थे । इस समय तक राजपूत कलम में व्यवित चित्रणों की प्रथा का चलन हो चुका था । किन्तु उसका स्वरूप व्यापक नहीं था । ओड़छा राज्य के चित्रों को देखने से इस सत्य का सहज ही आभाम मिल जाता है । अंशतः ऐसा प्रतीत होता है जैसे चित्र की यथार्थता का आभास केशवदास को मुगल व्यक्ति चित्रों से प्राप्त हुआ हो । इसके पूर्व ओड़छा राज्य से मुगलों के संबंध हैं, संभवता कुछ मुगल व्यक्ति चित्रों का भी आयात हुआ हो ।

साहित्यिक दृष्टि कोण से चित्र भी उसी भाव को जन्म देता है जो भाव चित्र के मूल व्यक्ति को देख कर उत्पन्न होता है । केसव, मित्र के चित्र को देख कर ऐसा कह रहे हैं । इसमें एक और संभावना मुगल चित्रों के आयात के अतिरिक्त है, वह इस तरह है कि जैसे मुगल दरबारों में प्रथा थी कि खिलअत (भेंट) में चित्र और व्यवित-चित्र भी दिए जाते थे, इसी से केसव को इन खिलअती चित्रों से चित्रक ज्ञान संभव है ।

चित्रों को देख कर मानव जीवनगत विभिन्न भाव और स्थितियाँ, रस के साथ उनका मनसपटल पर उद्रेक होता है । एक तरह से केसव ने अपने मन की बात राधा के माध्यम से व्यक्त की है कि···

'चित्रनी बिचित्र चित्र नीचै ही चितैये मन,

चित्र में चिताएं चित्त चौगुनो जरतु है ।।[२] गोया एक तरह से केसवदास को चित्र की यह प्रभावक स्थिति विचित्र सी प्रतीत होती है । एक जगह केसवदास ने कृष्ण के वर्णन में, जबकि कृष्ण कहीं और चले गए हैं, कक्ष कृष्ण विहीं है, इस स्थिति को 'चित्र सूनी चित्रशाला'[३] के रूपक में कहा है । यहाँ भी केसव का चित्रकला के प्रति अल्पतः कौतुहलवादी दृष्टिकोण ही सामने आता है । अन्य स्थल पर श्रीकृष्ण का लीला हाव प्रस्तुत करते हुए एक चित्र का प्रसंग है कि "चित्रित चित्र में आपुन पौं अवलोकत आनंद सो उर लावें",[४], में व्यक्ति अपने चित्र को देख कर प्रसन्न होता है । उस समय केमरे का आविष्कार नहीं हुआ था । चित्रकार की कूची ही व्यवित के सौन्दर्य या आकृति को प्रस्तुत करती थी । यह एक सहज सत्य है कि कुरूप से कुरूप व्यक्ति भी अपने छाया चित्र को देखकर प्रसन्न होता है, यह आत्मश्लाघा प्रायः सभी सहृदयों में आत्मरत्यानुसार मात्रा में रहती है । यह केसव की आत्मानुभूति काव्य के रूढ़ प्रसंग में व्यक्त हुई है । केशव ने नायिका या नायक की श्रृंगार विधा को भी चित्रित करना माना है । 'चंदन चित्रिनि लेपि सलोचन लोक विलोकनि सों लरि कें',[५] में चंदन के लेप से विविध सौन्दर्य का उरेखण भी चित्रण की सीमा में केसव ने समाहित किया है । कुछ पंक्तियों के उपरान्त फिर 'चंदन चित्र कपोलनि लेपि के अंजन' में चंदन के कपोलों पर चित्रों का उल्लेख है । इसी तरह का प्रयोग कवि प्रिया में 'चित्रित कपोल'[६] के रूप में प्रस्तुत किया है । यहाँ चित्र और चित्रनि से केसव का आशय श्रृंगार सज्जा से हैं । भाल पर बिन्दी की सज्जापरक आकृति भी चित्र की संज्ञा में आती है । इसी तरह की आकृति संभवता तत्कालीन नायिकाएँ अपने कपोलों पर बनाती रहीं होगी कपोलों पर आकृति बनाने की पृथा आज रामलीला में हैं तथा अभिनय में भी है । केसव एक अन्य कवित्त में दिवाभिसारिका (प्रकाश-प्रेमाभिसारिका) की मन की स्थिति का प्रस्तुतीकरण चित्रों से पड़ने वाले प्रभावों को लेकर करते हैं । पद इस तरह है—

---

१. रसिक प्रिया ६।२१, केसव ग्रन्थावली, भाग १।
२. „ १०।२१, „ „ „ „।
३. रसिक प्रिया १।२६ केसव ग्रन्थावली, भाग १, पृष्ठ।
४. „ „ ४।२३ „ „ भाग १, पृष्ठ।
५. „ „ ३।४७ „ „ „ पृष्ठ।
६. कवि प्रिया ३।१२-६ „ „ „ पृष्ठ १४२।

आपने चरित्रनि के चित्रित विचित्र चित्र,
चित्रनी ज्यों सोहैं साथ पुत्रिका गुवाल की ।।[1]

इसमें नायिका अपने प्रेमी नायक से दिन में मिलने जा रही है। जाते समय नायिका के मन में पूर्व मिलन की स्मृतियां रूपाकृतियों के साथ मन में उभर रहीं हैं और वह उन अतीत के सद्योत्पन्न-चल-चित्रों में मग्न हो प्रेमी के पास बढ़ी चली जा रही है। कवि प्रिया में एक जगह नायिका को अनेक चित्रों में से कोई एक चित्र बहुत विशेष प्रतीत हो रहा हो, उसी तरह कहा है[2] जिसे कि सभी प्रेक्षक देख कर, देखते ही रह जाते हैं। 'विचित्र' शब्द के प्रयोग को देखते हुए सहसा यह बात उठती है कि केसव ने इस शब्द का प्रयोग बार-बार क्यों किया है। जैसा कि आगे के एक छप्पय में फिर कहते हैं' विचित्र चित्र चित्रित आँगन घर—"[3], 'चित्र समुद्र में बूड़त परम विचित्र'...।'[4] इस विचित्र शब्द के बार-बार के प्रयोग से यही निसृत होता है कि केसव की अभिरुचि चित्रकला के प्रति जाग्रत हुई थी किन्तु उसकी सूक्ष्मताएँ इन्हें विचित्र या दुरूह प्रतीत रही है। यही दुरूहता का भास बराबर 'विचित्रिता' को प्रगट करता रहा है। क्योंकि यदि समझ जाए तो चित्रों की सजीवता, उसका व्यापक क्षेत्र, भावों और रसों को प्रभावित करने की क्षमता, ये सभी चित्रकला के आवश्यक धर्म हैं. इसमें विचित्रता का कोई कारण नहीं हैं। विचित्र केवल कवि केसव के दृष्टिकोण से है जो कि उनका चित्रगत बोध की सीमा को प्रगट करता है।

रामचन्द्र चन्द्रिका जो कि कवि केसवदास की संवत १६५८ के लगभग की अकबर के समय की कृति है, इसमें चित्र विधा गत शब्दावली, उसका वातावरण और उसकी रूपाकृतियों, को अधिक प्रयोग में लाए हैं। लंका में रावण की सभा का चित्र प्रस्तुत करते हुए केसव कहते हैं—

'पियै एक हाला गुहै एक माला। बनी एक बाला नचै चित्र शाला।।" यहाँ चित्रशाला में सुरापान न कर' सुन्दरी नृत्य को सम्पन्न कर रही है। इस ढंग से चित्रशाला वह स्थान है जहाँ नाच रग में सुरा से सुरभित युवतियाँ मस्त थिरकतीं हैं। "चित्रसारी" शब्द को प्रयोग में लाए हैं।[5] इसका सामान्य अर्थ यही है कि वह भवन जिसमें भित्ति पर चित्र चित्रित हैं और जो कि राजभवन का विशेष राजा का कक्ष माना जाता है। अतिथि गृह को भी 'चित्रसरि' की संज्ञा दी गई है ऐसा प्रतीत होता है। आगे एक दोहा में 'चित्रसारि' की स्थिति को इस तरह स्पष्ट किया है...

पाँच भौर यह यहि रचे, सात लोक तरहारि।
षट ऊपर तिनके तहाँ, चित्रे चित्र बिचारि।।[6]

'चित्रसारि' की स्थिति राजभवन में विशेष रूप से रखी जाती थी जो कि सामान्यतः अन्य सभी स्थानों कक्षों से सुन्दर और मोहक रहा करती थी।

---

१. रसिक प्रिया : केसव ग्रन्थावली भाग १, पृष्ठ ४३।
२. चित्रित हौ चित्रन में परम विचित्र तुम,
चित्रनी ज्यों देखि देखि नैंनहि नवथई हैं ।।
कविप्रिया : केसव ग्रन्थावली : ३।४-१४, पृष्ठ १५५।
३. " " " ३।३१ पृष्ठ १५६।
४. " " " १६।१-१ पृष्ठ २१८।
५. अ "जरें जूह नारी चढ़ी चित्रसारी" रामचंद्रिका—२।७-१४, पृष्ठ-३०५।
ब "चौक चढ़यो चित्रसारी", रामचंद्रिका २।२४-१६, पृष्ठ-३१६।
६. रामचंद्र चंद्रिका, २६।२७, पृष्ठ—३७५।

केसवदास की ख्याति के साथ उनकी कृतियों का चित्रण सहज रूप में होने लगा था। नायक-नायिका के चित्रण की परम्परा ने केसव कृत रसिक प्रिया और कवि प्रिया के चित्रकारों के मध्य बहुत ही लोक प्रिय अपनी सहजता के कारण हुई। सन् १६८० ई० के लगभग कुछ चित्र मालवा कलम के रा० सं० नई दिल्ली—५१-३४। १५, १७ १६ के संग्रहित हैं। मालवा में रसिकप्रिया और कवि प्रिया दोनों का ही चित्रण उपलब्ध होता है। संदर्भ के तीन चित्र में प्रथम में प्रच्छन्न वियोग चित्रित किया है। रसिक प्रिया का उद्धरण सीमा बंध पर लिखित है दूसरे चित्र में नायिका कृष्ण के चित्र को देख रही है तथा तृतीय चित्र में कृष्ण, राधा के सौन्दर्य का अंकन उसके व्यक्ति चित्र में कर रहे हैं। इन चित्रों की रचना में स्थानीयता अधिक प्रतिलक्षित होती है। भावों के संप्रेषण में किसी तरह समर्थ हो जाते हैं।

बूंदी में चित्रित हुई रसिकप्रिया के १७२५ के लगभग के ४८ पदों का चित्रण रा० सं० नई दिल्ली ५१-६४ १ से ४८ संग्रहित है। बूंदी के चित्रों प्रस्तुत आकृतियों में मालवा कलम से कहीं अधिक सुघड़ता तथा कलागत रोचकता है। (चित्र फलक-२४ देखिए) रंगों का तालमेल कहीं अधिक लुभावना, आकर्षक है। बूंदी नायिका किन्हीं-किन्हीं चित्रों में किसन गढ़ की बनीठनी का रूप भी प्रकट करती है। रसिकप्रिया के इन चित्रों में वास्तु और प्रकृति का विस्तृत आयाम हुआ है। कहीं-कहीं नायिकाओं की भरमार केसवदास के प्रतिरूपण से बहुत अधिक है। अधिक नायिकाओं के होने का एक कारण यह भी है कि ये चित्र आयताकार भी हैं जिनमें मानव आकृतियों को अधिक समा लेने की शक्ति होती है। बूंदी में अल्पतः कविप्रिया का भी चित्रण हुआ है। ऐसे ही इने गिने रामचन्द्रिका पर चित्र मिल जाते हैं। बूंदी कलम के रसिकप्रिया के चित्र वास्तव में रसिकों को और सामान्य जनों को काम की प्रेरणा देते हैं। एक चित्र में कृष्ण राधा आलिंगन कर रहे हैं। इसमें दोनों की स्थिति अति ही कामोद्दीपक हैं। राधा कृष्ण तो केवल विधागत आलम्बन और प्रश्रय हैं।

मालवा तथा मेवाड़ कलम में रसिक प्रिया का चित्रण १६५० ईसवी सन् का उपलब्ध होता है। मालवा शैली का एक चित्र, फलक—२८ में देखा जा सकता है। कुछ चित्र १७५० के समय के चित्रित मिलते हैं। इन सभी चित्रों में रसिकप्रिया का पद, चित्र की सीमा बंध के नीचे, उपरली ओर लिखा हुआ है। पहले के चित्रों की अपेक्षा बाद के चित्रों में रूपाकृतियों में निखार-सा प्रतीत होता है। यहाँ के चित्र अधिकांशतः बाहर के कलासंग्राहकों के पास अधिक चले गए हैं। मेवाड़ में चित्रित होने वाली रामायण के कुछ चित्रों से ऐसा प्रतीत होता है कि वे रामचन्द्रिका के अवतरणों को चित्रित किया गया हो। कुछ चित्रों में रामचन्द्रिका का अंश भी उपरली सीमा बंध, पर लेख बद्ध मिलता है। अनूप संस्कृत पुस्तकालय बीकानेर में उपलब्ध कवि प्रिया के ३६ चित्रों का संग्रह है। यह बीकानेर स्थानीय कलम में चित्रित है। यहीं प्राप्त होने रसिक प्रिया स्थानीय उस्ता कलम में चित्रित है। बीकानेर में चित्रित कवि केसवदास के काव्यों के चित्र राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली, में भी उपलब्ध होते हैं।

केसवदास के काव्य के चित्रण की प्रवृत्ति राजपूत चित्रकला शैली के सभी स्थानीय कलमों में मिलती है। केसव की रसिकप्रिया और कविप्रिया का चित्रण व्यापक रूप से राजा-महाराजा, सामंत, अमीर-उमराव तथा रहीस रसिकों ने अपनी सामयिक रसिक प्रवृत्ति के अनुसार करवाया है। कुछ चित्रकारों ने स्वतन्त्र रूप से भी इन ग्रन्थों का चित्रण किया है, और जिन्हें किसी रुचि सम्पन्न कला प्रेमी को अपनी जीविकार्थ समर्पित किया हैं। इन लक्षणों पर एकहरे चित्रों की भी परम्परा पेशेवर चित्रकारों में रही है। इन चित्रों का निर्माण बाजार में विक्रय के हेतु ही किया जाता रहा है। साधारणतः इनमें विधागत सूक्ष्मता का ध्यान नहीं दिया जा सका है।

अति व्याप्ति और ख्याति के मूल में तत्कालीन प्रेम की प्रवृत्ति भी एक कारण रही है जो कि न केवल मानव जीवन के व्यापारों तक ही सीमित थी अपितु उसका विस्तार ललितांगों तक समृद्ध हो चुका था, यही कारण है कि एक ही प्रवृत्ति का स्फुरण काव्य, संगीत, चित्र, मूर्ति आदि में समान रूप से मिलता है। साहित्यिक रूप, संगीत में और चित्रों में है। इसी तरह संगीत और चित्र का प्रारूप अन्य इन्हीं इतर ललित कलाओं में व्यक्त हुआ है। तुलसी,

सूर, देव प्राय संगीत और स्वर के ज्ञाता थे। चित्र विषयक उल्लेख इसी शोध प्रबंध में किया जा चुका है। प्रायः चित्र साँगीतिक विधा में काव्य-साहित्य से रचयित सामग्री पर चित्रित हुए हैं।

राजपूत पहाड़ी कलम की चित्र शैलियों में भी केसव की तीनों कृतियां रसिकप्रिया, कविप्रिया, रामचंद्रिका का चित्रण व्यापक रूप से उपलब्ध होता है। जिसके अनेक संदर्भ एम० एस० रंधावा ने पहाड़ी मिनियेचर्स में दिए हैं। इसी तरह के कुछ कांगड़ा के चित्रों में भी प्रकाशित हुए हैं। अन्य राजपूत पहाड़ी शैली के चित्रों में इस तरह का चित्रण उपलब्ध होता है।

कुल मिलाकर केसवदास पर राजपूत चित्रकला शैली का उतना प्रभाव नहीं व्यक्त हुआ है जितना कि केसवदास की कृतियों ने राजपूत चित्रकला शैली को प्रभावित किया है। इन कृतियों का चित्रण इनके रचना काल के उपरान्त से ही प्रारंभ हो जाता है तथा ख्याति का विस्तार होता जाता है। इतने अल्प समय में सूर की ख्याति नहीं फैल सकी थी। राधा और कृष्ण के जीवन पर चित्र अवश्य बनते रहे हैं किन्तु उनका आधार भागवत का दशम स्कंध ही अधिकतर रहा है। केसवदास ने राजपूत चित्र कला शैली का प्रभाव कम ग्रहण किया है या कम ग्रहण करने में समर्थ हुए हैं क्योंकि उन्होंने अपनी भरसक कोशिश करके चित्र-कला-परक संदर्भों को काव्य में स्थान दिया है अतएव यही निष्कर्ष निकलता है कि केसवदास चित्रकलागत विधा को पूर्णतः अपना नहीं सके हैं।

अध्याय-४

बिहारी के काव्य में राजपूत कला शैली के प्रभाव और राजपूत कला शैली पर बिहारी सतसई का प्रभाव।

रत्नाकर और देवकीनंदन के कविवर बिहारी और बिहारी बिहार से बिहारी के जन्म के सम्बन्ध में ज्ञात होता है कि इनका जन्म संवत् १६५२ कार्तिक शुक्ला अष्टमी बुधवार को श्रावण नक्षत्र में वासुदेव के पुत्र केसोराय चौबे के घर, ग्वालियर में हुआ था।[1] इनके एक भाई और एक बहिन थी।[2] इनके जन्म के ७-८ वर्ष बाद, पिता ओड़छा चले गए।[3] वहीं पास में गुढ़ो ग्राम में महात्मा नरहरि दास के यहां बिहारी ने रह कर संस्कृत प्राकृत आदि का अध्ययन किया। संवत् १६६४ में इन्द्रजीत की सभा भंग हो जाने पर इनके पिता उस स्थान को छोड़कर वृन्दावन आ बसे। यहाँ मथुरा में इनका विवाह सम्पन्न माथुर ब्राह्मण के घर हुआ। तब से ये अपनी सुसराल मथुरा में ही रहने लगे।[4] संवत् १६७५ में शाहजहां वृन्दावन स्वामी हरिदास जी के स्थान के दर्शन करने गया था। इस अवसर पर महंत हरिदास के निर्देशानुसार बिहारी ने शाहजहां को अपनी कविता सुनाई। इनकी प्रतिमा को देखकर शाहजहां ने बिहारी को आगरा आने को कहा। इसके बाद बिहारी आगरा चले गए।[5] बिहारी ने आगरा में रहते हुए अरबी, फारसी का अध्ययन किया। संवत् १६७७ में शाहजहां के यहां पुत्र जन्मोत्सव मनाया गया जिसमे भारत के मुगल साम्राज्य के अनेकों राजा महाराजा आए। इस अवसर पर अनेक राजाओं को बिहारी की काव्य प्रतिभा देखने को मिली। फलतः इन नरेशों ने बिहारी को वार्षिक वृत्ति बांध दी जिसे कि प्रायः बिहारी प्रति वर्ष इन राजाओं के इधर लेने जाया करते थे।

संवत् १६७८ में शाहजहां और जहांगीर में, नूरजहां की खुसरो को गद्दी दिलाने की कुटिल नीति के कारण मन मुटाव हो गया जिससे शाहजहां आगरा से हट गया। शाहजहां के हटने से उनके कृपापात्र बिहारी की स्थिति डवाँडोल हो गई। इस स्थिति में संतुलन बनाए रखने के लिए बिहारी प्रायः प्रतिवर्ष राजा-नरेशों की वृत्ति पर आश्रित हो गये। बिहारी जोधपुर, बूंदी, जयपुर आदि राज्यों में प्रमुख रूप से जाया करते थे। सवत् १६९१-९२ के लगभग बिहारी अपनी वार्षिकी वृत्ति लेने आमेर गए। इस अवसर पर यहाँ की प्रधान महारानी श्रीसुश्री अनंत कुमारी 'चौहानी रानी' ने महाराज जयसिंह का नवविवाहिता-वयसंधिता राजकुमारी के साथ चरम विलासिता की चर्चा कर, बिहारी के माध्यम से राज्य की सोचनीय स्थिति, राजा जयसिंह के पास पहुँचानी चाही। रंग में भंग से गर्दन उड़ने के

---

१. जनम ग्वालियर जानियै खण्ड बुंदेले बाल,
तरुनाई आई सुघर मथुरा बसि सुसराल।

२. 'पत्रिका' नवीन भाग—८ अंक, २ पृष्ठ १३०।

३. बिहारी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृष्ठ ८९।

४. कविवर बिहारी के अनुसार जन्म तो इनका ग्वालियर ही हुआ था तथा 'खण्ड बुन्देले बाल' के समानान्तर बालपन, बुन्देल खण्ड में बीता था। यह ज्ञात होना चाहिए कि ग्वालियर बुन्देल खण्ड की सीमाओं के बाहर है। तत्कालीन बुन्देल खण्ड की राजधानी ओड़छा ही थी। बिहारी ओड़छा न रह कर गुढ़ो गाम में नरहरि के आश्रम में शिक्षित हुए हैं जिसे कि 'खण्ड बुन्देले बाल' की सज्ञा ही पक्ति स्पष्ट करती है।

५. श्री नरहरि नर नाह कौं दीन्ही बांह गहाय।
सुगुन-आगरै, आगरै, रहत आइ सुखपाय॥
पत्रिका (नवीन) भाग-८ अंक १, पृष्ठ-११८।

भय से किसी को साहस न हो रहा था। अन्त में बिहारी ने फूलों की डलिया में अमरूशतक के पद के मूल भाव पर एक दोहा लिख कर राजा जयसिंह के पास पहुँचा दिया। वह ऐतिहासिक दोहा इस तरह था—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल।
अली कलीं ही-सों बध्यौ, आगे कौन हवाल॥

राजा जयसिंह जो रानी की वय संधि और सौन्दर्य पर मुग्ध, राजकार्य से तटस्थ थे, बिहारी के दोहे से सचेत हुए। बिहारी के इस दोहे में, साहित्यिक मर्म के साथ ऐतिहासिक तथ्यों का अर्थ भी समाहित था जो कि जयसिंह की कूट बुद्धि में संप्रेषित हो गया था। जयसिंह, बिहारी की प्रेरणा और चेतना, दोनों को ही ग्रहण कर, राजकार्य में प्रवृत्त हुआ। रत्नाकर ने 'आगे कौन हवाल' का अर्थ 'खालसा' फिर न हो जाय, के संदर्भ में प्रस्तुत किया है।[1] राजा के कार्य में प्रवृत्त होने के शुभ संवाद से प्रसन्न चौहानी रानी ने व राजा जयसिंह ने इनकी प्रतिभा के प्रति श्रद्धा कर इन्हें आमेर में ही रुकने का आग्रह किया जिसे कि बिहारी ने स्वीकार कर लिया तथा आमेर के ब्राह्मण टोला : ब्रह्मपुरी जहां ब्राह्मणों के घर थे, निवास करने लगे। जयसिंह का बिहारी से दोहों के प्रति आग्रह था, जिसे कि बिहारी प्रति दिन और समयानुसार, अवसरानुसार सुनाया करते थे। जयसिंह की चौहानी रानी की बिहारी पर विशेष कृपा रहती थी। बिहारी के जयसिंह द्वारा आश्रय दिए जाने के उपरान्त दो तीन ही महीने के भीतर चौहानी रानी के गर्भ से रामसिंह का जन्म हुआ। आगे चलकर जिसकी शिक्षा का सौभाग्य बिहारी को, चौहानी रानी के आग्रह पर प्राप्त हुआ। चौहानी रानी के मन में बिहारी के प्रति आदर और श्रद्धा थी, जो कि जयसिंह को प्रेम पाश से मुक्त करा सकने से उपजी थी। ऐसी संभावना मान्य है।[2] चौहानी रानी ने बिहारी का एक चित्र भी बनवाया था जो कि आज भी उपलब्ध है।

रामसिंह को नीति के उपदेश देने के लिए बिहारी ने स्वरचित दोहे संकलित किए तथा अन्य कवियों के भी दोहे उस संग्रह में रखे।[3] बिहारी ने सतसई ग्रन्थ की रचना महाराज जयशाह के आदेश पर की थी जैसे कि बिहारी के अंत में स्वय स्वीकार करते हुए कहा है......

हुकुम पाय जयशाह को, हरि राधिका प्रसाद।
करी बिहारी सतसई, भरी अनेक सवाद॥

हिन्दी साहित्य के द्वितीय खण्ड में डा. भागीरथ मिश्र, संस्कृत और हिन्दी साहित्य में, बिहारी सतसई को सर्वश्रेष्ठ घोषित करते हुए, इसकी रचना महाराज जयसिंह के आदेश पर ही मानते हैं।[4] यह सतसई संवत १७०१ में बिहारी ने समाप्त की।[5] सतसई समाप्त होने के पहले, बिहारी की पत्नी की मृत्यु हो चुकी थी। बिहारी के कोई सन्तान नहीं थी। पर विद्वान् ऐसा मानते हैं कि इनके 'निरंजन कृष्ण' नाम का पोष्य पुत्र था जो कि कृष्णलाल कवि के नाम से बिहारी सतसई का प्रथम टीकाकार है। निरंजन और कृष्णलाल दो नाम भ्रान्ति को उद्भूत करते रहे हैं किन्तु डा. रणवीर सिन्हा का कथन है कि वास्तव में ये एक ही व्यक्ति थे।[6] जयसिंह का राज्यकाल संवत् १६७४ से १७२४ तक माना गया है। बिहारी ने मृत्यु काल से पूर्व आमेर से विदा लेकर वृन्दावन चले आये थे, यहाँ, बिहारी कवि धर्म से सन्यास लेकर महात्माओं के सत्संग में शेष जीवन व्यतीत किया। बिहारी की मृत्यु संवत् १७२१ में हुई।

१. कविवर बिहारी, पृष्ठ ३७५।
२. कविवर बिहारी और उनका युग, डा. रणवीर सिन्हा, पृष्ठ १०।
३. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ-भाग, डा. नगेन्द्र, पृष्ठ ५१३।
४. संक्षिप्त हि. सा., डा. धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ ४०७।
५. कविवर बिहारी, पृष्ठ १०७।
६. „ „ पृष्ठ १०८।

बिहारी की सम-सामयिक राजनैतिक पृष्ठभूमि पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि बिहारी पूर्व अकबर बादशाह ने अपने उत्तरार्द्ध शासन काल तक राजस्थान में शांति प्राप्त कर ली थी। शेष स्थिति जहाँगीर ने सम्हाली थी। अकबर के समय में वीर बुन्देला वीरसिंह अकबर से निरन्तर लोहा लेता ही रहा तथा कई बार मुगल सेना को बुरी तरह से परास्त किया। अकबर की फौज सदा ही मात खाती रही। अकबर के मित्र अबुल फैजी को भी वीरसिंह ने मार कर अकबर को चुनौती दी थी, जिसे कि अकबर अपने जीवन में चुका नहीं सका। जहाँगीर के समय में शांति ही रही। कोई भी विदेशी आक्रमण नहीं हुआ और न ही आन्तरिक स्थिति को सुधारने के लिए देश में ही युद्धों का क्रम चला है। इसके परिणामतः देशवासी शान्ति का अनुभव करने लगे थे। शान्ति के समय में कला संस्कृति और साहित्य का विकास बहुत ही शीघ्र विस्तार पाता है। जहाँगीर ने राजपूत राजाओं से अच्छा व्यवहार रखा तथा किसी प्रकार राजनीतिक विद्वेष की भावना को नहीं अपनाया।[1] बेगम नूरजहाँ के द्वारा भी किसी भी प्रकार की राजनीतिज्ञ संक्रान्ति की चेष्टा नहीं हुई। शाहजहाँ तो विशेष रूप से शान्ति प्रिय शासक रहा है। इस शासक ने कला और साहित्य की उपासना में अकबर के समान ही प्रयास किए। इसका विस्तार से उल्लेख मुगल कलम के अन्तर्गत किया जावेगा। बिहारी की पृष्ठभूमि से यही आशय है कि बिहारी जिस राजपूत राजा के आश्रय में थे वह मुगल बादशाह के अन्तर्गत था।

जयसिंह शाहजहाँ और औरंगजेब के समय में रहा। जयसिंह की मृत्यु २ जुलाई सन् १६६७ ई. में बुरहानपुर में हुई। सामाजिक और धार्मिक स्थितियाँ भी शान्त और प्रगतिशील रहीं हैं। हिन्दू और मुसलमान शाहजहाँ के काल तक एक होकर जीने में विश्वास करने लगे थे। मतमतान्तरों के सम्बन्ध में वासुदेवी गोस्वामी का कथन है कि विक्रम की सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में इतने अधिक धर्म और मत मतान्तरों का प्रचलन हो गया था कि उनका सूक्ष्म परिचय देना भी असंभव है, किन्तु उस समय को स्वर्ण युग कहा जा सकता है।[2] सत्रहवीं शताब्दी में राम भक्ति शाखा और कृष्ण भक्ति शाखा दोनों में ही श्रृंगार की भावना प्रवेश करने लगी थी। कृष्ण भक्ति इस से कुछ अछूती थी। इन शाखाओं के अतिरिक्त सभी धर्मों में श्रृंगारिक परिवेश में लौकिकता में जन मानस की प्रवृत्तियाँ रमण करने लगी थीं।[3] सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से कृष्ण भक्ति की परम्परा ने इतना अधिक वेग पकड़ा कि उसने किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय को अछूना न रहने दिया। डा. सावित्री सिन्हा के अनुसार राम भी कृष्ण की तरह नृत्य, रास और बिहार करने लगे।[4] कविवर बिहारी इस परम्परा में बीच की कड़ी है।[5]

बिहारी के काव्य में, लोक जीवन की प्रवृत्तियाँ धार्मिक होने पर भी लौकिक और श्रृंगार रस जन्य ही सर्वाधिक है। बिहारी के कृष्ण और राधा सूर से भिन्न, ग्राम दरबारी परिवेश के नायक-नायिका, नट-नटी के समान सतसईया के दोहों में, सामान्य मानव जीवन के काम जन्य व्यापारों की संवेदनाओं के संवाहक है।[6] दरबारी पातुरियों

---

१. रेलिजस पालिसी आफ दी मुगल, द्वारा श्री राम शर्मा, पृष्ठ संख्या ८६-८७।

२. भक्त कवि व्यास जी, पृष्ठ ११।

३. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा. रामकुमार वर्मा, पृष्ट ५६८।

४. हि. सा. बृ. इतिहास, सं० डा० नगेन्द्र, पृष्ठ संख्या १८।

५. घर घर तुरकिनि, हिन्दुनी देति असीस सराहि।
पतिनु राखि चादर चुरी तैं राखी जयसाहि। बिहारी रत्नाकर, ७१२ पृष्ठ २६५।

६. (क) राधा हरि हरि राधिका बनि आए संकेत।
दंपति रति-विपरीत-सुखु सहज सुरतहूँ लेत। बिहारी रत्नाकर, १५५, पृष्ठ संख्या-६८।
(ख) तजि तीरथ हरि-राधिका-तन-दुति करि अनुराग।
जिहिं ब्रज केलि निकुंज-मग, पग पग होतु प्रयाग।। बिहारी रत्नाकर २०१, पृष्ठ सं० ८६...

से प्रेरणा ग्रहण कर काव्य के सृजन की कवि प्रवृत्ति में कृष्ण की जगह राधा का महत्व अधिक हो गया। इस परंपरा में केसवदास, बिहारी, घनानन्द के नाम उल्लेखनीय है या इनका उल्लेख किया जा सकता है।[1]

यदि तत्कालीन चित्रकला का रस की दृष्टि से मूल्यांकन किया जावे तो उसमें शृंगारिकता ही अधिक है। इन राजदरबारों में आश्रित, चित्रकला और चित्रकारों के दो प्रारूप मिलते हैं। प्रथम में तो दरबारों के ऐश्वर्य और शृंगार भावना की अभिव्यक्ति हुई है। द्वितीय में लोक जीवन में व्याप्त होने वाली वैष्णव संस्कृति जो वल्लभ सप्रदाय तथा राधा कृष्ण की ही कथा का ओतप्रोत चित्रण प्रचलित रहा। आगे चलकर प्रेम मूलक शृंगार भावना के साथ काव्य संगीत और चित्र, तीनों ही विधा से सम्पन्न था। अतएव बिहारी की सतसई पर तीनों ही विधाओं का सीधा प्रकारांतर से संबंध, प्रभाव रूप में है। रंगों के फलक और विस्तार में, चित्रकार तीन प्रमुख मूल रंगों को अपनी दृष्टि में रखकर कार्य रत रहता है। ये तीन मूल रंग पीला, लाल और नीला है। यह ध्यान में रखने की बात है कि पीला रंग पृथ्वी का सबसे पास का रंग है और नीला क्षितिज का सबसे दूर का रंग है और जब ये दोनों क्षितिज या फलक पर मिलते हैं तो एक मध्य स्थिति का रंग हरा, आत्म रूप में नया अस्तित्व धारण करता है। बिहारी सतसई का प्रथम दोहा पृथ्वी और क्षितिज के रगों के मेल का संदर्भ रखता है।[2] राधा गोरी, भोरी—पीतवर्णी पृथ्वी का प्रतीक है और कृष्ण गुरुतर गंभीर, पृथ्वी से उठे हुए सर्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त क्षितिज है। यह अर्थ सत्ता, बिहारी के मन में न रही हो, यह कहा जा सकता है किन्तु रंग और उसकी प्रवृत्ति इस अर्थ को प्रकट करती है। जब यह तथ्य प्रगट होता है, तब बिहारी के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि बिहारी दर्शन के ज्ञाता तथा धर्म शास्त्रादि के भी पण्डित रहे हैं। रंगों के दार्शनिक दृष्टिकोण के माध्यम से यह आशय इस तरह स्पष्ट हुआ कि भक्त और भगवान् दोनों ही एक दूसरे से प्रभावित होते हैं। रंग बदलने की स्थिति से राधा का पक्ष सबल होता है। बहरहाल यह सर्वमान्य है कि बिहारी ने अपनी इस पद में आत्म अनुभूति की अभिव्यक्ति में रंग विधा का आश्रय लिया है। 'सोन जुही सी होति दुति, मिलत मालती माल'[3] में बिहारी मे हलका उजला पीला (लेमन येलो) और स्वेत रंग के मिश्रण से बनने वाले रंग के प्रभाव को अभिव्यक्ति कर नायिका की प्रशंसा नायक के लिए दूती द्वारा प्रस्तुत की है। मालती पुष्प स्वेत होता है। सोनजुही पीत-स्वर्ण रंग की होती है। स्वर्ण के दो रंग हैं। पहला हल्का उजला पीला, दूसरे में लाल का अंश गौर करने से दिखाता हैं। या उसमें रंच मात्र के तांबे के योग से 'लाल' रंग प्रकट होने लगता है। स्वर्ण जुही का रंग हल्का उजला पीला होता है। सूर्य की किरणें जब उस पर पड़ती हैं तब किंचित 'लाल' की आभा दीप्ति होती है। इस पद के अनुसार नायिका ने मालती की माला अपने उर पर धारण कर रखी है। इसमें नायिका के दो रूप सामने आते हैं। प्रथम तो वह शुद्ध पीत वर्णी स्वर्ण जुही का तथा दूसरे में लाली के संयोग से : सूर्य की किरणों से अद्भुत आभा का। इस तरह तीन रूप हुए—देह की कान्ति रश्मि की आभा, और मालती, दूसरा स्वर्ण के दो रूपों का, तीसरा शुद्ध रंगों का जिसमें हल्का उजला पीला, सफेद और लाल का अंश मात्र, उक्त 'सोन-जुही' के रंग को प्रस्तुत करता है। इसमें यदि नायिका का वक्ष-बंध-विहीन है तो

---

१. बिहारी—मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोय,
घनानंद—राधे सुधान इतै चित्त दै, हित में कित कीजत मान मरोर।

२. मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोय।
जा तन की झाई परैं, स्यामु हरित दुति होय ॥
बिहारी रत्नाकर १, पृष्ठ १।

३ हौं रीझी, लखि रीझि हौं छबिहिं छबीले लाल।
सोन जुही सी होति दुति-मिलन मालती माल ॥
बिहारी रत्नाकर-८, पृष्ठ ८।

स्तनों का अग्र लाल प्रदेश की किंचित आभा 'सोनजुही' के निर्माण की सहायक है। इस पद में बिहारी ने स्वर्ण, सोनजुही रंग और नारी रूप को एकात्म करके प्रस्तुत किया है जिससे नायक के दिल में नायिका को देखने की उत्कण्ठा भर रही है। चित्रविधा की दृष्टि से बिहारी ने स्वर्ण रंग किस तरह से बनता है प्रगट किया है। इसी तरह एक दोहा और है[1] जिसमें लाल रंग कंचुकी से लेकर स्वेत की अवहेलना की है। जिससे बिहारी का स्पष्ट आशय 'ताफ रंग'[2] के सौन्दर्य का उद्‌बोधन करना है।

बिहारी अनुरागी चित्त की बात कह कर कहते हैं कि ज्यों-ज्यों बूढ़े स्याम रंग, त्यों त्यों उज्जवल होय[3]। अनुरागी चित्त का रंग लाल लाल होता है और पद के अनुसार काले रंग में जितना भी डाला जाय उतना ही उज्जवल होता है। लाल रंग को काले से मिलाया जाए तो 'वर्न्टसायना' तैयार होता है जिस पर काले रंग को छोड़कर किसी का प्रभाव नहीं पड़ता है किन्तु सभी के तालमेल और संतुलन में साथ देता है। हिन्दी रंग शब्दावली में इसे 'गहरा ईंट का रंग', खपरैल, जोगिया आदि कहते हैं। पिछले राजपूतकालीन चित्र निर्माण के समयों में लाल और काले पत्थर के मेल से इस रंग को तैयार करते थे। साहित्यिक अर्थ में यहाँ विरोधाभास प्रतीत होता है। वह इस तरह कि लाल रंग को काले में डुबाने से उज्जवल कैसे हो सकता है। साहित्यिक शब्दावली में उज्ज्वल से तात्पर्य निर्मल और स्वेत से रत्नाकर जी प्रस्तुत करते हैं।[4] जयपुर शैली के बिहारी के समय के चित्रों को देखने से यह बात स्पष्ट होती है कि इस समयों के सीमा बंध नगर द्वार, भवन स्तम्भ आदि में इस मिश्रित रंग को प्रयोग में लाया गया है। इसके अतिरिक्त लाल रंग एक ही जगह पूँजीभूत होकर भी इसी परिवर्तित रंग को ही प्रस्तुत करता है।

साधारणतः चित्रकार एक आकृति को अपने आत्म में उभारता है तदुपरांत उसे रेखा, रंग, रूप आकृति देकर फलक पर प्रस्तुत करता है। बिहारी का निम्नोद्रत दोहा में यही स्थिति है।[5] कवि कृष्ण की रूपाकृति को क्रमशः दृष्टि-गतानुसार उसे अभिव्यक्त करते हैं। सर्वप्रथम बिहारी सीस पर मुकुट देखते हैं फिर उनकी दृष्टि कमर के पट्टे पर जाती है। इसके उपरांत कृष्ण करों में मुरली को देखते हैं। इस सबके बाद बिहारी की दृष्टि हृदय पर पड़ी माला के ऊपर जाती है। बिहारी यहाँ कलाकार की दृष्टि से कृष्ण की अतः रेखांकित आकृति को देख रहे हैं। भक्त की दृष्टि सदैव प्रभु के चरणों पर होती है और कलाकार की दृष्टि सरस रस से वेष्ठित साक्षातित वस्तु की उच्चतम प्रकाशप्राप्त जगहों (हाई लाईट स्पाट) को देखती है। नारी को जब कलाकार देखता है तब या तो पहले उसकी दृष्टि नाक के प्रकाश से टकरा कर मुख पर बिखर जाती है या फिर जब कलाकार नारी के प्रति आकर्षित होकर सरस-रस-सिक्त दृष्टि का संधान

---

१. सोन जुही सी जगमगाति अंग-अंग जोबन प्रबीन।
सुरंग, कसूँभी, कंचुकी, दुरंग देह दुति होति॥
बिहारी रत्नाकर, १६०, पृष्ठ ८१:

२. छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोबनु अंगु।
बिहारी रत्नाकर, ७०, पृष्ठ ३४।

३. या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोय।
ज्यों ज्यों बूढ़े स्याम रंग, त्यों त्यों उज्जवलु होय॥
बिहारी रत्नाकर १२१, पृष्ठ ५४।

४. बिहारी रत्नाकर, पृष्ठ ५५।

५. सीस-मुकुट, कटि-काछनी, कर-मुरली, उर-माल।
इहिं बानक मो मन सदा बसो बिहारी लाल॥
बिहारी रत्नाकर ३०१, पृष्ठ १२७।

करता है तब साक्षातित नारी अंग का उच्चतम प्रकाश प्राप्त, उभरा हुआ वक्ष प्रदेश से दृष्टि टकरा कर शरीर के लावण्य मय अन्य अंगों पर बिखर जाती है। बिहारी की दृष्टि कृष्ण के चरणों पर नहीं जाती है उनकी रस-तृषित दृष्टि पहले सीस पर जाती है, जहाँ मुकुट देखती है, फिर मद पिए अचेतन कलाकार वत दरबारों में नाचने वाली कामनी की क्षीण कटि की अभयस्त नज़र, कृष्ण की कमर पर जाती है, जहाँ कि काछनी देखते हैं। यहाँ से बिहारी की दृष्टि 'पीन पयोधर' देखने चलती है जहाँ कि कर मुरली पहले दिख जाती है और फिर केवल उरमाल ही गोचर होती है। कहने का आशय यह है कि बिहारी की दृष्टि और कल्पना एक कलाकार की कल्पना है या फिर दरबारी नर्तकी का रूप उनके अंतर्मन में जबरजस्त रहा है जो कि कृष्ण के चित्रण पर हावी हो गया है।

अकबर और जहाँगीर के समय से ही व्यक्ति चित्रणों की परम्परा प्रबल रूप में पनप कर हृतप्रभ, हासोन्मुख हो चली थी। चित्रकार शाहजादे और शाहजादियों के भी व्यक्ति चित्र तैयार करते थे। कवि, चित्रकार आदि के प्रति इन नव अंकुरित यौवनाओं (शाहजादियों) की मनः स्थिति सुकुमार रहती रही होगी। शाहजादी और उसके दिली दिमाकी ख्वाब, और उसका चित्र बनाता हुआ चित्रकार, दोनों ही अपनी अपनी दिशा में क्षण प्रतिक्षण प्रगति करते हैं। जब तक चित्रकार को वास्तु से (आबजेक्ट) राग नहीं होगा, वस्तु के रूप में निखार और नवीनता का उन्मेष नहीं होता है। चित्रकार लगातार युवती को देखता है। नव यौवना युवती की मनः स्थिति एक पुरुष चित्रकार को सामने पाकर क्षण प्रतिक्षण बदलती है। इसकी वास्तविक अनुभूति बिहारी के कथन में सही है कि—

लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥[1] बिहारी कवि और चित्रकार के मर्म को समझते थे तभी इतना सजीव चित्रण प्रस्तुत कर सके हैं। बिहारी आम मुगल दरबारों में भी जाते थे। जहाँ पर बिहारी को चित्रकला गत सामान्य व्यापारों का परिचय मिला है। इसी तरह एक प्रसिद्ध बहुश्रुत पद भी बिहारी की चित्रात्मकता के साथ रंगों के तालमेल और प्रभावों के अन्दाज को व्यक्त करता है। दोहा इस तरह है—

अधर धरत हरि के परत ओठ दीठि पट ज्योति।
हरित बाँस की बासुरी इन्द्र धनुष रंग होति॥

इस दोहे में चार उपादान हैं, ओठ, नेत्र, पट और बाँसुरी। इनके रंग क्रमशः लाल, नीला, पीला, और स्वेत हैं। लाल और नीले रंग के सानिध्य से बीच का पाँचवाँ रंग बैंगनी होता है। इसी तरह नीले और पीले के मध्य छठा रंग हरा रंग है। लाल और पीला रंग मिल कर सातवें रंग का निर्माण करते हैं। इन सबके मेल से ज्योति की स्वेतमा इंद्र धनुष की आभा को प्रस्तुत करती है। इस दोहे के रंगों के सानिध्य से उत्पन्न रंग वैभिन्न का सौन्दर्य, बिहारी के मन पर समय समय पर चित्रों के निर्माण काल के पड़े हुए प्रभाव को व्यक्त करता है। समय—अवसर पर विश्राम करते हुए या कल्पना करते हुए बिहारी के मन पर रंग उभरते रहे हैं जिसके सौन्दर्य की अभिव्यक्ति उक्त दोहे में है।

व्यक्ति चित्रण में जो माडल या आब्जेक्ट होता है, वह स्थिर (स्टिल) जड़वत् होकर चित्रकार के सामने बैठता है। बिहारी के निम्नोद्दृत दोहे में उप-पति नायक ने परकीया का अपने ऊपर प्रेम होना छिपा रखा था। इस अवसर पर परकीया नायिका को नायक की ओर जड़वत् टकटकी बाँध कर देखते देखकर प्रथम नायिका नायक को ताना देती हुई पूछती है कि देखो वह नारी तुम्हें देख कर, चित्र में चित्रित हुई आकृति के समान अचल है[2]। बिहारी के 'लिखी

---

१. बिहारी रत्नाकर ३४७, पृष्ठ ११४।

२. रही अचल सी ह्वै, मनौ लिखी चित्र की आहि।
तजै लाज, डरु लोक को, कहौ विलोकति काहि॥
बिहारी रत्नाकर, ५३३, पृष्ठ २२०।

चित्र की आहि' शब्दावली के मूल में चित्रकार का स्थिर माडल है जो कि बिहारी का चित्रकारों के साथ घनिष्ट सबंधों को प्रगट करता है।

बिहारी के चंद चित्रात्मक संदर्भों से यह नहीं कहा जा सकता है कि इनके दोहों में काम शास्त्र की झलक या रचना भी सीधी प्रस्तुत है। इसके मूल में राधा के प्रति कृष्ण का परकीया भाव है। वैष्णव मत में परकीया भाव समाप्त नहीं रहा है। स्वकीया भाव तुलसी जैसे कवि ने सामाजिक नियंत्रण को सुदृढ़ रखने के लिए, अधिक समादृत दृष्टि से एक पत्नी वृत धारी राम के माध्यम से व्यक्त किया है। दर्शन और आध्यात्मिक दृष्टि से परकीया भाव रसोपासना की भक्ति में नायिका-भाव और सखी-भाव के माध्यम से विकास पा गया है। भक्ति में जहाँ परकीया-भाव समादृत हुआ है, वहाँ सूर में स्पष्ट रूप से उसका स्वरूप लौकिक नहीं प्रतीत होता है। किन्तु आगे चलकर सूर के ही समय से परकीया भाव का लौकिक पल्लवन भी हुआ है।

सूर ने भी राधा के जिस परकीया—रूप का चित्र प्रस्तुत किया है उस स्वरूप को हालांकि आध्यात्मिक परिवेश में प्रस्तुत किया है किन्तु सामाजिक सहृदय और रसिक के लिए वह लौकिक ही अधिक है। आध्यात्म की अनुभूति करने वाले भक्त होते हैं। सभी सहृदय भक्त हों यह जरूरी नहीं है। क्यों कि परकीया-निसृत प्रेम-भाव में भाव सहज ही आयातित है। बिहारी कालीन सामाजिक से भक्ति की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। स्वकीया प्रेम में घर की मुर्गी दाल बराबर वाला किस्सा है जबकि परकीया के प्रति प्राप्ति में बाधा होने के कारण उसके प्रति अधिक जिज्ञासा, प्रबल प्रेम, होता है। इसके आलम्बन पर-पत्नी और कुमारी है। काव्य में इनके प्रति आकर्षण आत्मा के सौन्दर्य से हटकर रीतिकाल में इनकी रूपाकृति ही प्रधान रही है। आकर्षण के उपरान्त प्राप्ति के साधन, संघर्ष, मिलन आदि काम-मय-जीवन-व्यापार ही कवि कर्म हो गया। बिहारी का परिवेश भी कुछ इसी तरह नृत्य-संगीत-रत महफिले, चित्रशालाएँ, ऐश्वर्य अय्यासी की सहज साधना का रहा प्रतीत होता है। इस परिवेशिक आयाम का निष्क्रमण इस रूप में हुआ कि कवि बिहारी की दृष्टि नारी शरीर के काम जन्य अंगों के चतुर्दिक केन्द्रित हो गई। तथा मन बुद्धि और प्रतिभा उसके काम-मय-समायोजित-व्यापारों पर छा गई। बिहारी की सतसई को पढ़कर यह बात एक सहज रूप से पाठक के मन पर छा जाती है कि तत्कालीन जीवन में केवल काम और वासना ही जीवन का परम लक्ष्य था। वैसे तो यह स्थिति सभी युगों में रही है और इसके न रहने पर "भूखी पीढ़ी" जैसी स्थितियों की बाढ़ आती है। बिहारी की इस प्रवृत्ति को स्वच्छ मन से प्रेमी और श्रृंगार की उन्मुक्त-सूक्त-बद्ध प्रवृत्ति कह सकते हैं। बिहारी के समकालीन चित्रकला में प्रेम के समुचित तत्वों का आयाम है। संयोग और वियोग की विभिन्न परिस्थितियाँ अनेक रूपों में चित्रित हुई हैं। चित्रों में नायक और नायिका सर्वाधिक चित्रित हैं। केवल सौन्दर्य की दृष्टि से चित्रों का अंकन कम ही हुआ है।

बिहारी के सम-सामयिक और विशेष कर राजपूत चित्र कला शैली के प्रेम और श्रृंगार परक चित्रों का वर्गीकरण करें तो इन चित्रों के आलम्बन, उद्दीपन, काम, प्रेम और सौन्दर्य वर्ग क्रमशः होते हैं। प्रथम वर्ग में नायक और नायिका का चित्रण, राजा, महाराजा, सामंत, अमीर-उमराव और सेनापतियों का कमनीया-रूपसियों के मध्य चित्रण, राधा-कृष्ण लीलादि आलम्बन है। उद्दीपन में बारहमासा, रागमाला, बाह्य स्वतन्त्र प्रकृति एवं बंध प्रकृति का आलेखन है। काम तत्व का, चित्रों में आलेखन है, इसमें नारियों के स्तन, कटि प्रदेश, नाभि, योनि जंघाओं का चित्रण खुल कर हुआ है। नायिकाओं को नंगा, अधनंगा, प्रायः चित्रित किया है। राजपूत कला की स्थानीय शैलियों के अनुसार इस काम-जन्य चित्रण का कम-अधिक स्वरूप रहा है। प्रेम से आशय उन सभी चित्रों से है जिनमें प्रेम कथा को व्यक्त किया गया है। जैसे नल दमयंती, रूपमती और बाजबहादुर, ढोला-मरवण, हीर-रांझा, लैला-मजनू, आदि के साथ बारहमासा, ऋतु वर्णन, प्रकृति चित्रण, नायिका-भेद आदि चित्रणों में प्रेम तत्व प्रतिबिम्बित है।

शुद्ध सौन्दर्य की दृष्टि से उन चित्रों का आशय है जिनमें कि नायक नायिका के चित्र अन्य किसी काम-भाव आदि को जन्म न देते हुए प्रेक्षक को मंत्र मुग्ध कर लेते हैं। इसमें स्वतन्त्र व्यक्ति चित्रों की गणना की जाती है।

इसके अतिरिक्त शृंगार से इतर वीर और शान्त रस के चित्र उपलब्ध होते हैं। वीर रस की दृष्टि से रामायण महाभारत के युद्ध चित्रों के अतिरिक्त राजपूत राजाओं के युद्धों का कथात्मक स्वरूप व्यक्त करते हैं। शान्त रस की दृष्टि से स्वयं बिहारी में ही अल्प-प्रायः दोहों का आयाम है इसी तरह तत्कालीन चित्रकला में भी निर्वेद जन्य शान्ति का अभाव सा ही है।

बिहारी सतसई और तत्कालीन चित्रकला में अलंकरण की प्रवृत्ति समान रूप से पाई जाती है। मूर्तिकला में अलंकरण की प्रवृत्ति ९वीं शताब्दी के उपरान्त अधिक देखने में आती है। चित्रकार में केसव के समय से इस प्रवृत्ति का चलन बढ़ा है। विशेष कर जयपुर और बीकानेर की शैलियों में चित्रण की विधा में अलंकरण को प्रधानता मिली है। अठारहवीं शताब्दी के लगभग से जयपुर इस दिशा में अपनी दूसरी शानी नहीं रखता। यह प्रवृत्ति जयपुर कलम की अपनी विशेषता मानी जाती है। बिहारी ने अलंकरणों के विषय में अपने दोहे में व्यक्त किया है...

अंग अंग प्रतिबिम्ब परि दरपन सैं सब गात।
दुहरे तिहरे, चौहरे भूषण जाने जात ॥[1]

एक दूसरा उद्धहरण देखिए...

भूषण भारु संभारि हैं क्यों इहिं तन सुकुमार।
सूधे पाइ न धर परैं, शोभा हीं कैं भार ॥[2]

यह अलंकरण प्रवृत्ति युद्धक चित्रों में भी हाथी घोड़ों के सजावट के रूप में प्रतिलक्षित होती है। देवी-देवताओं का अलंकरण भी सामान्य दरबारी, सभा-सौबत की औरतों, की तरह से प्रस्तुत हुआ है। इसमें राधा, पार्वती सीतादि के चित्रों को देखा जा सकता है। कृष्ण का चित्रण अलौकिक की अपेक्षा लौकिक अलंकृत है। इसके साथ ही यदि पालकी को ढोने वाले चिचित्र किए गए हैं तो वे भी सज्जित दिखाए गए हैं।

राजपूत कलम में उपलब्ध चित्रों में लाल रंग का प्रायः बाहुल्य है। ठीक यही स्थिति बिहारी के काव्य में व्यक्त नायिका के रंगों में है। उनके पावों में महावर है, हाथों में मेंहदी है, अधरों पर पीक, ललाट पर बेंदी, मांग में सिंदूर और कुसूंभी कंचुकी[3] आदि में लाल रंग की प्रमुखता परिलक्षित होती है। वास्तु में रंग देने के सिलसिले में यथार्थ रंगों का प्रयोग हुआ है।

बिहारी के दोहों में 'नाविक' के तीरों का बोध समाहित है जो कि गंभीर चोट करते हैं। देखने में छोटे अलबत्ता लगते हैं। यह एक तत्कालीन प्रवृत्ति है। इस काल का कवि थोड़े में ही बहुत कुछ कह देना चाहता है। विशेष रूप से बिहारी इस कला के सिद्ध हैं। यही सिद्धता तत्कालीन चित्रों में भी परिलक्षित होती है। राजपूत चित्रकला पद्धति के छोटे-छोटे चित्रों में भी बड़ी-बड़ी गुत्थियाँ के हल समाहित हैं। उनमें तात्कालिक ऐतिहासिकता का बोध मुखर होता है। साधारणतः राज्य में राजा या किसी अन्य वस्तु के साथ महत्वपूर्ण संबंध होता है या कोई विशेष घटना घटती, तो उस घटना का आयाम काव्य में व्यक्त होता जैसा कि बिहारी के ही संदर्भ में देखा जा सकता है।[4] चित्रकला में तत्कालीन चित्र अपने सम-सामयिक की घटनाओं को प्रस्तुत करते हैं।

प्रथमतः राजपूत कलम के चित्रकारों ने प्रकृति को व्यापक रूप से चित्रित नहीं किया है अपितु जहाँ आव-

---

१. बिहारी रत्नाकर—६८०, पृष्ठ—२८०।
२. बिहारी रत्नाकर—३२२, पृष्ठ—१३५।
३. बिहारी रत्नाकर के ३५, १०६, २०७, २८७, ३५५, ६७६, ६८० दोहों में देखा जा सकता है।
४. घर-घर तुरकिनि, हिंदुनी देतिं असीस सराहि।
पतिनु राखि चादर, चुरी तैं राखी जयसाहि॥ बिहारी रत्नाकर—७१२, पृष्ठ—२९५।

श्यक समझा गया है वहीं अलबत्तः प्रकृति को चित्रित किया गया है। चित्रों में शनैः शनैः वस्तु-विषयों का आयाम होता गया है। आगे चल कर प्रकृति को बारहमासा, ऋतु वर्णन आदि में स्थान दिया ही गया पर वह स्वतन्त्र रूप से न हो कर मानव के विकारों में सहायक होने के लिए चित्रित किया है। प्रकृति का यह प्रस्तुत स्वरूप उद्दीपन रूप में ही चित्रों में दिखाया गया है। बिहारी सतसई के दोहों में प्रकृति का यह रूप है।[1] इस युग के न केवल कवि बिहारी अपितु अन्य कवियों में भी प्रकृति को उद्दीपन के रूप में प्रस्तुत करने की विचारणा रही है। बिहारी की सतसई के चित्रों में पक्षी आकृतियों में कपोत, मैना, तोता, मयूर, बतख, हंस, खंजन, कोयल आदि चित्रित हुए हैं। इसी तरह दरबारी जीवन से सम्बन्धित पशु हाथी, घोड़ा, ऊँट, हरिण आदि की स्थिति है। चित्रों में आम्र, कदली, केवड़ा, अशोक आदि चित्रित हुए हैं। बिहारी सतसई में इस तरह के सन्दर्भ हैं। सरिता, सरोवर, जल, कूप भी कवि और चित्रकार दोनों ने ही अपनाए हैं।

सतसई में जयपुर शैली के अनुरूप नायिकाओं के चित्रण में अंगिया, झीने वस्त्र, चूनरी, ओढ़नी का सन्दर्भ आता है।[2] आभूषणों में, बेसर, नथ, टीका, झुलमुली, नाक के मोती, लौंग, तरयौंना, अंगूठी, हार, अनवट, ताटक, विछिया, गल-काबध, बाजुबंध, मेखला आदि चित्रों में उपलब्ध होते हैं। यही आभूषण प्रायः बिहारी के निम्न संदर्भित दोहों में भी दिए गए हैं।[3] बिहारी ने होली त्यौहारादि, पतंग कबूतर उड़ाना, नटों के खेल, आदि पर तत्कालीन प्राप्त चित्रों के समानान्तर बिहारी के दोहों में मिलता है।[4] चित्रकार और कवि की मूलतः प्रेरक परिस्थितियाँ समान होने के कारण यह समानता दृष्टि गोचर होती है। दोनों की आधार भूमियों में विशेष अन्तर नहीं रहा है।

राजपूत कलम की सभी स्थानीय शैलियों में बिहारी के दोहों का चित्रण हुआ है। राजपूत पहाड़ी कलम की चित्र शैलियों में भी बिहारी के दोहों का चित्रण मिलता है। कांगड़ा शैली का कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय अपनी विधागत सौन्दर्यात्मकता के लिए है।

सतसई का चित्रण दो रूप से उपलब्ध होता है। प्रथम तो सम्पूर्ण सतसई को राजाओं एवं सामंतों एवं कला प्रेमियों ने चित्रित कराया है। दूसरा रूप वह है जिसमें सतसई के चुने हुए दोहों का स्वतन्त्र रूप से किया गया है। सम्पूर्ण सतसई उदयपुर, जयपुर, कांगड़ा, आदि की प्रसिद्ध है। जोधपुर बीकानेर तथा मेवाड़ का कार्य हुआ तो सम्पूर्ण चित्रण के रूप में था किन्तु अब वहाँ के राजशाही संग्रहालयों में स्फुट रूप ही है। जयपुर, का चित्र राजशाही आधिपत्य में है।

कुल मिलाकर बिहारी कवि और चित्रकार दोनों ही एक दूसरे से प्रभावित हुए हैं। बिहारी के बाद के चित्रकारों का प्रमुख आधार ही बिहारी सतसई रहा है। इसका विस्तार और लोकप्रियता सीमातीत रही है और आज भी है।

---

१. सघन कुंज छाया सुखद, सीतल सुरभि समीर।
मन ह्वै जातु अजौं वहैं उहि जमुना के तीर॥ बिहारी रत्नाकर—६८१, पृष्ठ–२८०।

२ बिहारी रत्नाकर के दोहा संख्या १८६, ३४०, ४७८, ६२६, ३०४, इस संदर्भ में देखे जा सकते हैं।

३. बिहारी रत्नाकर के दोहा संख्या २५, ३०६, १७, १७३, १४३, २५, ३३८, ३३६, २०७, २०८, २०६, ४१८, ४४० देखें जा सकते हैं।

४. बिहारी रत्नाकर के निम्नलिखित दोहा संख्या ३७३, ३७४, २३०, २८४, १६४, २६४, १०४ इस संदर्भ में देखें जा सकते हैं।

अध्याय ५

देव के काव्य में राजपूत कला शैली के प्रभाव और राजपूत कला शैली पर देव काव्य का प्रभाव।

कवि देव का जन्म भाव विलास के आधार पर संवत् १७३०, तदनुसार सन् १६७३ ईसवी में हुआ था। ये घौसरिया के कश्यप गोत्री कन्याकुब्ज ब्राह्मण और इटावा के रहने वाले थे। इस विलक्षण कवि ने १६ वर्ष की ही अवस्था में भाव-विलास व अष्टयाम जैसे ग्रन्थों का प्रणयन किया था जिनमें व्याप्त काव्य और लालित्य सर्वश्रुत है। इन दोनों ग्रन्थों की रचना इटावा में ही हुई थी। इटावा में कवि देव का आवास उनके वंशाजों में मौखिक रूप से प्रख्यात, लालपुरा के आसपास यमुना के किनारे थोड़ी ऊँचाई पर घटिया मोहल्ला है। यहाँ से यमुना की शोभा रम्य मोहक प्रतीत होती है। यह स्थान देव का उनकी प्रकृति प्रेम का मूलाधार रहा होगा। ऊपर से यमुना बहुत ही नीचे, गहरे तल पर होकर बहती है। भाव-विलास में विभिन्न प्रकृति चित्र यहीं के हैं। कवि देव भाव विलास और अष्ट-याम को लेकर आजमशाह के यहाँ उपस्थित हुए थे। आजमशाह ने उन्हें पसंद किया था और शायद संभवता कवि देव को मुद्रा पुरस्कार भी प्राप्त हुआ था।[1]

डा. नगेन्द्र के अनुसार संवत् १७४६ से लेकर अपनी मृत्यु पर्यन्त आजमशाह का जीवन अस्थिर ही था। पहले वह पिता का स्नेह-भाजन होने के कारण उसकी ओर से दक्षिण में लड़ता रहा, फिर उसके संदेह का शिकार रहा, और अन्त में पिता की मृत्यु के उपरान्त तो कुछ समय तक अन्तिम संघर्ष कर वह बेचारा सदैव के लिए संसार से उठ गया।[2] इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि युवराज दिल्ली आया होगा या आगरा से होता हुआ दिल्ली गया होगा उस समय देव ने उससे भेंट की होगी, अपने ग्रन्थों को पढ़कर सुनाया होगा। देव का कथन 'सराहयो' भी है। आजमशाह के संबंध में कहा जाता है कि वह उस युग का प्रतिष्ठिन साहित्य परखी भी था। वह न केवल काव्य के सृजेताओं को ही आश्रय देता था अपितु उसके संपादन में भी रुचि लेता था। बिहारी सतसई का आजमशाही क्रम इसी का कराया हुआ है। डा. नगेन्द्र के आजमशाह के प्रति व्यक्त कथन को देखते हुए देव के लिए आजमशाह का आश्रय अधिक समय तक के लिए उपलब्ध नहीं हुआ है। इसके उपरान्त इन्हें दूसरा आश्रयदाता चर्खी-दादरी के राजा सीताराम के भतीजे भवानी दत्त वैश्य मिले। राजा सीताराम शाहजहाँ के खजांची थे। भवानी दत्त सीताराम के भाई लाला राधाकिशन के लड़के थे। देव के अनुसार सावलसिंह इनके पिता थे। इस संदर्भ का तारतम्य इस तरह प्रतीत होता है कि आजमशाह के दक्षिण चले जाने पर कविदेव जब दिल्ली में थे तब ये भवानी दत्त के सम्पर्क में आए। इसके आगे कवि चर्खी-दादरी चले गए। यह चर्खी-दादरी रेवाड़ी के पास है। देव के तीसरे आश्रयदाता फफूंद के अमीर कुशल-सिंह है।[3] इनके पिता का नाम देव के छन्दानुसार शुभकर्णसिंह था। देव ने इनके वैभव और दान की भूरि-भूरि प्रशंसा की है, जिससे यह प्रतीत होता है कि कुछ समय देव इनके यहाँ टिके हैं। किन्तु यहाँ भी देव अधिक समय रह नहीं सके हैं। संवत् १७८३ तक देव अपने अभीष्ट संरक्षक की खोज में, लगभग २० वर्षों तक देश-व्यापि दीर्घ यात्रा करते

---

१. दिल्ली पति अवरंग के आजमसाहि सपूत।
सुन्यो सराहयो ग्रन्थ यह अष्टयाम संजूत॥

२. देव और उनकी कविता—पृष्ठ, २१।

३. कुसल सरुप भूप भूपति कुसलसिंह, नगर फफूंद घनीफूले जस जाहि के।
करन के करन सपूत सुभ करने के, सेंगर महीप कुल दीप मधुसाहि के॥

भटकते रहे हैं। इस काल के लगभग देव की भेंट उदार गुणज्ञ राजा भोगीलाल से भेंट हुई। रस विलास देव ने इन्हीं को समर्पित किया है। देव ने भोगीलाल की सर्वाधिक प्रशंसा की है। किन्तु इसका आश्चर्य है कि देव यहाँ भी अधिक समय तक नहीं रहे हैं। फिर भी इस समय तक देव की अवस्था काफी प्रौढ़ हो चुकी थी।[1] नीचे दिया हुआ छंद ऐसा प्रतीत होता है जैसे कवि देव को अपनी वृत्ति पर ग्लानि का अनुभव होने लगा था।

इन सब दुविधाओं, कष्ट और संकटों के उपरान्त कवि देव को पुनः मर्दनसिंह के पुत्र उदोतसिंह जमींदार ड़मोड़िया खेरा (इटावा के पास) की शरण में जाना पड़ा। महाकवि देव ने इन्हें प्रेमचन्द्रिका का समर्पण किया। डा. नगेन्द्र के अनुसार इसके उपरान्त सुजान विनोद नामक ग्रन्थ दिल्ली वासी राजा नरोत्तम के पुत्र पाती राम कायस्थ, को भेंट किया। इसकी रचना काल सं० १७६०-६५ के आसपास का है।[2] देव का भरतपुर नरेश और अलवर नरेश के यहाँ भी जाना कहा जाता है। कवि देव ६४ वर्ष की उम्र के लगभग के अन्तिम आश्रयदाता अब्दुल्ला खां के पुत्र अकबर अली खां थे। ये महमदी राज्य के अधिपति और पिहानी इनकी राजधानी थी। इन्हें देव ने 'सुखसागर-तरंग, इनके सं० १८२४ में गद्दी पर बैठने के समय पर भेंट किया। यहाँ से प्रतीत होता है कि उचित पुरस्कार लेकर कुसमरा आए और यहीं एकाध साल में महाकवि देव की आत्मा दिवंगत हो गई।

देवकृत काव्य की मात्रा विपुल कही जाती है। देव के काव्य में, तीन रूप सामने आते हैं।......

१. प्रेम परक श्रृंगारिक,

२. जीवन से तटस्थ विराग जन्य दार्शनिक स्वरूप,

३. देव की रीतिपरम्परा के आचार्यत्व का पक्ष।

प्रथम वर्ग में अष्टयाम, जाति विलास, रसविलास, सुजानविनोद, सुख सागर तरंग-संग्रह, प्रेम चन्द्रिका, प्रेम पच्चीसी आते हैं। भाव विलास और भवानी विलास में प्रेम और रीति आचार्य दोनों ही प्रवृत्तियाँ मुखरित हैं। कवि देव ने भावविलास में श्रृंगार रस को प्रधानता दी है। नायक-नायिका भेद तथा अलंकारों को विविधता में प्रस्तुत किया है। रस विलास में मुख्य रूप से नायिका भेद ही वर्णित है। इसमें कवि ने जाति कर्म गुण आदि के आधारों पर नायिका भेद किया है।[3] कवि द्वारा प्रस्तुत देश-देश की नायिकाओं का वर्णन अनुभव के आधार पर न होकर श्रुति और कल्पना के आधार पर है।[4] इससे यह नहीं माना जा सकता है कि कवि देव अनेक स्थलों का भ्रमण करते रहे हैं। कवि देव इसमें राज नगर की नागरिकाओं का वर्णन करते हुए 'छीपिन' (गोया कपड़ा रंगने वाली) का उद्धरण देते हैं कि.........

सोने से सोहने गातन सोहे सुहागनि की अति सूही सुहाई।
देव जू आवे लगी आंखियान में देखत ही मुख की अरुनाई।

---

१. बीचु मरीचन के मृग लौं अव धावै न रे सुन काहु नरिन्द के।
इन्दु सौ आनन तू जु चितै अरविन्द-से पांयन पूजि गुविन्द के॥

२. देव और उनकी कविता, डा. नगेन्द्र, पृष्ठ २८।

३. जाति कर्म गुन देस अरु काल वहिक्रम जानु।
प्रकृति सत्व नायिका के आठों भेद बखानु।
रस विलास—देव ग्रन्थावली, पृष्ठ १३७।

४. सात दीप नव खण्ड में सुनियत देश अनन्त।
बरनि बरनि घर के तिनहि व्यासादिक मति मन्त्र॥ २८॥
तिनमें जंबू दीप के सुने कछू जे देश।

ज्यों ज्यों रंगे पट रंग निचोरत त्यों निचुरै अंग अंग निकाई।

दै छबि छापे करै मन छींट सुछीपनि बाल छिपै न छिपाई॥[1]

'छीपनि' कपड़ों पर अनेक रंग व रंगों की फूल पत्ती की सज्जा छापती है। कवि देव का विचार है कि यह बाल छिपिन अपने मन के अन्दर की रंगीनियों एवं छबि को वस्त्र पर छापती है। चित्रकार का कर्म विधा के मूल में भाव तो यही होता है—किन्तु उसमें पुनरावर्तन का सदा ही अभाव होता है। देव ने नायिकाओं के चित्रण में गाँव के रंगों को अधिक उभारा है। लंहगा को लाल रंग में रंगा कर चुनेरिन को पहनाया है। लाल रंग के लंहगों का राज-

प्रचलन रहा है और दक्षिण पश्चिम राजस्थान में तो आज भी बहुतायत से यही वस्त्र पहना जाता है। बुन्देल खण्ड में किन्हीं-किन्हीं स्थानों पर लंहगा तो आज भी प्रधान रूप से पहना जाता है किन्तु आज यह पहनाव किसी जाति विशेष का रह गया है। लंहगा के साथ देव ने अंगिया क बीच पंचरंग पोतमाला प्रस्तुत की है। देव के शब्दों में शब्द रंग चित्र इस तरह है......

पीरे अंचरान सेत लुगरा लहर लेत लहँगा की लगी लाल रंगी रंगहेरा की।

गात में गुभौरहाई अगिया उचोहै कुच बीच पंचरंग पोति ताई तीन फेरा की॥[2]

देव की रंग योजना में पीला स्वेत लाल तो प्रमुख रूप से है शेष निखार के लिए कुचों के बीच पंचरंग पोतमाला डाल देते हैं। स्वेत पीत लाल प्रेम जन्य कोमलता के लिए जाने जाते हैं।

देव नायिका को सीख देते हुए कहते हैं कि नायक को वस में करने के लिए 'चित्र विचित्र कला कविता रस' आदि को प्रयोग में लाना चाहिए। वस्त्रों के विन्यास में वैंभव सम्पन्नता के प्रति देव का आग्रह उनके स्वतानुभूत रूप में प्रतीत होता है। सोना, मोती, तरह तरह के अलंकारों से अपनी नायिका को युक्त करते हैं—

कंचन किनारी वारी सारी तास की मैं आसपास भूमी मोतिन की झालरि हकहरी।

सीसफूल बेना बेंदी बेसरि औ बीरनि में हीरनि की भी है हसनिछबि छहरी।

देव ने अपनी नायिका को वेशकीमती अलंकारों में गुण के अनुकूल प्रस्तुत किए हैं। मारवाड़ की वधू की तुलना चित्रित नारी से देव करते हैं। वह वधू 'चित्र की सी लिखी चारु चित्रनी विचित्र गति रुचिर चरित्रन' की रचना प्रतीत होती है[3]। कृष्ण का शब्दरंग में विम्ब प्रस्तुत करते हैं।

माथे मनोहर मौर लसे पहिरे हिय में गहिगेर रंग हारनि।

कुण्डल मण्डित गोल कपोल सुधा सम बोल बिलोल निहारनि॥

सोहति री कटि पीत पटी मनमोहति मंद महा जग धारनि।

सुन्दर नंद कुमार के 'उपर वारिए कोटक काम कुमारनि॥

यह कुमार कृष्ण का रूप है जो माथे से प्रारम्भ होकर, कमर के पीले वस्त्रों तक आकर समाप्त हो जाता है। माथे पर मोर का मुकुट और गहरे रंगों का हार वक्ष पर डोलायत है। तुलसी ने भी बालक राम का चित्र इस तरह से प्रस्तुत किया है—

---

१. बानत तिनकी नायिका सुम लक्षण सभ भेष॥

२. गाई जाए नचाई कै नैन रिझाइ के भाव बताइबे सोह्यो।

चित्र विचित्र कला कविता रस देव जू चातुरी सो चित्त पोह्यो॥

देव ग्रन्थावली—रस विलास, पृष्ठ ४-१८।

३. देव ग्रन्थावली, रस विलास, पृष्ठ ७।५३।

भोजन करत चपल चित इत उत अवसरु पाइ।
भाजि चले किलकत मुख दधि ओदन लपटाइ।। (२०३, बालकाण्ड)

देव की विशाल नेत्रों के प्रति रुझान थी। नायिका नायक के न होने पर विलाप करती है, उस समय उसके बड़े विशाल नेत्रों में आँसू, देव के सौन्दर्य बोध को संवेदित करते हैं। नायिका 'बड़े बड़े नैनन से आँसू भरि-भरि ढरि, गोरो गोरो मुख आजु ओरों-सो बिलानों जात' है। रत्नावलि में देव नत-नयनों के साथ नायिका की चंचलता को रखते हैं, जो कि नेत्रों में न होकर पैरों में परिवर्तित हुई है—

नीचे को निहारत, नगीने नैन, अधर,
दुबीचे परयो स्यामा जन आभा अटकन को।
नीलमनि भाग है पदुम राग ह्वै कै,
दुख राग है रहत विध्यौ छवे निहरन को।।
देव विहंसत दुति दंतन जुड़ति जोति,
विमल मुकुल हीरालाल गटकन को,
थरकि थरकि थिर थाने पर थाने तोरि,
बाने बदलत नट मोती लटकन को।। [१]

इसमें व्यक्त नत नयन वस्तु को रंग और जीवन को गति देते हैं। ज्योति का रंग नीला होता है। ब्रह्म चित्र विधा में नीलवर्ण के, इसीलिए प्रस्तुत किए गए हैं। राम कृष्ण और विष्णु आदि का स्वरूप साहित्य व चित्रकला में नीलवर्ण का है। इस प्रस्तुत संदर्भ में नायिका जब नीचे की ओर नेत्रों को झुकाती है तो नीचे मुक्त माला के मोती नीलवर्ण हो जाते हैं, अधरों की लालिमा से प्रभावित होकर कुछ मोती पद्मराग में रंजित होते हैं। शरीर की कान्ति पुख:राज की तरह होने से उस माला के कुछ मोती हलके पीताभ रंग के हो जाते हैं। देव के अनुसार जब नायिका हँसती है तब उसकी दाँतों की स्वेत छबि में मोती और भी विमल हो जाते हैं। यहाँ प्रतीक रूप से मोती चतुर नट की तरह अपना रंग बदलता है। यह सब मिलकर नायिका की उस विमुग्ध दशा का चित्र प्रस्तुत करता है, जब कि यौवन की देहली पर द्वार स्तम्भ से टिक कर नायिका खड़ी है। अंगुलियों में मोती की माला को नीचे-ऊपर करती हुई अधरों के पास लाती है, सोचती है, मोतियों को देखती है, और फिर आगत नव भाव स्थिति पर हँस पड़ती है, देव की तीक्ष्ण दृष्टि इस चित्र को अपने आत्म से, रंगों के मेल और सादृश्य के आधार पर प्रस्तुत करते हैं। देव ने यहाँ नेत्र की स्थिति परक विशेषता को उभारा है। अन्यत्र देव ने नेत्र का अति व्यापक और गहर चित्र प्रस्तुत किया है—

औचक अगाध सिन्धु स्याही को उमंगि आयो,
तामें तीनों लोक लीन भए एक संग में,
वारे कारे आखर लिखे जु कोरे कागद,
सुन्यारे करि बाँचै कौन, जाँचै चित मंग मैं।।
आंखिन में तिमिर अमावश की रैन मिलि,
जबूं रस बुंद जमुना-जल-तरंग मैं।
ये ही मेरे मन मेरे काम को रह्यो न भाई,
स्याम रंग ह्वै कर समान्यो स्याम रंग मैं।।

अचानक ही स्याम का पत्र पा राधिका नायिका नेत्र विविध रंग और आशा में समस्त विगत दुख को धो

१. कवि किंकर द्वारा संपादित, देव रत्नावलि, पृष्ठ १०१-१०२।

उमड़ आए। इस औचक उमंग की उमड़न में प्रलय के दृश्य की समानरूपतावत् तीनों लोक डूबते प्रतीत होने लगे। विगत विरह के दुःख की कालिमा घुल कर सिन्धु जल तरंगों पर आच्छादित हो गई, ऐसी स्याम-सिक्त बेला में चित्त का प्रलयवत स्थिति में कारे अक्षरों को, मनस्थिति को परिवर्तित कर कौन राधा या नायिका बाँच सकती है। आँखों में एक तरह का, यावत् जगत की निविड़-निशावत् अंधेरा, जिस पर काली यमुना की जल तरंगों सदृश्य, जल राशि ढलती है, वास्तव में देव के इन नेत्रों की प्रतीति अत्याधिक प्रबल है। यही विभा, पूर्व उद्दित पंक्ति में गोरे गोरे, मुख पर ओले की तरह अदृश्य हुई है। ओला नभ से भू पर शमित है। जब तक अपने अस्तित्व में रहता है, आभा, दुति होती है और फिर धरातल का छिछरा स्वरूप झाँकने लगता है। यही देव बड़े बड़े नैनन में आँसू भरि भरि ढरने की कथा में भी कहते हैं। पहले मुख अम्लान हुआ है, फिर नेत्र। बिम्ब वस्तु सीमा संकोच के साथ सादृश्य और अर्थ में व्यापक होता गया है। वस्तु का संकोच और अर्थ का विस्तार जीवन की सूक्ष्मताओं को अभिव्यक्त करता है। नत, नयन, चुपचाप जीवन की गति और रंगत को अधर, गात और मुक्ता के सादृश्यों के रंग वैभव और परिवर्तित स्वरूपों में प्रस्तुत करते हैं। यूँ तो आँख को कवियों ने चित्रकारों ने बड़ा महत्त्व दिया है। राजपूत चित्रकला की स्थानीय शैलियों में यह विशेषता समाहित है। वे आँख की रूपाकृति, रंग कौशल, विस्तार के लिए अपना वैशिष्ट रखती है। यह वैशिष्टय युगों के साथ कागज की पृष्ठ भूमि पर उतरा है। मध्ययुगीन काल में इनका कार्य काव्यकला में अत्याधिक रूप से फैला हुआ है। देव की नायिका का सम्पूर्ण रूप इस तरह मिलता है—

माँग गुही मोतिन भुअंग ऐसी बेनी उस, उरज अतंग औ पतंग मति गौन की।
अगना अंगना कैसी पाछै सुरंग सारी, ताल तुरंग दृगचाली मृगदौन की॥
रूप की तरंगनि बरगनि के अंगन से, सोधे की अरंग लौ तरंग उठे मौन की।
सखी संग रंग में कुरंग नैनी आवे तौ लौं, के यो रंग मई भूमि भई रग मौंन की।[1]

माँग में मोती की लर है, वेणी नागिन की तरह लहरें खाती नीचे वक्ष पर उतरी है। नायिका लाल सारी पहिने है। नायिका इस वेश-भूषा में चतुर्दिक चक्षु चेतना के साथ चलती हुई आँगन में प्रवेश करती है। जब कि यह नायिका आंगन के मध्य तक आती है तब तक इस क्षेत्र के अनेक रंग बदल जाते हैं। इस रंग बदलने के मूल में दो तथ्य हैं। पहला तो यह कि नायिका पीतवर्ण धर्मी है तथा दूसरा यह कि नायिका का लाल सारी पहनना है। मूल रंगों में से दो रंग नायिका के हैं, तीसरा रंग नीला चतुर्दिक आकाश का है। इनके मेल से जैसे ही नायिका आगे बढ़ती है, भवन का वातावरण कई रंगों में बदलता जाता है। देव ने रंगों को बिहारी के सदृश्य परवर्तित और परिवर्तित रूपों में नहीं रखा है। रंगों का विकास और मेल स्वतः ही हुआ है। कृष्ण की झाँकी प्रस्तुत करने में इसी तरह की रंग बिधा प्रस्तुत है। छन्द इस तरह है—

मोर मुकुट कटि पीत पटु कस्यो, कैसी
केसावलि उपर बदन सर दिंदु के।
सुन्दर कपोलन पर कुण्डल डुलत, सुर
मुरली मधुर मिले हाँसी रस बिन्दु के॥
माँगती सुहाग नाग सुन्दरी सराहु भागु,
जो रे का सरन चरन अरविन्दु के।
किंकनी रटनि तालताननि ताननि देव,
नाचत गुविंदु फन फननिफनिंदु के॥[2]

---

१. देव सुधा—१४०, पृष्ठ—६६।
२. देव सुधा, मिश्र बन्धु : पद संख्या : २८, पृष्ठ ३०।

कृष्ण की यह चिर परिचित वेशभूषा है। कर्ण के स्वर्णिम कुण्डलों की चंचलता से विच्छुरित आभा गतिमान रंगों को तरंगित करती है। शेषनाग के उपर का नृत्य, नीचे जमुना, ऊपर नीलाकाश, स्वयं कृष्ण का नील वर्ण का होना, सारा ही वातावरण गहरे रगों से भरा हुआ है, उसमें दो ही वस्तुएँ हल्के एवं विरोधी रंग-विधा के माध्यम से सामने आती हैं। प्रथम कटि-पीत-पट्ट, कमर से बधा हुआ और दूसरा कानों के कुण्डल मुख के समानान्तर छोरों को प्रकाशित करते हैं एवं उन्हें नया रूप देते हैं। इसके साथ ही नाग पत्नियाँ अपना सुहाग माँगती हुई प्रस्तुत की हैं। चित्र विधा में यह संदर्भ प्रायः राजपूत चित्रकला शैलियों में व पहाड़ी शैली में कांगड़ा घाटी में बहुतायतता से प्रस्तुत हुआ है। कांगड़ा व अन्य पहाड़ी राजपूत चित्रकला की स्थानीय शैलियों में, इस प्रसंग में हल्के पीले रंग का प्रयोग हुआ है। कवि देव ने गहरे रंगों के मध्य कृष्ण की नील आकृति को केवल दो वस्तुओं से उभार दिया है। पीत-पट और कुण्डल प्रेक्षक को आकृति का बोध देने मे सार्थक है। मेवाड़, ओड़छा, चावंडा के चित्रों में गहरे रगों का प्रयोग है। यमुना काली है, ऐसी मान्यता है अतः यहाँ के चित्रकारों ने इस मान्यता को बनाए रखा है। जयपुर के चित्रों में यह प्रसग मध्यम रंग विधा में पाया जाता है। मेवाड़ के रंगों की समानान्तरता जोधपुर में है किन्तु इस प्रसंग का वहाँ अभाव है। किसनगढ़ शैली में हल्के, पीतापपन का परिवेश चित्रित हुआ है। इस संदर्भ में, विरोधी रंग योजना वस्तुतः में देव ने प्रस्तुत की है, वह सामान्य अन्य इस संदर्भ के चित्रों से कहीं अधिक बोधगम्य है।

चित्रों के निर्माण के मूलाधारों में रागमालाओं को चित्रकारों ने रंगरूपाकृति में प्ररतुत किया है। देव को संगीत का ज्ञान था। देव ने रागमाला की रचना की है जिसमें रागों और रागिनियों का शास्त्रीय विवेचन है। राग हिण्डोल के चित्रों में सामान्यतः उद्यान में वृक्ष से बंधा हुआ रस्सी का, या चार स्तम्भों पर आधारित शीर्ष पटी से लगा हुआ तखत का हिण्डोला चित्रित है। इसमें नायक-नायिका, केवल नायिका, केवल नायक, कहीं-कहीं किसी में इनके साथ सखा सहेली भी चित्रित हुई हैं। देव ने ऋतु वर्णन के साथ हिण्डोला का शब्द चित्र प्रस्तुत किया है—

> आली झुलावति झूँकनि सो झुकि जाति कटी झुननाति झकोरे।
> चंचल अंचल को चपला, चल बेनी बड़ी सो गड़ी चित चोरे॥
> या विधि झूलत देखि गयो तब ते कवि देव सनेह के जोरे।
> झूलत है हियरा हरि को हिय मांह तिहारे हरा के हिण्डोरे[1]॥

तत्कालीन प्रचलित परम्परा का काव्य और चित्रकला दोनों में पालन हुआ है। कवि देव के वर्णन में नायिका सखियों के साथ हिण्डोरा में झूल रही है। इसे झूलते देख कर, नायक का हिया, उसकी स्नेह की डोरी में बंधा खड़ा-खड़ा ही झोके खाने लगा है। चूँकि काव्य साहित्य में कल्पना के विस्तार की सम्भावनाएँ अधिक हैं इसलिए देव कल्पना का आश्रय लेकर वस्तुस्थिति को अतिरंजित कर प्रस्तुत करते हैं। नायिका भेद, बारहमासा, षटऋतु वर्णन और चित्रण समानान्तरता से मिलता है। बारहमासा और षटऋतु में महाकवि देव ने एक कदम आगे बढ़कर, दिन और रात के चौबीस घण्टों को आठ प्रहरों में बाट कर, नायक—नायिका के सम्बन्धों को अष्टयाम में प्रस्तुत किया है। देवकृत काव्य में संगीत विषयक उद्धरण देव की सांगीतिक ज्ञान की पुष्टि करते हैं[2]।

देव काव्य के सिलसिले में प्रत्यक्ष या सीधे रूप से न ही देव को चित्रकारों ने प्रभावित किया है और न ही चित्रकारों को देव ने उल्लेखनीय महत्ता की दृष्टि से प्रभाव डाला है। यदा कदा देव के प्रचलित छंदों को चित्रकारों ने

---

१. देव सुधा : ६९ पृष्ठ—५८।

२. आली अलापी बसंत मनोरम मूरतिवन्त मनोज दिखावनि।
पंचम नाद निषादहि मैं, सूर मूरछना गन ग्राम सुनावति॥
देव ग्रन्थावली, छंद संख्या—५९, मुद्रणालयाधीन-नेशनल पब्लिशिंगहाऊस।

चित्रित कर दिया है। यह तथ्य अवश्य दोनों विधाओं में कवि और चित्रकारों की अभिव्यक्ति के माध्यम से निसृत हुआ है कि युग के प्रभावों से दोनों ही प्रभावित रहे हैं जिसे कि प्रकारान्तर से ग्रहण किया हुआ प्रभाव कह सकते हैं। क्योंकि प्रेरणा के स्रोत दोनों के एक ही रहे हैं।

प्रकृति के संदर्भ में देव ने प्रकृति को सामान्य प्रवृत्ति से जरा हटकर स्वतन्त्र रूप से चित्रित किया है[1]। डा. भोलानाथ तिवारी के अनुसार देव ने प्रकृति को मुक्त आग्रह पूर्ण, पृष्ठभूमि, अलंकरण की न्यायोचित—पाँच प्रकारों से प्रस्तुत किया है[2]। देव में एक अतिरिक्त रूप मानवीकरण का भी है। चित्रकारों ने प्रकृति को मनोभावनाओं एवं चित्र गत विषय के अनुरूप उसे चित्रित किया है। स्वतन्त्र प्रकृति चित्रण का अभाव है। चित्रों में चौपरिपांसा का खेल मिलता है। महाकवि देव की नायिका को 'चौपरि पांसे चलवति हाथ, लगी मुख सों सुखदायक बानी' लगती है[3]। वस्त्रों में देव ने सारी के पहनावे को उद्रित किया है[4]। देवकालीन और परवर्ती चित्रों में सारी का अल्पतः प्रयोग किया गया है। होली के अवसर पर नायक-नायिका के सिलसिले में कवि देव व्यक्त करते हैं—

केसरिया चक चांवत चीर, ज्यों
केसरि वीर सरुप लसीज्यो।
लाल के रंग में मीजि रही, सु
गुलाल के रंग में चाहत भीज्यों[5] ॥

दोनों ही कबीर के 'लाली मेरे लाल' के रंग में है। होली उन्हें और भी लाली प्रदान करेगी। हल्के लाल पर तो केवल स्नेह की गहरी गुलाल पड़कर उसे निखार या सौन्दर्य प्रदान करेगी।

देव काव्य विधा के अन्तर्गत स्वप्न दर्शन व चित्र दर्शन से प्रेम की स्थिति व्यक्त करते हैं कि 'चित्र चरित्रन मित्र भयो, सपने में मोहि मिलाय लिए हैं[6]।" चित्र में व्यक्त नायक का व्यक्तित्व देख कर नायिका, नायक पर मोहित हो जाती है, और तदुपरांत स्वप्न में उनकी मुलाकात भी हो जाती है। इस तरह नायिका को चित्र मित्र सा प्रतीत होता है। राजपूत चित्रकला की शैलियों में अनेक ऐसी नायिकाएँ चित्रित हुई हैं जो नायक के चित्रों को एकटक देख रही हैं। चित्रदर्शन के आधार पर प्रेम का एक दूसरा उद्धरण है—

पहिले सुनि राख्यौ हो भाख्यो सखी रस चाख्यो अचानक कानपुटी,
लखि चित्र-चरित्र लख्यो सपने, अब तौ खिन आंखिन आंखि जुटी।

---

१. माधुरी भौरनि फूलनि भौरनि—बौरनि बेलि बची है,
केसरि किसु कुसुंम कुरो किरवार कनैरनि रंग रची है,
फूले अनारनि कुसंम-डारानि लै कचनारनि नेह नची है,
कोकलि रागनि नूत परागनि देखुरी बागनि फागु मची है।
२. महाकवि देव : पृष्ठ १६४।
३. देवकाव्य रत्नावली—१२१, पृष्ठ ३२।
४. स्यामा सराहति स्याम की पागहिं,
स्याम सराहत स्यामा की सारी ॥
४५४—पृष्ठ ११४, देवकाव्य रत्नावली।
५. देव काव्य रत्नावली—३६, पृष्ठ : ३६।
६. देव रत्नावली : २०६, पृष्ठ—५२।

उमग्यो मनु देव लग्यों पनु सों गुरु बंधुनि की धन राशि लुटी,
कुल कानि की गाठि ते छूटयो हियो, हियते कुल कानि की गाँठि छुटी[1] ।।

इसमें चित्र का जागृत साक्षात भी नहीं है। नायिका केवल स्वप्न में नायक के व्यवित चित्र को देखती है। इतने ही मात्र से नायिका का सब कुछ नायक को समर्पित हो जाता है। इसी तरह हरिनाथ का नायक भी 'गेरु सो प्यारी को चित्र बनाए, मिला पै जबै निरखों धरि ध्यान में, बाके दुग्रो पद-पंकज पै, परि कै जबै मेटनि चाहों गुमान मैं[2] ।" तात्कालीन युग में ऐसा ही करता रहा होगा।

किन्हीं चित्रों में नायक नायिका को देखते हुए भी चिित्रत किए गए हैं। इन चित्रों में प्रस्तुत एक ही दर्पण में नायक और नायिका दोनों की रूपाकृतियाँ उभरी हैं। पृष्ठभूमि में नायक के आगे नायिका होती है। नायिका के हाथों में दर्पण होता है। देव प्रस्तुत करते हैं 'एकहिं आरसी देखि कहं तिय नीकै लगौ पिय ! प्यौ कहै प्यारी[3] !" यह परम्परा प्राय: बहुतायतता से चित्रित है। देव की सद्य-स्नाता की झांकी अति ही सजीव है।

पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई 'देवे'
श्रीफल उरोजआभा आभासै अधिक सी।
छूटी अलकनि झलकनि जलकननि की,
बिना बेनी बन्दन वदन सोभा विकसी ।।
तजि तजि कुंज जेहि ऊपर मधुप-पुंज,
गुंजरत मंजुरव बोले बोल पिक सी।
नैननि हंसाइ नेकु नीबी उकसाइ हंसि,
ससिमुखी सकुचि सरोवर ते निकसी ।।

अंग के रंग की साड़ी पहने है। सद्यस्नाना का स्वरूप है कवियों और चित्रकारों दोनों ने ही अपनी विधाओं में खुल कर प्रस्तुत किया है। नायिका की केशराशि बंधन विहीन होकर नायिका के वक्ष प्रदेश के ऊपर से नीचे जाती है जिसमें कि झलकते जललनों को नायिका देखती है। यहाँ नायिका पूर्ण एकान्त का अनुभव करती है। उसे स्तनों को छिपाने के लिए बाँह नहीं उठानी पड़ी है, अपितु वह अपने सौन्दर्य पर स्वयं ही मुग्ध हो उठती है, जिसका कि बोध होने पर, नदी में नहाते व तैरते समय पेट पर बंधा जो लहुंगा नीचे खिसक गया था, उसे ऊपर को खींच, हँसकर सरोवर से बाहर, अपने यौवन के प्रति आभास को ग्रहण कर सकुचाती हुई, सरोवर से बाहर आ जाती है। इस स्थिति में प्रकृत सौन्दर्य कवि ने प्रस्तुत किया है।

राजपूत चित्रकला शैलियों में झीना वस्त्रों का प्रचलन बहुत रहा है। उस समय में बनने वाले वस्त्र प्राय: इतने महीन हुआ करते थे कि ऐसे ऐतिहासिक संदर्भ इस तरह के हैं कि ढाका की मलमल की चौड़ाई की मुटाई एक अंगूठी में से निकल जाती थी। इसका प्रतिअंकन राजपूत चित्रकला के चित्रों में, मुगल कला के चित्रों में तथा अन्य राजपूत पहाड़ी चित्रकला में समयानुसार हुआ है। चित्र के प्रेक्षक को वस्त्र के चित्रांकन में से नायिका के अंग गोचर होते हैं। अंगों की आभा और स्वरूप उसके वस्त्रों के बावजूद दर्शक को झलकता है। यह अंग प्रदर्शन की प्रथा उस समय में थी जैसी कि आज भी है। कवि देव ने भी तत्कालीन नायिकाओं के अंगों की शोभा को वस्त्रों में से झाँकते हुए देखा था उसकी साक्षी उनके-पद देते हैं जो कि इस तरह हैं…

---

१. देवसुधा : १३८, पृष्ठ—६६।
२. देव दर्शन—हरिदयालु सिंह, पृष्ठ : ८२।
३. देव दर्शन—हरिदयालु सिंह, पृष्ठ १०८।

उचके उचोहै कुच झपे झलकत झीनी,
झिलमिली ओढ़नी किनारी दार चीर की।।[1]

इसी तरह देव का एक दूसरा चित्र है जिसमें झीने अंचल में से कुचों के दर्शन कवि पाठक को चित्रकारों की तरह करा रहा है…पद इस तरह है—

झीना अंचल-अंचल झीन झकै झलकै
पुलकै कुच कुंद कदंब कली सी।।[2]

इन दोनों में देव का नारी के प्रति वासना परक दृष्टिकोण स्पष्ट प्रगट होता है। क्योंकि यदि नायिका के झीने वस्त्र की ही शोभा को प्रकट करने का आशय होता तो वह कुचों की अपेक्षा झीने आंचल को मुख का घूंघट बना कर उसके मुख के सौन्दर्य को प्रगट कर सकता था किन्तु तत्कालीन मनोवृत्ति ने देव को मुक्ति नहीं दी। पहले चित्र में प्रौढ़ा नायिका के कुचों की स्थिति को व्यक्त किया है तथा दूसरे में नव यौवना को विषय बनाया है। कुचों को चित्रित करना राजपूत चित्रकला में स्थानीय शैलियों की अपनी अपनी विशेषता रही है। यदि नायिका के हाथ में गेंद है, या घड़ा है तो नायिका के कुचों की आकृति उसी वस्तु के अनुरूप प्रस्तुत की है। जयपुर कलम के कुचों की स्थिति प्रायः गोल गेंदाकृति की है जबकि कोटा कलम में कुचों को बहुत ही लम्बा कर उनमें भोंड़ापन ला दिया है। जैसलमेर, मारवाड़ (स्थानीय) शैली में प्रस्तुत कुचों की यही स्थिति है। मालवा के पहले के सोलहवीं शताब्दी के पूर्व चित्रों में कुचों में शालीनता वर्ती गई है। उनके रूप न तो वासना को ही उभारते हैं न ही भोंड़ी घिनोनी आकृति को दर्शाते हैं। नासिरद्दीन के समय के चित्रों में तथा जैसलमेर के जैन परम्परा के स्थानीय चित्रों में स्त्री का वक्ष पुरुषों के समान है। ठीक इससे मिलती हुई स्थिति जोधपुर के परवर्ती स्थानीय रूपों में प्रस्तुत हुई है।

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में स्तनों का महत्व नारी की कामजन्य स्थिति का परिचायक होता है। यही कारण है कि भारतीय मूर्तिकला में नारी आकृतियों में मांसलता स्तनों में सुडौलता की सीमा तक व्यक्त की है। एक तरह से ये नारी के भोग जन्य आचारों को व्यक्त करते हैं।

इन धारणाओं से साहित्य अछूता नहीं रहा है। कालिदास और उनकी परम्परा में आने वाले कवियों में यह देखा जा सकता है। जयदेव, विद्यापति, सूर आदि में भी इनका स्वरूप प्रगट हुआ है किन्तु इस विवेच्य काल के कवि और चित्रकारों के चित्रण के ये प्रधान अभीष्ट रहे हैं क्योंकि काम व्यापारों में सर्वप्रथम पुरुष का आकर्षण केन्द्र नारी का वक्ष प्रदेश ही होता है। यही कारण है कि राजा महाराजाओं की रंगशालाओं में बैठने वाले कवि, कलाकारों की दृष्टि नारी के वक्ष पर प्रथमतः केन्द्रित रही है। बिहारी आदि के नारी चित्रण में यह स्पष्टतः देखा जा सकता है। रीति परम्परा कवियों में भी यही दृष्टिकोण प्रमुखता से रहा है।

नारी एक तरह से वह वस्तु थी जिससे कि पुरुष वर्ग अपने काम और वासना की पूर्ति किया करता था। वह सहधर्मिणी थी या केवल नायिका थी, इसका विचार शायद ही कभी कवि के मन में उद्रित हुआ हो, नहीं कहा जा सकता। केशव आदि कवियों ने केवल यही विचार किया है कि स्त्री का कितनी तरह से पुरुष भोग कर सकता है। कितने रूपों में वह वासनात्मक ढंगों से उसके काम को संतुष्ट कर सकती है। तथा उन रूपों को प्राप्त करने के कितने ढंग हो सकते हैं। महाकवि देव इससे वंचित नहीं हैं। इनके काव्य में भी नारी के प्रति भोगपरक दृष्टिकोणों को व्यक्त किया गया है। उसके रूपों को विविध शब्दों और भाषा में पाठकों को समझाया गया है। रसिकों को नई नई उद्भावनाएँ दी गई हैं ताकि वे उन तरीकों और स्थितियों से साक्षात् करें।

---

१. देव रत्नावली, कवि किंकर संपादक, पृष्ठ १०७।

२. देव ग्रन्थावली, पृष्ठ २६।

इस युग के संदर्भ में और मानव के संपूर्ण निष्ठाजगत के संदर्भ में कि वह प्राप्त स्थितियों के प्रति सहज ही संतुष्ट नहीं होता है, वह और, और और, सुख के भोगने के तरीकों को प्राप्त करना चाहता है। यह दृष्टिकोण इस युग के समृद्धि प्राप्त सामाजिकों में अनुमाना जा सकता है।

देव ने नारी के भोग परक चित्रों में नायिका के मन में काम की भावना के सहज उद्दीपन से लेकर उसके काम जन्य अंतिम व्यापार तक विविध रूपता से अपनी काव्य प्रतिभा को अजमाया है। इनके भोग परक दृष्टिकोण का एक उद्धरण देखिए—

'ऊँची अटा चढ़ि सेज सजी तो कहा हरि जो न यहाँ निसि जागे[1]।"

दूसरा चित्र है—

स्याम सों केलि करी सिगरी निसि सोत तें प्रात उठी थहराई कै।
अपने चीर के धोखे बधू पहर्यो पट पीत भइराइ कै॥[2]

ये दोनों ही चित्र राधा और कृष्ण के बहाने प्रस्तुत किए गए हैं। इन दोनों में ही घोर-भोग की गर्जना है। नायक और नायिका जो कि इनमें राधा और कृष्ण का बाना पहिने हैं, कवि द्वारा कथित हैं। वास्तव में तत्कालीन कवि और चित्रकारों को अपने मन की भंडास निकालने के लिए राधा कृष्ण, बहाना मिल गए थे। सही रूप में इस विधा में प्रस्तुत ये रूप तत्कालीन रसियों के ही हुआ करते थे। महाकवि देव ने काम सिक्त नारी का चित्रण कितनी भयानक तीव्रता के साथ किया है, यह उनकी विविध रंग योजना के साथ स्वयं परिचायक है—

जावक के संग रपटी सी लपटी सी,
लील पटी झपटी सी काम केहरी॥[3]

नारी का यह प्रतिरूप युग का प्रतिबिम्ब है जिसे कि कवि ने तात्कालिक बहुचर्चित वर्ग से उठाकर प्रस्तुत किया है।

कुल मिलाकर कवि ने तत्कालीन रूढ़ियों और प्रवृत्तियों का प्रतिअंकन अपने काव्य में किया है जो कि चित्र-कला और काव्य कला में समान रूप से प्रचलित थीं। महाकवि देव और राजपूत चित्रकला दोनों ही प्रकारान्तर से प्रभावित रहे हैं। सीधा इनका सम्पर्क कम ही न के बराबर है किन्तु देव के पश्चात् यदाकदा देव के पदों पर कुछ चित्र बने हैं।

---

१. देव ग्रन्थावली : पृष्ठ ३६।
२. „ „ : पृष्ठ ४१।
३. सुजान विनोद ४ : २३, पृष्ठ ४।

तृतीय खण्ड

अध्याय-१

मध्यकालीन काव्य विकास और तत्कालीन चित्रकला की आधार भूमियों में साम्य और वैभिन्न्य।

मध्यकाल के प्रारम्भ से ही सामंतीय जीवन पद्धति रही है। अनेक राजवंशों ने सत्ता की और खोई। इस उलटफेर के अस्थिर परिवेश में बहुत कुछ सामाजिक ढाँचा सत्ता परिवर्तन के साथ ही बदलता था। बादशाह के अनुकूल जनता पर नियंत्रण होता था। भक्ति के संदर्भ में, यह बात नहीं किन्तु तुलसी आदि विचारकों ने देशकाल को दृष्टि में रखा है। उनकी अभिव्यक्ति के मूल स्रोतों में तत्कालीन धर्म और समाज की सापेक्षिक छटपटाहट और उत्पीड़न है। सूर इससे इतर भक्ति परम्परा में लीन रहे हैं। सोलहवीं सताब्दी के द्वितीय चरण के प्रारंभ में मुगलों का भारत में आक्रमण और आगमन हुआ। इसके साथ ही कुछ दशियों तक युद्ध और फिर एक दीर्घ काल तक केन्द्रीय भू-भाग शान्ति का अनुभव करता रहा। ये बादशाह देश की व्यवस्था के हितार्थ संधि-विग्रह, अंत-विद्रोह, सीमान्त के उपद्रव आदि में व्यस्त रहते हुए पराक्रम को यथावत बनाकर रखते थे। इन बादशाहों के मातहत राजे-महाराजे इन चिन्ताओं से अधिकांशतः मुक्त रहते थे। इस चिन्ता मुक्ति ने इन्हें एक तरह से निश्चितता-पूर्वक वैभव और विलास का सुख-भोग करने का अवसर दिया। इन राजा-महाराजाओं के मातहत सामंत अमीर उमराव भी, इस भोग परक जीवन को देखकर स्वयं भी उसी प्रकार का अनुशरण करने लगे थे।

इस युग का वैभव विलास और भोग का ढंग अन्य युगों से भिन्न था। वैभव के प्रतीक भवन, अट्टालिकाएँ, महल, दुर्ग, उद्यान, लम्बी चौड़ी सड़कें, रियासत के अनुकूल निर्माण हुआ करतीं थी। शासक हिन्दू रहा हो या मुसलमान, उसने अपनी रुचि के अनुकूल, अपने नाम पर, या किसी अन्य नाम से श्रेष्ठ वास्तु जन्य महल आदि का निर्माण कराया है। बीकानेर के लालगढ़ किले में, प्रत्येक राजा के अलग कक्ष हैं जिसे कि उसने अपने सुख भोग और ऐश्वर्य के हेतु सज्जित व निर्मित किया है। जोधपुर के राजमहलों की एव अन्य भवनों की यही स्थिति है। जयपुर, उदयपुर, चित्तौड़, कोटा, बूंदी सभी इसी परम्परा में आते हैं। मुगल बादशाहों ने अपनी रुचि अनुकूल नगर बसाए, किले बनवाए। अकबर द्वारा बनवाए गए किले और भवन तथा बसाया गया फतेहपुर सीकरी, लाहौर, जहांगीर द्वारा निर्मित कराया गया पंजौर बाग, शाहजहाँ के भवन और मकबरे अपने शिल्प कौशल में अद्भुत हैं। राजपूत राजाओं ने भी भवनों नगरों का निर्माण कराया। जोधपुर, बीकानेर, जयपुर, किसनगढ़, बूंदी, कोटा आदि इसी तरह के निर्मित नगर है। इनके आधीन सामंत, अमीर उमरावों में भी इस वृद्धि का विकास हुआ। यही भवन, अट्टालिकाएँ महलदुर्ग, उद्यान नगर आदि वैभव के प्रतीकों के ही साथ विलास के केन्द्र हुए। इसी दीर्घकालीन युगीन विलासिता में इतर ललित रंग प्रमुख रूप से उभर कर समाज सापेक्ष हुए। काव्यादि कला इन राजा महाराजाओं के वैभव के प्रतीक के साथ विलास की भी प्रतीक थी। राज्य के वैभव के लिए कवि को राज्याश्रय देकर सभा में स्थान देना तथा इस बात का ज्ञान अन्य राज्य के राजों-महाराजाओं को होना, वहाँ की जनता को होना, आश्रय दाताओं के वैभव की स्थिति होती थी। यह उसी तरह से, जिस तरह अंग्रेजों में कुत्ता का पालन, आज उनका वैभव है, उसके घर की हिफाजत और शानोंशोकत को जाने, इसलिए वह सुबह और शाम, उसे सड़क पर घुमाता है। एक अंग्रेज बड़े फक्र से कहता है, यह मेरा कुत्ता है। उसकी गली या सड़क के लोग उसके कुत्ते की तबज्जा से, उस अंग्रेज की हैसियत आंकते हैं। भारतीय ग्रामों में गाय-धन किसान के वैभव का प्रतीक है। तो इन बादशाहों, राजामहाराजाओं, सामंत-अमीर-उमरावों की वैभव की सामग्री में कवि, संगीतज्ञ, चित्रकार, मूर्तिकार और नृत्यांगनाओं के झुण्ड आते हैं। नृत्यांगताओं के साथ झुण्ड शब्द का

प्रयोग इसलिए किया है कि जैसे अकबर के हरम में ५,००० युवतियां थीं ।[1] सभी उसकी बीबियां नहीं हो सकती और न ही यह संभव है जि अकबर के सभी के साथ यौन सबध थे । फिर इन ५,००० युवतियों का क्या उपयोग था । इनका मीनाबाजार भरता था । इनके नग्न समूह पाली पर पाली बदलते हुए बादशाह सलामत की आँखों की सुरती को हल्का किया करते थे । विसाल उद्यानों में, जलागारों में फव्वारों के मंचों तले प्रकृत बिहार करते थे । भवन व महल के विशेष स्थलों पर विशेष पोशाक और मुद्राओं में इनके समूह रहा करते थे जिन्हें कि बादशाह महोदय नज़रें इनायत करते जाते थे । आज के युग की तुलना में इस युग से नहीं की जा सकती है ।

इस सामग्री का विभिन्न प्रयोजनो पर विभिन्न ढंगों से उपयोग होता था । ये वर्ग प्रायः आश्रय कुल के बहुत ही निकट सम्पर्क का रहता था । अधिकांशतः शिक्षा दीक्षा का व मत्रणा का भी कार्य यही करते थे । बिहारी ने जय-शाह के पुत्र रामसिंह को शिक्षा दी थी । केसव मंत्रणा में चतुर रहे हैं तथा बीरसिंह देव और रामसिंह के मध्यस्तता का कार्य किया है । चित्रकार और संगीतज्ञ कुमारियों को शिक्षा प्रदान करते थे । दरबार विशेष के अवसरों पर कवि, संगीतज्ञ आदि अपनी प्रतिभा और काव्य तथा कलागत नैपुण्य का प्रदर्शन करते थे । बिहारी का शाहजहाँ के पुत्र जन्मोत्सव के अवसर में सम्मानित होना पाया जाता है । ये कवि चारण और भाट से भिन्न स्वतंत्र जीवन व्यतीत करते थे । यशोज्ञान भी राजाओं का इन कवियों से प्रयोजन होता था । इन कवियों द्वारा यश-गान में भव्य रम्य कल्पनाएँ व्यवहृत होती थीं, जिनका स्वरूप देव द्वारा प्रस्तुत चित्र में अधिक स्पष्ट होता है—

उज्जवल अखण्ड खण्ड सातएँ महस महा-
मण्डल संवारों चद्र मण्डल की चोट ही ।
भीतर हूँ लालनि के जलानि विसाल ज्योति,

बाहर जुन्हाई लगी जोतिन की जोति जोट ही ॥ इसमें वास्तविकता और संभावनाओं का अद्भुत मिश्रण है । बिहारी जयसिह द्वारा निर्मित शीश-महल आदि से अत्याधिक प्रभावित होकर राजा जयशाह का यश गान करते हैं । बिहारी शीशमहल में बेशकीमती शीशों के संबंध में कुछ भी कहने में असमर्थ हो जाते हैं क्योंकि जब जयशाह का प्रतिविम्ब शीशों से प्रतिबिम्बित होता है, उस एक के अनेक रूप ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे समस्त संसार को काम वश कर जीतने के लिए मानों कामदेव ने काव्य व्यूह बनाया है ? बिहारी का दोहा इस तरह हैं…

प्रति बिम्बित जयशाह दुति, दीपत दर्पण धाम ।
सब जग जीतन को कियो, काव्य व्यूह मनु काम ॥[2] बिहारी की दृष्टि में नगर विलास का एक साधन है। इनका एक दूसरा दोहा इस कथन की पुष्टि करता है—नागरी विविध विलास तजि, इसी गंवेलिन मांहि ।
मूढ़नि में गनिवी कितौ, ढूढयो दै अठिलाहिं ॥ आदि

कवि केसवदास ने रावण की सभा की शोभा प्रस्तुत की है । ओड़छा स्थित जहाँगीर महल को जहाँगीर-जस-चंद्रिका में वैभव का प्रतीक प्रस्तुत किया है । अंतःपुर, उद्यानों का रोचक वर्णन करते हैं ।

मालवा, मारवाड़, मेवाड़, ओड़छा के पन्द्रहवीं शताब्दी के उपलब्ध चित्रों के अनुशीलन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनमें व्यक्ति प्रधान है ।' व्यक्ति के साथ अलगतः परिवेश भी चित्रित मिलता है । यह परिवेश मूल व्यक्ति-गत-भाव का संवलन करता है । कहीं-कहीं मात्र रखाओं के माध्यम से ही स्थिति को व्यक्त किया है। १६वीं शताब्दी के चित्रों में प्रकृत-प्रकृति का आयाम बढ़ा है जो कि उत्तरोत्तर प्रकृत से कृत-निर्मित प्रकृति तक चित्रित हुआ है। पेड़, पौधे, पहाड़ बस यही था, आगे चलकर नदी, बादल, वर्षा, बिजली आदि चित्रित होने लगे । सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ

१. गणपति चंद गुप्त हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, पृष्ठ १५२ ।
२. बिहारी बोधनी पृष्ठ ६३१ ।

तक प्रकृति के साथ भवन, अट्टालिकायें, महल, सरोवर, कूप, किले आदि वैभव के प्रतीक चित्रों में आने लगे। पहले जहाँ व्यक्ति एकाकी, युगल, चित्रित होते थे, उनमें सखियों की संख्या बढ़ने लगी। सेवकों, परिचारिकाओं, चंवरिकाओं के समूह चित्रित होने लगे। एक नायक का अनेक नायिकाओं के साथ कागज की पृष्ठिका पर चित्रकार तूलिका के माध्यम से उतारने लगा। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के चित्रों में यह आयाम अत्यधिक है। कहीं-कहीं तो चित्र का मूल भाव ही तिरोहित हो गया प्रतीत होता है। मुख्य आकृति इन वैभव के उपकरणों के समक्ष अति ही लघु सूक्ष्म गोचर होती है। वह भी किसी वातायन से चक्षु-चालन-क्रिया में रत दिखाई देती है और दूसरी आकृति गोया नायिका बेचारी किसी लता-कुंज या दूरागत तट-तमाल तले सद्य-स्नात अर्ध-अंग-आवृत या निर्वसन होती है। जयपुर कलम के चित्रों में अथवा जयपुर में चित्रित चित्रों में जयपुर नगर की नियोजना, भवनों का वास्तु-शिल्प व नगर की स्थिति मिलती है, यह इसी वैभव के प्रतीक की निशानी है। एक तरह से यह नागरीय और राज्यीय शिल्प एवं चित्रकला को एक पद्धति देने में सहायक है, जिसे शैली की समीचीन संज्ञा से अभिहित किया है और दूसरी तरह से चित्र के विश्लेषण यें सहजता प्रदान की है।

इस स्थानीय वास्तु-प्रभाव-ग्रहण की चित्रकारिक-प्रतिक्रिया से, एक दूसरे स्थान की चित्रकला का प्रभाव, संबंध आदि अभिज्ञात होते हैं। औरंगजेब के समय मुगल चित्रशाला टूटने के उपरान्त जो चित्रकार यत्र-तत्र पहुँचे, तब वहाँ की स्थानीय चित्रकला में मुगल वास्तु शिल्प का योग मिला। यह योग नूरपुर, बासोली, चाम्बा, मण्डी, आदि के बाद के चित्रों में देखा जा सकता है। यही स्थिति बीकानेर, अलवर तथा जयपुर के बाद के चित्रों में अल्पतः रही है। बीकानेर के चित्रों में जूनागढ़ व लालगढ़ के राजमहलों के विशेष कर कर्ण महल, अनूप महल, फूलमहल, चन्द्रमहल का प्रति-रूपण प्रतिभासित होता है। बाद के उस्ता चित्रकारों में मुगलिया वास्तु का अधिकायितता से चित्रण किया है तो मथेन शैली के चित्रकारों ने राजपूत वास्तु शिल्प को प्रस्तुत किया है। बीकानेर में एक और तीसरी श्रेणी जिसमें दोनों मिश्रित रूप को प्रस्तुत किया है।

वैभव के प्रतीक ढलती शताब्दियों के ढाँचे में ढल कर स्थानीय शैलियों के प्रतीक बन गए। इनके मूल में तत्कालीन बादशाह, राजा-महाराजा, सामंत, अमीर-उमरावों के वैभव प्रदर्शन के माध्यम यश अर्जन की तीव्रतम अभिलाषा है जो कि उनकी जीवनेच्छा के साथ जुड़ चुकी थी। राजा-महाराजाओं आदि ने चाहा कि उनके आत्म रूप के साथ, उनके प्रभाव-वर्धन के लिए अन्य इतर जो साधन लभ्य हैं, प्रस्तुत किए जाएँ और फिर उनके अनुवर्ती कवि, गायक, चित्रकार, मूर्तिकार सभी उसे शब्द, स्वर, रूप, आकृति देने में प्रयासित हो जाते थे।

विलास की आंतरेच्छा साधन सुविधा या शक्ति प्राप्त व्यक्ति में होना सहज है। इसमें व्यक्ति के अस्तित्व का भोग जन्य वस्तुओं के प्रति संपर्क व आकर्षण बढ़ता है तथा इन्हीं के साथ विस्तार करता है। जहाँ सुल्तानों बादशाहों न शाहजादी के नेत्र विकार पर नगर में धुआँ करने की मनाही करा दी, यह एक प्रकार से आत्म को सुख पहुँचाने का साधन है। ये सुख देने वाले साधन गुलाम वंश के उपरान्त ही जुटाए जाने लगे। यह बात नहीं थी कि गुलाम वंश के पूर्व ये साधन जुटाए नहीं जाते थे। किन्तु इस समय प्रमुखता इन्हीं तत्वों का स्थान पा चुकी थी। इन साधनों को जुटाने में व्यक्तियों में नगर कोतवाल, राजे-महाराजे, सामंत-अमीर-उमराव सभी छोटे बड़े के लिए योग देता रहा हैं जैसा कि आजकल की लाज-फीताशाही की ख्यात-व्यवस्था के संदर्भ में कहते हैं। क्षेमेन्द्र की राजतरंगणी और दामोदर भट्ट का कुट्टनीमत्तम् तत्कालीन विलास साधनों के जुटाने के संदर्भ में प्रकाश डालते ही हैं। मुगल घरानों में पेशेवर दूतियों की चर्चा प्रायः इतिहासकार करते हैं। ये पेशेवर दूतियाँ कुट्टनियों के नाम से अभिहित की जाती है। कला जो सूक्ष्म मानसिक आनंद से हटकर लौकिक भौतिक विषयानंद की ओर प्रेरित, संचारित और स्फूर्तित करे वह विलास की वस्तु हो जाती है। एक शिल्पी भरहुत और साँची की नग्न ग्रामीण बालाओं को उद्रेखित कर छेनी और हथौड़ी से साकार रूप देकर, प्रस्तुत करता है तो उस कृति के अंग-अंग की सुदृढ़ता, सुडौलता, मांसलता, एक और जहाँ नारी सौन्दर्य के रूप को मानसिक पटल पर उभारती है, वहीं वह शिल्प की गरिमा के साथ भौतिक संवेदन से परे,

मानसिक अनुभूति को पुष्ट करती है जो कि आनन्द प्रदायक है, यही नारी का नग्न मांसल रूप दिलवारा, रनकपुर, खजुराहों और नागार्जुन कोण्डा, कोणार्क, भुवनेश्वर मे मिलता है। इन स्थानों में नारी का जो रूप प्रस्तुत है वह लज्जा के भाव-बोध से बहुत परे है। नग्नता अश्लील नहीं होती है और न ही नग्नता विलास की सामग्री है। पर इसके मूल में सृजेता का युगीन दृष्टिकोण इसे स्पष्ट करता है। साँची के पूर्व द्वार की प्रस्तर प्रतिमा पूर्ण नग्न रूप में अवस्थित, अश्लीलता से परे, सृजेता की रम्य-सौन्दर्य सिक्त परिकल्पना को व्यक्त करती है। (चित्रफलक २,३,४ देखिए)।

बिहारी की सद्य:स्नाता-नायिका जैसी स्थिति नहीं है।[1] जिसमें नायिका सरोवर में नहाकर भीजे पट से तट को चलती है। नायिका जब सरोवर में स्नान कर रही है, तब एकान्त का होना सहज है फिर भी वह बिहंसति सकुचति सो, स्नानोपरान्त झीना वस्त्र चिपक जाने से, वह अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार अपनी बाहों से स्तनों को ढक लेती है। साधारणत: इस तरह का संकोच कुमारियाँ पुरुष के सामने करती हैं। सामान्यत: बंद स्नान गृहों में ऐसा कोई नहीं करती होगी। इसकी सहजता परिस्थिति जन्य है और वह इस तरह कि कुमारियाँ जब स्नान करने सरोवर जाती होंगी, तब रसिक भी वहाँ पहुँचते होंगे जो छिपकर उनके शारीरिक सौन्दर्य से चक्षु-गत-वासना शा त करते होंगे। इस तरह के चित्रों की विसाल परम्परा राजपूत चित्रकलाशैली तथा पहाड़ी चित्रशैली में है (चित्रफलक २५ देखिए)। कुछ चित्रों में राधा कृष्ण का संबोधन दिया है, कुछ में, उन्हें राजकुमार का बाना पहनाया है, यह महज नाम का प्रस्तुतीकरण है।

नग्नता अश्लील नहीं होती है और न ही नग्नता विलास की सामग्री है। पर इसके मूल में व्याप्त कवि, लेखक, गायक, मूर्तिकार और चित्रकार का युगीन दृष्टिकोण है। वह इसे स्पष्ट करता है। सूरदास का चीर हरण प्रसग दो रूपों में प्रस्तुत हुआ है। सर्वत्र गोपियाँ नग्न हैं, उनमें लज्जा है, संवेदना है, चित्रों में व्यक्त चित्रणों में मांसलता है, किन्तु कृष्ण की दृष्टि उनके शारीरिक सौन्दर्य पर न होकर आत्मिक सौन्दर्य पर है, वे चाहते हैं कि स्थिति अभेद हो जाए। इसे आध्यात्मपरक सज्ञा दी गई है। जयदेव, विद्यापति ने भी नारी की नग्नता को तराशा है। विद्यापति में एन्द्रियता का अहसास होने लगता है, जयदेव में मांसलता है. पर दोनों ही भौतिक परिवेशों के ऊपर उठकर भक्ति गान में लीन हो जाते हैं। यह विलास की सीमा से परे है। तुलसी ने नारी की भावना सीता के माध्यम से जगत माँ के रूप मे प्रगट की है। यह ठीक तात्कालिक स्थिति के विपरीत आदर्श रूप है।

मुगल राजघरानों में यह स्थिति नहीं रही है। अकबर स्वयं ने अपने गुरु भाई आदम खाँ का पीछा केवल इसलिए किया था कि उसने मालवा को लूट की सम्पति के साथ दो सुन्दरियों को नहीं सौंपा था।[2] नारी को विलास की वस्तु मान कर ही तो अलाउद्दीन ने चित्तौड़, गुजरात, पर चढ़ाई की थी। सलीम ने नूरजहाँ के पूर्व पति शेरखान की हत्या करवा दी थी। मुगलों के हरमों का संरक्षण कुट्टनियों और हिजड़ों के द्वारा सम्पन्न होता था। इस वातावरण में पलने वाले शाहजादे और शाहजादियों विलासी प्रवृत्ति के ही हुए। शराब, हुक्का का व्यसन भी इसी तरह बढ़ा तो तो बढ़ता ही गया और इस नशे में साम्राज्य लड़खड़ाता हुआ जो कि जहांदार शाह जैसे अयोग्य शासक के हाथों फिसल ही गया। इस संदर्भ में डॉ० सावित्री सिन्हा का कथन है—अंत में स्थिति विषमता की इस सीमा तक पहुँची कि दिल्ली के लाल किले में मुगल वंशजों की भीड़ की भीड़ अर्ध नग्न और क्षुधा पीड़ित रहने लगी। मुगल गरिमा और ऐश्वर्य के नाम पर एक करुण अवसाद ही शेष रह गया। अंग्रेजों द्वारा नजरबंद मुगल वंश के युवराज में 'बिगड़े बादशाह' के 'छैल-रूप' का परिचय है।[3]

---

१. बिहंसति सकुचति सी हिये, कुच आँचर बिच बाँहि।
भीजे पट तट को चली, न्हाय सरोवर माहिं।

२. डॉ० गणपति चंद्र गुप्त—हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, पृष्ठ १५२।

३ डा० नगेन्द्र, हि० सा० का बृहत इ० षष्ठ भाग, सं० पृष्ठ १६।

राजा-महाराजा, सामंत-अमीर-उमरावों में भी विलास अपनी चरम सीमा पर पहुँच रहा था। मुगलों के हरमों की प्रथा हिन्दू राजाओं में संरक्षिताओं के पर्याय में प्रतिफलित हुई। यहाँ तक कि छोटे-छोटे राजकर्मचारियों के यहाँ तक भी छोटे-छोटे हरम थे। देशी बोली में इन महिलाओं को खल कहा है। शराब और हुक्का भी विलास की सामग्री में था। मुगलों में औरंगजेब को छोड़कर सभी हुक्का का पान करते थे। अनेकों शाहजादे तथा मुगल सामंत अधिक शराब पीने से असमय में काल-क्वलित हुए। हुक्का का तत्कालीन संस्कृति मे परिचालन रहा है। युवतियों का चित्रों में आधिक्य मालवा सुल्तान ग्यास के उपरान्त नसीरूद्दीन सन् १५०१ से १५१२ ई० के चित्रों में है। इसका विस्तार से विवेचन मालवा की स्थानीय चित्र-शैली के अंतर्गत प्रस्तुत किया जा चुका है। मालवा शैली का क्रम भंग सन् १५६१ ई० सन् में अकबर के आक्रमण और दमन से हुआ। अकबर के समय फतहपुर सीकरी सन् १५६८-८३ ई० की चित्रशाला के चित्रों में युवतियों की भरमार है। सखी, परिचारिका, दूतिका, अंग रक्षिका, सभी रूपों में युवतियाँ हैं। इस काल के चित्रों में शराब-सेवन के चित्रणों की बहुतायतता है। इस समय में हर शासक इस विलास सज्जा को चित्रों में चित्रित कराने में अपना वैभव समझने लगा था। यह प्रवृत्ति राजपूत चित्रकला शैली में दो ढंगों से व्यापक रूप से विस्तार पा गई। प्रथम तो मद-सेवन की सज्जा में व्यक्ति का चित्र, जिसमे परिचारिका चषक को ढालकर नायक-नायिका को दे रही होती है, कहीं केवल पात्र, सुरा, सुराही रखी दिखाई गई हैं। यह चित्र साधारणतः केलि भवन तथा केलि—कुंजों की पृष्ठ और अंतर्भूमियों के साथ प्रस्तुत है। कहीं-कहीं केवल नायिका ही अपना गम-गिला करने के लिए सुरा-सेवन करती चित्रित हुई है (चित्र फलक २२ देखिए)। दूसरा आयाम इस तरह हुआ कि कहीं-कहीं वास्तु-भवन-सज्जा के बतौर भित्ति पर सुरा-सुराही, सुरापात्र का सज्जा परक रेखा चित्र भित्ति की सज्जा पट्टिकाओं पर अंकित हुआ है। यह सज्जा परक रूप बीकानेर जूनागढ़ के सुजानमहल में, जोधपुर किले के तखतविलास भवन में मिलता है। मुगल वास्तु-सज्जा में सुरापात्र और चषक को फूल पत्तियों के साथ सज्जा पट्टिकाओं एवं स्वतंत्र रूप से प्रस्तर पर उरेहा है। हुक्का के सिलसिले में भी इनका यही सिलसिला है। मुगल शाहजादियाँ हुक्का सेवन कराती हुई चित्रित की गई हैं। राजपूत चित्रकला शैली में राजकुमारियों, नायिका हुक्का सेवन करती हुई दिखाई गई हैं। पहाड़ी चित्रों में भी यही स्थिति है। बाज पक्षी व्यक्ति चित्र के साथ मुगल चित्रकला में, वास्तविक चित्रण पद्धति से, प्रस्तुत हुआ है जो कि रूढ़ि बन कर बाद के अनेकों व्यक्ति चित्रों में काफी समय तक चित्रित होता रहा। बाज के चित्रण की रूढ़ि बीकानेर, अलवर, जयपुर में औरंगजेब के बाद के समय से बढ़ी है। राजपूत चित्रकला शैली में, बाज की जगह तोते को स्थान बहुत पहले से प्राप्त है। प्राचीन भारतीय साहित्य में तोता, मैना, शुक-सारिका, आदि की संवाद परम्परा है। यह परम्परा राजपूत चित्रकला शैली में तथा काव्य में गोचर होती है।

यहाँ वैभव और विलास की चर्चा करते हुए मुगलिया संस्कृति की पृष्ठभूमि के साथ जहाँ मुगल चित्रकला जुड़ी है, उसी तरह उससे राजपूत चित्रकला का योग नहीं होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि राजपूत चित्रकला मूलाधार के लिए मुगल संस्कृति की ऋणी है। मुगल बादशाहों के पतनाचार उनकी वास्तविक हकीकत मुगल-कलम में है। इस कलम से किसी भी तरह का मुगलिया सस्कृति का सीधा प्रभाव राजपूत चित्रकला शैली पर नहीं आता है। हुआ यह है कि मुगल बादशाहत में चित्र गत प्रथा का संचालक स्रोत परसियन कला से ग्रहण हुआ है किन्तु उसका परिमार्जन अंशतः भारतीय पृष्ठभूमि पर शनैः-शनैः हुआ है। ये रूप आगे चल कर पूर्णतः भारतीय कला शिल्प की मुगलिया पद्धति पर रूढ़ हो गए। वास्तु या चित्र में इनकी पद्धति अपने ढंग की हो गई। यहाँ से जो चित्रकार राजस्थान और कांगड़ा घाटी की ओर गए, वे मुगल कला के प्रभावों को लेकर गए और जहाँ भी उन्होंने चित्र तैयार किए उनमें मुगलिया रूपाकृतियाँ और पृष्ठभूमि में अंशतः प्रभावों को व्यक्त किया।

राजस्थान में राजपूत राजा महाराजा और सामंतों ने भवन, महल, अट्टालिकाएँ उद्यान आदि का निर्माण कराया तो भारतीय शिल्प शास्त्र के आधार पर हुआ है। चित्तौड़ का जयस्तंभ तथा कीर्तिस्तंभ कोटाबूंदी का वास्तु

शिल्प आदि इसी श्रेणी का है।

मुगलों ने जहाँ हरमों को युवतियों से भरा है वहाँ राजपूत राजाओं ने रनिवासों को रमणियों से भरे थे। राजपूत कलम में मेवाड़ शैली के चित्रों में इस स्वरूप को देखा जा सकता है। इन चित्रों में नर्तकियों अथवा रमणियों के झुण्ड ही झुण्ड हैं। शराब, हुक्का, तोता, मैना यह सब राजस्थान के अपने ढंग हैं जो कि महाभारत युग के क्षत्रियों के समय में भी थे। महाभारत में भीष्म और कृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में क्षत्रियों के लिए नारी के अपहरण को, उचित घोषित करते हैं। इनके माप दण्ड शक्ति एवं शौर्य के अनुसार सुन्दिरियों के उपयोग का अधिकार केवल शूरवीर को ही है। इस शौर्य के मापदण्ड में कामपरक दृष्टि कोण है।[१] अर्जुन और उर्वशी के बीच की सौन्दर्य की एक झलक इस तरह महाभारत में प्रस्तुत की गई है—"वह भ्रकुटियों से कटाक्ष करती हुई, प्रेमालाप करती हुई सी, सौम्यता एवं कांति से सुशोभित सी, अपने मुख चंद्र के सौन्दर्य से चन्द्र ज्योत्सना की स्पर्द्धा करती हुई सी जा रही थी। उसके चलते समय अंगराग, चंदन लेप एवं मुक्ताहारों से आवृत्त स्तन धीरे-धीरे हिल रहे थे। पुष्ट स्तनों के भार से, अपूर्व त्रिवली एक क्षीण कटि वाली वह सुंदरी पद-पद पर लचक जाती थी। उसके अधोभाग में स्वर्ण मेखला से सुशोभित, पार्वतीय देश की भाँति पुष्ट, उच्च एवं विशाल नितंबों में मानों कामदेव विश्राम ले रहा था। झीने वस्त्रों से आवृत्त उसका यह सुन्दर नितम्ब प्रदेश दिव्य ऋषियों के मन को भी विचलित कर देता था।[३] यह उस उर्वशी का चित्र हैं जो अर्जुन के पास सज कर जा रही थी। नारी सदा अपने पति के लिए वासना की मूर्ति ही रही है। राजपूत चित्रकला और तत्कालीन नारी का रूपाकृति तो परम्परा गत ही है। लक्ष्मण मंदिर की प्रस्तर नायिका में यह स्वरूप देखा जा सकता है। (चित्रफलक १५ तथा १०,१४ भी दृष्टव्य हैं)।

वेशभूषा का कीमती होना तथा शाहजादियों द्वारा उसे दुबारा न पहना जाना विलास वैभव का सूचक है। इस तरह के वस्त्र हरमों में काम करने वाली तथा रहने वाली अनगनित युवतियों को मुगल काल में बाँट दिये जाते थे। यह प्रथा शाहजहाँ तक अतिवाद के रूप में रही है। राजशाही का वस्त्र विभाग अलग होता था। जयदेव, बिद्यापति, सूर या तुलसी की नायिकाओं में वस्त्र परिवर्तन का नित नया रूप नहीं मिलता है। राजपूत राजा-महाराजाओं में नित नए वस्त्रों का रिवाज नहीं आया है। राजस्थान में पहले जहाँ पानी की कमी रहा करती थी, वहाँ वस्त्र हल्की श्रेणियों में धोये बिना ही वस्त्र की आयु गुजार देते थे। साधारणतः नया वस्त्र या घाघरा ही उसका स्थान लेता था राजस्थान में राज घरानों में वस्त्रों का कीमती होना निहायत आवश्यक समझा गया है। कोटा की राजकुमारी जब आमेर के राजकुमार के साथ व्याहीं आई तो इनका उद्धरण टाड़ महोदय ने राजस्थान की नारियों में दिया है कि ये बहुत ही सादे वस्त्र पहना करती थीं जिसे कि आमेर राजकुमार ने अपना अपमान समझा। "पहने वल्कल वसन, नीकी लागत यह बाल। कहा भूषण होय जों, रूप लिख्यौ जेहि भाल" में राजा शिवप्रसाद ने अपने कालिदास के सत्य को प्रगट किया है। वस्त्र और आभूषण दोनों ही विलास की सामग्री है। इस संदर्भ में कालिदास का आशय स्पष्ट व्यक्त करता है कि सौन्दर्य के लिए आभूषण आवश्यक नहीं हैं। साथ ही सज्जा मूल-सौन्दर्य को नहीं बढ़ाता है अपितु एक छल की स्थिति को पैदा करता है। वेश और सज्जा दोनों ही मिल कर व्यक्ति के व्यक्तित्व को निखार देते हैं। मनोवैज्ञानिक के विचार से यह सज्जा प्रक्रिया का अविर्भाव मूलतः शरीर को यौन दृष्टि से आकर्षक बनाने के लिए हुआ था।[४] कुछ का विचार इससे अल्पतः अप्रधान अंगों को आकर्षक बनाने से है। भारतीय दृष्टिकोण से यही विचार अधिक

१. आदि पर्व १०२।१६-१७।
२. "प्रसह्य हरणं चापि क्षत्रियाणां प्रशस्यते" महा. आदि. पर्व २२१-२१-२३।
३. वन पर्व अध्याय, ४३।७-११।
४. इन मैनी सबटल वेज़ वोमनस ड्रैस मेनेज विताउट एगेसिंग दी लिमिट्स सेट बाइ कनवेन्सन, टू ड्रा अटेन्सन टू एण्ड टू एसेन्चुएट हर सेकण्डरी सेक्सुअल केरेक्टर, "एम. सी. डोगल, सोसल साई. १९२५, पी-पी ३५६।

समीचीन प्रतीत होता है। किन्तु मुगल वैभव विलास के संदर्भ में यह शत प्रतिशत सत्य कथन प्रतीत होता है। भारतीय परम्परा में कला-साहित्य और ललितांगों को दृष्टि मे रख कर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि दोनों का ही अस्तित्व सदा से रहा है। अफसरा और गंधर्व इसके पुरातन सदर्भ हैं। राजपूत चित्रकला शैली के संदर्भ में सूर की गोपियाँ, कृष्ण की वंशी सुन कर वेसुध हो मिलन को गमन करती है। शृंगार के लिए उनके पास अवसर नहीं है। किन्तु विशेष अवसरों पर ब्रजांगनाएँ अपनी सज्जा अवश्य करती हैं। नायिकाओं को यह अवसर राजाओं महाराजाओं के वैभव विलास की संमिधाओ के उपरान्त नायिकाओं को मिलने लगा था। मतिराम की नायिका की सज्जा उनके मूल शब्दों मे देखिए—

जावक रग रंगे पग पंकज, नाह को चित्त रंगे रंगु जातें,
अंजन दै करि नैनन में सुखमा बढ़ि स्याम सरोज प्रभातें।
सोने के भूषण अंग रचै 'मतिराम' सबै बस कीबै की घातें,
यों ही चले न सिंगार सुभावहि, मैं सखि भूल कहीं सब बातें॥[1]

नायिकाएँ सज्जा प्रियतम के लिए करती हैं जो कि मतिराम के अनुसार व्यर्थ नहीं जाता है। कहीं कहीं नायिकाएँ प्रियतम की रुचि अनुसार "साजि सिंगार जो स्याम को भावै"।[2] बिहारी इसके विपरीत सहज सौन्दर्य का अनुसरण करते हैं।[3] लेकिन कीमती वस्त्रों के पहिरावे की शोभा को बिहारी अंकित करना नहीं भूल सके हैं, उनका दोहा है.......

जरी कोर गोरे बदन, बरी खरी छबि देख।
लसति मनों बिजुरी किए, सारद ससि परिवेष॥[4]

उत्प्रेक्षा के अनुसार नायिका का गोरा बरन स्वेत चाँदनी सदृश्य सारी की जरी की कोर गोरे बदन के इर्द-गिर्द बिजली की रेखा सी दृश्यमान हो रही है। बिहारी के सौन्दर्य- बोध में सज्जा के साथ रंग मेल है। यह दृष्टि अलंकारिक दृष्टि से अधिक तीक्ष्ण और प्रभावोत्पादक है। मूल वस्तु को इस ढंग से रंगों के बीच सक्षमता से उभरना कि उसका रूप अपने आप निखर आवे। आभूषण बलात् लादे जाते हैं तब अंग की नहीं, आभूषण की आभा के प्रति नायक आकृष्ट होता है। इसमें नायिका का रूप सौन्दर्य हेय हो जाता है।[5] रंगों के मेल से जब नायिका की देह का रूप अपने-आप-स्वतः उभर कर नायिका को अपनी ओर आकृष्ट करता है, तब इसमें नायिका के रूप लावण्य की महत्ता है। बिहारी की मनचाही नायिका इसमें देखिए.......

सोन जुही सी जगमगै, अंग अंग जोबन जोति।
सुरंग कुसंभी चूनरी, दुरंग देह दुति होति॥ बि. बो. ११८॥

---

१. रसराज, पृष्ठ ३३३।
२. मांग संवारि सिंगारि सुबरन बेनी गुहीपुछविनि लौ छावै,
त्यों 'पद्माकर' या और हूँ साजि सिंगार जो स्याम को।
३. तन भूषण अंजनि दृगनि, पगन महावर रंग।
नहिं सोभा को साज ये कहिबे ही को अंग॥ बि. वो. १२८।
४. बिहारी बोधनी, दोहा संख्या १३१।
५. करत मलिन आछी छबिहि, हरत जु सहज विकास।
अंगराग अंगन लग्यों, ज्यों आरसी उसास॥ बि. बो. १५२॥

इसके अनुसार अभी नायिका, नायक के समक्ष भी नहीं पहुँची है, केवल दूती या सखी नायिका की 'ताफता रंग' का सौन्दर्य को सुनाकर, नायक को नायिका के प्रति आकृष्ट करती है। लछिराम की दूती, नायिका का रूप—

"सारी स्वेत कंचुकी सवरि तासबादले की,
सौरभ तरंग संग मानो गंग धारा सी"

कहकर नायक के मन पर नायिका का रूप सौन्दर्य आच्छादित कर देती है। यह रूप सौन्दर्य और सज्जा दोनों ही राजपूत कला शैली के चित्रों में बहुतायता से है। जिसे कि पिछले पृष्ठों में स्पष्ट प्रस्तुत किया है। जो रूप भीने महीन वस्त्रों में नायिका के अंग-अंग अशतः दिखाई देने में है, वह खुलेपन में नहीं है। जिस तरह अनेक चित्रकारों ने पारदर्शक वस्त्रों से नायिका को सज्जित किया है, उसी तरह कवियों ने भी किया है। बिहारी का भीने चीर सौन्दर्य निम्न दोहे में प्रतिलक्षित होता है······

सहज सेत पचतोरिया, पहिरे अति छबि होति।
जल चादर के दीप लौ, जगमगात तन जोति॥

महाकवि देव भी बिहारी से पीछे नही हैं, इनका पद इस तरह है···—

भोरही भोरही ही वृषभान के आयो अकेलहिं केलि भुलान्यो।
देव एक सोवत ही उत भावती भीनों महा भलके पट तन्यो॥
आरस ते उधरी यक बांह भरी छबि हेरि हरी अकुलान्यो।
मीड़त हाथ फिरै उमड़ो सौ पड़ौ ब्रज बीच फिरे भंडरान्यो॥

इस भीने वैभव पूर्ण रंगीन वस्त्रों की शोभा राजपूत चित्र शैली के साथ ही पहाड़ी राजपूत शैली में विशेष कर कांगड़ा के चित्रों में भी, अद्‌भुत तरह से व्यक्त हुई है। देव की वियोगनी का चित्र जो कि अत्यन्त ही भीनी ओढ़नी ओढ़े, भारत कला भवन बनारस में है, यथावत् भाव सौन्दर्य के साथ सापेक्ष रूप सौन्दर्य का उद्धरण है। जयपुर शैली के चित्रों में यह विशेषता सर्वाधिक है। रूप सौन्दर्य के साथ जिस तरह देव का नायक—ऐन्द्रिय वासना से अबिभूत होकर 'उमड़ो सौ', 'मीडत-हाथ' आता है, उसी तरह रीतिकालीन अन्य कवि भी विलास भावना से अबिभूत होकर रति प्रसंगानुकूल वस्त्र, सज्जा कराते हैं।[1] वासक सज्जाओं का चित्रण इसी संदर्भ में है। भीना-वस्त्र की परम्परा सार्वकालिक है। वस्त्र सज्जा के अर्थ आवश्यकता के और वय के साथ बदलते रहते हैं। चित्रों में घूंघट का चित्रण है। इसमें पल्लू नायलोन की तरह पारदर्शक प्रस्तुत किए जाते रहे हैं। पारदर्शक चित्रित करने का यही आशय है कि नायक या प्रेक्षक, दर्शक रूप का पान कर सके, और घूंघट के माध्यम से लज्जा व संकोच भी बना रहे। यह घूंघट लज्जा और संकोच की स्थिति मुग्धा नायिकाओं से घटित होती है। सामान्य जीवन में नव-विवाहिता के साथ यह संदर्भ जुड़ता है। बिहारी आदतन 'छिप्यौ छबीला मुख', 'नीले आंचल चीरे' से देखते हैं। देव मुग्धा की चेष्टा में 'घूंघट की नट की सुछटी लटकी लटकी गुन' देखकर इसके खुलते ही चंद्रमा के धरासायी हो जाने की स्थिति अनुमानने लगते हैं।[2] यह स्थिति चित्रों में नहीं है। यह अवश्य ही जहां ऊपर चंद्र पूर्णमाशी का गोल दिखलाया है, वहां नायिका के स्तन

---

१. चंद्रकला चुनि-चूनरी चारु दई पहिराई सुनाई सुहेरी।
बेंदी बिसाखा रचि 'पद्‌माकर' अंजन आंखि समाजि कै रारि॥
लागि जबै ललिता पहिरावन कान्ह को कंचुकी केसरि बोरि।
केरि हो मधकाड़ रही अंचरा मुख दै वृषभान किसारी॥

२. घूंघट खुलत अबै उलटु ह्वै जेहे देव,
उद्धत मनोज जग जुद्ध जुटि परेगो॥

भी गोलार्धों में चित्रित किए हैं। मूर्तिकारों ने पूर्णमासी के चन्द्र के ही अनुरूप गोलार्धों में नायिका के स्तनों को प्रस्तरों पर उरेहा है। इलाहाबाद संग्रहालय की संदर्भ में दी हुई प्रस्तर प्रतिमा में स्तनों के गोलार्धों को ज्यामितिक आधार पर देखा जा सकता है। (चित्रफलक ७,९,१४,२५ देखिए) रूप की दृष्टि से दोनों ही चित्र स्थिति में एक सी अभिव्यक्ति रखते हैं। जहाँ घूंघट में नायिका प्रस्तुत हुई है, वहाँ सामाजिक मर्यादा सामने रही है। ऐसे चित्रों में कोई वय प्राप्त व्यक्ति समीपस्थ चित्रित है। बिहारी ने इस स्थिति को रखा है। मूल रूप में घूंघट की स्थिति का सौन्दर्य इस तरह से है......

चितई ललचौहे चखनि, डटि घूंघट पटि मांह।
छल सों चली छुवाय कै छिनक छबीली छांह॥

इसके भी आगे बिहारी की नायिका घूंघट पट डारि के नायक को मूठ-सी मार जाती है। बिहारी की मूल अभिव्यक्ति में इस तरह है......

पीठ दिए ही नैकु मुरि, कर घूंघट पट डारि।
भरि गुलाल की मूठि सों, गई मूठि सी मारि॥
× × ×
सटपटाति सी ससि मुखी मुख घूंघट पट ढांकि।
पावक-झर सी झमकि के गई झरोखा झांकि॥

कबीर ने भी घूंघट के पट खोलने की बात कही है, पर बिहारी और रीतिकालीन परिप्रेक्ष्य विलास से आवृत था। कोमल भावनाओं के सहित देशकाल मुखरित हुआ है। कवियों की भाँति इस जीवन और जगत का व्यापक बिम्ब चित्रकारों ने ग्रहण किया, जिसे नायक-नायिका भेद, ऋतु वर्णन, बारह मासा, कृष्ण और राधा के माध्यम से प्रस्तुत किया है। कवियों, चित्रकारों और गायकों में चोली, अंगिया और कंचुकी को लेकर बहुत द्वन्द्व हुआ है। यह बात नहीं कि केवल रीतिकालीन परिवेश में ही यह स्थिति रही हो, यह तो सार्वकालिक परम्परा से चली आ रही है। पहले तो चोली अंगिया या कंचुकी का सदा अभाव ही रहता था। अधोवस्त्र की जगह, साँची, भरहुत कोणार्क भुवनेश्वर, खजुराहों, अजंता, ऐलोरा की रूपाकृतियों में मेखला या केवल झीना वस्त्र होता है जिसकी सलवटें दिखाई गई हैं। (चित्र फलक—२ तथा १४ देखिए) काव्य में कालिदास, भैरवि, भास, माघ आदि सभी कवि वक्ष प्रदेश के प्रति उदार रहे हैं। विद्यापति के कंचुकी के बंद तो पूर्व की स्थिति है, वस्तुत: उनकी नायिका के नीबी के बंध खुल जाते हैं। नारी सौन्दर्य में विलास की दृष्टि से सर्वाधिक आकर्षक स्थिति स्तनों की है। कंचुकी स्तन को छिपा लेती है, उसे यथानुकूल छोटा अथवा बड़ा बनाकर प्रेक्षकार्थ प्रस्तुत करती है। वैसे इस वस्त्र का निर्माण इन स्तनों के रक्षार्थ ही हुआ है। इसका उपयोग सार्वदेशिक और सार्वकालिक किसी न किसी रूप में रहा है कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं है। कंचुकी के योग से नारी सौन्दर्य कलाकार की दृष्टि से बढ़ती है क्योंकि इसका प्रयोग नारी की कटि को छीन और वक्ष को उन्नत बनाकर आकर्षक रूप देते हैं। मूर्तियों में मूर्तिकारों ने स्तनों को जहां भी निरावृत्त प्रस्तुत किया हैं, वहां से मूर्तिगत चारुता, वस्तुगत लावण्य और लय को बनाए रखने में समर्थ हुए हैं। कोणार्क के मुख्य मन्दिर की गायिका नायिका की प्रतिमा में स्पष्ट परिलक्षित होता है। यही कारण है कि वक्ष-नग्न-नारी उतनी सुन्दर प्रतीत नहीं होती, जितनी कि कंचुकी से आवृत नारी मोहक-रम्य प्रतीत होती है। वासना और विलास मे हटकर नारी अपने नग्न रूप से वीभत्सता को प्रस्तुत करती है। सदियों से जाति गत संस्कार इसके मूल में हैं। पाश्चात्य देशों में नग्न-नारी-चित्रण की एक विशाल परम्परा है जिसका मानव शरीर रचना के आवश्यक ज्ञान का हेतु साधन मान कर प्रस्तुतीकरण हुआ है। पहले के नारी-चित्रों में नारी वासना जन्य स्थितियों से बचाया है जैसे यौन और लिंग की जगह पर अगुरादि की वेल का पता प्रस्तुत किया है। वक्षादि के चित्रण के उपरान्त मुख पर शालीनता ममता आदि भाव हैं किन्तु मध्यकालीन

स्थिति इससे भिन्न अभी हाल के पाश्चात्य देशों के नग्न चित्रों में पुरुष शिश्न, भयंकरता के साथ प्रस्तुत किए गए हैं।[1] भारतीय शिल्प में यह अध्ययन की स्थिति तो नहीं, पर पूर्ण भावाभिव्यंजना की स्थिति रही है। भोगपरक अवतारणाएँ हुई हैं, उनका उल्लेख आगे किया गया है। मूर्तियों से हटकर राजपूत चित्रकला शैली के चित्रकारों ने तथा पहाड़ी चित्रकला शैली के चित्रकारों ने नारी के स्तनों को जहाँ भी निरावृत प्रस्तुत किया है, वहाँ वे चित्रगत चारुता को पूर्ण रूपेण प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे हैं। प्रतीक के रूपों में जहाँ स्तनों का चित्रण है, वे स्थितियाँ, कुछ भिन्न हैं। जैसे चित्र में नायिका गेंद खेल रही है तो गेंद के ही समान स्तनों को गोल प्रस्तुत किया है। इसमें उभार और उन्नतावस्था का अभाव है। मुगल शैली के चित्रों में जहाँ नारी के स्तनो को खुला चित्रित किया है वहाँ रंग विधा में हल्के गहरे तथा क्रमिक उतार चढ़ाव को प्रस्तुत किया है जो कि काव्य रूपों के समान शुद्ध कामोत्तेजक है। सौन्दर्य की अपेक्षा काम की प्रवृत्ति ही प्रबल होती है। राजपूत चित्रकला शैली में इस तरह का चित्रण सत्रहवीं शताब्दी के उपरान्त हुआ है। चित्रकारों ने बहुधा लाल, जोगिया, हरा, नीला व सामान्यतः गहरे रंगों में ही इसे प्रस्तुत किया है। स्तनों की स्थिति स्थानीय प्रभावों के आधार पर है। किसनगढ़ की नारी की आकृति लम्बी, कटि छीन, वक्ष पृथुल, मुख कमलाकृति का है। बीकानेर और जयपुर के वक्ष भी प्रायः पृथुल है। कवि भी विविध रंगों के भरने में पीछे नहीं है। देव की नायिका के 'उकसी अन्यारी',[2] स्तनों को 'लालकंचुकी'[3] की 'उज्यारी जरतारी की तनीन को', कस कर बाँधते हैं कि वे तब भी एन्द्रिय भावना को उत्तेजना प्रदान करने में काफी समर्थ होते हैं।[4] देव का नारी के प्रति विलास वादी दृष्टिकोण निम्न पद में स्पष्टता से मुखरित हुआ है—पद इस तरह है······

> दूलह नौल नई दुलही उलही उर नेह की वेलि नवीने।
> नैन दुंहु के चले चित्त चैन चुके न सके न झुके पट भीने॥
> रंगरली उर लीन्हें उछाह अली मुसकाइ चली पर बीने।
> प्रेम की संपति दंपति देवहि ले हिय खोलि मिले रस भीने॥—देव, भाव विलास, छन्द ३३।

फाग के चित्रण में देवकी नायिका का हृदय नायक के स्पर्श मात्र से भर जाता है। फलस्वरूप निम्न पद देखिए······

> लालन गुलाल लै दुहु करनि भीजैं रस,
> भींजे पे पसीजे हियरा में लेन हुचकै।
> अंचल में कंचन कमल कालिका से कुच—
> कंचुकी में रंचक उसास आए उचकै॥—देव सभा-सुजान विनोद-६६।

---

१. आर्ट एण्ड दी स्प्रिट आफ दी मेन, बाइ रेने ह्यूगे, पृष्ठ १४८, ग्रेट ब्रिटेन में प्रकाशित।

२. न्यारी के कसी सु आवै उकअन्यारी, लाल कंचुकी उज्यारी जर तारी की तनीन को
×　　×　　×
कंचुकी में कसे आवे उकसे बिंदु, बंदन लिलार बड़े घुमड़े परत॥

३. कंचुकी केवल स्तनों को मुश्किल से ढँकती है। इसका बंधन पीछे होता है। चोली गले के नीचे से प्रारम्भ होकर स्तनों को समेट कर (बाँध कर नहीं) अपने में रखती है। इसका बंधन दोनों स्तनों के बीच नीचे गांठ के रूप में होता है। अंगिया चोली का छोटा रूप है। इसमें बटन होते हैं। इसका रूप देव की कविताओं में अवश्य मिलता है, वैसे यह आकार चित्रों में बहुत प्रचलित है।

४. न्यारी के कसी सु आवे उकसी अन्यारी, लाल कंचुकी उज्यारी जरतारी की तनीन को।
कंचुकी में कसे आवे उकसे बिंदु, बंदन लिलार बड़े बार घुमड़े परत।

कंचुकी के हटने पर पदमाकर चकचौंधया जाते हैं। उनकी स्थिति उन्हीं के पद में देखिए...

चौक में चौकी जराय जरी तिहि पै खरी बार बगारति सौंधे।
छारि धरी हरी कंचुकी न्हान को अंगन ते जगे जोति के कौंधे।।
छाई उरोजन की छवि यों 'पदमाकर' देखत ही चकचौंधे।
भाजि गई लरकाई मनों लरि कै करि कै दुहुं दुंदभि औंधें।।

भगवान जाने पत्नी को देखकर पद्माकर की लरिकाई भागी या पूर्व निवेचित बिहारी के नायक की तरह सरोवर रसिक के लतान्तराल से झाँक रहे थे, वैसी ही इनकी स्थिति थी कि नहीं। हो सकता है नायिका भूल गई और वहीं पास के भवन की खिड़की : झरोखे की ओट से पद्माकर बैठे हों (चित्र फलक २५ देखिए)। इस स्थिति के लिए रीतिकालीन कवियों या केवल पद्माकर को दोषी नहीं ठहराना चाहिए क्योंकि सद्यस्नाता का लावण्य पुरुष को सदा से ही आकर्षित करता रहता है। मथुरा संग्रहालय में दूसरी शताब्दी की प्रस्तर प्रतिमा में उद्रेखित है। इसमें नायिका स्नान के पश्चात् बालों से पानी को निरा रही है ऊपर गवाक्षों से दो मेधप उसके रूप का पान कर रहे हैं। नीचे हंस उसके बालों से झरती हुई पानी की बूँदों को मोती समझकर चोंच खोले ऊपर को गर्दन उठाये हैं। नारी के सद्य-स्नात नग्न-देह का आकर्षण शाश्वत है। (चित्र फलक-३ देखिए) देव की भाव सौन्दर्य से कहीं अधिक दैहिक सौन्दर्य के चित्रण में दिलचस्पी थी। नारी के अगों के बाह्य सौन्दर्य के प्रति लिखने में चित्रकारों की तरह ही आगे रहे हैं। पतली साड़ी में से झलकते अंगों को देख कर देव कहते हैं—

उज्ज्वल उज्यारी सी झलझलाति झीन सारी।
झाई सी दिपत देह दीपति विसाल सी।। सुख तरंग, छंद २०१।

किराडू की खुदाई में एक अप्सरा का जांघों से ऊपर तक का ऊर्ध्व भाग मिली है। इसमें अधो आवरण झीना है जिसमें कि केवल किनारियाँ झलकती हैं। नाभि से नीचे कटि मेखला बहु विधि अलंकृत है। बक्ष हार है। गलिहार की एकहरी लर कटि की मेखला को छूती है।[1] बाजु बन्द पहिने हैं। कटि छीन, पयोधर पीन है। इस प्रतिमा की रूपाकृति १२वीं शताब्दी की प्राप्त पल्लू की सरस्वती की मूर्ति में प्रस्तुत कटि मेखला और वक्षहारादि के प्रस्तुतीकरण में समानरूपता है। और ये समानरूपताएँ इन उपर्युक्त वर्णित शब्द-चित्रों से मेल खाती हैं।

गायकों ने भी टोड़ी, मल्हार, बड़ा ख्याल आदि की गायकी में 'चोली के बंद खुल खुल जाय' का अलाप प्रारम्भ किया तो आज भी वह शास्त्रीय परम्परा में स्वरित हो रहा है। बड़े ख्याल की जगह चंचल प्रवृत्ति के छोटे ख्याल या गायकी ने ले ली है। बड़ा ख्याल पुरानी गायकी में रस की परिपक्व अवस्था तक चलता था। मुगलों की चंचल प्रवृत्ति से प्रभावित होकर गायकों ने छोटे ख्याल को प्रारम्भ किया, जिनके शास्त्रीय रूप प्राचीन शास्त्रीय और मुगल घराने के रूपों में सुना जाता है। घरानों की गायकी में काम, वासना, चंचलता को प्रदीप्त करने की यथेष्ट शक्ति है।

मूर्तिकला में अलंकरण नवमीं शताब्दी के उपरान्त आया है और साहित्य में यह प्रवृत्ति केसव के उपरान्त खुलकर आई है। चित्रफलक—१० भी देखिए।[2] तुलसी ने 'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि' सुनी, बिहारी 'तरबिन कनक

१. दी हेरिटेज आफ इंडियन आर्ट, वासुदेव शरण अग्रवाल, पृष्ठ ७१।
दी आर्ट एण्ड आर्कटेक्चर आफ बीकानेर स्टेट : हेग्मन ग्वेट्ज, पृष्ठ १३०।

२. जदपि सुजात सुलच्छनी, सुवरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिन बिराजई, कवित बनिता मित्त।।

कपोल दुति' में 'चौका चौंध' हो गए।[1] कर्णफूलों की प्रत्यक्ष दुति में, कपोल दुति स्वर्णमयी हो गई और मोती मय नथ में नासिका विहंसती सी प्रतीत होती है।[2] बिहारी के शृंगार परक उपकरण, अलंकार-भाव को गति प्रदान करते हैं। आरसी में नायक को देखना, स्वसौंदर्य का आभास ग्रहण करना, तथा प्रिय और प्रियतमा दोनों को एक ही आरसी में सौंदर्य सुधा का पान करते दिखाना, काव्य और राजपूत चित्रकला शैली की विधा में, समान रूप से प्रस्तुत हुआ है। बिहारी सामाजिक औचित्य की रक्षा करते हुए नायिका को नायक के प्रति एकटक देखने का अवसर प्रदान करते हैं।[3] देव ने पूर्व परिवेश के साथ नायिका को अवसर दिया है। पद इस तरह है—

जेठी बड़ीनु में बैठी बधून पीठि दिए पिए डीठि सकोचनि।
दर्पन की मूंदरी दृग दै पिय के प्रति बिम्ब लखै दुख मोचनि॥
सो परछाह निहारत नाह चढ़ी चित चाह गड़ी गुरु सोचनि।
'देव' सु मौहनि में उपजाय भजाय लै जाय के लोचन॥ देव-सुजान विनोद।

इन कवियों का अलंकारों के प्रति उपयोगितावादी दृष्टिकोण रहा है। कला साहित्य और ललितांगों में किंकनी, मुंदरी आदि का रम्य स्वरूप आदि कवि बाल्मीकि से प्रवहमान गति से विभिन्न साहित्यिक मोड़ों से होता हुआ चला आ रहा है। सीता ने किंकनी का दो बार जीवन-गत-ऐतिहासिक प्रयोग किया है। शकुन्तला के लिए तो मुंदरी ही सब कुछ थी। यह बात दूसरी है कि नागार्जुन आज उसे 'मूर्ख' और उसके प्रियतम को 'शोहदा' का संबोधन देते हैं।[4] कंकन किंकिनि के मादक स्वरों में तुलसी से भक्त, प्रसाद से आत्म साधक उलझ गए, तब इसके बीच के समयों में, रनिवासों, हरमों में जाने कितने पावन पद—डोलायित हो डूब गए होंगे तभी तो शायद बिहारी ने 'अली कली' को स्मरण किया। नारी की यह स्वर मधुरिमा, रूप गरिमा उसके वास्तविक दैहिक सौन्दर्य को कितना सुन्दर बना सका है, यह राजपूत चित्रकला शैली के प्राप्त चित्र स्वतः अभिव्यक्त करते हैं। मालवा, मारवाड़, चावण्डा, चित्तौड़, ओड़छा के अलंकारों की बाह्य गहरी रेखाओं ने अलंकारों की कारीगरी को उभारा है। बीकानेर के स्थानीय मकान शैली के चित्र भी इसी तरह के हैं। सोलहवीं शताब्दी के बाद के मारवाड़, मेवाड़, जैसलमेर, जोधपुर के कुछ चित्रों में भारी मोटे मोटे स्वर्ण और चाँदी के आभूषण हैं। हैं तो अंशतः ही पर सौन्दर्य के वाचक हैं। सोलहवीं शताब्दी तक चित्रगत रंग विधा में स्वर्ण और रजत का प्रयोग प्रचलित नहीं था। इसके उपरान्त जब इसका प्रचलन बढ़ा तो स्वर्ण आभूषणों की अगों पर भरमार होने लगी। किंचित क्वचित चित्रों में स्वर्ण का बाह्य सीमा बंधों, पृष्ठभूमि में उपयोग किया गया है जिससे कि आभूषणों में प्रयुक्त स्वर्ण रंग महत्वहीन हो कर रह गया है। रजत रंग का प्रयोग सामन्त—अमीर-उमरावों तथा चित्रकारों द्वारा निजी रूप से बनाने वाले चित्रों में अधिक मिलता है।

युगधर्म के अनुपात से अंगरागों और शृंगार का प्रयोग बढ़ा है। इस प्रसंग के चित्र और काव्य उद्धरण

---

१. तरिवन कनक कपोल दुति बिच बिच ही जु बिकान।
लाल लाल चमकत चुनी, चौका चौंध समान॥

२. इहि द्वैही मोती सुगध, तू नथ गरबि निसकि।
जिहि पहिरे जग दृग प्रसति, लसति हंसति सो नोंक॥

३. कर मुंदरी री आरसी, प्रति बिम्बित प्यो पाय।
पोठि दिये निधरक लखै, इकटक डीठि लगाय॥

४. "मूर्ख थी वह लड़की,
शोहदे की अंगूठी पर,
विश्वास किया।'—नागार्जुन...

दोनों ही प्राप्त होते हैं। वासक सज्जा नायिका की तैयारी के चित्र, नायिका भेद के चित्रण में प्रस्तुत किए गए हैं। कुछ चित्र राधा कृष्ण के माध्यम से भी चित्रित हुए हैं। स्वतन्त्र चित्रण, राजकुमार और राजकुमारी का स्नान गृह के उपरान्त के सन्दर्भ में हैं। अंगराग एक तरह से शरीर की इन्द्रियों से निसृत गंध को बढ़ाते है। बिहारी का आशय इसी से संदर्भ रखता प्रतीत होता है।[1] आचार्य केसवदास ने अपने एक पद में समस्त सोलह श्रृंगार का उल्लेख किया है। उन का पद इस तरह है—

प्रथम सकल सुचि, मंजन अमल वास,
जावक, सुदेश केश पास कौ सम्हारिबौ।
अंगराग भूषन विविध मुख बास राग,
कज्जल ललित लोल लोचन निहारिबौ॥
बोलन, हंसन, मृदु चलन चितौनि चारु,
पल पल प्रति व्रत प्रन पति पालिबौ।
'केसोदास' सो विलास करहु कुंवरि राधे,
इहि विधि सोरहैं सिंगारन सिंगारिबौ॥

केसव के इस वर्णन में पूर्ण सोलह श्रृंगार नहीं आ पाए हैं। उबटन, स्नान, अमलपट, जावक, वेणी गूंथना, मांग में सिंदूर भरना, ललाट में खौर लगाना, कपोलों में तिल बनाना, अंग में केसर मलना, मेंहदी, पुष्पाभूषण, स्वर्णभूषण, मुखबास, दंतमंजन, तांबूल और कज्जल है। देव के एक पद में ये अंगराग सिंगार सज्जा सभी कुछ प्रियतम को अपने प्रति आकर्षित करने के हेतु गोया विलास के साधन हैं।[2]

कुल मिलाकर ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसी ने जिस सुधार और समन्वय के दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया था, वह राजस्थान के राजा-महाराजा, सामन्त-अमीर-उमरावों के आत्मिक मानदण्डों को न छू सका। ये अधिकांशत: मुगलिया प्रवृत्ति के आचरणों को जाने-अनजाने भोगते रहे। सामंतों के छोटे-छोटे राजकर्मचारियों ने भी लूट-खसोट और रक्त दोहन के साथ ही वही विलास के पीछे निरन्तर पग दौड़ाए। तुलसी की रामायण, सूर की लीला भावना का असर ओहदों पर आसीत व्यक्तियों पर अधिक न पड़ कर उन हिन्दू वर्गों पर रहा जो किसान, छोटे व्यापारी, ब्राह्मण और शूद्र थे। ये धन सम्पन्न सामान्य ही व्यक्ति थे। इस प्रकृति प्रचलन-प्रसार देव-मंदिर, लीला-गान और तीज-त्यौहारों पर हुआ। बिहारी देव ने इन अवसरों का चित्रण अपने ढंग से अपने काव्य में किया है। सूर तुलसी ने भी इन अवसरों के लिए विशेष ढंग के गीत और गान प्रस्तुत किए हैं। चित्रों में इन अवसरों का आयाम है। राजपूत राजा-महाराजा, एवं सामंत युगानुकूल वैभव विलास में डूबते जा रहे थे, पर धर्म के प्रति उनकी निष्ठा यथावत् थी। इन्होने देव स्थलों का निर्माण कराया, उन्हें बढ़ावा दिया तथा रामायण, महाभारत तथा पूज्य देव पुरुष ब्रह्मा, विष्णु महेश पार्वती, राम सीतादि, राधा-कृष्णादि की मूर्तियों का उत्खनन कराया। इनके चरित्रों को चित्रकारों द्वारा चित्रित कराया गया तथा उन्हें जन समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। ओड़छा का लक्ष्मीनारायण का मन्दिर जिसमें रामायण के

१. बरन बास सुकुमारता सब विधि रही समाय।
पंखुरी लगी गुलाब की, गाल न जानी जाय॥ बिहारी रत्नाकर-६॥
२. भूषन मेष जइतु जरे परे छोरि सुगंध तमोर बिहारोई।
पैन्हे फिरै पियरे पट भीके सुनीके लगैं मुख ही के उज्यारेई।
बंदन बेंदी लिलार लसै चुरी चार सोहाग की रासि पसारेई।
लाज लगै अरबिंदन 'देव' रची मेंहदी कर बिंदु निहारेई।

मार्मिक दृश्य चित्रित हैं। इसी तरह किसनगढ़ में चित्रित सूरसागर के पद, कृष्ण और राधा की सगुणाकृतियाँ इसी तरह के कार्यों की प्रतीक है। यह क्रम विशेष राजपूत राजा—नरेशों में सदा से चलता आया है और उसे इस मध्यकालीन युग के उत्तरार्द्ध के राजपूत नरेशों ने भी, वैभव विलास को अंगीकार करते हुए निभाया है। रनिवास को रमणियों, रक्षिताओं और नव-यौवनाओं, रखैलों से भरा है तो उनकी रक्षार्थ युद्ध भी लड़े हैं। कुछ कम ही ऐसे संदर्भ जुटते हैं जिनमें राजपूत राजा धर्म साहित्य और कला के प्रति उदासीन रहे हों। इन तीनों का प्रश्रय देन रक्षा करना तथा उसका विकास करना भी राजा का ही धर्म था। मदिरा और अफीम का सेवन उन्हें युद्धक चिन्ताओं से मुक्ति देता रहा किन्तु इसके विपरीत विलास की संमिधाओं को भी जुटाता रहा है। निम्न वर्ग के कर्मचारी सामन्त अमीर-उमरावों ने विलासाधीन : विलासाकांक्षा में जन सामान्य का शोषण किया। कवि इससे राजा महाराजाओं की तरह बेखबर रहे। यहाँ तक कि बिहारी को गाँव की सभ्यता से बहुत ही अरुचि रही।[1] इसी तरह ग्राम बालिकाओं की उपेक्षा करते हुए बिहारी के मुख से निकल ही जाता है कि 'गदराने तन गोरटी, एपन आड़ लिलार' यही स्थिति चित्रकारों की है। चित्रकारों ने भी नाममात्र को ही ग्राम संस्कृति या लोक संस्कृति को चित्रित किया हो, ऐसा लगता है। यह उपेक्षा समान रूप से काव्य और चित्र विधा में है। सांची, मथुरा, भरहुत की ग्राम बालाओं की बात कुछ और है,[2] उस युग के राजा-महाराजाओं ने ग्राम के अस्तित्व को स्वीकारा था। सांची की ग्राम बाला का शब्द चित्र इस तरह है।

सांची पश्चिमी द्वार के स्तम्भ-सह-शीर्षाधार में फलों से लदी वृक्ष की डाली के सहारे प्रगल्भा प्रौढ़ा नारी की प्रतिमा है। इसमें ध्यान देने के लिए प्रतीकात्मकता है। वृक्ष ऋतु पाकर फलों से सम्पन्न अपने आत्म रूप में चरम उत्कर्ष स्थिति में लोक जन के हेतु प्रतीक्षित है। यही रूप नारी प्रति का है। बाल सजे संवरे हैं, उर्ध्वंत् बंधे हैं, गले में हार है कमर में झालरों वाली मेखला है। दायां हाथ और बाएँ पैर चूड़ियों से आवृत हैं। बाएं हाथ से फल वाली डाली को सिर के समानांतर पकड़े है तथा बाएँ हाथ से डाली के मोटे भाग को गलबांही की मुद्रा की स्थिति में सहारा लिए है। दायां पैर प्रस्तर शिला पर लम्ब सरल रूप है तथा बायां पैर मोडो के साथ बाएँ पैर के पीछे घूम कर अंगूठे से प्रस्तर-स्पर्श किए है। इस पैर के घूँटे से लेकर दायां स्कन्ध तक सीधी रेखा खिंचती है तथा कटि पर तीन बल दो भाग में हैं। प्रतीक्षा का भाव सर्वांगों से प्रतिलक्षित होता है। यह गाँव की बाला है जो कि जीवन में नवागत के स्वागत के लिए पके फलों की तरह मूर्ति विधा में प्रस्तुत की गई है। ईसवी शताब्दी के प्रारम्भ के लगभग की यह प्रतिमा स्थानीय विशेषता को ग्रहण करने की परम्परा का द्योतन करती है। यह प्रतिमा निरावरण होते हुए भी अभिव्यक्त-भाव के संप्रेषण गुण ने शील को बनाए रखा है। चित्रफलक—२ में इसका साक्षात किया जा सकता है।

इसी तरह मथुरा संग्रहालय की अशोक वृक्ष के सहारे खड़ी मुग्धा कुमारी की प्रतिमा भी अपनी सादगी, ग्राम्य रूप और भाव संप्रेषणीयता के लिए एक अद्वितीय प्रतिमा है।

---

१. गंवो गंध गुलाब की, गंवई गाहक कौन (५२४ बिहारी रत्नाकर.)

× × ×

फूलो अनफूलो भयो, गंवई गांव गुलाब। (बिहारी रत्नाकर ४३४)

× × ×

सबै हंसत करतार दैं, नागरता के नांव।
नयी गरबु गुन को सरबु, गए गवारे गांव॥ (बिहारी रत्नाकर २७६)

२. मार्ग दिसम्बर, १९६२, फिगर ३१।

अशोक के समय के धौला के हाथी, रामपुरवा के बैल, सार नाथ के सिंह लोक जीवन के ही द्योतक हैं। (चित्रफलक—१ अ और ब) बौद्ध पशु मूर्तिकला में प्राप्त गत्यात्मकता स्वाभाविकता, प्रगाढ़-भाव-प्रकाशन तथा कोमलता में अंतरंग-मानवीय-भावनाओं का गौरवपूर्ण मिश्रण, समस्त एकदेशीय जीवन के एकान्वित रूपों की परिचायक है। राजस्थान, नीलकण्ठ महादेव मंदिर में प्राप्त यक्षिणी की मूर्ति स्थानीय ग्राम्य बाला की आभा में, यौवन गत आगत मुग्ध स्वरूप का बोध प्रगट करती है[1]। यह मूर्ति अपने ढंग की है जो बरबस प्रसाद के पद को स्मृति में उभार देती है[2]। प्रसाद के पद में नायिका को पगली बेसुध का सम्बोधन देकर उसे अपना वस्त्र सम्हालने को कहा है। इस प्रतिमा में ग्राम्य यक्षिणी का वस्त्र उपर से फिसलकर जंघाओं तक आ गया है न. वह बेसुध खड़ी है। इसके पार्श्व में लता वृक्ष के सहारे दिखाई गई है जो कि इसके भाव-बोध एवं प्रतीक रूप का द्योतन करती है। यह ११वीं—१२वीं शताब्दी का उद्रेखरण हैं। बेसिल ग्रे की पुस्तक में सन् १५७० ई० का गाँव का चित्र प्रकाशित है[3]। यह चित्र, मेवाड़ या मारवाड़ के आस पास का स्थानीय रूप है। इसमें दो नारी आकृतियाँ चोली बंदों में चित्रित हैं। चोली का रंग चटक लाल है जो परवर्ती चित्रों में बहुतायत से मिलता है। हाथों में भारी और बहुत संख्या में चूड़ियों की सजावट मारवाड़ी वैशिष्ट के अनुरूप है। गाँव का चौड़ा कुआँ छोटे मुंह वाला, ग्रामीण परम्परा का है। इसी तरह मकानों को हल्का लाल गेरुवे रंग से रंगा हुआ है। यह सब उपकरण मिल कर गाँव की शोभा का स्वरूप प्रेक्षक को देते हैं। इन सन्दर्भों से आशय यह है कि कला के इस तरह के स्थानीय रूप मुगल पूर्व है, जो कि बाद में इन रूपों का अभाव मिलता है। अभाव के मूल में बिहारी के सदृश प्रवृत्ति का अनुकरण हुआ है।

समाज सापेक्ष स्थितियों में नारी के प्रति वस्तुपरक और भोग परक दृष्टिकोण गुलाम वंश के प्रारम्भ (सन् १२०६ ई०) से ही आरम्भ हो गया था। नारी की गणना विलास की वस्तुओं में होने लगी थी। इसके अनेक सन्दर्भ अभी तक आ चुके हैं। भक्तिकाल के कवियों में नारी के प्रति भोगपरक दृष्टिकोण की आस्था के जगह कल्याण भावना और नारी के संभावित आदर्श मय स्वरूप को प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई। प्रेम के संदर्भ में नारी की आवृत्ति स्वकीया और परकीया के रूपों में है। परकीया भाव को आध्यात्म के स्वरूप में ही रखा है किन्तु यह आध्यात्म का रूप सूर के समानान्तर ही खण्डित होकर लौकिक और वासना जन्य होने लगा था। काव्य साहित्य के सृजन के परिप्रेक्ष्य में लोक जीवन की संप्रेरणाएँ कार्य करती थीं जो कि लोदीवंश के समय तक बदलने लगीं। नसीरुद्दीन (मालवा सन् १५०१-१२ ई.) ने कवि और कलाकारों को राजशाही वृत्तियों में खरीदा। अकबर ने अपने समय में भी यही किया है।[4] कला काव्य और संस्कृति पर एक तरह से सत्ताएँ हावीं होने लगी। प्राय: सभी राजाश्रय जीवन की सर्वोपरि उपलब्धि अनुभव करने लगे। यश लाभ की अभिलाषा ने भी राजशाही वृत्तियों की ओर इन सृजेताओं की भाव-भूमि को मोड़ दी।

---

१. मार्ग दिसम्बर १९६२, फिगर-३२।

२. पगली हां सम्हाल ले कैसे
छूट पड़ा तेरा अंचल।
देख बिखरती है मणिराजी,
अरी उठा बेसुध चंचल।।

३. राजपूत पेन्टिग, पृष्ठ ७।

४. "अकबर इनवाइटेड हंड्रेड आॅफ पेन्टर फ्राम आल ओभर दी इंडिया इनक्लूडिंग गुजरात, राजस्थान, पटना एण्ड इनट्रस्टेड देम विद दी वर्क आफ इलस्टेटिंग दी मास्टर पीसे श आफ संस्कृत एण्ड पर्सियन लिटरेचर" फ्राम दी हरिटेज आफ इंडियन आर्ट, वासुदेव शरण अग्रवाल, पृष्ठ ३५।

तुलसीदास जब यह कहते हैं कि 'टेढ़ जान शंका सब काहू, वक्र-चंद्रमा ग्रसे न राहु' के मूल में बड़ा जो शक्ति सम्पन्न है, उसके लिए राज्य के नियम किसी भी तरह की बाधा नहीं पहुँचाते हैं, उसका हर कार्य अहस्तक्षेपीय रहता है। डा. सावित्री सिन्हा ने इसी तरह का औरंगजेब के समय का सन्दर्भ दिया है—वह इस तरह है 'तत्कालीन सामंतों के नैतिक पतन का ज्वलंत उदाहरण औरंगजेब के प्रधान मंत्री के पौत्र मिर्जा तफ़क्कुर का है जो अपने गुण्डे साथियों के साथ बाजार की दुकानें लूट लेता था और राजमार्ग पर चलती हुई हिन्दू स्त्रियों का अपहरण किया करता था लेकिन उसके दण्ड की व्यवस्था की शक्ति किसी न्यायाधीश में नहीं थी।[1] यह तत्कालीन समय में अति का स्पष्ट रूप था। अकबर के समय में भी लड़ाई और युद्ध के दौरान—सुन्दरियों को लूट की वस्तुओं के साथ ही बादशाह सलामत के हजूर में पेश करना होता था। कुल अदद दो रूपसियों के न करने पर अकबर ने अपने धर्म भाई आदम खाँ का पीछा किया था युग चाहे औरंगजेब का रहा हो या चाहे अलाउद्दीन का, नैतिक पतन हुआ तो होता ही चला गया जिसमें नारी मां, बहिन, बेटी के पद से च्युत होकर, मात्र भोग की वस्तु, आर्थिक संपन्न व्यक्तियो के लिए रह गई। ठीक इसी तरह का मत डा. बच्चन सिंह का है। उनका कथन है—सामंतीय युग में प्रेम ने जो रूप ग्रहण किया उसे समझने के लिए तत्कालीन आर्थिक स्थितियों का विश्लेषण अपेक्षित है। सामंतीय युग के प्रारम्भ में सामंतों के शौर्यमूलक दृष्टिकोण के कारण नारी के व्यक्तित्व को महत्व दिया गया किन्तु थोड़े समय के पश्चात् वह भोग्या मात्र रह गई। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न यह अवकाश भोगी वर्ग नारी को विलास की वस्तुओं में परिगणित करने लगा।[2] इस परिगणन के मूल में भोग की प्रबल भावना का द्योतन है। नारी के अंग-अंग की मांसलता से संभोग जन्य काम की तृप्ति ही भोग है। पुरुष नारी के पीछे भागता है, उसे दबा कर अधिकार में लेता है, उसकी मनःस्थितियों एवं भावनाओं को कोई स्थान नहीं दिया जाता है, वहाँ प्रेम जन्य सामान्य काम नहीं हो सकता है।

सामान्य जीवन का काम सिद्धों की सहज साधना में भी है और यह परम्परा से चली आई हुई एक मुख्य प्रवृत्ति है जो किसी न किसी विकृति या सुकृति में विद्यमान रहती है। सिद्ध संप्रदाय के प्रवर्तक सरहपाद ने कमल कुलिश साधना का प्रचार करते हुए कमल को स्त्री योनि और कुलिश को शिश्न का प्रतीक कह मुक्त रमण का प्रतिपादन किया।[3] राहुल सांकृत्यायन ने सरहपाद का परिचय इस तरह दिया है "सरहपाद किसी वक्त नालन्दा के एक बड़े पण्डित थे, मगर जब उन्हें वहाँ का जीवन दमघोटू लगने लगा तो उन्होंने सब कुछ को लात मारा भिक्षुओं का बाना छोड़ा अपनी नहीं किसी दूसरी जाति की तरुणी को लेकर खुल्लम-खुल्ला सहजयान का रास्ता पकड़ा।[4] सिद्धों नाथों को छोड़कर आगे बढ़कर देखिए तो गीत गोविन्द का कवि रास में कृष्ण को शहजादे या ग्यास का रूप देकर प्रस्तुत करता है

श्लिष्यति कामपि चुम्बति कामपि,
रम्यपि कामपि रामाम्।
पश्यति सस्मित चारु पराम्।
परामनु गच्छति वामाम्॥ गीत गोविन्द-१॥

अर्थात् किसी के साथ आलिंगन करते हैं, किसी का चुम्बन ले रहे हैं और किसी के साथ रमण कर रहे हैं। एक से मुस्करा कर नेत्र मिला रहे हैं तो दूसरी के पीछे-पीछे जा रहे हैं। विद्यापति 'निवि बंधन, निवि हरि किए कर

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, षष्ठ भाग, सं. डा. नगेन्द्र, पृष्ठ १४।
२. रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना, डा० बच्चन सिंह, पृष्ठ ३२०।
३. हिन्दी काव्य-धारा, पृष्ठ-१४।
४. हिन्दी काव्य-धारा, पृष्ठ ४८, राहुल सांकृत्यायन।

दूर, एहो पए तोहा मनोरथ पूर' करते हैं। तब डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी को कहना पड़ता है कि कृष्ण दास की मन-चाही नर्तकी की दृष्टि जब उनके भोग की ओर पड़ जाती थी तो (ठाकुर जी भी) भूखे ही सो जाते थे।[1] पण्डित जी मन्दिर के ऐश्वर्य पूर्ण वातावरण की ओर संकेत कर रहे हैं जिसे डा. मदान और अधिक स्पष्ट करके लिखते हैं कि मंदिर के ऐश्वर्य पूर्ण वातावरण के प्रभाव से मन्दिर के कुछ अधिकारियों में भोग-वृद्धि का विकास हो गया हो, तथा उन्होंने ही ठाकुर जी की कामशास्त्र और नायिका भेद सिखाने के बहाने ऐसी संभोग-प्रधान रचनाओं को लिखने की प्रेरणा दी हो तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं।[2] आचार्य नन्ददुलारे जी वाजपेयी ने अष्टछापी रास लीलाओं की मूल प्रवृत्तियों का संश्लेषण करते लिखा है कि—एक ओर सेवक सेविकाओं को ब्रह्म संबंध स्थापित करने के लिए तन-मन-धन तीनों ठाकुर जी को समर्पित करने का उपदेश दिया गया, दूसरी ओर यह भी घोषणा की गई कि वल्लभ संप्रदाय में गोसाईयों को (अष्टछाप सदस्यों को भी) श्री कृष्ण का स्वरूप समझा जाता है, इसलिए समर्पण गोसाईंयों के प्रति भी किया जा सकता है।[3]

राजस्थान की ढोलमारू की प्रेम कथा में भोग परकता है। मारवणी प्रेयसी, ढाढी से ढोला के पास संदेश भेजती है—कि ढोला से समझाकर कहना कि यौवन रूपी आम फल रहा है, आकार उसकी फसल क्यों नहीं खाते।[4]

केसव तक के साधु संत कवियों ने एक स्वर से नारी को काम का मूल हेतु मान कर परिस्कार, नारी-त्यागन के आधार पर प्रस्तुत किया है। संतों के लिए नारी ज्ञान प्राप्ति में बाधा, केवल भोग परक दृष्टिकोण की प्रतिक्रियावत है इन सबके अनन्तर 'रसिकन को रसिकप्रिया कीन्हीं केसवदास'। केसव के विचार से जहाँ स्त्री है, वहाँ भोग है। स्त्री के बिना भोगों का अस्तित्व नहीं है। जैसे संसार की समस्त सारमयता नारी पर केन्द्रित हो गई हो। इसे छोड़ दो तो वास्तविक सुख की प्राप्ति हो जावेगी।[5] इस वास्तविकता के माध्यम से तत्कालीन मनोवृत्ति टपकती है। केसव के संबंध में 'केसव केसन' की उक्ति प्रचलित है। केसव ने तो तत्कालीन राजा-महाराजाओं, सामंत-अमीर-उमरावों की 'वीरसिंहदेव' चरित्र में परोक्ष रूप से व्यंग्य और निंदा की है। विज्ञान गीता में दिल्ली नगर का चित्र प्रस्तुत किया है जो कि अकबर के अन्तिम समय का है।[6] संदर्भ पद में भोग और भोगरत तत्कालीन सामाजिकों का चित्र प्रस्तुत किया है। ऐसे युग के केसवदास यदि रसिकप्रिया में.......

---

१. हिन्दी साहित्य, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ १८६।

२. हिन्दी काव्य में श्रृंगार परम्परा और महाकवि बिहारी, गणपति चन्द्र गुप्त, पृष्ठ २०७।

३. महाकवि सूरदास, आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी, पृष्ठ ५८।

४. ढाढी एक संदेसड़उ, कहि ढोला समझाई।
जोबरन आंबउ फलि रहउ, साख न खाअउ आई॥
ढोला मारु रा दूहा—पृष्ठ—११२।

५. जहां भामिनी, भोग तहं, बिन भामिन कहं भोग।
भामिन छूटै जग छूटै, जग छूटै सुख योग॥
राम चंद्रिका उत्तरार्द्ध—१४, पृष्ठ ६१।

६. काम कुतुहल में लिसै निस वार बधू मन मान हरैं।
पात अन्हाइ बनाइ दै टीकनि उज्जवल अंबर अग धरैं।
ऐसे तपो तप ऐसे जपो जप ऐसे पढ़ो श्रुति शास्त्र सरैं।
ऐसे योग जपो ऐसे यज्ञ भयो बहु लोगनि को उपदेश करैं।' (पृष्ठ ११)

तजि तरुणी संबंध की, जनि मित्र द्विजराज ।
राखि लेइ दुख भूख ते ताकी तिय तें भाज ।
अधिक वरण अरु अंग घटि अन्त्यजनन की नारि ।
तजि विधवा अरु पूजिता रमियहु रसिक विचारि ।। (पृष्ठ १४४)

केसवदास भी इतनी उपर्युक्त वर्णित नारियों को छोड़कर, शेष सबको भोग के लिए सामाजिकों को छुट्टी दे देते हैं, तो क्या आश्चर्य है......केवल युगधर्म का पालन करते हैं। काम का अवसर प्राप्त शाश्वत धर्म केसव की रसिकप्रिया में मुखर हुआ है। केसव की रस रीति का संबंध भरत द्वारा प्रतिपादित 'काव्य रस' से प्रतीत नहीं होते और न ही किसी रस सिद्धान्त से होता है।[1] इनका आशय रसिकता और विलासिता से प्रेरित भोग-जन्य रस के आनन्द से है। बिहारो, कृष्ण की कसौटी के अवसर पर, कृष्ण के पद गोवर्धन धारण की बेला में किसी किशोरी की पतली कमर देखकर डगमगा देते हैं।[2] कवि का मन 'गिरि ते ऊँचे रसिक मन, बूड़े जहाँ हजारु' पर रमता है।[3] अन्त में रसिक मन 'रति रंग' गोया भोग की तरंग में डूबता जाता है।[4] और अति भोग में डूब कर कहता है...

परयौ जोर, विपरीत रति, रूपी सुरत-रन-धीर ।
करति कुलाहल किंकनी, गहयौ मौन मंजीर ।।

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार—नायिका भेद का विस्तार नारी के भोग्या-रूपों का विस्तार ही तो है—रीतिकाव्य के पुरुष को नारी-विशेष की वैयक्तिक सत्ता से प्रेम नहीं था—उसके नारीत्व से प्रेम था।[5] प्रेम में प्राय: विलास की रसिकता और भोग की भावना मिलती है जिसे देव ने नि:संकोच रूप से स्वीकार किया है—

काम अंधकारी जगत लखै न रूप करूप ।
हाथ लिए डोलत फिरै, कामिनि छरी अनूप ।
ताते कामिनि एक ही, कहन सुनन को भेद ।
राधै पागै प्रेम रस, मेटे मन के खेद ।।
रची राम संग भीलनी, जदुपति संग अहीर ।
प्रबल सदा बन बासनी, नवल नागरिन पीर ।
कौन गनै पुर, बन नगर, कामिनि एकै रीति ।
देखत हरै विवेक को, चित्त हरै करि प्रीत ।। (रस विलास)

देव की 'कामिनि' तो देखते ही चित्त हरण करती है, किन्तु पदमाकर, इससे भी भयानक भोग का अतिवादी स्वरूप प्रस्तुत करते हैं, जिसे कि उनके ही शब्दों में देखिए—

गुलगुलीगिलिमें गलीचा है गुनी जन है ।
चांदनी है चिक है चिरागन की माला है ।

---

१. बाढे रति मति अति पढ़ै, जाने सब रस रीति ।
स्वारथ परमारथ लहै, रसिकप्रिया की प्रीत ।।
२. डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल ।
कंपि किसोरी दरसि कै, खरै लजाने लाल ।। (बिहारी बोधनी ६०१)
३. बिहारी बोधनी, दोहा संख्या—२५१ ।
४. तंत्री नाद कवित्त रस सरस राग, रति रंग ।
अनबूड़े बूड़े तरे जे बूड़े सब अंग ।। (बिहारी बोधनी ६४)
५. रीति काव्य की भूमिका, डा. नगेन्द्र, पृष्ठ १६२ ।

कहे 'पदमाकर' त्यों गजक गिजा है, सजी
सेज है, सुराही है, सुरा है और प्याला है ।।
शिशिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हें
जिनके आधीन एते उदित मसाला है।
तानतुक ताला है विनोद के रसाला है,
सुबाला है दुशाला है विलासा चित्रशाला है ।। — (जगद्विनोद)

कवि को उन्मुक्त स्वच्छन्द श्रोता और प्रेरक मिले हैं। राजा-महाराजाओं, सामन्त अमीर-उमरावों ने जी भर कर इन्हें बढ़ावा दिया है, जैसा कि देव के उपर्युक्त उद्धरण से साफ प्रतीत होता है। पद्माकर द्वारा खीचे गए चित्र-शाला का शब्द रूप वास्तविकता का ही प्रतिरूपण करता है। नारी के प्रति प्रायः भोगपरक दृष्टि तो सभी युगों में होती है किन्तु स्वच्छन्द-सामूहिक भोगपरक प्रवृत्ति आदिमता की प्रतीक है या फिर घोर अनैतिकता का सम्बोधन दो सकते हैं। समाज का नारी के प्रति यह सिलसिला समय पाकर ही उभरा है जबकि किसी भी शक्ति ने इसे दबाना नहीं चाहा है। राजशक्तियां स्वयं ही निवीर्य सी हो रही थीं, धर्म, राधा कृष्ण के माध्यम से खुलकर शृंगार और मुक्त शृंगार का हामी हो गया था। काव्य में नारी का जो भोगपरक रूप प्रस्तुत हुआ है तथा अंग-अंग की मांसलता का कवियों ने उन्मेष किया है। इसकी एक विशाल परम्परा पिछले साहित्य में मिलती है। गाथा सप्तसती आर्या सप्तसती, अमरु-कसतक, चौरपंचासिका, गीत-गोविन्द विद्यापति-पदावली, ये सब एक ही खेमे में इसी रूप के सन्दर्भ में केसव, बिहारी, पद्माकर के साथ आ जाते हैं। इन प्रवृत्तियों के लिए जैसा कि महाभारत के उद्धरण सिद्धों आदि के अन्य दृष्टिकोणों से यहाँ परिचय प्रस्तुत हुआ है, आधारभूत रही हैं। इनके लिए मुगलिया भोग भावना उत्तरदायी नहीं होती है, अपितु वास्तविक रूपों में पूर्व संस्कारों को बढ़ावा मिला है। मूर्तिकला में रनकपुर, दिलवारा जैन मंदिर आबू[1], ओसिया, खजुराहों आदि हिन्दू व जैन मन्दिरों में संभोगीय स्थितियों का उद्रेखण सज्जा शिलापट्टियों में है। मंदिर के साथ ये संभोगीय चित्र काम को सापेक्ष गति देते हैं। रनकपुर की भोग लीला अति आचारों में व्यक्त है। रनकपुर आदिनाथ के रंग मण्डप की छत पर ध्यान देने से उसकी चोकोर घेरे की पट्टी पर घोर संभोग के चित्र उद्रेखित हुए हैं। इन चित्रों में एक नारी एक साथ दो पुरुषों की काम तृप्ति करती दिखाई गई है।[2] ओसिया, गोवर्धनधारी कृष्ण के प्रस्तर प्रारूप में गाय-बैल का संभोग दिखाया है[3]। यहां के पार्श्वनाथ मंदिर में संभोगचित्र प्रस्तर पट्टी की तीन पंक्तियों में हैं। प्रथम पंक्ति के मध्य में महावीर स्वामी अवस्थित है तथा दोनों ओर मैथुन-रत-युग्म हैं। मध्य पट्टिका में तरुण-तरुणी-वृन्द नृत्य-रत हैं। निम्न पंक्ति में पुनः संभोगीय आकृतियां है[4]। इसी तरह अन्य दो शिलाओं में मध्य में कोई देवी है तथा दोनों ओर छोरों पर मैथुन-रत-युग्म है[5]। कुछ आकृतियों में नारी की योनि और पुरुष का उन्नत लिंग अधिकांशतः दिखाया गया है[6]। यह चित्रण एक प्रकार से नग्नता के साथ अश्लीलता की सीमा को छूता है। मूर्तियों में स्तनों का प्रदर्शन, योनि और लिंग के अतिरिक्त, मांसल गठन, अश्लील नहीं होता है। मैथुन युग्म एक तरह से विशेष विचारधारा के तत्कालीन प्रभावों का परिणाम है। योनि का बहुतायत से प्रदर्शन रनकपुर के मन्दिरों की ही अश्लील

---

१. नेशनल सर्वे आफ इंडिया फोटो अलबम लायब्रेरी नई दिल्ली, फोटो क्रमांक ११६५:१५५।
२. „ „ फोटो क्रमांक ६१४।५८.........राजस्थान—४।
३. „ „ फोटो क्र. ६८०।५६, राजस्थान—३ ।।
४. ६४५।५८ राज—५, ने. सं. इं. फोटो ला. न. दिल्ली।
५. ६५०, ६५१।५८ राज—५, „ „ ।
६. ६६०, ६६०—ए।५८, राजस्थान—५, नेशनल सर्वे आफ इंडिया फोटो लायब्रेरी, नई दिल्ली।

वस्तु हो सकती है। साहित्य में इतना गहन घोर मांसल व्यापारों के चित्रण का अभाव मिलता है। भक्त कवियों में सूर और तुलसी शील के पक्षपाती रहे हैं। सूर ने राधा और कृष्ण के शृंगार और अठखेलियों रास इत्यादि के वर्णन में, सामाजिकता का ध्यान रखा है। तुलसी तो मर्यादावादी कवि हैं ही।

रीतिकालीन चित्रण में एक नारी का एक समय एक ही पुरुष के साथ संबंधों को व्यक्त किया है। किन्तु इन मंदिरों में एक नारी के साथ, एक ही समय में, योनि गुदा और मुख मैथुन में रत पुरुषों को, रंगमण्डप की छत में चित्रित किया जिन्हें देखकर जिनदत्त सूरि आदि जैनाचार्यों ने जैन मंदिरों में स्त्री और पुरुषों को एक साथ रहने की मनाही की है। यह मनाही अतिशय भोग की प्रतिक्रिया है। इन संदर्भों में यह स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि नारी शिक्षा से वंचित थीं। नारी शिक्षा प्राप्त थी, ऐसा ए.एस. अल्तेकर के उल्लेखों से एवं अन्य ऐतिहासकारों के उल्लेखों से व्यक्त हुआ है[1] अतएव उसे फुसलाया नहीं जा सकता, मंदिरों में उनके आगमन के लिए शक्ति का भी प्रयोग नहीं किया जा सकता है। मंदिरों में उनका आगमन स्वेच्छा से होता था और उस स्वेच्छा में यदि वे स्वच्छंद रति या भोग में प्रवृत्त होती थी तो इसके लिए तत्कालीन शासन व्यवस्था जिम्मेदार नहीं है और न ही इसका दोष देशकालिक भोग परकता के सिर मढ़ा जा सकता है। इस स्थिति के लिए नारी स्वयं अंशतः या उतनी ही जिम्मेदार है। युग बोधों में नैतिकता का मूल्य घटता और बढ़ता रहता है। जहाँ नैतिकता का मूल्य बढ़ जाता है, वहाँ वही सारे कार्य काले बाजारों में चले जाते हैं। हाँ, यह जरूर होता है कि समाज के ऊपर एक रोध का लेबल लग जाता है। कुछ इस्लामी हुकूमतों ने देवपूजा पर प्रतिबंध लगाया—क्या प्रतिबंध लगाने से देवपूजा बंद रही। नहीं रही। भारत सरकार ने वेश्यावृत्ति कानून बनाकर योनि का खुला बाजार बंद कर दिया। इतिहास में एक बार बहुत पहले औरंगजेब के समय में भी यही हुआ था। किन्तु जब खुला बाजार बन्द हो गया, कुट्टनियों और वेश्याओं को विवाह के लिए बाध्य कर दिया, तब भी क्या हुआ, वेश्याओं ने तबलियों, हिजड़ों से शादी की, दलालों की बेटियां बन गई और कार्य उसी तरह यथाक्रम चलता रहा। यह बात अवश्य हुई कि इतिहास के पन्ने पर यह संदर्भ आया कि औरंगजेब ने वेश्यावृत्ति बंद कर दी थी।

काम और उसकी तृप्ति : संतुष्टि आदिम भूख है, और इसे हर समय का समाज पुरुष और नारी दोनों ही जो असंतुष्ट रह जाते है, या जिनकी रमणशील प्रवृत्ति होती है, हर संभव तरीकों से परिशान्त करने की चेष्टा करते हैं। कानून बनते हैं, लेबल लगते हैं, और बीड़ी सिगरेट बाजारों में बिकती है। पीने वाले पीते हैं। विश्व के इतिहास में कोई भी आद्या प्रवृत्ति रोकने से रुकी नहीं है, उसका परिमार्जन हुआ है। इस बंदी के समय में, जिनमें शक्ति और साधन सम्पन्नता, आर्थिकता होती है, उन्हें किसी भी युग में कोई कमी नहीं होती है। वल्लभसंप्रदायियों ने नारी में राधा का रूप देखा, परमात्मा का अंश देखा और उन्हें आत्मा मानकर परमात्मा से अद्वैत संबंध निरूपित किया। आत्मा और परमात्मा गोया भक्त और भगवान् अद्वैत हुए या नहीं यह तो नहीं कहा जा सकता पर इतना अवश्य हुआ कि कृष्ण रूप गोस्वामी, भक्त रूप राधा-सुन्दरी-समूह से अद्वैत हो गए। कृष्ण भक्ति का परकीया भाव नायिका भेद में फिट होकर अर्चन-विलास और भोगलीला से समृद्ध हो गया।[2] उनके विलास के लिए भी इतने साधन एकत्र किए गए कि अवध के नवाब तक को उनसे ईर्ष्या हो गई। कुतुब शाह भी अपने अंतःपुर में उनका अनुसरण करना गर्व की बात समझने लगा। यही दशा माधव, निम्बार्क, चैतन्य, राधावल्लभीय गद्दियों की हुई। देव-भूमियों पर तबलियों की' 'धाकिट धाकिटधा, धिन धिन धूना धा' के साथ नर्तकियों का 'था था थेई थेई थितथित था', था। प्रसाद की लय में 'कंकण क्वणित रणित नूपर' के साथ 'छाती के हार' हिल रहे थे। कुलिश आहों और कराहों में शेष निर्बल समाज डूब रहा था।

१. श्री हर्ष, नैषधचरित अध्याय-६ पृष्ठ १०८,
ए. एस. अल्तेकर, राष्ट्र २८ और उनका समय पृष्ठ १५४. और
आर. सी. मजूमदार संपादित ग्रेट वूमन आफ इंडिया पृष्ठ २९५-९६।

२. डा० नगेन्द्र—रीति काव्य की भूमिका, पृष्ठ १६।

किसान अपने जीवन का सार सबकों बाट रहा था। आर्थिक सम्पन्न हिन्दू और मुसलमान तुलसी की चौपाई और कुरान की आयत समझने में असमर्थ था क्योंकि युग का नैतिक बोध स्वच्छंद हो चुका था। निर्बाध वैभव विलास और भोग में पीढ़ी दर पीढ़ी डूबती जा रही थी। एक बनता और एक मिटता था, शक्ति का व्यूह बादशाह, राजा-महाराजा, सामंत-अमीर उमराव के घर से प्रारंभ होता और वात्या चक्र सा फैल कर, नगर, ग्राम जन-समूह की हनुमान की बिसाल पूँछ की तरह घेरता सा प्रताड़ित करता और आश्चर्य कि कोई उनकी आह या चीख भी सुन लें, वह वास्तव में वहीं रौरव के नक्कार खाने में अहिस्ते से उठती और वहीं विलीन हो जाती।

यह मुक्त भोग रबड़ के तम्बू की तरह सीमा काल में फैलता ही गया। पद्माकर उस अतिरेक के चरम हुए। ये स्थितियाँ चित्रकला में भी उभरी हैं और तत्कालीन राजा-महाराजाओं, सामंत, अमीर उमरावों की मानसिक वासना के तदानुरूप चित्रकारों ने राधाकृष्ण के बहाने, कहीं स्वतंत्र नायक-नायिका के रूप में संभोगीय चित्र रेखाओं में एवं विविध रंगों में प्रस्तुत किए हैं। इस तरह के चित्र प्रायः सभी जगह चित्रित हुए हैं। इनकी अधिकता राजपूत चित्रकला शैली की स्थानीय रूपों की अपेक्षा पहाड़ी राजपूत राजाओं के यहाँ के चित्रकारों की चित्रविधा में अधिक प्रस्तुत हुए हैं और यह कई गुनी अधिक है क्योंकि यह संभोगीय प्रवृत्ति, खुलकर खेलने की छूट नादिरशाह दुर्रानी और अहमद अब्दाली ने तत्कालीन राजशाही को मुफ्त में बकसी थी।

मध्यकालीन युग में भक्ति और रीति की अनेक परम्पराओं का परिचालन हुआ, जिसमें कि केवल कृष्ण के लीला चरित्रों को ही चित्रकला में अधिकता से स्थान मिला। दोनों के आदि स्रोतों में भागवत की मूल भावना रही है। भागवत का स्थान कहीं-कहीं सूर के पदों ने ले लिया है। प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा में, हम्मीरहठ, मालती माधव, सोहनी महिवाल, नलदमयंती, शशिपुन्नाह, लैला मजनू, रूपमती और बाजबहादुर, हीर-रांझा, ढोला-मरवण, भूमलदे-निहालदे, का चित्रण हुआ है। इन काव्य रूपों का आविर्भाव प्राप्त प्रेम कथाएँ ही हैं। इन काव्यों रूपों में व्यक्त प्रेम-कथा, चित्रकारों के चित्रों की प्रेरणा भूमि हुई है। बिहारी सतसई, रसिकप्रिया, कविप्रिया का चित्रण स्वतंत्र रूप से हुआ है तथा फुटकर दोहों को आधार मान कर भी चित्रण हुआ है। इनके अमरूकसतक, गाथा सप्तसती, आर्या सप्तसती, गीतगोविन्द, रस मंजरी, रसतरंगिणी, के पदों का भी सीधा चित्रण हुआ है तथा वे ग्रन्थ रीतिकालीन कवियों की उद्भावनाओं के आदि स्रोत भी हैं, अतएव जो काव्य स्रोत इन कवियों के हैं वे ही इस युग के चित्रकारों के भी हैं। इन आधारों के साथ एक स्थिति यह भी स्पष्ट थी कि तत्कालीन कवि गायक और चित्रकार एक ही स्थान : राजाश्रय पर एकत्र होते थे। इनका आपसी सम्पर्क भी एक दूसरे के लिए प्रेरणा का विषय बना प्रतीत होता है। संगीत का चित्र और काव्य में समान रूप से आयाम है। इस युग की संगीत परम्परा के पण्डित अहोबल थे, इनका संगीत-परिजात, कवियों और कलाकारों की भावभूमि में फिट रहा जिसने कि रागों के पारिवेशिक रूपों को कलाकारों के मन पर यथावत रूप में उभारा। सूरादि के संबंध में सांगीतक वातावरण उल्लेखनीय है। वैसे सूरदास स्वयं संगीत के पण्डित थे।

हिन्दी के मध्यकालीन काव्य में चयित विषय-वस्तु का आधार पौराणिक है। भारतीय साहित्य में धार्मिक महापुरुषों के जीवन वृत्तों को आधार बनाकर प्रबंध काव्य लिखने की प्रवृत्ति की परम्परा प्राचीन काल से ही संस्कृत, प्राकृत, एवं अपभ्रंश के माध्यम से चली आ रही है। इनमें शंकर, राम, कृष्ण, सुदामा, प्रद्युम्न, अर्जुन, प्रहलाद, ध्रुव आदि प्रमुख पात्रों के चरित्रांकन के साथ अनेक पात्रों का चरित्रांकन विभिन्न पहलुओं से होता रहा है। इस प्रवाह के समानान्तर ही बौद्ध और महावीर का चरित्रचित्रण बौद्ध एवं जैन धर्मानुकूल हुआ है। अन्येतर ललितविधा में भी इन आख्यानों एवं चरित्रनायकों को स्थान मिला है। शंकर से संबंधित कथा उनकी अभिव्यक्ति शैव मंदिरों के निर्माण के रूप में हुई है। किराड़ू, केकिंड, ओसिया, मण्डौर, सेवना, सोमनाथ, तलवाड़ा, बाँसवाड़ा, अर्थूना, के शिव मंदिर इसके प्रतीक हैं। यह वास्तुकला की स्थिति है। अटरू में उपलब्ध शिव प्रतिमा का चित्र प्रस्तुत है। मूर्तिकला में शिव पार्वती, अर्धनारीश्वर, तांडवरत शिव, शिव समाधि, शिवनांदी, की मूर्तियाँ उपर्युक्त मंदिरों

में स्वंय खजुराहों में देखी जा सकती हैं। उपर्युक्त स्थानों के ही मंदिरों में ही विष्णु, पार्वती, राम, लक्ष्मण, राधाकृष्णादि के मंदिर तथा विभिन्न रूप मुद्राओं में मूर्तियाँ इन्हीं मंदिरों में प्राप्त होती है। ये समस्त उल्लिखित मंदिर १२वीं १३वीं शताब्दी के पहले के हैं। ऐलोरा बाघ और मदनपुर का वास्तु मूर्ति और चित्र विधा में प्राप्त कार्य भी इसी शीर्षक के अंतर्गत उल्लेलनीय है। बौद्ध धर्मगत प्रारूप, भरहुत, बोधगया, साँची, अजंता, अंशत: बाघ, की ललित विधाओं में प्राप्त होता है। जैन मत के स्वरूप का बोध पालीताना, गिरिनार, पाटन, रनकपुर, सोनागिरि, ग्वालियर-किला, खजुराहों, जैसलमेर आदि के शिल्प वास्तु और काव्यादि से होता है।

मूल कथानकों का चित्रण काव्य और चित्र विधा में समान रूप से भी मिलता है। प्रद्युम्न के आधार पर काव्य रचना सन् १३५४ के लगभग सुधारु कवि कृत है। इस काव्य कृति का चित्रकला से संबंध नहीं है लेकिन चित्रकला में प्रद्युम्न और रति के प्रेम विषयक चित्र उपलब्ध हैं। उषा और अनिरुद्ध का आख्यान सूफी परम्परा में और चित्रविधा में मिलता है। उषा-अनिरुद्ध के चित्र राजपूत चित्रकला शैली की स्थानीय मालवा शैली में मिलते हैं। राजपूत पहाड़ी राज्यों में भी इसे महत्व मिला है। महाभारत का चित्रण, ऐलोरा, रनकपुर के प्रस्तरों से लेकर राजपूत चित्र कला के समय तक उपलब्ध होता है। स्वयं अकबर ने महाभारत की कथा से अविभूत होकर इसका चित्रण कराया था। राजपूत राजाओं ने भी चित्रण कराए हैं। महाभारत के मूल मौलिक प्रसंगों का चित्रण प्राय: सब कहीं मिलता है। रामायण का भित्ति चित्रण सर्वत्र भारत में मिलता है। राजपूतों में रामायण के प्रति बड़ा ही सम्मान रहा है, अतएव उसका चित्रण कराया जाना उनके धर्म का अंग रहा है। प्रहलाद और ध्रुव की कथाओं को भी चित्रित किया है। कृष्ण और उनके साथ जुड़ने वाले मुख्य भावों को आधार बना कर एक लम्बे अरसे तक कवि अपनी लेखनी मांजते रहे हैं। यही स्थिति राम काव्य की है।

काव्य विधा में इस पौराणिक परम्परा का विकास सोलहवीं शताब्दी के मध्य भाग से अत्यन्त द्रुत गति से हुआ है। जिसका कि अनुमान डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त के अनुसार लगभग डेढ़ सौ पौराणिक प्रबन्ध काव्य अब तक उपलब्ध हो चुके हैं जो इस परम्परा में आते हैं।[1] स्थूल रूप से इसका मूलाधार भागवतपुराण, महाभारत और रामायण ही है। इनके मार्मिक अंशों के चित्रण कार्य प्रारम्भ हुआ तो राज्याश्रित, लोकाश्रित और स्वतन्त्र रूप से होता ही चला गया।

मध्यकालीन संत परम्परा निवृत्त मार्गी है। ये सन्त आत्मोन्नति के साथ ही परमात्मा मिलन भाव को साध्य मान कर लोक मंगल की कामना करते हैं। तुलसी दास ने 'संत' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है।[2] किन्तु आधुनिक अर्थ में संत निर्गुणोपासक का बोध प्रकट करता है। भारतीय धर्म साधना और विचारधारा की समन्वित अभिव्यंजना इस परम्परा में उपलब्ध होती है। तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक धारणाओं एवं विश्वासों का अत्याधिक खण्डन एवं अपने मतों का मण्डन सर्वत्र मिलता है। इन्होंने विशेष रूप से नारी के प्रति कटूक्तियोंका प्रयोग कर एक तरह से वासनासिक्त परिवेश में सुधार लाना चाहा है। ईश्वर के प्रति कबीर आदि संतों की निर्गुण भावना रही है अतएव इनके द्वारा प्रतिपाद्य वस्तु के मूर्तिकरण की संभावना नहीं है। तुलसी आदि संत कवि सगुण भक्ति के संदर्भ में आते हैं। इनके आदि स्रोत पिछला साहित्य ही है, सारांशत: तुलसी ने समस्त पिछले साहित्य का सार दोहन किया है।

इस युग के नायिका भेद के चित्रों में केशव की कविप्रिया का अनुसरण चित्रकारों ने अधिक किया है। केसव या उनके परवर्ती रीति निरूपक आचार्यों ने नायक-नायिका भेद के लिए कामशास्त्र के आभारी हैं। नायिका भेद में व्यक्त नायक नायिकाओं के हाव-भाव, आचार-विचार, रीति-नीति तथा विविध चेष्ठा आलिंगन, चुम्बन, नखच्छद,

१. हि० सा० का वैज्ञानिक इ० गणपति चन्द्र गुप्त, पृष्ठ २३१।
२. "संत समागम हरि भजन तुलसी दुर्लभ दोय"।

सुरताधिकार, आदि की सामग्री है। नायिकाओं के चार भेद पद्मनी, चित्रणी, संखनी और हस्तनी का मूलाधार वात्सायन का कामशास्त्र ही है। इसके अनन्तर भरत, धनंजय, विश्वनाथ और भानुदत्त का भी सहारा लिया गया है। वात्सायन के कामसूत्र और इन कवियों के नायिकाभेद की मूल प्ररचना में मौलिक अन्तर यह है कि वात्सायन ने काम सूत्र की रचना वासना की अग्नि को प्रज्ज्वलित करने के लिए नहीं की थी जो कि इस समय में हुई। समय परिवर्तन के साथ कामशास्त्र सम्बन्धी दृष्टिकोण बदलता गया और वह अन्त में आनंद कवि के नायिका भेद की रचना के मूल दोहे में इस तरह प्रस्तुत हुआ—मनुष्य रूप होइ अवतरयो तीन वस्तु को जोग।

द्रव्य उपार्जन, हरिभजन अरु भामनि संग भोग॥[1]

रागमाला के चित्रण के लिए तत्कालीन चित्रकारों ने महापण्डित अहोबल शास्त्री के संगीत परिजात का आश्रय लिया है। बारहमासा, षट-ऋतु के चित्रण में चित्रकारों ने सूर, विद्यापति तथा प्राकृत साहित्य का आश्रय लिया है। अंशतः संगीत पारिजात भी इस विधा में प्रेरणा देता रहा है। युद्धक चित्रों को पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो तथा अन्य ऐतिहासिक पुरुषों के चित्रण तथा मूर्तिकरण में वीर दुर्गादास, अमरसिंह राठोड़, प्रेरणा स्रोत हैं। इन महापुरुषों की अमर गाथाएँ जो काव्य में गाई गईं हैं, उन्हें चित्रकारों ने रूपाकृति में भी प्रस्तुत किया है। कोटा बूंदी व अलवर के शिकारादि के दृश्य तत्कालीन राजशाही प्रवृत्ति के अनुकूल हैं। मुगल कलम में भी शिकार के चित्र हैं। राजकुमारियाँ निशाना लगाती हुई चित्रित की गई हैं। कोटा बूंदी के चित्रों में सांस्कृतिक वातावरण की सृष्टि के लिए रामगढ़, वारोली, किसनविला, झालावाड़ा, चंद्रावती, आदि का पारिवेशिक प्रभाव है। जयपुर शैली में यही रूप सीकर, रैंह, बैरत, आबनेरी रंगमहल के अवशेषों एवं कला कृतियों का अंशता प्रतिरूप देखा जा सकता है। श्री नाथ द्वारा की चित्रकला के मूल स्रोतों में भागवत सूरसागर विशेष उल्लेखनीय है। मालवा की नसीरुद्दीन के समय के चित्रों का आधार स्रोत 'बुस्तान आफ सादी' है।

रीतिकाल में अनेक कवि हुए हैं जिन्हें चित्र-विधा में कोई स्थान नहीं मिला है। केशव, बिहारी या देव केवल अपनी रसिक प्रवृत्ति के कारण चित्रकारों में जाने पहचाने गए। तथा इनके साथ दूसरा सत्य यह भी था कि दरबारों से इनका घनिष्ठ संबंध था। कुछ अन्य कवियों के कुछ पदों का चित्रण है। सूर तुलसी आदि के काव्य के चित्रण के मूल में धार्मिकता है। इससे इतर एक बृहत समूह और वृत्तियां मध्यकालीन साहित्य में अछूती हैं। कबीरादि का साहित्य इसी तरह का है। रीतिकालीन रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि संप्रदाय के कवि और काव्य विकारों की चित्रता से परे रहे हैं। कुछ उद्धरणों को अवश्य किसी किसी ने चयन किया है। भक्ति के चित्रों में, भक्ति काव्य की तरह 'भक्ति द्राविड़ उपजी' जैसा उसका आदि स्रोत नहीं विचारा जा सकता है, केवल यह कहा जा सकता है, कि जो वस्तु पहले मूर्तियों में उपलब्ध होती है, उसी तरह की भावनाओं को व्यक्त करने वाली स्थितियाँ राजपूत कलम की चित्रशैलियों में चित्रित मिलती हैं। संगीत जहाँ चित्रशैलियों में चित्रण के लिये अपनाया गया है, वहाँ साँगीतिक स्थितियों को मूर्ति कला में भी अपनाया गया है। इसका पूर्वाभास कोणार्क के मुख्य मंदिर की मंजीरा वादक नायिका को देखा जा सकता है। बाद के चित्रों में भी (चित्र फलक–२० देखिए) जो वस्तु पहले मूर्ति कला में प्राप्त होती थी, वही चित्रों में हैं। इस तरह के चित्र बहुत कम हैं। हैं भी तो वे नायिका भेद या रागमाला से प्रभावित हैं। उद्धरण के लिए भैरवी रागिनी का चित्र इसी तरह का है। नायिका या कुमारी शिव की आराधना करती है। शिवरात्रि को प्रायः सभी कुमारियाँ पति की प्राप्ति के लिए प्रार्थना व्रत आदि करती है। शिव की पूजा-वरकांक्षा का प्रतीक है। इसी तरह अन्य आराधनाओं के विषय को भी विचारा जा सकता है। राधा और कृष्ण के संदर्भ में वैष्णव मत आदि अंशतः प्रभावित करते हैं। राधा और कृष्ण का साथ-साथ का इतिहास इस युग के लिए अधिक पुराना नही है। गोपियों का स्वकीयत्व

१. नागरी प्रचारणी खोज रिपोर्ट ११।६...।

और परकीयत्व भक्ति के सैद्धान्तिक प्रसंगों में भले ही आध्यात्म परक रहा हो किन्तु कवियों के हाथों वैभव विलास की पात्राएँ और जन-सामाजिकों के लिए चित्रक विधा में भोग्या प्रस्तुत हुई हैं। ऐसे बहुत ही कम चित्र उद्धरणों को एकत्र कर सकेंगे जिनमें राधा-कृष्ण के चित्र भक्ति भाव के प्रेरणा स्रोत हैं, या जिन्हें देख कर व्यक्ति की चित्त स्थिति पूर्वा-पर राग-द्वेषों से मुक्त होकर सत-चित-आनंद में लीन हो जाती है। ऐसा पूर्व कथित रूप प्रस्तुत करने के लिए कृष्ण को पति-रूप में प्राप्त करने के लिए कुमारी गोपियों का कात्ययनी[1] व्रत, रासलीला के प्रसंग में ब्रजांगनाओं को 'कृष्ण-वधू'[2] कहा जाना अपना आध्यात्मिक अर्थ छोड़कर अभिधा में आ गया।

---

१. भागवत १०।२२।२,३—॥

२. " ११।३३।८...॥

अध्याय २

भाव और रस की दृष्टि से राजपूत चित्र-कला और मध्यकालीन हिंदी काव्य की समानान्तरता

भरत मुनि द्वारा कथित 'विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद्रसनिष्पतिः' के अनुसार विभाव, अनुभाव व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पति होती है। इस सूत्र के अतिरिक्त भरतमुनि ने 'नाट्य शास्त्र' के सातवें अध्याय में सात्विक भाव और स्थायी भाव के योग से, तथा उपर्युक्त सूत्र के गुण योग से रस निष्पत्ति संभव बताई है।[1] इस तरह विभाग, अनुभाव, सात्विक भाव, व्यभिचारी भाव और स्थायीभाव रस निष्पत्ति की सामान्य आधार सामग्री है। रस की परिभाषा देते हुए इस मत के साथ डॉ॰ नगेन्द्र का कथन है—'रस आस्वाद नहीं है, आस्वाद्य है, अर्थात् अनुभूति नहीं है अनुभूति का विषय है : नवीन शब्दावली में विषयीगत नहीं है, विषयगत है।[2] स्पष्टतः शब्दावली में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भ वों से सयुक्त एवं वाचिक आंगिक तथा सात्विक अभिनय से व्यंजित स्थायीभावही रस है। इस मत के विषयीगत व्याख्या आचार्यों में आनंदवन के मत को स्पष्ट करते हुए डॉ॰ नगेन्द्र प्रस्तुत करते हैं—'रस का अर्थ है आनन्द' और आनन्द विषयगत न होकर आत्मगत ही होता है : विषय तो आत्म परामर्श या आत्मास्वाद का माध्यम मात्र है जिसके द्वारा प्रमाता संविद् विश्रान्ति लाभ करता है। यह संविद् विश्रान्ति ही आनन्द है। अतः रस नाट्यगत नहीं हो सकता। नाट्य तो संविद् विश्रान्ति रूप रस का माध्यम मात्र ही हो सकता है।[3] रस का संबंध 'सौन्दर्य' से है। सौन्दर्य विषय परक है, या विषयीपरक है इसका विवाद एक लम्बे अर्से तक काव्यशास्त्रियों का विषय रहा है। इस संदर्भ को काव्य और चित्रकला की सामानान्तरताओं को स्पष्ट करते हुए, इस शोध प्रबंध में चर्चा का विषय रहा है।

चित्र या मूर्ति कला एक ऐसी संविधा है जिसका विस्तार क्षेत्र सीमित होता है। चित्र या मूर्ति के प्रेक्षण से प्रेक्षक रस ग्रहण करता है। रस वस्तु से निसृत है या व्यक्ति से विचारणीय है। डॉ॰ नगेन्द्र का भी आस्वाद और आस्वाद्य के माध्यम से भरत मुनि के अनुसार ही कथन है कि रस आस्वादः विषयीगत नहीं है अपितु आस्वाद्य है : विषयगत है अर्थात् वस्तु में है। प्रेक्षक उसका आस्वादक है : अनुभूत कर्त्ता है। इस तरह चित्र का प्रेक्षक, चित्र से रसानुभूतकर्त्ता हुआ। यदि इसके दूसरे पक्ष को घटित करते हैं तो इसका सामान्य अर्थ यही हुआ कि रस की प्रतीति आनन्दवत् है और आनन्द वस्तु गत न होकर व्यक्तिगत होता है। अर्थात् रस की स्थिति आनन्दस्वरूप प्रेक्षक में है। चित्रकला और काव्यकला का मूल सामानाधिकरणकर्त्ता सौन्दर्य है। वस्तुतः सौन्दर्य वस्तु और व्यक्ति के मध्य दो मेगनेट के बीच की स्थिति में व्याख्यापेक्षी हो गया। कभी यह कहकर संतोष कर लिया कि सौन्दर्य वस्तु और व्यक्ति के केवल एक पक्ष में नहीं हैं, वह न्यूनाधिक स्वरूप या परिमाण दोनों के मध्य में है। डॉ॰ नगेन्द्र ने रस स्वरूप के द्विविध रूप, १—विषयगत अर्थात् भाव की कलात्मक अभिव्यंजना भावमूलक काव्य सौन्दर्य, २—विषयगत अर्थात् उक्त काव्य सौन्दर्य का आस्वाद देकर, अंततः रस का आस्वाद अनिवार्यतः आनन्दरूप सिद्ध किया है। अरस्तू का काव्यशास्त्र की भूमिका में डॉ॰ नगेन्द्र ने कला सौन्दर्य और आनंद को एक ही पंक्ति में रखा है। इनके अनुसार कलावादी या सौंदर्यवादी आलोचक मूलतः आदनंवादी ही थे।[4]

अभी तक भारतीय काव्य शास्त्र में 'रस' आदि का शास्त्रीय विवेचन काव्य के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत हुआ है। काव्य की आत्मा के निर्णायक अधिकांश विद्वान् आचार्यों ने रस को माना और रस का विवेचन, विश्लेषण किया।

---

१. नाट्य शास्त्र—चौखम्बा सीरीज, पृष्ठ-८० ।

२. रस सिद्धांत—डॉ॰ नगेन्द्र, पृष्ठ ७६-८० ।

३. „ „ „ पृष्ठ-८१,

४. अरस्तु का काव्य शास्त्र—डॉ॰ नगेन्द्र, पृष्ठ ५०-५१ ।

भरत मुनि की चेतना नाट्य को आधार मान कर चली है। भट्लोलट्ट अनुकार्य नट में प्रतीयमान मानकर पुष्टि करते हैं जिसका खण्डन शंकुक और भट्टनायक ने किया। शंकुक का अनुमान प्रमाण अश्व-चित्र के पूर्व बोध में सामान्य ज्ञान के आधार पर टिक गया जिसे भट्टतौत ने अवास्तविक ठहराकर खण्डित किया। किन्तु इस पर भी शंकुक का चित्रकार को दिया हुआ श्रेय रूप रहा क्योंकि ऐतिहासिक पात्रों में वास्तविक प्राण स्पंदन असम्भव है। भट्टनायक ने विषय और वस्तु को महत्त्व देकर साधारणीकरण को प्रतिपादित किया जो कि रसोद्रेक की एक महत्वपूर्ण स्थिति है। अभिनव ने उसको प्रेक्षक गत मानकर अनुभूतिगम्य सिद्ध किया। वेदान्त धर्मी पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रसौ वै सः' श्रुति के आधार पर रस की चिदात्मकता की व्याख्या के साथ अन्तर्भूत किया। रस के स्वरूप और प्रतीति का अन्ततः सारांश डॉ. नगेन्द्र ने रस सिद्धान्त में प्रस्तुत किया। प्रायः सभी आचार्यों ने शंकुक और रामचंद शुक्ल[1] को छोड़कर, केवल काव्य साहित्य की चर्चा परिचर्चा रस के सन्दर्भ में की है। कला की सौन्दर्यमूलक व्याख्या पाश्चात्य आचार्यों ने प्रस्तुत की है तथा चित्र जैसी विद्या को संगीत, वास्तु, मूर्तिकला के साथ ही स्थान दिया। रस की प्रतीति और स्वरूप के सिलसिले में विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव, व्यभिचारीभाव, स्थायी भाव पर काव्य के साथ ही चित्रविद्या के संदर्भ में भी विचारणीय है।

नाट्यशास्त्र में वाचिक आंगिक तथा सात्विक अभिनय के सहारे चित्तवृत्तियों का विशेष रूप से ज्ञान कराने वाले हेतु विभाव कहलाते हैं।[2] चित्र में वाचिक धर्म का सर्वथा अभाव होता है। आंगिक तथा सात्विक प्रेक्षणीय होते हैं जो कि प्रस्तुत मूल वृत्ति का द्योतन अथवा बोध प्रेक्षक तक संप्रेषित करते हैं। ये आंगिक और सात्विक धर्म, चित्र-गत मूलभाव और सहायक भावों का आभास देने में मुख्य सहायक हैं। साहित्यिक शब्दावली में स्थायी एवं व्यभिचारी भावों को अथवा रस का आभास कराने के कारण विभाव कहते हैं। वस्तुतः आंगिक और सात्विक विभाव 'मूल रस या भाव को जागृत कर प्रेक्षक, पाठक और श्रोता के लिए अनुभूतिगम्य स्वरूप प्रदान करते हैं। विभाव-भेद में आलंबन और उद्दीपन हैं। आलम्बन के भी दो रूप विषय और आश्रय गत हो जाते हैं। मूल रस का अधिक आधार विषय या आश्रय में होने से ही इनके दो रूप हुए हैं। शारदातनय के (भाव प्रकाशनम् अनुसार आलंबन विभाव ही वास्तविक रस भूमि है।[3] इसमें रस वैभिन्न के अनुसार ही आलम्बन होते हैं। शृंगार रस के आलम्बन मधुर, सुकुमार तथा रूप यौवन सम्पन्न किशोरियाँ कुमारियाँ तथा तरुण होते हैं, इसी तरह अन्य रसों के रसानुसार होते हैं। उद्दीपन विभाव में मूल रस के अनुकूल प्रेरक प्रस्तुत तत्त्व आते हैं।

अनुभाव सहृदय को मूल-भाव विशेब कटाक्ष भुजक्षेपादि अनुभाव स्वरूपों से साक्षात्कार कराती है। अनुभावों को भानुदत्त ने कायिक, मानसिक आहार्य तथा सात्विक की संज्ञा देकर चार भेद प्रस्तुत किये हैं।[4] कायिक अनुभाव के अन्तर्गत लीला, विलास, विच्छिति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायति, कुट्टमित, विव्वोक, ललित, विहृत है। मानसिक अनुभाव के अन्तर्गत भाव, हाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति माधुर्य, प्रागल्भ, धैर्य, औदार्य है। आहार्य अनुभाव बाचिक

१. आचार्य शुक्ल के प्रत्यक्ष और स्मृत रूप-विधान के द्वारा जागरित अनुभूति रसकोटि में लेने से रसक्षेत्र में वास्तु मूर्ति चित्र नृत्य संगीतादि रसधारित समीक्षा के अंतर्गत आ जाती है। रस मीमान्सा, पृष्ठ २६०।

२. विभावः कारणं निमितं हेतुरिति पर्यायाः। विभाव्यतेनेन वागंगस त्वामिनय इति विभावः। यथा विभावितं विज्ञात-सित अर्थान्तरम्।

हवो अर्था विभाव्यन्ते वागंगामिनयश्रिया।

अनेन यस्मात् तेनायं बिभाव इति संज्ञितः॥

३. "अत्रैवाम्बना भावाः कथयन्ते रसभूमयः।" भावप्रकाशनम्, पृष्ठ-५।

४. भानुदत्त—रस तरंगणी, पृष्ठ-४१।

होने हैं। इसमें आलाप, विलाप, संलाप, अनुलाप, अपलाप, संदेश, अतिदेश, निर्देश, उपदेश, अपदेश, इनको चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला तथा नृत्यकला में स्थान नहीं मिलता है। हाव की स्थिति सामान्यतया नायिका की रमणीयता, चित्ताकर्षकता का प्रस्तुतीकरण है। सात्विक अनुभाव जिसकी गणना विभाव के अन्तर्गत भी गई है। इसमें स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वर-भंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय की गणना है। इनको भारत के नाट्यशास्त्र में, दशरूपक, प्रतापरुद्रीयम् तथा रसप्रदीपका के इन आठ भावों को पृथक् रूप से सात्विक संज्ञा दी है।[1] डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित के अनुसार इन सात्विकों की गणना अनुभावों के ही अन्तर्गत की है।[2] इन आठ सात्विक अनुभावों में केवल स्तंभ, वैवर्ण्य, अश्रु, चित्र विधा में प्रस्तुत हुए हैं।

व्यभिचारी भाव को संचारीभाव भी संबोधन दिया जाता है। ये भाव मूलभाव या स्थायी भाव को दीप्ति करते हैं तथा उन्हें रस दशा तक पहुँचाते हैं। इनकी संख्या ३३ क्रमशः इस तरह है : निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, अलस्य, दैन्य चिन्ता, मोह, स्मृति, कृति, व्रीड़ा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, सुप्ति, अपस्मार, विबोध, अमर्ष अवहित्था, उग्रता, मति, वितर्क, व्याधि, उन्माद, त्रास तथा मरण। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सुखात्मक, दुखात्मक, उभयात्मक और उदासीन चार मानों में विभक्त किया है।

चित्रकला में मूल स्थायीभाव के साथ संचारियों का चित्रण बहुत कम हुआ है, क्योंकि अल्पकालिक होने से महत्ता कम है। चित्रकला में क्षणमात्र का स्थिर चित्रण होता है। घटना या कथा का सर्वोत्तम मार्मिक कथांश का बोध स्वयं देता हुआ क्षण चित्रण के लिए चुन लिया जाता है। गतिमय चित्रणों में संचारियों के चित्रण का योग है। संचारी भाव, मूलभाव की ओर इंगित करते हैं। संचारियों का चित्र में आयाम नैपुण्य का द्योतक है। प्रारम्भिक कला एवं आधुनिक चित्रकला में संचारियों का अभाव है। मध्यकालीन मूर्तिकला और चित्रकला दोनों में संचारियों का रूप मुखर हुआ है। राजपूत चित्रकला शैली के लघु-चित्रों में संचारी चित्रण व्यापक रूप से हुआ है। रीतिकाल के कवियों ने संचारी भावों के अनन्त उद्धरणों से रीतिकाल की कविता को सजाया है, उसी तरह चित्रकारों ने भी। सूरदास के विविध पदों का गत्यात्मक चित्रण अनेक बिम्बों के साथ एक ही लघु-पृष्ठ भूमि पर हुआ है।[3] नीचे सन्दर्भ में दिए हुए चित्र में यह स्थिति गौर से देखी जा सकती है। इसमें सूर का पद भी चित्रित-पृष्ठ-भूमि के उपरली सीमा बन्ध के नीचे लिखा हुआ है। इस चित्र की विशेषता यही है कि यह चित्रण वर्णित सभी दशाओं के साथ अनुभाव, विभाव और संचारियों के साथ मूल स्थायी भाव की स्थिति में पहुँचता हुआ प्रस्तुत हुआ है। उदयपुर संग्रहालय की वस्त्र विहीन मां बेटे की मूर्ति एक साथ लज्जा, चिन्ता और मोह की प्रतीक है।[4] अजमेर संग्रहालय में उपलब्ध यशोदा और कृष्ण की मूर्ति है। यशोदा बाल स्वरूप कृष्ण को पलंग पर लेटी हुई दुग्धपान करा रही है।[5] इस प्रस्तुति में हर्ष और सन्तोष सहज परिलक्षित होता है।

मूल भाव या संचारी भाव प्रत्येक रस के अनुसार है, जैसे श्रृङ्गार का रत्यादि। यह प्रत्येक रस के साथ प्रायः एक ही होता है। रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय हैं। चित्रकला के भी नव रस होते हैं।

---

१. रस सिद्धांत-स्वरूप—विश्लेषण, डॉ० आनंद प्रकाश दीक्षित, पृष्ठ—
२. रस सिद्धान्त स्वरूप विश्लेषण, डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित, पृ० ३५।
३. राजपूत पेन्टिंग—चार्ल्स टेरी, पृष्ठ-२७
४. उदयपुर संग्रहालय, २२६६। ३२, ने. स. ई. को. ला. न. दि.।
५. १४३५।६४ फो. अलबम नं., नेशनल सर्वे ऑफ इंडिया, नई दिल्ली।

विष्णुधर्मोतर पुराण में इनका उल्लेख है।[1] अतएव ये स्थायीभाव चित्रकला का भावन करने में मूल रूप से प्रेक्षक में रहते हैं। इसकी गणना मूल भावों में या स्थायी भावों में होती है। इस सम्बोधन का कारण यह है कि ये ही भाव बहुलता से प्रतीत होते हैं और यही आस्वाद के मूल में हैं। साहित्य दर्पणकार के अनुसार इन स्थायी भावों में यह शक्ति होती है कि ये दूसरे भावों को अपने में पचा लेते हैं।[2] अभिनवगुप्त के अनुसार स्थायीभाव मूलभूत और सहजात हैं।[3] स्थायी-भाव, विभाव, अनुभाव और संचारियों से पुष्ट होकर रसदशा तक पहुँचता है। स्थायीभाव वासनात्मक होकर चित्त में चिरकाल तक अचंचल रहता है। शृंगार का मूल स्थायी भाव रति है। प्रेम, प्रीति, अनुराग, इसकी अन्य संज्ञाएं हैं। हास्य रस का स्थायी भाव हास है। विकृत वचन, कार्य, रूप रचना से सहृदय के मन में उल्लास उत्पन्न होता है। करुण रस का स्थायी भाव शोक है। इसका प्रादुर्भाव वियोग, विभवनाश, आदि से चित्तोतपन्न विकलता से है। रौद्र रस का स्थायीभाव क्रोध है। इसका मूल प्रेरक असाधारण अपराध, विवाद, उत्तेजना पूर्ण अपमान से उत्पन्न होता है। वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है। इसमें कार्य करने का अभिनिवेश, आदि के प्रदर्शन की प्रबल इच्छा ही आधार है। भय भयानक रस का स्थायी भाव है। हिंसक जीवों का दर्शन, महापराध, प्रबल के साथ विरोध आदि इसके आविर्भावक हैं। घृणा, निर्लज्जता आदि से मन हृदय आदि से उत्पन्न जुगुप्सा-वीभत्स का स्थायी भाव है। आश्चर्य अद्‌भुत रस का स्थायी भाव है। वैराग्य तत्त्व ज्ञान से जन्य निर्वेद, शान्त रस का मूल भाव है। आधुनिक युग में सूर की भक्ति के आधार पर वात्सल्य और भक्ति रसों को, सूर और तुलसी के साहित्य को देखते हुए, जोड़ दिया है। वात्सल्य रस का स्थायीभाव वात्सल्य ही माना है। अभिनवगुप्त ने स्थायीभावों को वासना, संवित् (वृत्ति) और चित्तवृत्ति की संज्ञा दी है।[4]

सामान्य जीवन में सहृदय प्रेम, हास, करुण, शोक, क्रोध, घृणा, उत्साह, आदि भावों का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। तथा इनकी ही अनुभूति काव्य साहित्य के पाठक, प्रेक्षक और श्रोता को होती है। काव्य के समानान्तर क्या सहृदय को इसी तरह की अनुभूति चित्र के दर्शन : प्रेक्षण से होती है? सहृदय काव्य साहित्य के भावन में रसमग्न होता है। इस सन्दर्भ में रामदहिन मिश्र का कथन है कि किसी कलापूर्ण मूर्ति या चित्र को देखकर हम उसके रूप पर मुग्ध हो सकते हैं, किन्तु साधारणतः भाव मग्न नहीं होते। भाव मग्न तो हम तभी हो सकते हैं, जब उसके रसोद्रेक हो।[5] चित्रों के अवलोकन से रसोद्रेक होता है। यह पिछले पृष्ठों पर विष्णुधर्मोत्तर का उद्धरण दिया है। रसोद्रेक सभी कलारूपों से होता है। वस्तुः सहृदय भाव मग्न होकर रस मग्न नहीं होता अपितु डॉ० नगेन्द्र की शब्दावली में वस्तुगत सौन्दर्य और प्रेक्षक, सहृदयगत भाव की कलात्मक अभिव्यंजना, रसोद्रेक के मूलाधार हैं। कला, सौन्दर्य और आनन्द एक बिम्ब के तीन कोण हैं। सौन्दर्य के क्षेत्र में मूर्त और अमूर्त का किसी तरह का भेद नहीं रहता क्योंकि जो तत्त्व अमूर्त है वह सहृदय को सौन्दर्य बोध प्रदान करने में असमर्थ होगा। अमूर्त से अमूर्त भावों का समानान्तर परावर्तन मूर्त स्वरूपों के माध्यम से प्रस्तुत होकर सहृदय तक संप्रेषित होता है।

---

१. शृंगारहास्यकरुणाः रौद्र वीर भयानकाः।
वीभत्साभुतद्‌शान्ताख्याः नवचित्ररसाः स्मृताः ॥ ४३ ॥ १ ॥ विष्णुधर्मोत्तर पुराण।

२. अवरुद्धा विरुद्धावायंतिरोधात्रमक्षमाः।
आस्वाद तुंरकन्दा असौ भाव स्थायीति संज्ञितः॥ साहित्य दर्पण ॥

३. नाट्यशास्त्र—गायकवाड़ संस्करण, पृष्ठ २८३, २८४, २८५।

४. नहिं एतच्चिवृत्तिवासना शून्यः प्राणी भवति।
केवलं काचित् क्वाचिदथिका वृत्तिः काचिदन ॥ (नाट्यशास्त्र)

५. काव्यदर्पण—राम दहिन मिश्र, पृष्ठ-६२२।

चित्र विधा में रसोद्रेक और रस की स्थिति के साथ ही रस सामग्री विचारणीय है। प्रथमतः तुलसी के राम चरितमानस का उद्धरण का अनुशीलन इस तरह हो सकता है—उद्धरण इस तरह है······

भाखे लखन कुटिल भई भौंहे, रदपुट फरकट नयन रिसौंहें।
रघुवंसिन मंह जंह कोई होई, तेई समाज अस कहहि न कोई॥

मान लीजिए यदि चित्रकार इस प्रसंग को चित्रित करता है, तो वह इस प्रसंग के मूल रस की स्थिति का आधार लक्ष्मण को केन्द्र मानकर पृष्ठ विधा की संरचना करता। लक्ष्मण की आकृति को सभी आकृतियों की अपेक्षा महत्ता दी जाती। चित्र में वाचिक धर्म नहीं होता है अतएव विभावांतर्गत लक्ष्मण आलंबन या रौद्र रस के आश्रय होंगे। लक्ष्मण की दृष्टि से सापेक्ष दर्शी चित्र भूमि में द्वितीय महत्व प्राप्त परसुराम की आकृति होगी। जिसे कि उद्दीपन विभाव के रूप में कहेंगे। लक्ष्मण का कथन 'भाखे लखन' चित्रण के लिए चित्रकार लक्ष्मण की मुद्रा का आश्रय लेकर समस्त सभा का ध्यान लक्ष्मण की ओर नेत्र और मुंह का दृष्टिकोण और झुकाव को इस तरह से चित्रित करेगा जैसे सभी लक्ष्मण की ओर देख रहे हैं। गोया सभी के दृष्टि बिन्दु लक्ष्मण से जुड़ेंगे। दूसरा आशय यही होगा कि लक्ष्मण सभासदों के बीच कुछ कह रहे हैं। भौंहों की कुटिलता, कायिक अनुभाव के अन्तर्गत चित्रित होंगे। नाक के रदपुटों का फरकना चित्र में नहीं दिखाया जा सकता है। इसके लिए कभी-कभी चित्रकार रंग का सहारा लेता है। इसमें लाल रंग, क्रोध रौद्र आदि स्थिति का वाचक भी है अतएव रदपुटों की लालिमा इसकी सूचक हो सकती है। इसी तरह नेत्रों का 'रिसौंहें' चित्रण लाल रंग की लाली का परिवेश गर्व और उग्रता संचारी का सूचक है। सात्विक भाव फरकना का चित्रण भी रंग के माध्यम से होगा। लक्ष्मण के हाथ का इंगित, परसुराम की ओर संकेत करते हुए गर्व का सूचक है। राम वशिष्ठ आदि मौन रूप से सभासद की तरह बैठे होंगे। लक्ष्मण और राम के साथ धनुषबाण होंगे जो कि उनके सम्बन्धों के सूचक हैं। सभासद अवाक् होकर लक्ष्मण को देख रहे होंगे। इसके साथ ही परसुराम फरसा, डण्ड-कमण्डल लिए दाढ़ी बढ़ाए, यज्ञोपवीत धारण किए, मुनि वेश में चित्रित किए गए होंगे। सभा के एक ओर अनेक नृपतियों का समूह होगा। उन्हीं के बीच राजा जनक भी बैठे स्थिति का अनुमान अल्पचकितावस्था में करते प्रतीत हो रहे होंगे। इसके साथ ही मण्डप, मंच, शिव का धनुष, यज्ञ-कुण्ड, केलिवृक्ष, तोरण, द्वार, गवाक्ष, भित्ति, अट्टालिकाएँ, भवन, शीर्षमण्डप, ध्वज आदि जनक के सीय स्वयंबर के परिवेशिक प्रतीक होंगे। इसमें मूलः स्थायी रस, परसुराम और उनके आहार्य रूप फरसादि से उद्दीप्त लक्ष्मण की कुटिल भौंहें, रक्ताभ नेत्र से संचरित परिवेश से पूर्ण पुष्ट होकर मूलाकृति, लक्ष्मण में स्थायी भाव में पुष्ट होकर रौद्ररस की निष्पत्ति अथवा प्रेक्षक को रौद्ररस की अनुभूति होगी।

दूसरा उदाहरण—

सटपटाति सी ससि मुखी मुख घूंघट पटु ढांकि।
पावक-झर सी झमकि कै गई झरोखा झांकि॥

यह बिहारी का नायिका का चित्रण है। इसमें नायिका किसी नवागत पुरुष को जो कि डयोढी में बैठा है, झरोखे के द्वार से, हल्का घूंघट खोल, नवागत को देख, एकदम घूंघट डालकर, हवा के झोंके की तरह भाग जाती है, पर, नवागत नायक, नायिका की इस क्रीड़ा को देख लेता है। नायक या नवागत न भी देखता होगा, तो क्या हुआ, बिहारी तो देखते थे। अतः बिहारी ने सर्वप्रथम नायिका के मुख की ब्रीड़ा को ध्यान में रखा। बहुधा स्त्रियाँ पुरुष को देखकर लजा जाती हैं। यह ब्रीड़ा संचारी भाव कहलाता है। नायिका का एक हाथ से घूंघट को बंद करने की क्रिया, नेत्रों का नत दृष्टिकोण लज्जा-ब्रीड़ा का प्रतीक, तथा मुख पर पीत सरोज आभा उसके मन के भावों के प्रतीक में प्रस्तुत होगी। झरोखा में से पीछे हटती हुई। अनुभाव से, ब्रीड़ा संचारी भाव से उदीप्त नायिका के मुख की अंशतः लालिमा तथा घूंघट को ढाँकना, कायिक और आहार्य अनुभाव से जागृत होकर रति-शृंगार का स्थायी भाव पुष्ट होकर शृंगार रस की निष्पत्ति करता है। गोया प्रेक्षक में शृंगार रस के स्थायीभाव रति की अनुभूति होती है।

प्रसाद का पद है

सिन्धु सेज पर धरा वधू तनिक संकुचित बैठी सी,
प्रलय निशा की हलचल स्मृति से मान किए ऐठीं सी।

इसमें पृथ्वी का मानवीकरण है। प्रलय के उपरांत धरा का जल-मुक्त दृश्य का, पहली रात के बाद के सुबह की दुल्हन की उत्प्रेक्षा के माध्यम से प्रस्तुत किया है इसमें पृथ्वी, वधु, प्रलय-बीती रात, के रूप हैं। प्रलय अपने आप में एक महान और भयानक संहार वाली घटना है। जबकि पहली रात भयानक, सुहावनी, बहुप्रतीक्षित घटना है। प्रथम स्थिति की आकांक्षा प्रायः सामान्य सहृदय नारी पुरुष करते हैं। किन्तु यहाँ निर्वेद जन्य शान्ति दोनों के मूल में है। अतएव रस दशा में एक होने के कारण यह चित्र सहज ही प्रस्तुत हो सकता है।

आधुनिक छायावादी युग की कवियित्री महादेवी वर्मा ने कविताओं के साथ उनका भाव और रस मय चित्रण भी यामा में प्रस्तुत किया है। महादेवी के विचार से वास्तु मूर्ति चित्र नृत्य संगीत की अपेक्षा काव्य ज्ञान का पोषक है, पुष्टिकर्ता है और यही कारण काल के विस्तार के मूल में है। महादेवी का कथन है "काव्य में कला का उत्कर्ष एक ऐसे बिन्दु तक पहुँच गया है जहाँ से वह ज्ञान को सहायता दे सका।" जीवन की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में स्वीकार करती हुई महादेवी का कथन है "कि सत्य पर जीवन का सुन्दर ताना-बाना बुनने के लिए कला सृष्टि ने स्थूल-सूक्ष्म सभी विषयों को अपना उपकरण बनाया। वह पाषाण की कठोर स्थूलता से, रंग-रेखाओं की निश्चित सीमा, उससे ध्वनि की क्षणिक स्थिति और तब शब्द की सूक्ष्म व्यापकता तक पहुँची-अथवा किसी और क्रम से यह जान लेना। महादेवी के अनुसार बहुत सहज नहीं है।[1] माध्यम में स्थूल सूक्ष्म की दृष्टि से चित्रकला की बीच की स्थिति है। महादेवी के दीपशिखा के चित्रों में यत्र तत्र मूर्तियों की झलक भी मिलती है जो कि गीत गत सांस्कृतिक पहलुओं को, उभारती हैं एवं मनःस्थित्तियों के विश्लेषण में पुष्टि प्रदान करती है। गीतों और चित्रों में अभिव्यक्त भावों के संदर्भ में महादेवी की आत्म-स्वीकारोक्ति दोनों को एक ही स्तर पर रखती है। स्वीकारोक्ति इस तरह है—मेरे गीत और चित्र दोनों के मूल में एक ही भाव रहना जितना अनिवार्य है उनकी अभिव्यक्तियों में अंतर उतना ही स्वाभाविक है। गीत में विविध रूप, रंग, भाव ध्वनि एकत्र हैं पर चित्रों में इन सबके लिए स्थान नहीं रहता।[2] इसका उत्तर यही है कि महादेवी वर्मा वस्तुतः चित्रकार नहीं है, वह कवि है और एक कवि की आवश्यक सामग्री का सचयन उनके बुद्धि भण्डार में हुआ है, एक चित्रकार की सामग्री, संचयन और उसकी अभिव्यक्ति गत विधा से वस्तुतः बहुत दूर है। जीवन के आधे मोड़ पर आकर महादेवी ने चित्रकला का शौकिया रूप में विस्तार किया है। महादेवी ने एक गीत के ऊपर एक ही चित्र प्रस्तुत किया है और कोशिश यह की है कि उस एक गीत में व्यक्त समस्त भावों का प्रतिबिम्ब एक ही चित्र में व्यक्त हो जाए। जबकि चित्र केवल एक ही क्षण मात्र का द्योतन करता है। पूर्वापर स्थितियों का प्रगटीकरण जैसा कि अभी लक्ष्मण परसुराम के संवाद में 'भाखे लखन' आदि के प्रसंग में व्यक्त किया है, की तरह से चित्र विधा में प्रस्तुत किया जाता है। चित्र विधा में चित्र अनेक रूपों से तैयार होते हैं। साहित्य में महाकाव्य, खण्डकाव्य, उपन्यास, नाटक, कविता, कहानी आदि अनेक विधाएँ अभिव्यक्त के माध्यम के रूप में अपनाई गई हैं। इसी तरह चित्र विधा में ऐतिहासिक चित्र, पौराणिक चित्र, कथात्मक चित्र, पारिवेशिक चित्र, स्वतन्त्र चित्र, आकृतिपरक पटचित्र कथाचित्र, भित्ति-चित्र, गत्यात्मक चित्र, रोमानी चित्र आदि कथातत्व के आधार पर वर्गीकृत है। एक चित्र के निर्माण में चित्रकार को एक प्रबन्धकर्ता की तरह पूर्वापर चित्रविधा, आकृति की संरचना, जगह का विभाजन,

---

१. दीपशिखा—महादेवी वर्मा पृष्ठ-११। छठा संस्करण।
२. ,, ,, ,, पृष्ठ ६०। छठा संस्करण।

रंगों का चुनाव, वस्त्र सज्जा, वास्तु सज्जा, रूप का वर्गीकरण, तात्कालिक चित्र-परक स्थितियों का प्रभाव आदि पर चिंतन और मनन के साथ संरचना प्रस्तुत होती है। तभी वह चित्र कला की श्रेणी तक पहुँचता है। अन्यथा साधारण नारी की आकृति बनाकर शेरबीड़ी का लेबल बन जाता है जो कि हर चौराहे पर अपनी ताकीत आप ही देता है। नाथद्वारे की गली गली में, बम्बई में मुहल्ले मुहल्ले में सिद्धहस्त व्यक्ति-चित्रक है, पर वास्तव में पूछ कृष्णन (ग्वालियर का व्यक्ति-चित्र में सिद्धहस्त कलाकार) की ही होती है तथा रंग मेल में सतीश गुजराल ही पूछा जाता है। जगह विभाजन में एन. एस. बेन्द्रे की ही महता आधुनिक कलाकारों में है, इसी तरह आकृतियों के संयोजन में एम. एफ. हुसैन को ही सम्मान प्राप्त है। काव्य साहित्य में चाँद को भौंकने वाला कुत्ता कहने वाला, स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद नहीं बन सकता अतएव यह ध्यान में रखने वाली स्थिति है कि माननीय महादेवी जी कवि हैं, कलाकार या चित्रकार नहीं, उनकी कविता में चित्रक बोध और परिवेक्षण है।[1]

किन्तु काव्य में व्याप्त चित्रक बोध महादेवी को चित्रकार की श्रेणी पर लाकर खड़ा नहीं कर सकता और न उनकी अनुभूति पत्थर की लकीर की तरह पूज्यनीय माननीय है। महादेवी के चित्रों पर विचार करें तो सामान्य रूप से यही कहेंगें बिहारी आदि के समान महादेवी जी भी चित्र विधा से परिचित हैं। यह भी कहेंगे कि बिहारी से एक कदम आगे बढ़कर, एक हाथ में ब्रुश और दूसरे में रंगपात्र लेकर, चित्र विधा का दीपशिखा की पृष्ठभूमि पर स्वागत किया है। महादेवी कृत चित्रों का महत्व केवल इतना है कि एक कवयित्री ने, अपनी काव्यमयी भावनाओं को रग रूप देने का प्रयास किया है। इसके माध्यम से काव्य और चित्रकला की समान भूमियों का द्योतन भो होता है।

महादेवी की निसीथिनी[2] 'जाग जाग सुकेशनी री' गीत के मध्य चित्रित और प्रस्तुत है। चित्र का प्रारूप अति कल्पना के साथ, बालक को गोद में लिए, आँख बंद किए, बादलों में बाल बिखराए अर्ध चन्द्र अलकों में धारण किए तारों की पुष्प माल केश राशि में लुंज-पुन्ज कुन्द कमलों के गुच्छे बालों से उलझे, बादल राशि से आवृत, अर्ध अधो भाग, भारी नीला से हल्के नीला तक चित्रित है। इस निशीथिनी नाम धारित चित्र में, गीत-गत मंद-प्रभ दीपक और गोदी का बालक, एक दूसरे की विधा में बाधक हैं। प्रतीक के रूप में बालक का दीपक का रूप माना जा सकता है किन्तु दोनों ही एक दूसरे के सहायक नहीं बन पाए हैं। इसी तरह का इनका तूफान का चित्र है। गीत में वस्तु और रूपों की भीड़ लग जाती है, जिसका कि चित्र पालन करने में समर्थ नहीं होता, अतएव यह होता, है कि रूप स्वतः छूटते ही चले जाते हैं। महादेवी जी ने स्वयं स्वीकार करते हुए कहा है कि मेरी रंगीन कल्पना के जो रंग शब्दों में न समाकर छलक पड़े या जिनकी अभिव्यक्ति मुझे पूर्ण रूप से संतोष न दे सकी वे ही तूलिका के आश्रय हो सके हैं।[3]

अतएव महादेवी के चित्रों की सामग्री और गीतों की सामग्री में मेल की बात का खण्डन करती हैं। किन्तु उनके एक अन्य स्वीकरोक्ति से ऐसा विदित होता है कि महादेवी जी स्वयं नहीं जानती कि आखिर उन्हें चित्र-कला में किस तरह के बिम्ब व्यक्त करने हैं। तीसरा कथन इस संदर्भ में है कि चित्रकार कवि हो सकता है किन्तु कवि चित्रकार नहीं हो सकता। मूलतः भेद महादेवी के शब्दों में चित्रकला निरीक्षण और कल्पना तथा कविता भावातिरेक

---

१. फूलों के भार से झुक झुक पड़ने वाली लता कोमल है, पर शून्य नीलिमा की ओर विस्मित बालक सा ताकने वाला ठूंठ भी कम सुकुमार नहीं। अविरत जलदान से पृथ्वी को कपा देने वाला बादल ऊँचा है, पर, एक बूंद ओस के भार से नत और कंपित तृण भी कम उन्नत नहीं। गुलाब के रंग और नवनीत की कोमलता में कंकाल छिपाए रूपसी कमनीय है, पर झुर्रियों में जीवन का विज्ञान लिखे हुए वृद्ध भी कम आकर्षक नहीं। दीपशिखा, पृ. ११, छठा सं.।

२. यामा—महादेवी वर्मा, पृष्ठ २४४ के सामने।

३. „ „ पृष्ठ ६।

ग्रौर कल्पना पर निर्भर करती है।[1] कवि के संबंध में महादेवी का कथन सही हो सकता है किन्तु चित्रकला के संदर्भ में सही नहीं है। चित्रकला को देवी जी का निरीक्षण ग्रौर कल्पना का विषय मानना पूर्णता का द्योतक नहीं है। चित्रकला के लिए निरीक्षण ग्रौर ग्रभ्यास के ग्रतिरिक्त प्रतिभा की महत्ता होती है। हर रंग का पोतने वाला चित्रकार नहीं हो सकता। मेरा घर के चौके में, बचपन से लेकर गई ग्रवस्था तक महरी चौका पोता करती है। पोतने की क्रिया रंग से संबंध रखती है दीवाली के ग्रवसर में पुतेरे दीवारों पर रंग-लेप किया करते हैं। बच्चे स्कूलों में सफेद कागज की पृष्ठभूमि पर रंग ही तो पोता करते हैं। सभी में पोतने की क्रिया समान है। किन्तु चित्रकार रंग पोता नहीं करता, वह रंगों में जीता है रगों में श्वास लेता है ग्रौर रंगों में ही खेलता है। स्वप्न भी रंगों में ही देखता है। चित्रकार, कालिदास की तरह कुछ कम ही व्यक्ति होते हैं। हर गली की नुक्कड़ पर चाय की दुकान पर रबड़ छंद की रचना करने वाले कवियों की तरह नहीं होते हैं। सन् १५०२ ई० की विन्सी कृत मोनालिसा, समूचे चित्र जगत की ग्रकेली कृति बन कर रह गई है। विन्सी की जागरूक ग्रात्मा का चैतन्य चित्रकार, उस कृति को सदा-सदा के लिए ग्रमर रूप दे गया। ग्रतएव जैसा कि महादेवी जी मानती हैं कि कवि, चित्रकार नहीं हो सकता है, वास्तव में सही है, कि वे चित्रकार नहीं हैं।

चित्रों में जहाँ तक रस का प्रश्न उठाते हैं, तो उसमें कई तथ्य कार्य करते हैं। यदि मान लीजिए कि एक चित्र देखा। जिसमें केवल दो ग्राकृतियाँ प्रधान हैं या केवल दो ही ग्राकृतियाँ हैं[2] एक पुरुष की ग्रौर दूसरी नारी की। पुरुष की ग्राकृति नील दुति में मोर पंख सिर पर धारित है।[3] इससे ग्रागे ग्रौर प्रेक्षक को कुछ नहीं चाहिए। इतने मात्र से प्रेक्षक का ज्ञान बोध ग्रौर सौन्दर्य बोध सूर या नंददास की राधा के सौन्दर्य बोध पर टिक जावेगा। इसका परम्परागत भाव बोध प्रेक्षक के मन में रोमानी वातावरण पैदा कर देगा ग्रौर फिर प्रेक्षक इस चित्र के दर्शन, ग्रवलोकन से रतिस्थायी भाव की ग्रनुभूति करेगा। इस तरह के चित्र प्रेक्षक की चेतना पर ग्रपने रूप का बोध का प्रभाव डाले होते हैं। यह उसी तरह कि जिस तरह जानीवाकर तथा टुनटुन जैसे हास्य कलाकारों के नाम ले देने मात्र से हास्य की उत्पति संभव है, यह सपसामयिक बोध है। पूर्व उद्रित उद्धरण को ऐतिहासिक सौन्दर्य बोध की जाति गत परम्परा में स्थान देंगे। जाति गत इसलिए कि उसी चित्र के रूप सौन्दर्य के माध्यम से सर्व सामान्य, सर्वकालिक, सर्वभौमिक प्रभाव समान रूप से होगा। यह समान रूप से सार्वदेशिक ग्रौर सार्वकालिक प्रभाव ही वास्तव में चित्रकला के रूप सौन्दर्य से उत्पन्न ग्रानंद की स्थिति है जिसे रस दशा कह सकते हैं। सच्ची कला सभी देशों के सहृदयों को सभी कालों में समान रूप से प्रभावित करती है। इस राधाकृष्ण के चित्र के प्रभाव के मूलमें रंग योजना, रूपाकृति, पृष्ठभूमि विन्यास रहते हैं। पृष्ठभूमि विन्यास में राधा कृष्ण, जमुना के किनारे किसी तमाल तरु के नीचे ग्रालिंगन बद्ध ग्राकृतियाँ में प्रस्तुत हैं।[4] राधा कृष्ण को देख रहीं है। कृष्ण वंशी बजा रहे हैं। गाए घास चर रहीं हैं, ग्रादि भी किसी ग्रन्य चित्र की मोहक भूमिका हो सकती है। पास ही जमुना बह रही हैं। कहीं घास के एकहरे तृण स्वेतपुष्पराशि को ग्रग्र में सहेजे तने खड़े हैं। कुछ पुष्प तथा कुछ हल्की छोटी लतापुन्ज पुष्पित चित्रित हैं। नीलाकाश, जमुना की जल तरंगों में ऊपर से झाँक रहा है। यह परिवेश एक तरह से रोमानी वातावरण उद्दीप्त करने के लिए पर्याप्त है। कृष्ण ग्रौर राधा ग्रालंबन या रस का ग्राश्रय हैं। कृष्ण का वंशी के साथ, राधा का कृष्ण को देखना ग्रनुभाव है। मुख की मुद्रादि संचारियों के ग्रंतर्गत ग्रा जाती हैं। इस तरह से मोह संचारी भाव से संचारित, कृष्ण की वंशी, मुद्रादि से ग्रनुभवित तथा पारिवेशिकता से उद्दीप्त होकर रति स्थायी भाव पुष्ट होकर प्रेक्षक में रस की ग्रनुभूति सक्षमता से प्रदान करता है।

---

१. यामा महादेवी पृष्ठ १०।

२. मीटिंग ग्रॉफ राधा एण्ड कृष्ण प्लेट-५, बूंदी पेन्टिंग ल० क० ए० न० दि०।

३. इंडियन मिनियेचर्स पेन्टिंग, रावर्ट टेरिफ पृष्ठ १८, प्लेट-६।

४. राजपूत पेन्टिंग, चार्ल्स टेरी, पृष्ठ ४१।

इस तरह जब यह प्रेक्षक जान लेता है कि वह भागते हुए पृथ्वीराज और संयोगिता का चित्र देख रहा है तब प्रेक्षक का पूर्वज्ञान, कथा को प्रेक्षक के मन पर आवृत कर देता है, ऐसी स्थितियों में यदि यह कहा जाए कि चित्र केवल पूर्व संस्मरण को उद्दीप्त करता है तो गलत नहीं है क्योंकि प्रेक्षक में संदर्भ कथा का रस स्थायी रूप से पूर्व काल से ही संचित है, चित्र प्रेक्षक में मात्र उस पूर्व पठित, अनुभूत घटना को स्मृत करा कर, रस का पुन: द्रवीकरण करता है। इससे भी सूक्ष्म प्रतीक होते हैं। एक लड़कीनुमा नारी की आकृति चोकोर मंदिर के सामने निमीलित नेत्रों से बैठी है। मंदिर में आसीत शिव लिंग प्रेक्षक को दर्शनीय है। इस स्थिति से दो तथ्य एक ही साथ प्रेक्षक के मन पर आ जाते हैं। पहला तो यह कि भक्त भगवान के समक्ष नत होकर पूजा कर रहा है, शायद किसी वरदान की आकाँक्षा रखता है। गीता में निष्काम कर्म का ढोल पीटा है किन्तु इतिहास में आज तक कोई भी कार्य निष्काम नहीं हुआ है। अतएव वह लड़कीनुमा नारी शिव से वरदान की आकांक्षा कर रही है। पार्वती ने शिवलिंग की पूजा, शिव की प्राप्ति के लिए की थी। यह पूजा सुबह सूर्योदय के पहले होती है। भैरवी रागिनी का समय सूर्य उदय के पहले का है। इस रागिनी में भी पूज्य के प्रति नत भावों का निवेदन होता है, अतएव इसे मान लिया कि यह चित्र भैरवी रागिनी का है।[1] पर जब यह देखा कि इस चित्र में सोलहवीं शताब्दी के मालवा के रंगों का प्रयोग और वहीं के वातावरण का आयाम है तब प्रेक्षक का ध्यान माण्डौ की रूपमती और बाज बहादुर की प्रेमकथा पर चला जाना सहज संभव है। रूपमती हिन्दू लड़की थी तथा बाजबहादुर माण्डौ के सुल्तान का लड़का था। रूपमती ने बाजबहादुर को पाने के लिए शिव की आराधना की थी। यह प्रेमकथा माण्डौ में लोक गायकों में बहुलता से प्रचलित हुई। इन तीन मोड़ों के बाद यह स्पष्ट हुआ कि चित्र रूपमती की साधना का है। मध्यकालीन चित्रकला में प्रतीकों का परिचालन बहुतायत से था। रूपमती की वेशभूषा उसे मालवा की नायिका का आभास स्पष्टता देता है। इसी चित्र को सामान्य व्यक्ति देखे तो यह बात नहीं हो सकती कि उसे इस चित्र में रस की अनुभूति न हो। यह चित्र प्राय: अनेक कला पुस्तकों में प्रधान रूप से पाया जाता है। सारी चित्रभूमि में नायिका की आकृति प्रधान रूप से प्रस्तुत हुयी है। दूसरे परिप्रेक्ष्य में मंदिर शिवलिंग, लता, पुष्पादि जो कि नायिका का पूर्वानुराग का आभास प्रस्तुत करने में समर्थ हैं। अतएव प्रेक्षक कथाभाग के मूल को न जानते हुए भी चित्र से रस की अनुभूति करेगा ही। यह अनुभूति चित्र विधा गत केवल सौन्दर्य-संप्रेषण से न होकर समस्त विधागत योजना से होती है।[2]

कुछ चित्र राग-रागिनियों पर प्रतीक रूप से मध्यकालीन युग में चित्रित हुए हैं। इन चित्रों में रागों में उपलब्ध होने वाला परिवेश प्रस्तुत किया गया है। राग की मान्यताओं के ही आधार पर चित्र विधा की संरचना हुई है। जैसे कि यदि राग वसंत का चित्र है।[3] इसमें कृष्ण कहीं तो नट की तरह चोकोर चौबाटे में नाच रहे हैं और कहीं राधा के गले में बाँह डाले होली सा स्वांग भर रहे हैं।[4] इसमें मूल तथ्य कृष्ण के नृत्य का है। इसे बसंत राग का प्रतीक मान लिया गया है। वसंत ऋतु के आयाम स्वरूप चित्र में फूल और मनोरम पौधों की संरचना चित्रकार करता है। वसंत में आम्रमौर युक्त होते हैं अतएव उन्हें भी चित्रित करता है। इसमें कृष्ण के साथ दो रमणियां अवश्य होती हैं। ये दोनों रमणी आकृतियाँ वाद्यों के साथ होती हैं। कहीं होली का रंगपात्र भी है। वसंत के प्रतीक के रूप में आम्रमौर या तो वृक्षों में या कृष्ण के हाथों में भी होता है। इसी तरह कमल खिले होते हैं। पक्षी में कोयल चित्रित करते हैं। वसंत रागिनी, वसंत ऋतु के हर्षादिक परिवेश को प्रस्तुत करती है। नृत्य रत आकृतियाँ, रम्य बोध का संचार करने

---

१. बूंदी पेन्टिग, फिगर—१, ल. क. ए. न. दिल्ली।

२. बूंदी पेन्टिग–फिगर–१, ल. क. ए.,

३. इंडियन मिनियिचर्स राजपूत पेन्टिग, रावर्ट टेरिफ—पहली प्लेट।

४. ,, ,, ,, ,, —पृष्ठ-५३ के सामने।

में पूर्ण समर्थ हैं। शास्त्रीय रूप में उन्माद और आवेग से गति प्राप्त कृष्ण राधा के उछलकूद अनुभावों से प्रदीप्त होकर तथा वातावरण रंग-पिचकारी ढाल मंजीरा तथा अन्य सामग्री से आश्रय कृष्ण राधा में स्थायी भाव हास की सहायता से पुष्ट होकर रति भाव को प्रेक्षक में पुष्ट कर रसदशा तक पहुँचाते है। व्यक्ति-चित्रों में रस की उपलब्धि के संबंध में इस तरह का सोचा जा सकता है। इस तरह के चित्रों को यशगान की परम्परा में भी रख सकते हैं। यशगान में व्यक्ति के जीवन का चरित्र होता है। व्यक्ति-चित्र में व्यक्ति का व्यक्तित्व रूपछाया के साथ होता है। व्यक्ति की साक्षात् आत्मा का मूल स्वर उसके व्यक्ति चित्र से ध्वनित होते हैं। व्यक्ति चित्र की तुलना केमरे की सहायता से प्रस्तुत व्यक्ति चित्र से नहीं की जा सकती है क्योंकि उसमें फोटोग्राफर का आत्म, चित्रकार के आत्म से बहुत ही हीन दर्ज का उस कृति में होता है। कहीं-कहीं तो व्यक्ति चित्र का आकर्षण चित्रकार की ख्याति और आकर्षण से हीन बैठता है। ऐसे चित्रों का महत्व यही होता है, कि अमुक चित्र अमुक ख्याति प्राप्त चित्रकार ने बनाया था अथवा वह भी नहीं होना है। भारतीय चित्रों में सन् १६१८ ई० का इनायत खां का चित्र इसी तरह संदर्भ में आता है।[1] जयपुर की उर्ध्व नग्न लड़की का चित्र भी इसी श्रेणी का है।[2]

चित्र की इन सब विधि विधाओं के अतिरिक्त इन व्यक्ति चित्रों की उस श्रेणी पर पहुँचते हैं जहाँ कि क्या रस की उपलब्धी होती है? यहाँ प्रश्न वाचक चिह्न आ जाता है। मध्यकालीन राजपूत शैली के चित्रों में कुछ चित्र सर्वथा इनायत खां और उर्ध्व नग्न बाला के सदृश्य हैं जो कि विचारणीय है। प्रेक्षक को इनायत खां से व्यक्ति गत कोई दिलचस्पी नहीं हो सकती क्योंकि वह अपने अंतिम क्षण में है। दूसरा चित्र है उममें केवल कुछ ही रसिक प्रवृत्ति के व्यक्ति रुचि लेंगे। एक व्यक्ति चित्र में रुचि का न लेना और दूसरे में अल्पत: लेना यह रूप की सहज प्रवृत्ति का द्योतक है। किन्तु यदि इनायत खां के व्यक्ति चित्र में उसके जीवन की घनी अनुभूति उसकी झुरियों, सिकड़नों, बंद होती आँखों, तखत में अधसाये लेटे रूप में, तथा चित्र विधा ती आड़ी तिरछी कुछ रेखाएँ, कुछ छाया प्रकाश, जगह का विभाजन, उस व्यक्ति चित्र में है तो न रुचि लेने का सवाल ही नहीं उठता। जागरुक प्रेक्षक या सहृदय भले ही वह उस चित्र को चित्र विधा के इतिहास के माध्यम से न देखें, वह कुछ क्षणों के लिए उसके प्रति आकृष्ट हुए बगैर नहीं रह सकता है। जयपुर की उर्ध्वनग्न बाला के व्यक्ति चित्र में प्रेक्षक उस बाला की नंगी आकृति के अतिरिक्त उसके कोमल बालों में उलझेंगे, रक्ताभ नेत्रों में डूबेंगे। गले में झूलती अनेक मालाओं में अपनी प्रियाओं का रूप देखेंगे या फिर पूर्व स्मृतियों को पुन: जाग्रत पावेंगे, उसके चतुर्दिक का परिवेश और चित्र स्वयं प्रेक्षक के मन को पूर्वापर राग द्वेष से मुक्त कर अपनी ओर खींच लेगा। यह स्थिति भले ही क्षण भर की ही क्यों न हो, वह रामचन्द्र शुक्ल की रसदशा की मुक्तावस्ता है। इसे आधुनिक शब्दादवली में रस दशा ही कहेंगे। मोहनजोदड़ो की बालू प्रस्तर की मूँछ दाढ़ी धारी मूर्ति का भग्नावशेष भी तत्कालीन किसी व्यक्ति की रूपाकृति है जिसे आज कोई नहीं जानता है।[3] किन्तु इसके वेश विन्यास निमीलित नेत्र, सुलझी चिपकी छोटी दाढ़ी मूँछ, माथे पर लगा तिलक तथा सिर के घेरे से बँधी हुई पट्टी, और कंधे पर पड़ा हुआ सज्जाकारीययुक्त उत्तरीय, उस मूर्ति से प्रेक्षक को आकर्षित करने के लिए यथेष्ट है। नारी के प्रति पुरुष आकर्षित होता है। पुरुष के प्रति नारी आकर्षित होती है। तुलसीदास जी कहते हैं—"मोहे न नारी के रूपा" बात कुछ एक जैसी है। पर इसमें भोग सभोग परकता ध्वनित होती है। पर कला के संदर्भ में जो सच्ची कला का आभास देती है, वह सभी काल के सहृदयों को अपने प्रति आकर्षित करने में समर्थ होती है। मथुरा स्थित शराब के नशे में बेहोश नग्न युवा नारी को दो पुरुष और एक बालक के साथ प्रस्तर पर प्रस्तुत किया है।[4]

---

१. इंडियन पेन्टिग, फिलिप रौगोन पृष्ठ—११४।
२. „ „ „ „ १४०।
३. भारत शिल्प— विमल कुमार दत्त, पृष्ठ १०२ के सामने।
४. „ „ „ „ प्लेट—१३।

(चित्र फलक–३ देखिए) नारी के संभोगीय अंग स्पष्टता से दिखाए गए हैं। फिर भी यह प्रस्तर प्रारूप प्रेक्षक की वासना को नहीं उभारता है। यह प्रस्तर नारी रूप और आकृतियाँ प्रेक्षक के हृदय में नारी के प्रति दया भाव को जन्म देने में समर्थ हैं। इसमें चाहे इसका प्रेक्षक नारी हो या पुरुष हो अतएव जयपुर की उर्ध्व नग्न बाला के संदर्भ में भी इसी तरह घटित होता है। तुलसी की उक्ति और उसी तरह की विचारणा केवल भोग को दृष्टि में रखकर ही की जा सकती है। उस लड़की नुमा नारी के चित्र की पृष्ठभूमि की बात, तत्कालीन राजा-महाराजा, सामंत अमीर-उमरावों की दृष्टि में भले ही हो सकती है, पर आवश्यक नहीं है। क्योंकि नग्न औरतों का चित्रण मूर्ति और चित्रकला में कला शिक्षा के अन्तर्गत आवश्यक समझा गया है। भारत में रनकपुर, आबू दिलवारा, ग्वालियर, सोनागिरि, खजुराहों, कोणार्क, भुवनेश्वर, नागार्जुनकोण्डा आदि की मूर्तियाँ इस सत्य का प्रतीक और समर्थक हैं। प्रायः हर नारी या पुरुष वस्त्रों के भीतर नग्न है। हर घर में बच्चे होते हैं। उनकी नग्नता किसी को भी नहीं चुभती। इसके मूल में केवल यही है कि व्यक्ति का दृष्टिकोण कुछ और ही होता है। यह कुछ और ही दृष्टिकोण चित्रकार या मूर्तिकार का भी होता है। अतएव उसको उसमें कोई दोष या विकार नज़र नहीं आता है। खजुराहों का माँ-बेटे का प्रस्तर स्वरूप वात्सल्य के भाव को न केवल संप्रेषित करने में समर्थ है अपितु भावों का उदात्तीकरण भी करता है। (चित्र फलक–८ देखिए) सामान्य जीवन में व्यक्ति गत रुचि और पहलू किसी भी तत्व या तथ्य को समझने न समझने के लिए महत्वपूर्ण स्थान रखता है। एक घास का तना जब तन्नाया सा भूमि पर खड़ा होता है तो किसी कवि कलाकार के लिए महान् अनुभूति का माहौल दे सकता है। मलिक मुहम्मद जायसी को गुंमुची रक्त का आँसूँ प्रतीत हुई। पंत को ताजमहल में खून नज़र आया। अतएव दृष्टिभेद के कारण वसंत रत एक ही चित्र कृष्ण और राधा का किसी के हृदय में रति की पुष्टि करेगा तो किसी के हृदय में भक्ति भावना का संचार करेगा और किसी हृदय में हास की उत्पत्ति कर तिरोहित हो जावेगा। यह भेद काव्य के भेद में भी उपलब्ध होता है। बच्चन की मधुशाला, मधुबाला किसी एक खास उम्र तक ही अच्छी लगती है, मन को भाती है किन्तु बाद में वह रुचि, नहीं रह जाती है। किन्तु उच्च कोटि की कलात्मक कृतियों के साथ नहीं होता है। कालिदास का अभिज्ञान शकुन्तलन् सर्वत्र युगों से सभी के लिए एक जैसी अनुभूति देता है।

कुछ चित्र देव रूपों को प्रस्तुत करते हैं। इनमें रामायण आदि के चित्रों का उल्लेख कर सकते हैं। राधा-कृष्ण भी स्वयं देव-रूप ही हैं। देव रूपों के संदर्भ में उसी तरह घटित हो जाता है जैसा कि नाटकगत नायिका सभी की नायिका नहीं होती अपितु वह प्रेक्षक की आधार भूमियों को जागृत कर वासना रूप विद्यमान प्रेक्षक में स्थायी भावों को पुष्ट कर रसानुभूति का अवसर प्रदान करते हैं। पाश्चात्य देशों के काव्य शास्त्रियों ने इसके समानान्तर 'एसथेटिक प्लेज़र' की चर्चा की है। भारतीय शब्दावली में रमणीय रस की संज्ञा से अभिहित है। सामान्यतः कवि या कलाकारों में जिन विभिन्न रूपाकृतियों का अंकन किया है, उनमें प्रायः प्राकृतिक, सामाजिक परम्परागत, पौराणिक और कुछ काल्पनिक रूपों : बिम्बों का सन्निवेश है। ये मानव हृदय कवि या कलाकार परम्परागत जातीय चेतना से तथा जीव-जगत से प्राप्त कर स्वप्रबुद्धआत्मा या प्रतिभा के मेल से उन्हें और अधिक प्राणवान स्वरूप में अभिव्यक्त करता है। ये बिम्ब और रूप मानव के चेतन में ही नहीं अपितु उपचेतन और अचेतन सभी में स्थित रहा करते हैं। ये रूप और बिम्ब किसी भी तरह का उद्दीपन प्राप्त होने पर मन की सभी स्थितियों में स्वप्न, भावन कल्पना, क्रियात्मक अभिव्यक्ति आदि में कर्ता रूप में व्यक्त हो जाते हैं। इस संदर्भ में कलाकारों की कार्य स्थितियों पर प्रकाश डालते हुए व्यक्त किया जा चुका है। फिर भी मंदिर मूर्ति देव आदि सभी कलाकारों की अंतचेतना का मूर्तिकरण है। देव रूपों में वह युग बोध और परम्पराओं से बद्ध दिशा में अभिव्यक्त करता है। सूर की राधा, तुलसी की सीता नहीं हो सकती और न ही बिहारी की राधा सूर की राधा बन सकती है। तुलसी की सीता जगत जननी है, मैथलीशरण की सीता में 'सेविका' का युगबोध जागृत है। किन्तु इसके उपरान्त भी जब कलाकार इन्हें अपने आधार बिम्ब में स्वीकार कर आत्म

मिश्रित कर पुनः प्रस्तुत करता है तब इसमें पूर्व बिम्ब का पौराणिक रूप होता है।[1] दूसरा वस्तुगत तथ्य यह होता है कि बिम्ब या प्रतिमा सदैव देव पुरुष की, चिरयौवन रूप में प्रस्तुत होती है। अतः ये दोनों तथ्य प्रेक्षक को एक सामान्य रसात्मक या रमणीय भाव-भूमि पर ही नहीं लाती है अपितु प्रेक्षक की पौराणिक देव पुरुष गत आस्था से अनुप्राणित विचारणा का उन्नयन भी करती है। तभी सभी जन-सामान्य देव प्रतिमा के दर्शनार्थ इच्छुक रहते हैं, तथा प्रायः नित्य दर्शन करते हैं।

कांट ने क्रिटिक ऑफ जजमेन्ट में व्यक्त किया है कि बिम्ब प्रत्येक प्रसंगोद्‌बोधन में वस्तुसत्ता की क्षमता से युक्त होता है, यहाँ तक कि संवेदना में भी जहाँ यह अनुभावित बिम्ब को यथार्थरूप में अभिहित करता है, इसका एक मात्र अपवाद आनंद या अवसाद भी भावना है, जो वस्तु में और किसी तत्व का द्योतन न कर केवल उस भावानुभूति मात्र को सूचित करती है, तथा जो आश्रय में बिम्ब के प्रभाववश स्वयं उद्‌भूत होती हैं। रमणीय रस की प्रक्रिया, कान, आँख, स्मृति आदि से संबद्ध होने से जार्ज सांत्यायन इसे भौतिक अवस्थाओं से संबद्ध इन क्रियाओं पर निर्भर मानते हैं। इनके कथन के अनुसार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संवेदना आलम्बन वस्तु के गुणों का रूपान्तर है।[2] बोसांके ने इस तरह के आनन्द को सामान्य क्षणिक रसानन्द से इतर कहा है।[3] क्रोचे ने रमणीय रस को रमणीय अभिव्यक्ति से घनिष्ठ बताया है।। संभवतः इसके अभाव में रमणीय रस की निष्पत्ति संभव नहीं है। प्रसंगानुवश रमणीय रस के साथ बाह्य पदार्थों में संबलित रहते हैं जो कि उसके साथ अनुस्यूत हो जाते हैं। रमणीय रस की उत्पत्ति प्रायः कवियों, कलाकारों की अभिव्यक्त कृतियों के माध्यम से होती है।[4] कैरिट की विचारणा में रमणीय रस संवेगाभिव्यक्ति की एक प्रक्रिया है।[5] ये संवेग संवेदन की दशा से उद्‌भुत भाव ही हैं, ये सामान्य स्तर के भावों से उच्चतर, कैरिट के अनुसार होते हैं।[6] इन संदर्भों से यह स्पष्ट होता है कि कांट रमणीय आलंबन। सांत्यायन-रमणीय रस का उद्‌भावक स्थान, बोसाँ उसके स्थायित्व और क्रोचे उसकी अभिव्यक्ति पर बल देते हैं। कैरिट सांत्यायन के उद्‌भावक तत्त्वों से सूक्ष्म स्थिति सवेगों रर बल देता है।

सौन्दर्य वेत्ताओं एवं मर्मज्ञों के अनुसार 'रमणीय' केवल सौन्दर्य का पर्याय या विश्लेषण नहीं है, स्वयं एक प्रकार का रस है। पंचपगेश शास्त्री ने अपने शोध प्रबंध में इस रस का विस्तृत विवेचन किया है।[7] बोसांके द्वारा प्रयुक्त 'एसथेटिक इन्ज्वाय', 'रमणीय रसास्वादन' का पर्याय प्रतीत होता है। इस तरह प्रेक्षक की अभिरुचि चित्रगत व्याप्त रमण वृत्ति से जागृत होकर विभिन्न संवेगों और भावों से अनुप्राणित; उद्दीप्त होकर रमणीय रस में परिणित हो जाती है। अभिनव गुप्त ने 'रमणीय रस के समानान्तर रस, आनन्द और परमभोग के पर्याय रूप 'चमत्कार' का प्रयोग किया प्रतीत होता है। भामह को रमणीय रस का संचार प्रीति के पुनः पुनः उद्दीपन द्वारा सम्भव है।[8] वामन

---

१. ककान्ट ने क्रीटिक आफ जजमेन्ट में इस संदर्भ में स्पष्ट किया है, पृष्ठ २८४।

२. सेन्स आफ ब्युटी : जार्ज सांत्यायन, पृष्ठ ३६ और ४४।

३. हिस्ट्री आफ एसथेटिक बोसांके प्लेजर इन नेचर आफ ए फीलिंग आर प्रजेन्टेसन एज डिस्टिन्ट फाम प्लेजर इन इटस मोमेन्टरी आर एक्सपेक्टेड स्टीमुलेसन आफ दी आर्गनिज्म। पृष्ठ-७।

४. एसथेटिक : क्रोचे : पृष्ठ-८०।

५. ऐन इंरोडक्सन टू ऐस्थेटिक्स : कैरिट, पृष्ठ-६४।

६. " " " " पृष्ट-६६।

७. दी फिलासफी आफ एस्थेटिक प्लेजर-पंचपगेश, पृष्ठ ७३।

८. 'प्रीति' करोति कीर्ति च साधु काव्य निबंधनम्।

'प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्' द्वारा प्रीति को आनन्द का हेतु कहकर रीतियों और उनके गुणों की तुलना प्रतिष्टित चित्र से की है।[1] उसका स्वरूप 'यथाहिचियते रेखा चतुरं चित्रपण्डितैः' समान प्रस्तुत किया है।[2] इन उद्धरणों के अनुसार कवि और चित्रकार रूपाकृतियों और बिम्बों का निर्माण करते हैं। वे एक तरह से 'रमणीय रस' को निष्पन्न करने वाले रमणीय आलम्बन बिम्ब ही प्रतीत होते हैं।

कुन्तक ने 'नरन्तर सरसोदार गर्भ संदर्भ निर्भरः गिरि कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः'[3] के माध्यम से कलाकृति की अक्षुण्ण एवं स्थायी रमणीयता की बात उठाई है। इनकी कर्त्ता में निहित शक्ति पर्याय रूप वक्रोक्ति केवल वक्र उक्तिमात्र न होकर रमणीय बिम्बों की उद्भावना करने वाली अभिव्यक्ति जनित शैली है। कुन्तक ने वस्तु से अधिक अभिव्यक्ति सापेक्ष-रूप-विधान की रमणीयता को प्रतिपादित किया है। कुन्तक ने अपनी धारणा को व्यक्त करने एवं समझाने के लिए 'चित्रच्छाया' का प्रयोग किया है। इसी तरह रंगों का भी सहारा लिया है।[4] निम्न उद्धरण में कुंतक वक्रता प्रकार की एकान्वित प्रभावान्विति रंग से युक्त रंगीन चित्रों की छाया के समान मनोहर बना देते हैं। रंग साम्य का सिद्धान्त घटित करते हैं। चित्र कौशल के सम्बन्ध में कुन्तक का विचार है कि सुन्दर आधार भित्ति पर अंकित चित्र के रंगों के सौन्दर्य से भिन्न चित्रकार की मन हरण करने वाली अनर्वचनीय निपुणता के समान काव्य निर्मातागत वाक्य वक्रता है।[5] इन उद्धरणों से मनोहर चित्रों से रमणीय शरीर से आवलम्बन स्वरूप रमणीय बिम्ब की दृष्टि होती है। इस तरह पूज्य भाव के आलोक में लौकि आलम्बन, अलौकिक का उपस्थापन कर रमणीय रस का उद्दीप्त कर 'ब्रह्मास्वाद सहोदर' में चरम परिणति करता है।

मध्यकालीन भक्तिभावना और लीला के लिए लीला का लक्ष्य प्रचलित हो जाने से आराध्य रमणीक रूप में उपस्थापित हो गए। भक्ति काल में जब लीला के लीला, भक्ति के लिए भक्ति, परिचालित हुई तब प्रेम स्वतः ही साधन और साध्य दोनों ही रूपों में आ गया। प्रेम का उदात्त रूप 'प्रियत्व' रमणीय रस का स्थायीभाव की संज्ञा से अभिहित हो गया। भारत की धर्म-प्राण जनता में देव आदि पूज्य भाव भारतीय कला के आदर्श रहे हैं। स्वतन्त्र एवं उन्मक्त चित्रण की न्यूनता के मूल में इसे स्वीकारा जा सकता है। भारतीय आस्थावान कवि, चित्रकार, शिल्पी आदि सभी कलाकार, कल्पना में विविध रंग रूप सजोने वाले, समस्त विश्व वैभव को ब्रह्ममय देखते है। नदी, पहाड़, दरिया सभी का मानवीकृत पूज्य रूप प्रस्तुत हुआ है। काव्य, नाटक, संगीत चित्र नृत्य आदि–आदि सभी की उत्पत्ति किसी न किसी देव की कृपा से बंधी हुई आज भी प्रस्तुत हो रही है। विष्णु पुराण में समस्त शास्त्र, कला, काव्य आदि विष्णु के स्वरूप माने गए हैं।[6] इसी भावना के अनुसार मूर्ति और चित्र विधा में अनेकानेक रूपों में उनकी प्रस्तुती हुई है। शिव ताण्डव, पार्वती लास्य, राधा-कृष्ण नृत्य-रास-लीलादि देवपूज्य उच्च भावना के ज्ञापक हैं।

---

१. काव्य सूत्र, वामन; एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रंकाव्यं प्रतिष्ठितमिति'

२. काव्य सूत्रः वामन पृष्ठ १३६।

३. वक्रोक्तिः कुन्तकः ४। ११, पृष्ठ ४६५।

४. परस्पर शोभायै बहवः पतितः क्वाचित्।
प्रकारा जनयन्त्येतां चित्रच्छायामनोहरम्॥

५ मनोज्ञफल कोल्लेखवर्णच्छायात्रियः पृथक्।
चित्रस्येव मनोहारि कर्तुः किमपि कौशलम्॥
वक्रोक्ति : पृष्ठ ३१४, ३३४।

६. विष्णु पुराण : पृष्ठ १, ८५।

रसनिष्पत्ति और रसानुभूति के सन्दर्भ में आरोपवाद और अनुमितिवाद की स्थापनाओं में जो तटस्थ्य और आत्मगतत्व आयातित दोषों के परियार के लिए भट्टनायक ने साधारणीकरण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इसमें श्रोता, पाठक और प्रेक्षक वस्तुगत अभिधार्थ को ग्रहण करता है तव हृदय भावात्मक क्रिया 'भावकत्व' की शक्ति में से 'मैं' और 'पर' की बद्धता से मुक्त होकर वस्तुगत वर्णित स्थिति से उत्पन्न भावों का रसास्वादन करता है। यह रसास्वादन की परिस्थिति विशेष जिस प्रक्रिया से संभव होती है वही 'साधारणीकरण' है। रस निष्पत्ति के लिए भट्टनायक के मत से साधारणीकरण आवश्यक है।

चित्रों से रस निष्पत्ति के अवसर पर साधारणीकरण होता है—यह विचारणीय है जब चित्रों से रस की प्राप्ति होती है और रस निष्पत्ति के लिए साधारणीकरण आवश्यक है, तब चित्रों का भी साधारणीकरण होता है। वामन झलकी का गोविन्द ठक्कर (पंद्रहवीं शताब्दी) आदि ने साधारणीकरण को सामान्यीकरण की संज्ञा से अभिहित किया है। इनके अनुसार विभावादि रूप राम-सीता कृष्ण-राधा आदि सबधी रति के भाव-बोधत्व रूप में सामान्यत: कामनी रूप में अथवा रति सामान्य रूप में उपस्थिति होने को साधारणीकरण माना है।[1] रस ग्रहण की प्रकिया में रीतिकालीन कवियों ने स्वयं भी 'राधाकृष्ण' को सुमरिन का बहाना कहा है। किन्तु देव रूपों के चित्रों के संदर्भ में अभी पिछले सदर्भ में चर्चा की है। इसमें सौन्दर्य मूलत: प्रधान होकर प्रेक्षक पर आवृद्ध हो जाता है और प्रकारान्तर से रमणीय रस सहृदय प्रक्रियानुवत् प्रेक्षक को रससिक्त या रसानुभूति प्रवृत्त करता है। अभिनवगुप्त ने (१०-११वीं शताब्दी) भट्टनायक की भावकत्व तथा भोजकत्व शक्तियों को अस्वीकार करके वस्तु के वास्तविक सौन्दर्य की, साधारणीकरण में स्वीकृति दी। इसके अनुसार साधारणीकरण में विभावादि लक्ष्मण-परसुराम आदि का व्यक्ति विशिष्ट संबंध तथा प्रेक्षक भी पूर्वापर रागद्वेष की सप्रकृताओं से दोनों ही मुक्त होकर (प्रेक्षकगत) वासनारूप में विद्यमान स्थायी भावों का वस्तु के तादात्म से साधारणीकरण हो जाता है। विश्वनाथ १४वीं शती के अनुसार प्रमाता का आश्रय के साथ अभेद स्थापित हो जाता है।[2] इस स्थिति में रत्यादि स्थायी भाव उसी रूप में अनुभव होने लगता है। इसमें यह मेरा है, यह मेरा नहीं है, यह दूसरे का है, दूसरे का नहीं है आदि भेद नहीं रह जाता है।[2] इसका स्पष्टीकरण आनंदप्रकाश दीक्षित के मत से होता है जो कि डा० नगेन्द्र का व्याख्या से भिन्न यह तादात्म उनके विचार से साधारणीकरण के परिणाम स्वरूप घटित होता है। तादात्म की यह अनुभूति रस के लिए होती है। इसमें रसास्वादन की संभावना अधिक है।

रामचंद्र शुक्ल के अनुसार जब तक किसी भाव का कोई विशेष इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यत: सब के उसी भाव आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं होती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है। अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आता है, वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन हो जाता है। साधारणीकरण आलम्बनत्व कर्म का होता है। तात्पर्य यह है कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाव वाले कुल धर्मों के कारण सब के भावों का आलंबन हो जाता है।[3] इसका सामान्य रूप यही हुआ कि वस्तुगत आलम्बन सर्वसामान्य का आलंबन हो जाता है और आश्रय के समान प्रेक्षक पाठक श्रोत के भावों की स्थिति हो जाती है। इसमें कठिनाई यह

१. साहित्य दर्पण, ३।१०।

२. 'साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते। परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च। काव्यदर्पण-३ : १२।

३. चिन्तामणि भाग-१ पृ० ३०८, ३१२, ३१३।

प्रतीत होती है यदि चित्र राधा और कृष्ण का है, दोनों एक दूसरे के रूप का रस पान कर रहे हैं। इसमें दोनों ही एक दूसरे का आश्रय आलम्बन हैं, तब प्रेक्षक की स्थिति कभी राधावत् होगी कभी कृष्णवत् अतएव वह स्थिर नहीं रह सकेगा। यह भी हो सकता है कि उद्धव और राधा है। राधा की विपन्नावस्था और उद्धव के तर्क, दोनों ही सामान्य रूप, शुक्ल जी के अनुसार रसानुभूति नहीं करा सकते हैं।

रामचन्द्र शुक्ल के साधारणीकरण की व्याख्या के अन्तर्गत कोटियों की अवतारणा की है। किसी कोटि में उत्तम कोटि की रसात्मकता उत्पन्न होगी, किसी कोटि में जहाँ तादात्म उद्धव-प्रेक्षकवत् न हो सकेगा, उस स्थिति में प्रेक्षक वर्णित पात्र का मात्र शील दृष्टा या प्रकृति दृष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा, इसे मध्यम कोटि कहा है। इसमें प्रेक्षक के भावों का सीधा आलम्बन होता है। यह आलम्बन कवि के अव्यक्त भाव का होता है जिससे कि पात्र विशेष की उद्‌भावना होती है। तीसरी कोटि अधम है। आनन्द प्रकाश दीक्षित इन्हें रसाभास और भावाभास के रूप में मानते हैं। रामदहिन मिश्र रसकोटियों को रस की प्रकृति के विपरीत कहते हैं तथा तादाम्य का साधारणीकरण के पर्याय में प्रयोग भी भ्रामक मानते हैं।[२] क्योंकि काव्यास्वाद में निर्वैयक्तिकता अनिवार्य रूप से अपेक्षित रहती है।

वास्तविकता में चित्र की अनुभूति यदि चित्र वास्तव में सही अर्थों में कलात्मक चित्र है तो उसकी अनुभूति सौन्दर्यमूलक होगी, वस्तुतः काव्य की भी अनुभूति सौन्दर्यमूलक है रसानुभूति और सौन्दर्यानुभूत में मौलिक अन्तर नहीं है। काव्य कला के आदि आरम्भ से लेकर आज तक के मानव ने अपनी बुद्धि और हृदयगत भावना को जीव और जगतगत बद्ध व्यापारों को समझने और व्यक्त करने में, रत रख कर अपनी सौन्दर्यानुभूति को नाना-रूपाकृतियों और वैभिन्न भावनाओं के रूप में विकसित किया। सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव किसी न किसी रूपाकृति के माध्यम से व्यक्त हुआ। इस अभिव्यक्ति में, रूपाकृतियों में व्यक्त सौन्दर्य, मानव के भावों के आधार पर खड़ा रह कर सिद्धान्त के रूप में व्याख्यायित हो रहा है। सौन्दर्य के पूर्वाधार अभिव्यक्ति का सम्बन्ध मन, कल्पना, भावना आदि से जुड़ा होने से मनोवैज्ञानिकों के विश्लेषण का भी विषय है। इसमें कवि कल्पना के मुक्त आधार को बल मिला। कल्पना का मुक्त आधार प्रेक्षक, पाठक, श्रोता के मन में भावनात्मक स्थिति, वासनात्मक रूप में स्थित स्थायी भाव के साधारणीकृत रूप की ओर संकेत करती है। स्पष्टतः प्रेक्षक पाठक के मन में भाव बोध या अर्थ बोध के साथ ही कल्पना के सहारे भावनात्मक स्थिति व्याप्त हो जाती है जो कि फिर वस्तु-गत व्यक्त सौन्दर्य तथा चमत्कार के साथ आनन्दनुभूति से सम्बद्ध हो जाती है। यही आनन्दानुभूति रसानुभूति की स्थिति है। साधारणीकरण के इस परिप्रेक्ष्य में चित्रगत व्याप्त भाव का बोध और उनका अर्थबोध प्रेक्षक के मन में कल्पना के सहारे के बगैर ही चित्रगत-व्यक्त-परिप्रेक्ष्य यथावत् छबि में व्याप्त हो जाता है जिससे कि प्रेक्षक आनन्दानुभूति ग्रहण करता है। काव्य, संगीत आदि में प्रेक्षक श्रोता और पाठक को कल्पना के सहारे भावात्मक स्थिति मन में व्याप्त होती है, किन्तु चित्र, मूर्ति नृत्यादि में वस्तुगत रूप-सौन्दर्य यथावत् मन में अंकित होता है, जिसकी अनुभूति आनन्दमय होती है। यह आनन्दानुभूति की संज्ञा से अभिहित है। चित्रगत आनन्दानुभूति : सौन्दर्यानुभूति काव्यगत रसानुभूति से भिन्न नहीं है।

विचारणीय तत्व केवल यही है कि क्या चित्र, मूर्ति और नृत्य में प्रेक्षक को काव्य की रसानुभूति सेएक स्थिति पहले, रसानुभूति होती है ? काव्यानुभूति में श्रोता पाठक और प्रेक्षक के मन में भावात्मक स्थिति जो कि वासनात्मक रूप से स्थायीभावों के रूप में विद्यमान रहती है, कल्पना का प्रश्रय पाकर वस्तु के अनुरूप उद्बुद्ध होकर व्याप्त होती है। चित्रों में कल्पना की जगह चित्र अपनी सापेक्षता के काव्य की तरह प्रकारान्तर से बिम्ब और भावात्मक परिवेश तैयार न कर सीधे ही सौन्दर्य सेप्रेक्षक को अविभूत करता है, अतएव प्रेक्षक सीधे ही चित्र से सौन्दर्यानुभूत ग्रहण करता है।

---

१. चिन्तामणि भाग-१, पृष्ठ ३१४, ३१४।

२. रामदहिन मिश्र, काव्य दर्पण, पृष्ठ १३१-३३।

इस तरह चित्र, मूर्ति और नृत्य अंशतः काव्य संगीत की रसानुभूति से भले ही कुछ सूक्ष्म निमिषीय अंतर हो, कुछ पूर्व ही अनुभव करता है।

इस शास्त्रीय पक्ष के अतिरिक्त इसका दूसरा पहलू है रस वैभिन्न। यह स्पष्टतः देखते हैं कि भक्ति और रीति के अनुरूप ही कला में चित्रों का सृजन हुआ है। क्योंकि दोनों की ही मूलाधार भूमि और आधार स्रोत, एक ही रहे हैं। तत्कालीन स्थितियों में काव्य और चित्रकला को समान रूप से प्रभावित किया है। इसमें क्या, समस्त भक्ति काल में लिखा गया काव्य भक्तिमय है या रीतिकाल में लिखा गया काव्य रीतिमय या मात्र दरबारी ही है, सो बात नहीं है। न तो ही भक्तिकाल में समस्त रचनाएँ भक्ति भावना से ओत-प्रोत रही हैं, न ही समस्त रीतिकालीन काव्य साहित्य ही दरबारी या रीतिमय रहा है। इसे दरबारी संज्ञा से अभिहित करना भी समीचीन नहीं है। क्योंकि समस्त रीति काल के प्राप्त साहित्य की सर्जना दरबारों में नहीं हुई है। इसी तरह चित्रों के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। यह ठीक है कि सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अधिकांशतः चित्र राजा बादशाह, सामंत अमीर-उमरावों की प्रेरणा से स्थूल हैं, किन्तु नाथद्वारा, किसनगढ़ के वल्लभ सम्प्रदायी चित्रकार, बीकानेर के मथेन, उस्ता कलम के चित्रकार, आदि आदि राज दरबारों से स्वतंत्र रह कर भी चित्रण कर रहे थे।

इन चित्रों में युग का बोध प्रवृत्ति के अनुरूप मुखर हुआ है जैसे कि रीतिकाल के काव्य में श्रृंगारिकता प्रमुखता से प्रस्तुत हुई है। इसके पूर्व भक्ति काल में भक्ति की प्रधानता रही है। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी के चित्रों में भक्ति और रीतिकाल वत् दोनों की प्रधानता चित्रों में प्रस्तुत की गई है। राजाओं की प्रवृत्ति वृत्ति श्रृंगार के साथ धर्मजन्य भी रही है। इन राजाओं-महाराजाओं का धर्म हिंदू-धर्म और विशेषकर संप्रदाय का अनुसरण करने वाला रहा है। अतः राधा कृष्ण का चित्रण, वल्लभ सम्प्रदायानुकूल आत्मा और परमात्मा रूप में प्रारम्भ होकर, 'राधा कृष्ण सुमरन को बहानो' बनकर लौकिक नायक-नायिका वत् प्रस्तुत होने लगे। रीतिकालीन काव्यगत मुख्य प्रवृत्ति के समान ही नायक-नायिका भेद, बारहमासा, षट्ऋतु वर्णन, अष्टयाम लीला आदि राजपूत चित्रकला में स्थान पाने लगे।

मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में रस की दृष्टि से विचार करने से यह ज्ञात होता है कि सन्तकाव्य में मुख्य रस आध्यात्मिक श्रृंगार का रहा है।[१] इस रस का निर्वेदजन्य श्रृंगार सहायक है। इसमें वस्तु जगत का निर्वेद जन्य रूप, आध्यात्मिक रस को अनुप्राणित करता है। सामान्यतः संतकाव्य में करुण रस को स्थान नहीं मिला है। इसके मूल में यह भावना रही है कि जो संसार नाशवान है, उसके लिए शोक नहीं करना चाहिए। पंच तत्व प्राप्त शरीर पंच तत्वों में परिणित हो जाता है। अतएव आत्मा परमात्मा से मिल जाती है।[२] जो कि शोक का विषय नहीं हो सकती है। वीरत्व भी श्रृंगार का साधन बनकर आया है। वीर रस का सीधा आयाम नहीं है। डा० राम खिलावन पाण्डेय के अनुसार 'परम ज्योति का प्रकाश ही जगत में विकीर्ण है, फिर कोई भी ऐसी वस्तु कहाँ रह जाती है, जिससे घृणा की जाय या की जा सके,' अतएव वीभत्स, भयानक, रौद्रादि की संभावना नहीं रह जाती है।[३] आध्यात्मिक श्रृंगार की उपलब्धि में बाधक तत्वों के प्रति सतकाव्य में आक्रोश, खीज के साथ झुंझलाहट, उत्साह, जुगुप्सा का आयाम है किन्तु ये किसी भी तरह रस के प्रेरक तत्वों में समाविष्ट नहीं हो पाते हैं। क्योंकि ये मूल रस को प्रेरित करने में असमर्थ सिद्ध होते हैं। शांत रस परक शब्दों की बहुलता है। शम और निर्वेद स्थायीभाव, घृति, उद्वेग, मति, ग्लानि, दैन्य, जड़ता आदि संचारियों से पुष्ट होकर आध्यात्मिक श्रृंगार को परिपुष्ट कर रमणीय रस की निष्पत्ति करते हैं। इसमें आत्मा को पति और पत्नी

---

१. 'मैं तो राम कीपतुरिया' कबीर

२. (अ) बूंद समानी समद्ध में सो कत होया जाई। (कबीर)

(ब) फूटा कुंभ जल जलहि समाना, ये तत गहेउ ज्ञानी। (कबीर)

३. मध्यकालीन सन्त साहित्य पृष्ठ-२२४।

मानकर विप्रलम्भ शृंगार के बहुल रूपों को सन्तकाव्यों में सन्त कवियों ने विविध विधा में प्रस्तुत किया। ईश्वरके प्रति भक्त की रतिभावना को समस्त भक्ति साहित्य में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से स्वीकार किया है तथा संतों ने इसे महारस की संज्ञों से अभिहित कर एकांत रूप में आस्वाद्य कहा है[1]। इसमें आत्मस्य प्रिय आश्रय है, इसमें विषयगत उद्दीपन और प्रिय की कायिक मानसिक आहार्य अनुभावों का वर्णन अल्प मात्र है। यह काव्य संचारियों की भीड़, अलंकरण के बोझ से मुक्त सरल स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत हुआ है। क्योंकि इनके रचयिताओं का ध्यान जितना भाव सौन्दर्य की ओर जाता दीख पड़ता है उतना कला पक्ष की ओर नहीं जान पड़ता है। उच्च से उच्च और गम्भीर से गम्भीर भाव को, वे सदा सर्वसाधारण की भाषा में व्यक्त करते हैं। इसमें इन सन्तों ने दूसरों की जीवन गाथा का वर्णन कर निर्गुण ब्रह्म की आत्मानुभूतियों को ही व्यक्त किया है। इसमें इनकी आत्मा परमात्मा की पत्नी रूप में प्रस्तुत हुई है। भगवान् के प्रति उनके अनन्य प्रेम की बड़ी ही सहज और नैसर्गिक अभिव्यक्ति है।[2]

सन्त साहित्य का राजपूत चित्रकला शैली पर प्रभाव की अपेक्षा ही नहीं है। चित्रकला एक ऐसा विषय है जो कि नारी के शारीरिक अस्तित्व को स्वीकारता है सन्तों ने सदैव नारी की निंदा की है तथा उन्हें सदा ही दूर रखने का प्रयास किया है। कबीर आदि का नारी से आशय भोग्या नारी से है। कबीर की वाणी सन्तों के उपदेश इनके सम्प्रदायों में न के बराबर आकृतियों में आए हैं। सन्तों का समय सरहपा के समय के लगभग से प्रारम्भ होकर आधुनिक काल तक रहा है। पर हिन्दी साहित्य में और भारतीय जीवनधारा में कबीरादि कुछ ही स्थान पा सके हैं। चित्रकला के साथ दूसरा सत्य यह रहा कि सन्तों का ब्रह्म निर्गुण था जो कि भारतीय धर्मप्राण जनता के गुणगान को सगुण आधार नहीं दे सकता था अतएव चित्रकारों की दृष्टि से बहुत दूर ही रहा है। मूल शिल्पकारों का भी प्रश्न नहीं उठता है क्योंकि इन संतों ने मूर्तिपूजा, मंदिरों आदि का घोर विरोध किया है।[3] एक तरह से कलात्मक प्रवृत्तियों से मेल खाने वाली विधाएँ सन्तों से दूर ही दूर रही हैं। रीतिकालीन सन्तों में अवश्य युग के अनुकूल भाषा में किंचित् क्वाचित्

---

१. कहु कबीर कहु काइ करीजै।
सब बसु छँडि महारसु पीजै। (संक० राग गउड़ी-५ पृष्ठ-७)

२. नैना अंतर आव सूं ज्यूं हो नैन झपकं,
ना हाँ, देशां और कूं ना तुझ देखन देऊं। (कबीर)

× × ×

जउ तउ गिरिवर तउ हम मोरा, जउ तुव चन्द्र तउ हम भये चकोरा।
माधवे तुम तोरहु तउ हम नहिं तोरहिं, तुम सिंह तोरि कवन सिउ जोरहिं॥ (रैदास)

× × ×

घूंघट का पट खोल रे, तोको पीउ मिलेगें। (कबीर)

३. (अ) सालिग्राम ज्ञान कहं जाना, पाहन पूजि के पण्डित भुलाना।
करि खटकर्म देवन को पूजा, आत्माराम देव नहिं दूजा॥
३। ११, १। ४, संत कवि दरिया। गणेश गोष्ठी।

(ब) देवल पूजे कि देवता, कि पूजै पहाड़।
पूजन को जांता भला, जो पीस खाय संसार।
संत वाणी से, भाग-१-मलूकदास, पृष्ठ-१०४:३।

(स) पाहन को क्या पूजिए जो नहिं देह जवाप।
संत वाणी, कबीर, पृष्ठ-१५३।

अलंकारों का प्रयोग मिलता है, अन्यथा पूर्व भक्तिकालीन सन्तों की भाव-भाषा सीधी-सधुक्कड़ी ही व्यवहृत है।

सन्तों के समानान्तर ही सूफी और वैष्णव भक्त कवियों का प्रादुर्भाव हुआ है। सन्त वाणी तथा प्रचार प्रसार जितना शुष्क रहा है, उतना ही वैष्णव व वल्लभ सम्प्रदायी सगुण लीला गान में प्रबलता से प्रवृत्त हुए हैं। अतएव प्रकारान्तर से सगुण गान की महत्ता स्थापन के साथ ही साथ ललितांगों को भी समुचित समाज में स्थान मिला है। यह वह समय था जबकि कवि कलाकार किसी राजा-महाराजा, सामंत अमीर उमराव की डयोढ़ी पर आश्रित रह कर अपना वक्त नहीं काटा करता था। अपितु जिस समाज में वह पैदा होता था उसी समाज में ही पलकर बढ़ता था तथा उसका जीवन उसी समाज के लिए होता है। यह नहीं हुआ है कि कहीं तरुणाई आई हों और कहीं जवानी के दिन बिताए हों, और मरने किसी नदी के किनारे चले गए हों। अतएव समाज की महत्ती क्षतिपूर्ति की तरह नृत्य संगीत चित्र मूर्ति का आधार, सगुण भक्ति का, समाज में आया। मूर्ति भंजक पृथा मुसलमानों में कायम होने से ऐसा प्रतीत होता है कि कलाकारों का अधिकांश वर्ग, मूर्ति निर्माण से परावर्तित होकर निश्चित रूप से इतर ललितांगों में समाविष्ट हो गया। चित्रकारों की अगली पीढ़ियाँ इसी सत्य का अंशतः द्योतन करती हैं।

सूफी साधक प्रेम के माध्यम से परमात्मा की प्राप्ति का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं। प्रेम अनिवार्य तत्व है।[1] सूफियों के लिए परमात्मा परम प्रियतम और परम सौन्दर्य है। आत्मा इस प्रियतम रूपी परमात्मा को पाने के लिए प्रयत्नशील होती है।[2] सूफी कवि आत्मा और परमात्मा को पाने के लिए प्रयत्नशीलता का वर्णन आत्म विभोर होकर करता है। प्रेम की तीव्रता, हृदय की बेचैनी और आतुरता को अभिव्यक्ति करने के लिए लौकिक प्रेम की विभिन्न मनोदशाओं को काव्य में चित्रित करता है। लौकिक प्रेम को व्यक्त करने के लिए सूफी कवियों ने लोक प्रचलित कहानियों को आधार रूप ग्रहण कर प्रेम काव्यों की रचना की है। इन काव्यों में प्रायः भारतीय कथानक रूढ़ियों का प्रयोग किया गया है। जैसे पशु पक्षियों द्वारा नायिका के रूप का वर्णन, मंदिर, चित्रशाला, आदि में नायिका का दर्शन, चित्र या स्वप्न में नायक को देखकर प्रेम उत्पन्न होना, भारतीय रूढ़ियां हैं। ये रूढ़ियाँ राजपूत चित्रकला शैली में देखी जा सकती हैं।

सूफी, काव्यों में श्रृंगार के स्थायी रति के संयोग और वियोग दोनों ही रूप प्रस्तुत हुए हैं। जायसी के पदमावत में संयोग श्रृंगार के स्थायी भाव रति लौकिक रूपों स्पष्ट हुआ है। इसी तरह वियोग पक्ष भी आत्म बलिदान की प्रेरणा से ओत-प्रोत लौकिक रूपों के साथ ही आध्यात्मिक-परक परिलक्षित होता है। सूफि कवि रसिक प्रवृत्ति के होने के साथ ही साथ साधक भी थे। अतएव इन सूफी कवियों की रति भावना अनुरक्ति की भी प्रतीक है। रतिभाव लौकिकता और अलौकिकता के बीच में लहरियाँ खाते हुए हुआ है।[3] इसमें नायक या साधक प्रेम मार्ग में दीक्षित होकर प्रेम पन्थ पर चलता हुआ साधना करता है। इन सूफी कवियों का प्रेम दिव्य होते हुए भी संत कवियों की अपेक्षा सरस और मधुमय रहा है। इनकी प्रेम कथाओं को राजपूत कला शैली के चित्रकारों ने अपने चित्रण का विषय बनाया है। इन कवियों के नख-शिख वर्णन में अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य को उपमानों से उभारा तथा संवारा है। वेणी नागनी से, पीठ मलयागिरि सदृश्य, मस्तक द्वितीया के चांद से, भौंहे धनुष से, कटाक्ष-वाण से, नेत्र हरिणी लोचन-लीला से, नासिका तोते सी, मुख-कमल, अधर-माणिक्य, दाँत-हीरे सदृश्य, कुच-जमीरी नीबुओं के सदृश्य, कटि सिंह-

---

१. सातों द्वीप नवौ खण्ड आठों दिसा जो आहि।
जो ब्रह्माण्ड सो पिण्ड है, हेरत अन्त न पाहि। अखरावट। जायसी-८। ६।

२. मंझन रहि जग जननि के विरह न कीता चाउ।
सूने घर का पहुंनां जेउं आया तेउं जाउ ॥ मधुमालती। २३६, ५, ६ ॥

३. दरपन मंह देखी परछाहीं,
सो मूरति जेहि तन जिउ नाहीं ॥

कटिसी तथा गति हथिनी सी प्रस्तुत की है। जायसी की पदमिनी पद्म गंध वाली, नेत्र कमल सदृश्य, युगल कुच अविरल-केश, मधुर भाषी, नृत्य गीतादि में अनुरक्त सुडौल शरीर वाली है। इसके रूप वर्णन में कवि ने उपर्युक्त परम्परागत उपमानों को ग्रहण किया है। ये सबके सब लौकिक श्रृंगार रस को पुष्ट करते हैं।

अधिकाँश सूफी कवियों ने श्रृंगार को मुख्य रस के रूप में प्रतिपादित किया है। विलास, विच्छित्ति, विवेक, किलकिंचित्, मोट्टायति, कुट्टमति कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य, विभ्रम, ललित, मद, विहृत, विक्षेप, भोग्य कौतुहल, हसित, चकित, केलि, आदि संचारियों का बहुलता से प्रयोग है। विरहवर्णन में अभिलाषा, चिंता स्मृति, उद्वेग, गुण कथन, प्रलाप, उन्माद, जड़ता, व्याधि, मरण आदि सात्विक और संचारियों का आयाम है।[1] नायिका भेद, नायिका का सोलह श्रृंगार, षट्-ऋतु, बारहमासा आदि वृहत् रूप में प्रस्तुत हुआ है।

जायसी के कुछ पदों में सुल्तानी दरबार की झाँकी प्रस्तुत होती है हालाँकि अभिव्यक्ति का संदर्भ कथा को गति देने के लिए प्रस्तुत किया है। बिम्ब इस तरह का है कि जिसमें दो नर्तकियाँ दरबार की रंगभूमि पर आकर नृत्य करती हैं। पद इस तरह है :—

ओई ओहि कहं ओई ओहि कहं गहा। गहा गहनि तस लाइ न कर।
दुओ नवल भर जोबन गार्जी। अछरी जानु असार बाजी॥ (४४५-२१३)

और राजा इन दोनों अफसराओं को जायसी के अद्भुत श्लेष में तुष्ट करता दिखाई देता है—

चलि राजा आवा तेहि बारीं। जरत बुझाई दूनो नारीं॥
एक बार जिन्ह पिय मम बूझा। काहे को दोसरे सौं सूझा। (४४५-ब, ४)

जायसी कालीन वास्तविकताओं को काव्य रूप में स्थान मिला है। यह तो है ही कि जायसी तत्कालीन दरबारों में जाते रहे हैं। अतएव इनका श्रृंगार सम-सामयिकताओं को भी प्रस्तुत करता है।

सूफी काव्यों में वीर श्रृंगार और करुण में से ही कोई रस प्रधान होकर आता है तथा शेष दो उसके पोषक होकर प्रस्तुत हुए हैं। कहीं कहीं वात्सल्य रस के प्रसंग भी आए हैं। पद्मावत में गोरा-बादल युद्ध-खण्ड में युद्धगमनोद्धत गोरा को देखकर उसकी माँ दुखी होती है। इसी तरह पदमावत में करुण रस की देखकर उसकी माँ दुःखी होती है। इसी तरह पद्मावत में करुण रस का परिपाक पुष्ट होकर हुआ है। ही इन सूफी कवियों की एक विशेषता यह रही है कि अन्त में शान्त रस में अन्य सभी रस परिणित (समाहित) हो जाते हैं। अलाउद्दीन भीगे नयनों से एक मुट्ठी क्षार उठाकर यह पृथ्वी झूठी है—कहता हुआ अन्तर्द्धान हो जाता है।[2] वीभत्स, रौद्र, भयानक के चित्र भी उपलब्ध होते हैं। इन काव्यों में लौकिक और अलौकिक दोनों का परिवेश रहने के कारण श्रृंगार और शान्त दोनों ही रस प्रधानता से प्रयुक्त हैं।[3]

सूफी काव्य में नायक नायिकाओं की प्रेम भावना के सन्दर्भ में यह विशेष उल्लेखनीय है कि नायिका केवल एक पति की अनुरक्ता होती है। नायिकाएँ अधिकांशतः राजकुमारियाँ हैं जिनमें स्वभावतः यौवन रूप, गुण शील, प्रेम,

---

१. स्वकीया का रूप। लाजवन्ति सुन्दर रही, जियहि न बरजा जात।
धीरज हिरदै मों धर, कछु न सुनायहु बात॥ इन्द्रावत्ती, पृष्ठ-२६, नूर मुहम्मद।

२. क्षार उठाय लीन एक मूठी, दीन्ह उडाय पृथवी झूठी।
जायसी ग्र. पृष्ठ-३००।

३. सात खण्ड उपर कविलासू। तहं सोव नारि सेज सुख बासु॥
तेहि मंह पलंग सेज सो डासी। का कहं अैसि रची सुखबासी॥
जायसी ग्रन्थावली-२६१:५:

कुलभूषण, दातृत्व-कृतज्ञता, पाण्डित्य, उत्साह, तेज, चातुर्य गुणों का समावेश है। इस काल तक धर्म आयु प्रकृति जाति और अवस्थानुकूल नायिकाओं के अनेक भेद माने हैं। धर्म के अनुसार—स्वकीया, परकीया, सामान्या, आयु से मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, प्रकृत्यानुसार—उत्तमा, मध्यमा, अधमा, जाति से—पदमिनी, चित्रणी, शंखनी, हथिनी, परिस्थिति के अनुसार—खण्डिता, अभिसारिका आदि-आदि रूप सामने आते है।[1]

सूफी कवियों में अलौकिक-लौकिक से भी नीचे उतर कर भोगिक अर्थात् भोगपरकता पर आ गए हैं। उसमान की चित्रावली में प्रस्तुत बिम्ब इस संदर्भ में देखे जा सकते हैं :—

बिहँसि कन्त कामनि कण्ठ लगाई, वहरइ दगधि उर लाइ बुझाई।
मनमच दाब जांघ पुनि कांपी, रावन बार लंक गहि चापी।
दीनहीं चार नखच्छत छाती, फूट सिघोर सेज भई राती॥
होइगा अंग भंग नव साता, अति परसेद शिथिल भइ गाता॥ (पृष्ठ-२२८)

युद्ध की वीभत्सता को भी सूफी कवियों ने प्रस्तुत किया है। निम्न पद में देखिए।

गा रण बीति खेत उठि जागा, वही सो जूझ हाय पुनि लागा।
कहि तो रुण्ड मुण्ड तन धावै, कहीं तो झूम रक्त रंग राते।
कोई तो धाय धाय लिपटाही, कहीं तो रोय रोय कहराहीं।
कोई ता रहै पियासे पानी, कोई तो रक्त पियें ज्यों पानी।
कोई तो लूटै छार चढ़ाई, कोई सिर ऊपर चंवर डोलाई।। (कासमशाह-हंसजवाहर)

सूर ने विशेष बाल और यौवन के संबंध समस्त जीवन व्यापारों को शब्द विधा में रूप दिया है। अतः वात्सल्य और शृंगार रसों की ही अभिव्यक्ति बाल और यौवन की अवस्थाओं के आधार पर हुई है। अन्य भावों का प्रायः अभाव सा है। भ्रमर प्रसंग में हास्य की उत्पत्ति है। कहीं कहीं कृष्ण के बाल जीवन में, जहाँ कृष्ण दुष्टों का संहार करते हैं, वहाँ भक्ति और शान्ति समन्वित वीर रस की आवृत्ति होती है। वात्सल्य और शृंगार दोनों का ही

---

१. स्वकीया—लाजवन्ति सुन्दर रही, पियहि न बरजा जात।
धीरज हिरदै मां धरा, कछु न सुनायहु बात॥
नूर मुहम्मद-इन्द्रावती, पृष्ठ-२६।

चित्रणी—देवन्ह कौतुक अति जिय भावा, चित्रन दास अमर भई काया।
चित्रिनि कहां हंकारि घरेवा, कहां सौ जोगि करौं जेहि सेवा॥
उसमान-चित्रावली।

कृष्णाभिसारिका—आगे भई सुरज्ञानी बोली, दाढहु ललित रंगीली चोली।
खोलहु सुरंग छबीली सारी, नील बसन पेहिरहु तब बाहीं।
बिछिया बजनी काढि के, छुद्र घंटिका खोलु।
कंगन टाउ छिपाइ लेउ, रसना नेहु न बोलु॥
चरन चापि कछु सकुच न जानी-अंग-अंग ढांपि चली देवजानी।
तनिक सो तन जहं होय उघारी, चन्द्र जुगुनि प्रगटै उजियारी॥
नील वसन मधि सोमत अंग, सी सी भरी कनक जन संग।
साम जलधि विच दामनि जैसी, दूरत मूरत अंधियारी तैसी॥
शेखनबी : ज्ञानदीप।

प्रवर्तक रीति भाव है।[1] सूर वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित थे अतएव संप्रदायानुकूल वात्सल्य भक्ति और दाम्पत्य भक्ति की महत्ता को प्रस्तुत किया है। संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का, मार्मिकतामय उद्घाटन पदों में किया है। सूर के संयोग वर्णन के संदर्भ में रामचंद्र शुक्ल का कथन है सूर का संयोग वर्णन एक क्षणिक घटना नहीं है, प्रेम संगीतमय जीवन की गहरी धारा है, जिसमें अवगाहन करने वाले को दिव्य माधुर्य के अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं दिखाई पड़ता।[2] सूर का शृंगार माधुर्य भक्ति के आवेश की अभिव्यक्ति है जिसे कि रमणीय रस के संदर्भ में स्पष्ट किया जा चुका है। कृष्ण और राधा परमात्मा के और आत्मा के प्रतीक हैं।

जो कि गीता के— यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानि भवति भारतः।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं॥ (गीता-४-७)

सूर के शब्दों में— जगनायक-जगदीश प्यारी जगत जननी जग रानी।
नित बिहार गोपाल लाल-संग वृन्दावन रजधानी॥

[illegible]य ब्रज में बिहार करते हैं।

सूर की विप्रलब्ध राधा के समानान्तर खजुराहो के कण्डरिया महादेव मंदिर की नायिका (राधा) चकित भई मन मांही, अबही (श्याम) द्वार ह्वौं झाकैं। ह्या आए नाहीं——" से भाव साम्य का पूर्व प्रस्तर प्रारूप है। चित्र फलक ९वां)

शृंगारिक परम्परा, नायिका भेद आदि में सूर, जयदेव, विद्यापति आदि भक्त शृंगारिक कवियों से प्रभावित अवश्य थे।[3] साहित्य लहरी में नायिका भेद का आयाम है। स्वच्छन्द रमण आदि इसी सन्दर्भ में आते हैं।[4] सूर सागर में नायिका भेद का अलग से विवेचन किया है। राधा स्वकीया, परकीया, वियोगिनी और निर्वेद जन्य विरत रूपों का चित्रण किया है। अन्य रूपों में प्रमुखता अज्ञात यौवना, वचन विदग्धा, क्रिया विदग्धा, वासक सज्जा, खण्डिता, मानवती, उत्कण्ठिता प्रोषितपतिका, विप्रलब्धा, कलहन्तरिता आदि नायिकाओं के स्वरूप राधा के माध्यम से प्रस्तुत हैं।[5]

---

१. डा० हरिवंज शर्मा, सूर और उनका साहित्य, पृष्ठ-३३८।
२. सूरदास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृष्ठ-१८२॥
३. डा० हरिवंश शर्मा, सूर और उनका साहित्य : पृष्ठ-३३१।
४. नवल किसोर नवल नवरिया।
अपनी भुजा स्याम-भुज उपर, स्याम भुजा अपने उर धरिया।
क्रीड़ा करत तमाल-तरुन-तर, स्यामा उमंगी रस भरिया।
या लपटाइ रहे उर-उर ज्यौं, मरकत मनि कंचन में जरिया॥ (सू० सा० स० १३०)
५. (ल) वासकसज्जा: : राधा रुचि रुचि सेज सवांरित।
तापर सुमन सुगंध बिछावति, बारंबार निहरिति।
भवन गवन करिहैं हरि मेरैं हरषि दुर्खहि निसवारति॥
(ब) खण्डिता : : : प्यारि चितै रही मुख पिय को।
अंजन अधर कपोलनि बन्दन लाग्यौ काहू तिय को। (सू० सा० स० ३१००)
(स) विप्रलब्धा : : : राधा चकित भई मन माही,
अबही स्याम द्वार ह्वो झांके, हया आए क्यों नाहीं।
आपु न आय तहां जो देखे, मिले न नंद कुमार।
घन, अति ही भयो विचार॥
सुनै भवन अकेली मैं ही, नीकें उझकि निहारियो॥
मोते चूक परी मैं जानी, तातै मोहि बिसरायो। (सू० सा० २९९३)

सूर द्वारा प्रस्तुत राधा के ये अनेक चित्र अपने ढंग का अलग महत्व रखते हैं। वियोग में, वात्सल्य-वियोग और विप्रलम्भ शृंगार दोनों ही रूप मुखरित हैं।[१] विप्रलम्भ शृंगार में अलौकिकता का आभास अधिक होता है। सूर के वियोग में अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मूर्छा और मरण आदि ग्यारह आस्थाएँ हैं।[२] अन्य रसों में हास्य करुण और भयानक (दावानल प्रसंग में), वीर, अद्‌भुत तथा शान्त रस प्रस्तुत हुए हैं। वीभत्स का अभाव है।

सूरादि के भक्ति रस के सन्दर्भ में इसका स्थायी भाव भगवत रति है। यदि भगवत रति को स्थायी भाव की कसौटी पर कसा जाय तो भगवत रति स्थायी भाव ही ठहरता है। सूर, तुलसी, मीरा आदि के पदों में अभिव्यक्त भगवद् रति, विरोधी और सहायक, सभी भावों की उपस्थिति में भी आनंद दशा तक पहुँचने में समर्थ है।[३] डा. वाटवे के अनुसार भगवद् रति में भय आत्महीनता या शरणागति और जिज्ञासा इन प्राथमिक भावनाओं का सम्मिश्रण रहता है। उत्सुकता निषाद, दैन्य, व्याधि, भय, निर्वेद, ग्लानि, गर्व, व्रीड़ा आदि भावनाएँ, इसका परिपोषण करती है। शान्त, वात्सल्य, शृंगार, वीर, क्रोध, करुण, नम्रता आत्म समर्पण आदि भावों का भक्ति में समावेश होता है। इस प्रकार से अनेक संचारी भाव तथा अन्य रसों के स्थायी भाव भी ईश्वरानुरक्ति भाव के चारों ओर जमा होते हैं और उसे उत्कट रूप में आस्वाद्य बनाते हैं।[४] इसके आलम्बन विभाव कृष्ण है और प्रिया राधा है। ये नायक-नायिका विभाव पक्ष के द्योतक है। उद्दीपन विभाव में आलंबन से गुण चरित्र-मण्डन, परिवेश गत प्रकृति आदि हैं। मानसिक, कायिक और आहार्य अनुभावों के अन्तर्गत वय, रूप, लावण्य, रास, वेणुवादन, गोदोहन, नृत्य, वस्त्राभूषण, माल्य-धारण, अनुलेपन आदि—आदि मूल भाव के उद्दीपक हैं। इसके अनन्तर सात्विक संचारी भावों की परम्परा से परिपुष्ट होकर स्थायी भाव भगवद् रति, रसिक भक्त के हृदय में रस दशा को प्राप्त होती है। उदाहरण में स्थिति दृष्टव्य है—

नयौ नेह, नयौ गेह, नयौ रस, नवल कुंवरि वृषभानु-किसोरी।
नयौ पीताम्बर, नई चूनरी, नई-नई बूंदनि भीजति गोरी॥
नये कुंज, अति पुंज नये द्रुम, सुभग पवन जल पवन हिलोरी।
सूरदास प्रभु नव रस बिलसत नवल राधिका जोबन भारी॥ (सभापद-१३०३)

इस भक्ति भावना के साथ मूर्तिकरण की प्रवृत्ति के विनाश के साथ में कामुकता का योग भी बढ़ता गया जो कि १८वीं शताब्दी तक पहुँचते पहुँचते शुद्ध काम शास्त्रीय रूपों में परिणित हो गया। राम काव्य की भी आगे चलकर यही दशा हुई। रीतिकाल के कवि खुल्लमखुल्ला कहने लगे "आगे के सुकवि रीझि हैं तो सुकविताई, न तु राधा गोविंद सुमिरन को बहानो है।' सूर के उपरांत नंददास की रस मंजरी में, नायिका भेद, संस्कृत के कवि भानुदत्त की रस

१. यशोदा की चिन्ता: प्रातकाल उठि माखन-रोटी को बिनु मांगे देहे।
को मेरे वा कान्ह कुंवर कांछिनु छिनु अंक में लेहे। (सभापद-३७६१)

२. स्मृति—वे बतियां छतियां लिखि राखीं जे नंदलाल कहीं। (सभासद-४०२३)
उन्माद ऊधौ इतनी कहियो जाह,
अति कृस गात मई ये तुम बिनु पाभ दुखारी गाइ।
जल समूह बरषति दोउ अखियां, हूकीति लीन्हें नांऊं।
जहाँ जहाँ गोदोहन कीन्हों, सूंघति सोएं ठाऊं॥ (सभा-४६८८)

३. ब्रज भाषा के कृष्ण काव्य में माधुर्य भवित—डा० रूप नारायण

४. रस विमर्श—डा० वाटवे पृष्ठ २८२।

मंजरी के आधार पर, प्रस्तुत हुआ। भानुदत्त की रस मंजरी का चित्रण राजपूत चित्र-कला में बहुतायत से मिलता है। नायिका भेद के संदर्भ में इसका उल्लेख आगे प्रस्तुत है।

सूरदास द्वारा प्रस्तुत रसों को 'राजपूत चित्रकला शैली की स्थानीय कलमों में तथा अन्य इतर राजपूत पहाड़ी चित्रों में यथावत् आवृत्ति का अभाव है। सूर के राधाकृष्ण : रमणीय रस, मधुर रस भक्ति रस : के उत्प्रेरक राधाकृष्ण, तत्कालीन राजकुमार-राजकुमारियों के परिधान, परिवेश, में चित्रित हुए हैं जो स्थानीय रूपों और प्रति रूपों का समय गत उद्‌घाटन करते हैं। उदाहरण के लिए किसनगढ़ की राधा का मेल जयपुर की राधा से नहीं होता है। इसी तरह राजस्थान की राधा कांगड़ा घाटी में जाकर पहाड़िन राजकुमारी बन जाती है, कहीं कहीं केवल राजकुमारी का ही बोध व्यक्त करती हैं। सूर के राधा-कृष्ण तथा अन्य पात्र पहाड़ी राजाओं के चित्रक-आदर्श-प्रतीक रहे हैं, इस कारण से एक लम्बी परम्परा नायिका भेद, बारहमासा, षट्ऋतु, रसिकप्रिया, कविप्रिया, रसमंजरी, चोर-पंचासिका आदि के अतिरिक्त भागवद् के दशम स्कंध का चित्रण व्यापक रूप से हुआ है। राजपूत चित्रकला के विकास को देखते हुए ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे ये पहाड़ी चित्र विधा राजपूत चित्रकला शैली का ही एक अंग हो। यह ऐसा रहा है कि राजपूत वृत्ति दोनों ही स्थानों में मूलतः समान भाव से रही है। इससे भी अधिक दूसरा सत्य रूप, विधा में पहाड़ी चित्र शैलियाँ पिछली शताब्दी की राजपूत चित्रकला शैली का विकसित रूप है जिसमें रूप, निखार, सज्जा, रंगमेल, एकान्वित प्रभाव, संतुलित हैं।

बीकानेर, मेवाड़, जयपुर में सूर के स्वरूपों का विन्यास हुआ है। मेवाड़ शैली में उद्धव गोपियों का प्रसंग सम्पूर्ण चित्रण मिलता है, जो कि राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली में सुरक्षित है। कृष्ण लीलादि के चित्र विपुल मात्रा में हैं। कृष्ण राधा के चित्र स्वतन्त्र रूप में भी हैं। इन चित्रों में सौन्दर्यानुभूति तो प्रेक्षक को होती ही है, किन्तु यह सौन्दर्यानुभूति आत्मस्थ रति को पुष्ट करती हुई लौकिक ही है। तुलसी के राम सीता के अलावा, दशरथ और श्रवण का वृतान्त, राम लक्ष्मण हनुमान, हनुमान सीता के चरणों का स्पर्श करते हुए, वानरों का लंका पर चढ़ाई करना, राज्याभिषेक, अनेक प्रसंगों के सैंकड़ों चित्र जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, मेवाड़, मालवा, ओड़छा की शैलियों में भी चित्रित हुए हैं। पहाड़ी राजपूत शैलियों में भी चित्रित हुए हैं। इन चित्रों में भक्ति रस की अनुभूति प्रेक्षक करता है। राम-लक्ष्मण सीतादि पूज्य भावना के प्रेरक हैं, प्रियतम की पुष्टि होती है। मुक्त शृंगारपरक चित्रों का अभाव है अधिकांशतः निर्वेद जन्य शान्त रस, प्रदाता है। वीर, भयानक की आवृति लंका-युद्ध चित्रों में है। करुण-सीता का अशोक वाटिका में होना, श्रवण का मृत्यु समीपस्थ चित्र, आदि में निसृति है। राक्षसों की आकृतियाँ हास्य की प्रेरक अधिक हैं। एक तरह से राम कथा की चित्रों में जो आवृत्ति हुई है, वह यथोचित रसों की सत्ता का बनाए रखने में समर्थ रही है, और है। काव्य में राम काव्य के रीतिकालीन कवियों ने राम को अवश्य कर रसिक चित्रित किया है किन्तु राजपूत चित्रकला शैली के चित्रकारों ने, कलाकारों ने ऐसा नहीं किया है। राम का स्वरूप वहीं पूज्य और मान्य रखा है जैसा कि उन्हें परम्परा से प्राप्त हुआ था, बल्कि उस स्वरूप को और भी सौन्दर्यान्वित किया है।

रीतिकाल में रस प्रक्रिया चरम पर थी। इसमें अधिकांश आचार्यों ने सभी रसों को अपने काव्य व रीति में स्थान दिया है। कुछ आचार्यों ने केवल शृंगार-रस को रसराज मानकर अपनी समस्त प्रतिभा उसी के आलोड़न में खर्च करते रहे हैं। नायिका भेद पर लिखने वाले आचार्य तो अधिक हैं जो कवि नाम को सार्थक करते हैं, पर केवल नायिका भेद पर शास्त्रीय दृष्टि रखने वाले कुछ अल्पतम ही है। सवं रस निरूपक आचार्यों में आचार्य केशवदास हैं। रसिकप्रिया इनका काव्य ग्रन्थ है जिसमें सभी रसों का प्रतिभावन प्रतिपादित किया है। तोष कवि की सुधा निधि सुखदेव का रस रत्नाकर और रसार्णम, करन कवि कृत रस कलोल, कृष्ण भट्ट देव ऋषि कृत शृंगार रस माधुर्य माधुरी, याकूबखाँ कृत रस भूषण, भिखारी दास कृत रस सरोज और शृंगार निर्णय, सैयद गुलाम नवी का रसलीन, समनेस कृत रसिक विलास, शंभुनाथ मिश्र कृत रस तरंगिणी, शिवनाथ कृत रस दृष्टि, उजियारे कृत जुगुलरस, प्रकाश और रस चन्द्रिका,

महाराज रामसिंह कृत रस निवास, सेवदास कृत रसदर्पण, वेनी बंदीजन कृत रस विलास, पद्माकर का जगतविनोद, वेनी प्रवीन कृत नव रस तरंग, नवीन कृत रंग तरंग, चन्द्रशेखर वाजपेयी कृत रसिकविनोद, ग्वाल के स्फुट पद आदि सर्व रस निरूपक है। आचार्यों का एक दूसरा भी वर्ग है जिन्होंने केवल शृंगार का ही निरूपण किया है। इनमें मंडलकृत रस रत्नावली, मतिराम कृत रसराज, देवकृत रस विलास आदि अन्य ग्रन्थ, उदयनाथ कृत रस चन्द्रोदय, भिखारीदास, चन्द-दास आदि और उनकी कृतियाँ, शृंगारिक बहुलता के प्रतीक हैं। इस युग में भूषण जैसे कवि भी हैं जिन्होंने कि अपनी कविताओं में वीररस का सुधापरिपाक किया है। इन्होंने वीर के अन्तर्गत दानवीर, दयावीर, धर्मवीर, युद्धवीर, कर्मवीर और ज्ञानवीर रूपों में विभक्त किया है। भूषण ने अन्य रस शान्त, रौद्र को वीर के सहायक के रूप में उपस्थित किया है। करुण अद्भुत को वीर रस के ही अन्तर्गत ले लिया है। जहाँ तक कि शृंगार का उदाहरण भी वीर के ही अन्तर्गत देने की सफल हिमाकत की हैं। इसके अनन्तर नायिका भेद पर शास्त्रीय रूप से लिखने वालों में सर्वप्रथम आचार्य चिन्तामणि शृंगार-मंजरी के माध्यम से आते हैं। इसके उपरान्त कालिदास कृत वधु-विनोद, यशोदा नन्दन कृत नायिका भेद, प्रताप साहि कृत व्यंगार्थ कौमुदी, गिरिधर दास कृत रस रत्नाकर आदि इसके पूर्ण विवेचक हैं। १९०० वि. सं. के बाद ग्वाल, लछिराम, सेवक, बिहारी लाल, प्रतापनारायण सिंह, भानु ब्रजेश, आदि का नाम उल्लिखित किया जा सकता है।

नायिका भेद को राजस्थान के राजा-महाराजाओं. सामन्त, अमीर-उमराव ने अपने यहाँ चित्रित करने का अवसर प्रदान किया है। इसलिए नायिका भेद को सही रूप में समझने के लिए सर्वप्रथम आचार्य भरत की शरण में जाना पड़ेगा। भरत ने प्रकृति के अनुसार उत्तम मध्यमा और अधमा कहा है।[1] इसके उपरान्त वासक सज्जा विरहो-त्कंठिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, प्रोषिता पतिका, स्वाधीनपतिका, कलहांतरिता तथा अभिसारिका के आठ रूपों में विभक्त किया है। वेश्या, कुलजा और प्रेष्या तीन रूप साधारणतः प्रकारांकतर से सामान्या, स्वकीया और परकीया के प्रस्तुत किए हैं। चतुष्वर्ग नायक के आधार पर भी चार नायिका-भेद महादेवी, देवी, स्वामिनी, परिचारिका कहे हैं। परवर्ती आचार्यों ने प्रकृति अवस्था और कर्म के आधार पर भेद किए हैं। इसके अनन्तर रीतिकाल में तो शृंगार परकता के कारण इस तरह के ग्रन्थ बहुलता से मिलते हैं। इनमें शारदा तनय का भाव प्रकाश तथा भानुदत्त का रस तरंगिणी और रस मंजरी विशेष महत्त्व के हैं। भानुदत्त का रस और नायिका भेद का विवेचन अत्यन्त स्पष्ट और सांगोपांग है। इसलिए उतरकालीन कवियों एवं तत्कालीन तथा परवर्ती चित्रकारों ने भानुदत्त की रस तरंगणी और रस मंजरी से नायिकाभेद के चित्रण में सीधी सहायता ग्रहण की है। अधिकांश चित्रकारों ने नायिका का, पृष्ठ भूमि अथवा कागज पर चित्रण करने के साथ ही भानुदत्त का बोधक पद भी उद्रित कर दिया है। इससे यह आभाए मिलता है कि भानुदत्त का नायिका भेद अधिकांशतः व्यापक अपनी सरल और सहज सप्रेषनीयता के कारण हुआ है। भानुदत्त के अनुसार रस मंजरी में मुग्धा के तीन भेद किए हैं—अंकुरित यौवना (ज्ञात यौवना : अज्ञात यौवना), नवोढ़ा, विश्रब्ध नवोढ़ा। पगलभा के दो रूप रतिप्रीता, आनन्दात्संमोहा कहे है। परोढ़ा के ६ भेद गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुल्टा, अनुशयना, मुदिता माने हैं। अभिसारिका के ज्योत्सना, तम, दिवा के आघात पर तीन भेद किए हैं। दशानुसार अन्य-संभोग-दुखिता, वक्रोक्तिगर्विता, मानवती, ज्येष्ठा, कनिष्ठा, दिव्य, अदिव्य, दिव्यादिव्य भेद कहे हैं। ये सभी भेद डा० नगेन्द्र के परीक्षण के अनुसार इस तरह हैं।[2]

---

१. सर्वासमेव नारीणां त्रिविधा प्रकृतिः समृता। उत्तमा मध्यमा चैव तृतीया चावमा स्मृता। नाट्य शास्त्र-अ ३१०. २२.
२. रीति काव्य की भूमिका, डा० नगेन्द्र, पृष्ठ-१३८।

आधार	——
जाति पद्मनी,	शंखनी, हाथिनी।
कर्म	स्वकीया, परकीया, सामान्या।
पति का प्रेम	ज्येष्ठा, कनिष्ठा।
वय	मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा।
मान	धीरा, अधीरा, धीराधीरा।
दशा	अन्य-सुरति-दुखिता, मानवती, गर्विता।
काल (अवस्था)	पोषित पतिका, कलहांतरिता, खण्डिता, अभिसारिका आदि।
प्रकृतिः गुण	उत्तमा, मध्यमा, अधमा।

नायिका का यह विविध रूप समस्त राजपूत कलम की स्थानीय शैलियों में हर समय व्याप्त रहा है। चित्रकारों ने क्रम से प्रायः चित्रण तो कम ही किया है किन्तु समय-समय के जो चित्र मिलते हैं उनसे सम्पूर्ण नायिका भेद के चित्रण का अनुमान लगता है। इस तरह के चित्र आज राजशाही संग्रहालयों में सुरक्षित है तथा इनके कुछ रूप जो कि बहुत अच्छे बन पड़े हैं। राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली में हैं। पहाड़ी राजपूतों की स्थानीय चित्रकला में भी नायिका भेद का बृहत् पैमाने पर चित्रण हुआ है जो कि आगे चल कर अश्लील हो गया है।

कुल मिला कर राजपूत चित्रकला भक्ति और श्रृंगार के क्षेत्र में काव्य में प्राप्त भक्ति और श्रृंगार में अधिकांशतः समानान्तर ही है। किन्हीं रूपों में साहित्य से भी श्रेयस रूपों में हैं, जैसे रामायण का भक्ति परक चित्रण। नायिका भेद में ऐसा प्रतीत होता है कि काव्य के प्राप्त रूपों से कहीं अधिक चित्रित हुआ है जो कि शील की सीमा का उल्लंघन भी करता है।

अध्याय ३

राजपूत तथा अन्य कला शैलियों का आदान-प्रदान और हिन्दी काव्य पर उसका प्रभाव।

युद्ध और युद्धों की परम्परा ने मानव को एक विश्व व्यापक दृष्टिकोण की दिशाओं में प्रवृत्त किया। मुगल आक्रमण और युद्धों के बाद अकबर ने इस तथ्य पर विचार किया और चाहा कि कोई ऐसी सभ्यता का आरंभ होना चाहिए जो मिली-जुली हो और दोनों की (हिन्दू-मुसलमान) संस्कृतियों के पास की ठहरती हो। यह प्रारूप जो अकबर के मन में तैयार हुआ था, एक दिन संकल्प, और एक दिन कार्य रूप में ही उसके जीवन काल में ही परिणित हो गया। यह बात दूसरी हो सकती है कि अकबर के मरते ही संस्कृति को यह नई देन भी मृत प्राय: होकर सदा-सदा के लिए अस्तित्व हीन हो गई। उसका वैसे इतिहास में स्थान है और रहेगा। अकबर का यह प्रयास चित्रकला में निश्चित रूप से मुखर हुआ है और दो शताब्दियों तक के एक लम्बे अरसे तक बना रहा है।

आयने अकबरी (पृष्ठ–३४) के अनुसार, अकबर अपने दरबार में चित्रकारिता और लेखन कला को स्वयं देखता था। फतेहपुर सीकरी के शाही महल में चित्रकारी का कार्य बड़े पैमाने पर आरम्भ किया। इस कार्य को भली-भाँति सम्पन्न करने के लिए अकबर ने राजस्थान, गुजरात, दक्षिण भारत तथा पटना आदि अन्य स्थलों के कुशल तथा निपुण चित्रकारों को फतेहपुर सीकरी बुलाया था। प्रति सप्ताह का चित्रकारी का किया गया संपूर्ण कार्य, बादशाह के समक्ष दरोगा और कर्मचारियों के द्वारा प्रस्तुत किया जाता था। चित्रकारों को चित्रकारी के लिए सभी तरह के साधन उपलब्ध रहा करते थे। अकबर उन व्यक्तियों को पसन्द नहीं करता था जो चित्रकला से घृणा करते थे।[1]

डॉ० कुमारस्वामी को राजपूत चित्रकला को मुगल कला से पृथक् सत्ता पर प्रस्थापित करने का श्रेय है। इस सत्य को पर्सीब्राउन ने "इंडियन पेन्टिग अन्डर मुगल रूल्स" के 'प्रीफेश' में (सन् १६२४ ई०) स्वीकार किया है। इसके समानान्तर ही मुगल शैली के वास्तविक रूप को भी स्पष्ट प्रकाश मिला जिसमें उसका आत्म रूप प्रगट हुआ। अन्यथा सभी तरह के चित्र मुगल और मुगल शैली के कह दिए जाते थे। अकबर के आयने अकबरी के उद्धरण तथा बाहर से कलाकारों को बुलाने से यह स्पष्ट होता है कि किसी भी तरह की मुगल काल में शाही चित्रकारी होने के पहले भारत में चित्रकला अपने कौशल और नैपुण्य में श्रेयस थी। अकबर ने इन चित्रकारों को दिशा दी है जो कि चित्रकला के विकास के इतिहास में कलम और शैली के रूप में प्रतिष्ठापित हुई। किन्तु इसके पूर्व हुमायूं का दृष्टिकोण और चित्रकला के प्रति उसके प्रयास जान लेना जरूरी है। क्योंकि ऐसा प्रमाण है कि हुमायूं ने दो चित्रकारों को पर्सिया से बुलाया था।[2]

मुगल चित्रकला और पर्सियन (ईरानी) चित्रकला में प्राचीन सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का आभाव है। इसके दो कारण हैं, पहला तो यह कि मध्य एशिया का प्राचीन इतिहास, पूर्व से पश्चिम और पश्चिम से पूर्व की तरफ होने वाले आक्रमणों का इतिहास है। इसमें दूसरा कारण यह है कि इस्लाम धर्म में मुहम्मद की दृढ़ आज्ञानुसार चित्रकला वर्जित है जिसका कि मध्य एशिया की चित्रकला पर प्रभावों का पड़ना कोई अस्वाभाविक नहीं है। मध्य एशिया की संस्कृति के सिलसिले में आक्रान्ता अपनी सभ्यता के विकास और विस्तार के योग्य परिस्थिति पैदा करने के लिए विजित ग्राम, नगर, और राज्यों की सांस्कृतिकता को नष्ट करता था। आग लगाना, क्रूरतापूर्वक सामूहिक वध करना, नगरों को

१. 'देयर आर मेनी देट हेट पेन्टिग, बट सच मेन आई डिसलाइक, पृष्ठ–२४।
अकबर रिलीजन थाट रिफलेक्टेड इन मुगल पेन्टिग : ऐमी वेलेज।
२. इंडियन पेन्टिग अण्डर मुगल रूल्स : पर्सीब्राउन, पृष्ठ–१८।

उजाड़ देना ताकि उसके उपरान्त उनकी अपनी सभ्यता के अनुकूल भूमि उन्हें मिल सके। एक तरह से भय और वीभत्स-भयानकता को पैदा कर अपनी संस्कृति को बढ़ाया है। यह क्रम इस्लामियों ने पूर्व मध्यकाल से ही प्रारंभ किया था। मूलतः पर्सिया में अरबों के आक्रमण सातवीं शताब्दी में आरंभ हुए। जिसमें यही उपर्युक्त ध्वंश का क्रम रहा जिसमें पर्सिया के सात महा-नगरों को धूल में मिला दिया। पुरानी कथा कहने को स्टेशीफुन का टाईग्रस की बड़ी-वीरान मेहराब जैसे वास्तुशिल्प के चिह्न शेष रह गए। मेसोपोटामिया की भी यही स्थिति हुई। इन क्रूर-ध्वंसोन्मुख अरबों की कला, पर्सिया के इसी टाईग्रस से आरम्भ होती है। इस आरम्भ होती हुई पर्सिया के अरबों की कला ने, प्राचीन सभ्यता से कुछ मोटिफज भी लिए हैं जो कि पूर्व सभ्यता ससानिक सभ्यता के प्रतीक हैं। इस टाईग्रस के ठीक विपरीत इयुफ्रेटस नगर में भी पर्सिया की कला का सूत्रपात इसके समानान्तर ही प्रारम्भ होता है।

इस सबके उपरान्त चित्रकला का प्रथमिक उद्धरण बारहवीं शताब्दी में बगदाद, बसरा से मिलते हैं।[1] इस समय तक जिन अरबों ने इन ससानिड़ नगरों को नष्ट किया था, अब अपनी सत्ता को स्थिर करने में प्रयत्नशील थे। बारहवीं शताब्दी का चित्रों का जो इतिहास मिलता है, उसे अरब चित्रकला या अति प्राचीन अरब चित्रकला की संज्ञा से अभिहित करते हैं। १३वीं शता. के बगदाद के खलीफा अब्बा शीद के समय "स्चेफरैस हरीरी" (सन् १२३७ ई०) बहुविधि चित्रांकित हुआ है।[2] संघर्ष के उपरान्त जिस सभ्यता का विकास हुआ, उसका द्योतन इन चित्रों में हुआ है। समीक्षा के दृष्टि से यह प्रारम्भिक अनगढ़ रूप में प्रस्तुत हुई है। वैसे अरबों में चित्रों की परम्परा का अभाव है। इन्हें अपनी अभिव्यक्तियों के लिए अन्य की कला परम्पराओं पर निर्भर करना पड़ा है। हरीरी के चित्रांकन में वहाँ के चित्रकारों को लगाया हुआ था वहाँ उन कलाकारों ने वैजान्टिक कला से, कला की विधा को अपनाया है और अपने आत्म प्राप्त स्वरूपों और आकृतियों को खलीफा की आज्ञानुसार प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। मेसोपोटामिया की प्रकृति इन चित्रों की पृष्ठभूमि में स्पष्ट प्रतीत होती है जो कि तत्कालीन वैजान्टिक चित्रकला में भी देखी जा सकती है। इसके साथ ही अजन्ता और एलोरा में फूल पत्ती से सीमाबंधों की सज्जा की विधा भी इन चित्रणों में उपलब्ध है। अरब बाजारों के चित्रणों में काले चेहरों में बुद्ध वेशभूषा में बौद्ध सन्यासी भी चित्रित हैं। इनकी आकृति रेखाएँ भारतीयों के ही सदृश्य हैं।

मंगोल में इस्लाम के साथ ही जब सत्ता कायम की तब इन इस्लामी आक्रान्ताओं को अपने भवन-निर्माण और कला सज्जा के लिए चीनियों का ही मुंह ताकना पड़ा क्योंकि इन आक्रान्ताओं की परम्परा में कला जैसी वस्तु के लिए कोई स्थान नहीं था। लूटमार, खून-खच्चर ही आए दिन का कार्य था। अतएव पराजित चीनियों की कला संस्कृति को अपनाया। मंगोल की कला इस तरह चीन से उत्प्रेरित रही।

इस तरह पर्सिया को जहाँ पश्चिम की ओर अपनी प्रेरणाओं और कार्य विधियों के लिए सहारा लेना पड़ा वहीं मंगोल को चीन का आसरा ग्रहण करना पड़ा। मंगोलों में सौन्दर्य चेतना की समृद्धि के लिए, मंगोल जब भी चीनादि पर आक्रमण करते थे तब वहाँ के कलाकारों को धन-संपत्ति के साथ उठा ले आते थे और उन कलाकारों को साम्राज्य में कला-निर्माण-कार्य में लगाते थे। इन बंद्धक चीनियों से भवनों की सज्जा करवाते थे। इसके पूर्व तक पर्सिया का संबंध मंगोल राज्य से नहीं था किन्तु मंगोल राज्य के ही अंतर्गत हो जाने पर पर्सिया को प्रेरणा के लिए पश्चिम पर निर्भर नहीं रहना पड़ा। मंगोल-शासक हुलगू के समय में लगभग सौ चीनी चित्रकारों के परिवारों को मंगोल लाया गया और यहाँ से पर्सिया पहुँचाया गया। इन परिवारों के साथ मंगोल की चित्रकला की संरचना की जो कि उन्हें पर्सिया में जा कर प्रस्तुत करनी थी। इन चीनी चित्रकारों ने यहाँ भी उसी तरह जिस तरह चीन के बाजारों में चित्र

---

१. इंडियन पेन्टिग अण्डर मुगल रूल्स : पर्सीब्राउन : पृष्ठ—३६ :

२. बिस्लीओथेक्यु नेशनल. अराबे नं०—५८४७।

प्रस्तुत करते थे, किये, किन्तु अल्पतः संशोधन और मंगोलियन परिवर्द्धन के साथ इनका कार्य सामने आया। चौदहवीं शता०, तक पर्सिया की कला मंगोल राजा की प्रान्तीय कला के समानुरूप हो गई।[1]

पर्सियन कला मगोल-चीनी प्रभाव में लगभग सौ वर्ष रही। इसके प्रमुख स्थान मारगाह अज़र-बाईजन, सुल्तानिया और तबरिज थे। यहाँ मंगोलों के गढ़ रहे हैं। इसके उपरान्त कला का विकास बुखारा और समरकंद में अधिक हुआ। समरकंद का शासक अमीर तैमूर कला का बहुत ही प्रशंसक एवं चाहने वाला रहा है, उसने कला को सभी तरह से बढ़ावा दिया। तैमूर की वंश परम्परा में कला के प्रति आकर्षण रहा है। इनसे कवि, गायक, संगीतज्ञ, दार्शनिक, वास्तुकलाविद प्रोत्साहित होते रहे हैं और इनका सम्मान समरकंद तैमूर की राजधानी में हमेशा रहा है। यही परम्परा बाबर के द्वारा भारत में आई। तैमूरी वंश में सन् १४१६ ई० में शाहरुख ने कला के ज्ञान के लिए ग्यासउद्दीन खलील, प्रसिद्ध पर्सियन चित्रकार के मातहत एक शिष्ट मण्डल चीन भेजा था तथा दूसरा भारत भेजा था। यह इतिहास प्रसिद्ध सत्य है।[2] भारत में आने वाले शिष्ट मण्डल का नेतृत्व अब्दुल रज्ज़ाक के हाथों था जो कि सन् १४४२ से १४४४ तक भारत में रहा। शाहरुख की चित्रशाला में ४० चित्रकार कार्य रत थे जो कि पाण्डुलिपियों का चित्रांकन मौलाना जफ़र के परिवेक्षण में किया करते थे। बुखारा में पन्द्रहवीं शता० में सुल्तान हुसैन मिर्जा के शासनकाल तक कलाओं का अभ्यास बढ़ता रहा है। उमरशेख के समय में सबसे बड़ा पेन्टर बिहज़ाद रहा है। बिहज़ाद ने चित्रण व्यक्तिकता को स्थान दिया है। सन् १५०६ में बिहज़ाद के शिष्य सुल्तान हुसैन की मृत्यु से इनके शिष्य और कलाकार सफाविद-राजवंश के कर्मचारी हो गए। यह राजवंश सही अर्थों में सूफी था जिससे कि इनकी धार्मिक नीति का प्रभाव इन चित्रकारों की कृतियों पर भी पड़ा है।[3]

बाबर का पिता तैमूर और मां मंगोल शासक चंगेजवंश की थी। बाबर के खून में दो प्रसिद्ध राजवंशों का अंश था। बाबर सन् १५२५ ई० में फरगान से भारत विजय की अभिलाषा से आगे बढ़ा। १५२६ ई० सन् में वह दिल्ली की गद्दी पर आरूढ़ हुआ था। बाबर के साथ दो शायर थे। बाबर स्वयं लेखक था। तज्जुक बाबरी इसकी कृति है। लैला-मजनूँ का मीर सय्यद अली (१५३९-४२ ई० सन) द्वारा बनाया गया चित्र, हुमायूँ के समय का है। इस समय हुमायूँ दिल्ली से बाहर था, अतएव चित्र स्वतंत्र रूप से बनाया गया प्रतीत होता है।[4] हुमायूँ ने सन् १५३० से ४० तक अपने पूर्व शासन काल में चित्रकला की प्रगति में योग दिया है। सन् १५४६ ई० में जब हुमायूँ काबुल था तब दो ईरानी चित्रकार मीर सैय्यद अली और अब्बुल समद इसके खेमे के साथ हो लिए थे।[5] दिल्ली आने के उपरान्त मीर सय्यद अली के पर्यवेक्षण में 'दस्ताने अमीर हमंज़ा' का चित्रण हुआ। यह १२ जिल्दों में कार्य सम्पन्न हुआ। इसका कुछ भाग इडस्ट्रियल संग्रहालय वियाना में सुरक्षित है। हुमायूँ की दिल्ली पुस्तकालय में मृत्यु के बाद दो चित्रों का विवरण प्रधानतः है। प्रथम चित्र में अकबर, हुमायूँ की मृत्यु का समाचार सुनता हुआ दिखाया गया है और दूसरे चित्र में 'अबुलमाली' को अबदुल समद के द्वारा गिरफ्तार करते हुए दिखाया गया है। ये दोनों ही चित्र घटना के सम-सामयिक के हैं। इसके उपरान्त लगभग १५ वर्ष राज्य व्यवस्थित करने में लगे। इस बीच में चित्र विधा का स्थानीय रूप और परिवेश प्रखर होना प्रारम्भ हो गया। इस समय की प्राप्त कला में मोटिफज़ बिहज़ाद के हैं तथा रंग शैली इरानी हैं किन्तु आकृतियाँ भारतीय हैं। जैसे द्वारपाल, हाथी, वृक्ष, भवन, वन, पहाड़ और इसी तरह अन्य भृत्यों कर्मचारियों

---

१. इंडियन पेन्टिग अण्डर मुगल रूल्स, पर्सीब्राउन, प्रथम प्लेट :
२. इंडियन पेन्टिग अण्डर मुगल रूल्स : पर्सी ब्राउन, पृष्ठ–४०।
३. " " " " प्लेट ३री, ४२, ४३ के बीच मे।
४. " " " " " चौथी, ५, २ ५ ३ ,,
५. " " " " पृष्ठ—५३।

की आकृतियाँ भी भारतीय वेशभूषा में चित्रित हैं। यहाँ भारतीय वेशभूषा को स्पष्ट करने से निसृत होता है कि यह आधार राजस्थान की संस्कृति का है जो कि राजपूत चित्रकला में व्यक्त हुआ है। इसके अनन्तर अकबर ने प्रायः गुजरात, राजस्थान, दक्षिणभारत, पटना आदि जगहों से चित्रकारों, वास्तु शिल्पकारों को राजकीय सेवाओं में नियुक्त भी किया था। इस तरह जो भारतीय चित्रकार थे, उन्होंने अपनी कृतियों में आत्म को मिश्रित कर प्रस्तुत किया। निम्न संदर्भित पुस्तक की ११वीं प्लेट में तानसेन का अकबर के दरबार में आना दिखाया गया है। इसमें अकबर और उसके कर्मचारियों के अंगरखा के बंध दाहिने वक्ष पर बंधे हुए हैं जब कि तानसेन और उसकी मण्डली के प्रस्तुत करने का ढंग भिन्न है।[1] अकबर के दरबार में १५८५ ई० सन् में फरुखबेग चित्रकार आया था। १५८६ ई० सन् के लगभग, अकारिज़ा पर्सियन चित्रकार की सेवाएँ प्रारंभ की थी।

अकबर ने फतेहपुर सीकरी में १५७० ई० सन् में चित्रशाला का आरम्भ किया और वह अनवरत रूप से १५८५ ई० सन् तक फतेहपुरी में रहा, जहाँ कि वह नित्य ही चित्रकार्य का मुआयना किया करता था। इसके बाद अकबर अपनी नई राजधानी लाहौर ही रहा तथा सन् १६०१ ई० में केवल एक ही बार वह सीकरी कुछ समय के लिए आया। फतेहपुर सीकरी में कार्य करने वाले चित्रकार कुछ तो लाहौर चले गए कुछ आगरा के किले में कार्य हेतु भेज दिए गए कुछ वापिस अपने देश गुजरात, राजस्थान, दक्षिण भारत तथा पटना चले गए। पर्सी ब्राउन के अनुसार चित्रकला का विकास पर्सियन पद्धति पर और भारतीय पद्धति पर हुआ जिसे कि मुगल शैली या मुगल कलम की संज्ञा से अभिहित किया है। इस मुगल कलम का विकास अकबर की मृत्यु पर्यन्त सन् १६०५ ई० तक चलता रहा है।[2]

जहांगीर के समय सन् १६१० ई० का चित्र, जिसके मध्य प्रकृति को मुख्य रूप से चित्रित किया है।[3] इस चित्र की प्रधान आकृति एक वृक्ष की है, जिस पर अनेक गिलहरी किल्लोल कर रही हैं। नीचे मोर-मृग विचरण कर रहे हैं। वृक्ष की पीड़ पर चढ़ता हुआ एक व्यक्ति भी चित्रित है। चित्र की पृष्ठभूमि में लगभग दो तिहाई भाग में वृक्ष का विस्तार है। शेष एक तिहाई में नीचे टेकड़ी, पहाड़ी, दूर के वृक्ष अल्पतः आकाश और सम भूमि को चित्रित किया है। यह चित्र जहांगीर के समय के चित्रों में प्रकृति का स्वतंत्र अस्तित्व का बोध कराता है। जहांगीर में प्रकृति के प्रति अनन्य प्रेम, श्रद्धा और भक्ति थी जो कि उसके समय की चित्रकारी में प्रतिफलित हुई है। जहांगीर के प्रकृति और जगत के प्रति सौन्दर्य भावना की दृष्टि का बोध और संवेदन अपने दरबारी चित्रकारों को कराया साथ ही इन दरबारी चित्रकारों ने जहांगीर के सौन्दर्यपरक दृष्टि को वास्तविक रूप प्रदान किया। जहांगीर का विशेष आग्रह पर्सिया, हेरात के कलाकार अक़ारिज़ा से रहा किन्तु वह एक सिद्ध कलम का अधिष्ठाता नहीं था। इसकी अपेक्षा इसका लड़का 'अबुलहसन' बेहत्तर था।

जहांगीर अपने समय का कला मर्मज्ञ भी था। उसने समसामयिक अनेक ऐतिहासिक कला-कृतियों को अपने चित्र संग्रहालय में एकत्र किया था। बिहजाद स्कूल के सन् १४४६ ई० के चार चित्रों को १५०० रुपयों में खरीदा था।[4] पर्सिया की राजधानी में जहांगीर के कलामर्मज्ञ प्राचीन चित्रों के संग्रह के लिए जाया करते थे तथा पर्सिया के चित्र कला व्यापारी जहांगीर के कला प्रेम से परिचित थे। जहांगीर ने अपने संदर्भ में स्वयं कहा है कि चित्र

---

१. इं० पें० अण्डर मुगल रूल्स, पर्सीब्राउन : पृष्ठ ५८-५६

२. इंडियन पेन्टिग अण्डर मुगल रूल्स, पर्सीब्राउन, पृष्ठ ६८।

३. „ „ „ „ पृष्ठ ७२, ७३।

४. १ इंडियन पेंटिंग अन्डर मुगल रूल्स, पर्सीब्राउन-पृष्ठ ८०।

कला के साथ इतना मेल हो चुका है कि किसी भी समय का चित्र चाहे वह मृत चित्रकार का हो या ताज़ा हो, उसकी रेखाएँ और रंगों को ही देख कर, वह किसका बनाया हुआ है यह बतलाने में सहज समर्थ है।

इसके समय में सर टामस रो, इंग्लैंड का राजदूत आया था। रो अपने साथ में कुछ चित्रों को लाया था। जहांगीर ने रो के चित्रों को अपने कलाकारों को, प्रतिलिपि करने को दी। दुबारा जब रो को जहांगीर ने उसके चित्रों को प्रतिलिपि के साथ उसके समक्ष रखा तब कुछ क्षण के लिए वह अपने मूल चित्रों को पहचानने से रह गया। रो का कथन था कि सामान्य दृष्टि से यह नहीं जाना जा सकता था कि कौन से चित्र प्रतिलिपि हैं और कौन से चित्र मूल हैं।[1] मुगल शाही चित्रखाने में विदेशी चित्रकार सेवा कार्य के लिए शाहजहाँ केशासनकाल तक आते रहे हैं। शाहजहां के शासनकाल में समरकंद से दो चित्रकार आए थे। इसके बाद का कोई ऐसा सूचक दस्तवेज़ आदि नहीं मिलता है।

शाहजहां ने चित्रकला की अपेक्षा वास्तुकला में अधिक व्यक्तिगत दिलचस्पी रखी है। जहांगीर के समान चित्रों में दिलचस्पी शाहजहां के बड़े लड़के दारा शिकोह की थी। इसके हस्ताक्षर के सहित कुछ चित्र इंडिया आफिस लायब्रेरी लन्दन में संग्रहित है। इस तरह के दाराशिकोह हस्ताक्षर वाले कुल ४० चित्र हैं। शाही चित्रकारों के अतिरिक्त भी इस पेशे ने व्यक्तियों को अपने प्रति आकृष्ट किया और चित्रकारों की संख्या बढ़ती गई जो कि अकबर के बाद स्वतंत्र रूप से भी चित्र कला व्यवसाय करते रहे। शाहजहां के समय में राजशाही प्रोत्साहन चित्रकला को उतना नहीं मिल सका जितना कि जहांगीर और अकबर के समय में था, परिणामतः शाही चित्रकार भी स्वतंत्र चित्रांकन करने लगे। इस स्वतन्त्र चित्रांकन में जीविका अर्जन का भी प्रश्न रहा है। जिसमें कि अनेक पेशेवर चित्रकार, व्यवसायी चित्रकार हो गए जो कि सामाजिक रुचियों के अलावा व्यक्तिगत रुचियों की मांग के आधार पर चित्रों का निर्माण करते थे। ये चित्रकार बाजारों में बैठा करते थे। इस तरह चित्रकारों की दो श्रेणियाँ शाही और बाजारू हो गई थीं। बाजारू चित्रकारों के चित्र श्रेष्ठ कला परक नहीं होते थे। सन् १६३० ई० का चित्र[1] फूल पत्ती का स्वतन्त्र सज्जापरक यथार्थ चित्रांकन हैं। एक दूसरे चित्र में[2] जो कि इसी समय का है, बन में आनंद मनाते हुए मोर-मोरनी स्वतन्त्र प्रमुख रूप से चित्रित हैं। दूरागत वृक्ष, दो टेकड़ी उड़ते हुए पक्षी भरा आकाश, अल्प जमीन इस चित्र में दर्शाई गई है। ये दोनों ही चित्र अपनी सामयिक विशेषताओं को अपने में समाहित किए हुए हैं।

सन् १६५८ ई० में शाहजहां के तृतीया पुत्र औरंगजेब ने गद्दी को हथियाया तथा अपनी कट्टर धर्मसिक्त नीति का प्रसारण किया। फलस्वरूप ललितकलाओं की राज्याश्रियता को समाप्त कर दिया। दरबार में कलाओं को स्थान न मिलने से राजशाही के चित्रकार राजधानी छोड़कर राज्य के सुदूर कोनों में बिखर गए। मुगल बादशाहों का चित्रगत प्रेम औरंगजेब के बाद फिर सराहनीय रूपों में कभी प्रगट न हुआ। मुहम्मद शाह ने राजशाही का संचित चित्रकला संग्रहालय की अनुपम कृतियों को भेंट में देना तथा वितरण प्रारम्भ कर, एक तरह से कला के प्रति अनुदारता का रवैया अपनाया। जयपुर राजशाही संग्रहालय में उपलब्ध अकबर कालीन रज्मनामा, मुगल राजशाही संग्रहालय के विग्रह का ही चिह्न है। इस तरह से किया हुआ वितरण बदलती हुई प्रवृत्तियों का परिचायक है।

सन् १७३२ ई० में अवध के नवाबों ने दिल्ली से स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर लखनऊ को राजधानी बनाया। इसी तरह दक्षिण के राज्य भी स्वतन्त्र होने लग गए थे। अतएव शासन का समस्त ध्यान युद्ध, विपल्लव और उनकी शान्ति में ही केन्द्रित रहता था। शाहजहां के उपरान्त ऐसे कुछ कम ही चित्रों का निर्माण राजशाही में हुआ है जिनका कि उल्लेख श्रेष्ठ कलागत चित्रों की श्रेणी में किया जा सकता है।

अकबर के समय के प्रसिद्ध कार्यों में रज्मनामा (आजकल-जयपुर में), तैमूरनामा (आजकल बंकीपुर में),

---

१. और २. ये दोनों चित्र इंडिया आफिस लायब्रेरी लन्दन में सुरक्षित हैं। इनका प्रकाशन इंडियन पेन्टिंग अण्डर मुगल रूल्स में पर्सीब्राउन ने पृष्ठ ८४, ८५ तथा

अकबर नामा (साउथ केन्स्टन में), अमीरु हमजा आदि उल्लेखनीय है। अकबर की चित्रशाला में चित्रों का निर्माण सामूहिक रूप से होता था। कोई भी एक चित्र एक ही चित्रकार के द्वारा सम्पूर्ण नहीं किया जाता था चित्र के निर्माण में पहला कार्य सीमा रेखाओं का होता था। इसके उपरान्त चित्र की शैली जिसे पर्सियन में 'तरा', 'तराह' कहते हैं, निश्चित किया जाता था। इसमें चित्र किस तरह का बनना है यह निश्चित होता था। इसके बाद चेहरानुमा के पास चेहरों का निर्माण होता था। चेहरा की आकृति दी जाती थी। फिर सूरत वाले के पास समूची रेखाओं में चित्र तैयार होने के लिए जाता था। इसके बाद चित्र 'रंगमेजी' के पास रंगलेपन क्रिया को पहुँचता था। इस तरह एक चित्र में अनेक हाथों का कार्य होता था। ललित कला की चित्र विधा में इस तरह की विधा दस्तकारी कहते हैं जो कि कला की संज्ञा से हटकर हेय अर्थ बोधक है।

जहाँगीर के समय के चित्रों को यदि देखा जाय तो निम्न तरह की कुछ बातें स्पष्ट होती हैं। जहाँगीर के दरबार का एक चित्र है जिसमें हिन्दू और मुसलमानों की आकृतियों और पहिनावे में स्पष्ट अंतर लक्षित होता है। हिन्दू राजपूतों के अंगरखे बायीं और वक्ष पर बंधे हैं जब कि मुसलमानों के विपरीत वक्ष पर चित्रित हैं। झण्डों के स्वरूपों में सूर्य, सिंह आदि चिह्नांकित राजपूतों के हैं। हिन्दू रमणियों के माथे पर सिन्दूर-ओढ़नी बेदा आदि अलंकार है जबकि मुसलमान रमणियाँ सिर पर गोल ऊँची टोपी पहिने हैं। पगण्डियों में भी अन्तर हैं। सामूहिक रूप से वाप कार्यक्रम चल रहा है।[1] वास्तव में जहाँगीर जीवित-वर्त में अधिक विश्वास रखने वाला व्यक्ति था। इस कारण से उसके समय के चित्रों में यथार्थता है। जहाँ भी जहाँगीर जाता था अपने साथ चित्रकारों के एक दल को साथ ले जाता था ताकि यदि कोई दृश्य रुचिकर प्रतीत हो तो उसका चित्रण तत्काल किया जा सके। यथार्थ-चित्रणों में सक्षम कलाकारों को ही चित्र-सेवा में नियुक्त करता था।

सन् १६१८ ई. का, इनायत खाँ के जीवन के अंतिम क्षण का व्यक्ति-चित्र (मृत्यु शैय्या का) भी इसका द्योतक है कि जहाँगीर के समय में यथार्थता को महत्त्व मिला है। जहाँगीर की बाग में चलती हुई कचहरी का चित्र जो कि रामपुर राज्य सग्राहालय में सुरक्षित है।[2] इस चित्रमें हिन्दू और मुससमान सभी सभासदों को मुसलमानी वेशभूषा में चित्रित किया है। बाग का दृश्य, ऊँचे वृक्ष चौकोर चबूतरे पर निर्मित सिंहासन पर जहाँगीर मुजरा ले रहा है। बाग के सुदूर कोनों में बारादरी भी है। फव्वारा चल रहा है, उसके चतुर्दिक जल कुण्ड में फव्वारे की बूँदे छहर कर फैल रही हैं। इस चित्र में आकाश को दिखाया है। इससे पूर्व मुगलकालीन चित्रों में दृष्टि रेखाएँ सदैव ही भूमि पर टकराती प्रतीत होती हैं। इस चित्र में ऐसा नहीं हुआ है। चित्रक कलाकार का वास्तविक दृष्टि स्तर, सामान्य भूमि पर खड़े व्यक्ति के दृष्टि स्तर का है। इससे चित्र से प्रस्तुतीकरण में आकाश को समीचीन स्थल मिल गया है। जहाँगीर के समय का टर्की बतख (सन् १६१२ ई० इंडियन म्युजियम कलकत्ता-नं. २१०) में सीमा बंधों का भराव पर्सियन कलाकारों का कार्य है। इसमें चतुर्दिक लेख लिखा हुआ है। उसकी बाहरी और फूल पत्ती दार नक्काशीदार चित्रकारी है।

मुगल चित्रकारों ने व्यक्ति चित्रण में पर्सियन और राजपूत चित्रकला के गुण को समाहित किया है। पर्सियन ढंग में सीमा बंध, रंग और सज्जा है, तथा राजपूती ढंग में परिवेश, आकृति और इनके तालनेल से निसृत लय है। पर्सियन डंग में पशु-पक्षियों का स्वतंत्र रूप से चित्रण हुआ है। टर्की और मानसर की पीसन्ट को अपनी विशेष मुगलकला गत विधा के लिए उद्रित किया जा सकता है।

राजपूत चित्रकला शैली के क्षेत्र के दक्षिण-पश्चिम में गुजरात, अपभ्रंश और जैन चित्रशैली उल्लेखनीय है। गुजरात, अपभ्रंश और जैन चित्र शैली में अन्तर विवेचना का है। इनके विकास का स्थान एक ही है। बौद्धिकता का

१. इ० पें० अण्डर मुगल रूल्स, मर्सीब्राउन : पृष्ठ १०७, प्लेट ३१वीं।
२. इंडियन पेन्टिग अण्डर मुगल रूल्स, पर्सीब्राउन, पृष्ठ १४१, प्लेट ६९।

इस नामकरण के संबंध में यह आग्रह अवश्य है कि भिन्न-भिन्न संबोधनों की अपेक्षा किसी एक लम्बे अरसे तक, कला के संबोधन को भ्रमित रखना, स्थान विशेष की कला के प्रति कठोरता है। वास्तव में इस शैली के चित्र जैन धर्म के साथ ही साथ, मारवाड़, अहमदाबाद, मालवा, जौनपुर, अवध, उड़ीसा और नेपाल, बर्मा, स्याम में उपलब्ध होते हैं। जैन शैली के संबोधन से यह बात समीचीन और सार्थक भी प्रतीक होती है कि इसका संबंध जैन धर्म से होने के कारण जैनी व्यापारियों के साथ-साथ इस कला शैली का विकास हुआ। यही कारण है कि यह चित्र शैली भारत के विभिन्न भागों में फैली प्रतीत होती है। दशवीं से पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य पश्चिमी भारत में अधिकतर चित्र जैन धर्म की कथाओं पर आधारित हैं, जिन्हें कि जैन गुरुओं ने, चित्रित किया तथा करवाया है। इसी तरह के चित्रित ग्रन्थ गुजरात के बाहार प्राप्त होते हैं।

इसकी सर्वप्रथम उपलब्ध प्राचीन कृति ११वीं शताब्दी की विल्हण कृत चौर पंचाशिका का चित्रण है। इसमें कविराज बिल्हण तथा उनकी प्रेमिका चम्पावती की प्रणयलीला का आलेखन है। यह कृति जैन धर्म व संस्कृति की नहीं ठहरती है। इसलिए आलोचक इसे जैन चित्र विधा के अतिरिक्त गुजरात शैली के अस्तित्व को इसके सहारे रूप देते हैं। इसके उपरान्त सोलंकी वंश के शासकों में सिद्धराज जयसिंह (सन् १०९४-११४३ ई०) और कुमारपाल (सन् ११४२-७४ ई०) का नाम, साहित्यानुराग तथा कला प्रेमी के लिए उद्धृत किया जाता है। कुमार पाल ने सोमनाथ के मंदिर का दो बार पुनर्निर्माण कराया। इसके द्वारा निर्मित वास्तुकला तथा चित्रकला का स्वरूप आज भी मंदिरों में उपलब्ध होता है। इस राजा ने जैन धर्म को स्वीकार कर प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र के सहयोग से अहिललपुर में कला साहित्य का केन्द्र स्थापित किया। इस व्यवस्था से चित्रकला का अत्याधिक विकास हुआ और इस विकसित रूप का विस्तार और प्रसार चित्रित ग्रन्थों के रूप में जैन धर्म के साथ ही साथ राजस्थान और पंजाब की ओर जैसलमेर आदि तक हुआ। इसके अनंतर जैन कल्प सूत्र[1], कालिकाचार्य कथा[2], निसीथचूर्णिका, उत्तराध्यन सूत्र, गीतगोविन्द, बालगोपाल स्तुति, देवीमहात्तम, रति रहस्य, वसन्त विलास, और भागवद का चित्रण ताड़पत्र से प्रारंभ होकर स्यालकोटी तक होता रहा अर्थात् ११वीं शताब्दी से लेकर १६वी शताब्दी तक रहा।[3] गीत गोविन्द को कई आलोचकों ने गलती से उत्कट श्रृंगार का निकृष्ट ग्रन्थ कह दिया है किन्तु वास्तव में जयदेव ने अपनी प्रतिभा से दैवी पात्रों को, श्रृंगार की विधा में, मानवीय यथार्थ पृष्ठभूमि पर, प्रशंसनीय ढंग से प्रस्तुत किया है। यह ग्रन्थ एक पंथ दो काज है— हरि का स्मरण : भजन भी है और रस का आवर्चन भी है। वैसे इसे यदि घोर श्रृंगार कह कर, इसके अस्तित्व को कचड़े की तरह दिमाग से निकाल कर फेंक देते हैं तब फिर रनकपुर जैन मंदिर की घोर संभोगीय प्रतिमाएँ, आबू जैन मंदिर के मैथुन युग्म, खजुराहों के संभोग रत युगल, भुवनेश्वर, कोणार्क, नागार्जुन कोण्डा आदि की सभोग-स्थिति-दर्शक, प्रतिमाओं पर पलस्तर चढ़ा कर सपाट कर देना होगा। वस्तुतः इन कलाकारों ने, चित्रकारों ने, जीवन के समस्त व्यापारों को शब्द रूप दिया है, गेय रूप दिया है, मानवाकृति दी है, जिसमें दैव्य भव्यता सहज प्रगट होती है।

जैन पोथियों में कुछ रेखाचित्र उपलब्ध होते हैं। ये रेखाचित्र अपने आप में प्रौढ़ और परिमार्जित नहीं कहे जा सकते हैं। किन्तु वे अपनी समर्थता रखते हैं। उनमें संपेणीयता है, इनका महत्व है। ये रेखाचित्र सापेक्ष चित्रण

---

१. मिनियेचर्स पेन्टिग, मोतीचंद खजांची, पृष्ठ ६५।
पेन्टिग ऑफ वेस्टर्न इंडिया, नारमन ब्राउन, में।

२. मिनियेचर्स पेन्टिग, मोती चंद्र खजांची पृष्ठ फिगर ११ से १३ तक।
पेन्टिग आफ वेस्टर्न इंडिया, नारमन ब्राउन, में।

३. मिनियेचर्स पेन्टिग फ्राम वेस्टर्न इंडिया, डॉ. मोतीचन्द्र।
प्रकाशक साराभाई एम. नवाब, अहमदाबाद।

की दृष्टि से समर्थ चित्रकार के चित्र को पूर्व रूप में प्रस्तुत करते हैं, जिनमें कि बाद में रंग ग्रादि की योजना कार्यान्वित होती थी। इस प्रक्रिया के दौरान रेखाचित्रों का ही परिचलन सहज समर्थ समझा जाने लगा। इसके ग्रतिरिक्त वस्त्रों पर जैन धर्म कथाग्रों को चित्रित करते थे ग्रौर इन चित्रपटों को जैन साधु ग्रौर जैन तीर्थ यात्री गुजरात से ग्रन्य इतर भागों में ग्रपने साथ ले जाते थे।

इन प्राचीन चित्र कृतियों में ग्रहमदाबाद में सुरक्षित 'कल्प सूत्र' भारतीन नाट्य, संगीत ग्रौर चित्रकला इन तीनों की ही दृष्टि से बहुमूल्य काम का ग्रन्थ ठहरता है। इस ग्रन्थ के चित्रों में राग-रागिनी, मूर्छना तान ग्रादि की योजना संगीत शास्त्र के ग्रनुसार है तथा ग्राकाशचारी, पापचारी, भोमचारी की नियोजना भरत के नाट्य शास्त्र के ग्रनुरूप है। चित्र में प्रस्तुत मुख मुद्रादि हृदयगत भावों को व्यक्त करने में समर्थ हैं। इसी तरह प्राचीन ग्रमूल्य कृतियों में मार्कण्डेय पुराण, दुर्गा सप्तशती, रतिरहस्य ग्रौर काम सूत्र भी है। ताड़पत्र ग्रौर कागज के चित्रों में सूक्ष्मता ग्रौर स्थूलता का ग्रन्तर है। ताड़पत्र के चित्रों में सूक्ष्म रेखाग्रों में कम से कम स्थान को घेरते हुए सम्पूर्ण कथा भाव को प्रस्तुत करने की क्षमता तत्कालीन चित्रकारों का ग्रपना वैशिष्टय कहा जा सकता है। इस क्षमता का बाद के कागज पर चित्र बनानेवाले चित्रकारों में ग्रभाव सा मिलता है। जैन चित्रों में एक ग्रौर स्पष्ट विशेषता देखी जा सकती है, वह है नेत्रों के चित्रण की। जैन चित्र शैली में भगवान् महावीर के नेत्रों के ग्रनुरूप नेत्रों के स्पष्ट निर्माण की प्रक्रिया रही है। नेत्र चित्र में स्पष्ट दिशा देता प्रतीत होता है। रंगों के विषय में ताड़पत्र पर प्राय: कम ही रंगों का प्रयोग देखने में ग्राता है।[1] पीला रंग ही इस काल के चित्रकारों का प्रधान रंग रहा है। वस्त्रों के चित्रों में रंग की सफाई का ग्रभाव है। केवल स्थान विशेष पर रंग दर्शाने के लिए रंग के धब्बे दे डाले हैं। कागज के चित्रों में रंगों का जमाव ताड़पत्रों से ही ग्रधिक परिलक्षित होता है।[2]

इस युग के चित्रकारों ने भाव के सहज प्रकाशन के लिए रेखाग्रों को ही महत्त्व दिया है। तथा उन्हीं के सहारे सापेक्ष चित्रण की प्रचुरता प्रस्तुत की है। कथा सापेक्ष चित्रण में रंगों का ग्रभाव तो ग्रवश्य है किन्तु इसके साथ ही कथा का बोध वस्तुत: चित्र के भाव एवं गुण को प्रेक्षक तक सम्प्रेषित करने में सहायक होता है। इन चित्रों में लम्बे कान, विस्फारित नेत्र, नुकीली नाक, नुकीली ठुढी, इनका ग्राकृतात्मक वैशिष्टय है जो कि किसी समय की भी चित्रकला में समानुरूपता नहीं रखता है। नुकीली नाक व ठुढी, ग्रजंता में कहीं-कहीं ग्रंशत: परिलक्षित होती हैं। यह स्वरूप इतना स्पष्ट नहीं है कि एक का दूसरे से सम्बन्ध स्थापित किया जाए। इसके ग्रतिरिक्त धार्मिक रूढ़िगत जैन चित्रकला में महावीर स्वामी की दूसरी क्षत्राणी माता त्रिशला के चतुर्दश स्वप्नों के ग्रनेक चित्र, हस्ति, वृक्ष, केसरीसिंह (मुण्ड सहित) पद्मावती, पुष्पमालाएँ—सूर्य, चन्द, ध्वजा, कलश, पद्म-सरोवर, सरिता, पालकी, मणि, भण्डार ग्रौर ग्रग्नि के मिलते हैं।[3] ग्रष्ट-मंगल दृश्य जैन चित्र विधा के परिचायक हैं। नारी का चित्रण भी विशेष विधा में महावीर स्वामी के ग्रास-पास यक्ष-यक्षिणियों के चित्रण के रूप में हुग्रा है। यह स्थिति मूर्ति कला के साथ नहीं है। दिलवारा रनकपुर, खजुराहों के जैन मन्दिरों में प्रस्तुस मूर्तियाँ नारी के प्रकृत यौवन को कामातुर रूप में प्रगट करती हैं।

रंग विधा में कुल मिला कर लाल पृष्ठभूमि, पीत स्वेत ग्रौर नील का प्रयोग है।[4] जैन चित्र कला में लाल रंग का प्रयोग धार्मिक परिवेश को ध्यान में रख कर किया गया है। राजपूत चित्र कला शैली में लाल रंग का प्रयोग

---

१. टेजर्स ग्राफ एसिया : पेन्टिग ग्राफ इंडिया : पृष्ठ ५२ (११वीं सताब्दी)

२. „ „ „ पृष्ठ ५७ (१४वीं सताब्दी)

३. टेजर्स ग्रॉफ एसिया : पेंन्टिग ग्रॉफ इंडिया, पृष्ठ ५६।

४. „ „ „ पृष्ठ ५६।

श्रृंगार के उद्दीपक के रूप में किया गया है।[1] पुरुष भूषा में स्वेत धोती तथा नारियों की भूषा में चोली, चूनर और रंगीन धोती है। आभूषण में मुकुट और माला अति व्यापक हैं। नारी की सज्जा में टिकुली मुख पर, कानों में कुण्डल, बाहों में बाजूबन्द, रत्न मालाएँ प्रमुख हैं।[2]

यहाँ की चित्रकला को कोई अन्य नाम देने की अपेक्षा जैन कला कहना इसलिए भी उचित है कि समस्त भारत की चित्र कलाएँ सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तनों को ग्रहण करती रही हैं तथा अपने आत्म रूप, समय और परिवर्तन के अनुरूप धारण करती रही हैं। राजपूत चित्रकला में प्रारम्भ म भक्ति का स्वर प्रबल रहा है, किन्तु कालान्तर में भक्ति का स्वर रीतिकालीन मांसलता में विलीन हो गया है, और इस मांसलता की व्याप्ति बढ़ती जाती है जो कि अपने अन्तिम रूपों तक राधा-कृष्ण में केवल बिहारी सतसई का बोध रह जाता है। जब कि कहीं-कहीं चित्रकार काम-सम्भोगीय चित्रण काम शास्त्रानुसार करने लगे थे। यह समय की बदलावट गुजरात के चित्रों में नहीं मिलती है। जैन साधु तब भी जैसे भी रहे हों, पर चित्रों में अडिग अपने धर्मानुकूल कथा का सापेक्ष चित्रण करते रहे तथा समय-समय पर सामयिक चित्र विधा के गुणों को भी समाहित करते रहे हैं। इस सब के उपरान्त उनके विषय वहीं रहे।

यदि चित्र विधा पर विचार किया जाय तो यह स्थिति सामने आती है कि चित्रकार ने किसी भी वस्तु को रूप देने के लिए क्या काव्य साहित्य का प्रश्रय लिया है। गुजरात में प्राप्त चित्रकला, आज की मौजूदा स्थिति में प्राचीनता की दृष्टि से प्रथम विचारणीय है। इसका आरम्भ निश्चित रूप से जैन, धार्मिक कथा साहित्य के सापेक्ष-चित्रण के लिए हुआ है। इससे स्वतन्त्र चित्रकला का कोई सा स्वरूप सदियों तक सामने नहीं आया है। आज का कलाकार केनवस पर केवल रंगों में आकर्षण उभार दे कर उसे छोड़ देता है। किन्तु तब ऐसी स्थिति नहीं थी। गुजरात में कला की एक जैसी प्रवृत्ति एक लम्बे समय तक विद्यमान रही हैं। आज के अधुनातम गुजरात के कलाकारों में जैन मिनियेचर्स की रेखाएँ उभर कर अपने आतीत को प्रकट करती हैं। शान्ति दबे की चित्रकला को इस सिलसिले में देखा जा सकता है। यहाँ कि चित्रकला जैन धर्म के साथ जहाँ भी गई वहीं सादर पहुँची है। इनके चित्रित ग्रन्थों ने किसी न किसी रूप में अन्य ग्रन्थों के चित्रण की प्रेरणा अन्य कलाशैलियों को प्रदान की है। अन्य कला शैलियों को चित्रगत व्यवसाय की दिशा भी दी है।

दक्षिण शैली के चित्र जो कि लगभग सोलहवीं-सत्रहवीं शता के निर्मित हैं, राजस्थान के राजपूत राजाओं के पास, उनके राजकीय चित्र भण्डारों में पाए जाते हैं। इस तरह के चित्र राजपूत राजाओं के निजी भण्डारों में भी हैं।[3] इन चित्रों का आयाम, जब कि राजपूत राजा, मुगल सेनाओं के साथ दक्षिण पर युद्ध-आक्रमण के सिलसिले में जाते थे। शान्ति और व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए भी राजपूत राजा-दक्षिण जाते रहे हैं। डॉ० हेरमन ग्वेट्ज ने इस तरह के बीकानेर संग्रहालय के चित्र अपनी पुस्तक "आर्ट एण्ड आर्केटेक्ट आफ बीकानेर स्टेट" में प्रस्तुत किए हैं। यहाँ विचारणीय है कि क्या इस दक्षिण शैली ने राजपूत कला शैली को कुछ दिया है, उसके विकास में किसी तरह का सहयोग है? यह दक्षिण शैली के विकास से ज्ञात होता है। दक्षिण शैली का प्रमुख स्थान बीजापुर गोलकुण्डा है। बीजापुर का आदिलशाही वंश का प्रतिष्ठिपाक सुल्तान युसुफ आदिलशाह (सन् १४९०-१५१० ई०) बड़ा ही कला प्रेमी था।[4] उदार नीति का शासक था। इसने ईरान तथा तुर्की से प्रख्यात साहित्यकारों एवं चित्रकारों को आमंत्रित कर

---

१. " " " पृष्ठ १३५, १३२, १५३...।

२. " " " पृष्ठ ५९।

३. रागमाला, मोती चंद्र खजांची, बीकानेर

रेजर्स आॅफ एसिया : पेन्टिग आफ इण्डिया : पृष्ठ ११९।

४. रंगीन चित्र फलक।

चित्रकला और साहित्य को बढ़ावा दिया। इसके उपरान्त इस्माइल अलीआदिलशाह (१५५८-१५८० ई०) तथा इनकी बेगम चाँद सुल्ताना, दोनों ही कला के मर्मज्ञ तथा कलाकारों के आश्रयदाता थे। "नुजूम अल-उलूम" नामक प्रसिद्ध पुस्तक (सन् १५७० ई०) भव्य बीजापुरी शैली में इन्हीं के प्रश्रय में चित्रित हुई है। इसमें चित्रों की संख्या ८७६ है। यहाँ के सुल्तानों के लम्बे विशाल व्यक्ति-पट-चित्र अपनी वैशिष्ट्ता रखते हैं।

मुगल, राजपूत व्यक्ति चित्रण अति लघु रूपों में हुआ है जब कि बीजापुर गोलकुण्डा के आदम रूपों में चित्रित है। ये चित्र प्रिन्स ऑफ वेल्स म्युजियम बम्बई, ब्रिटिश म्युजियम, लदन, में संरक्षित है। कार्ल खण्डेलवाला का मत है कि १०वीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी तक भारत में मनियिचर्स पेंटिंग का कोई भी स्कूल नहीं था।[1] खण्डेलवाला इसका विकास बीजापुर से ही मानते हैं और इसके उपरान्त मुगल के आगमन से इस विधा में योगदान हुआ है।

इब्राहिम आदिल शाह द्वितीय[2] के समय में (सन् १५८०-१६२७ ई०) बीजापुर कलम की अतीव प्रगति हुई है। इसके समय में शबीहें, भित्तिचित्र और प्रादेशिक लोक शैली के उदाहरण उल्लेखनीय हैं। इसके उपरान्त मुहम्मद आदिलशाह (सन् १६२७-५७), अली आदिलशाह द्वितीय (सन् १६५७- २ ई०), सिकन्दर अली आदिलशाह (सन् १६७२-१६८७ ई०) तक, बीजापुर कलम प्रगति पर रही। सन् १६८७ ई० में औरंगजेब ने बीजापुर का आदिल-शाह वंश आक्रमण कर ध्वस्त कर, चली आती हुई १६७ वर्ष की चित्र परम्परा को खण्डित कर दिया। इस आदिल-शाही वंश की विशेषता रही है कि यह साहित्य और संगीत का भी उतना ही प्रेमी और अनुरागी जितना कि चित्र-कला का था।

बारहवीं शताब्दी के लगभग काश्मीर और उत्तर पंजाब की भूमि अनेक छोटे-मोटे राज्यों में बदल गई। इन पहाड़ी राज्यों के शासक राजपूत ही थे। ये राजपूत राजा सम भूमि पाकर इधर आए और इधर की भूमि को जीत कर अपने राज्यों को स्थापित किया। इन राजाओं ने अधिकतर अपनी सत्ता को स्वतन्त्र ही बनाए रखा है तथा इसके साथ ही साथ अपने राज्यांतर्गत सांस्कृतिक विकासों में भी पूर्ण स्वतन्त्रता को बनाए रखा है। इसके कारण से जब राजस्थान तथा भारत के अन्य भूभागों पर सांस्कृतिक दबावों का अनुभव हुआ तथा विकास के लिए मुक्त भूमि का अभाव इन राजपूत राजाओं ने अनुभव किया तब इनकी सांस्कृतिक विकास की जिम्मेदारी इन्हीं पहाड़ी राजपूत नरेशों ने वहन की। तभी यह देखते हैं कि राजस्थान या मुगल दरबारों से कला प्रवृत्तियाँ उठ-उठ कर इन पहाड़ी राजपूत राज्यों में संचयित होने लगीं।

राजपूत चित्रकला शैली से इसका सीधा सम्बन्ध तो अभी तक नहीं जोड़ा गया है, केवल उल्लेख या चर्चा मात्र है किन्तु पहाड़ी राजपूत राज्यों की कला सच में देखा जाए तो राजस्थान के राजपूत राज्यों की चित्रकला का सुष्ठ प्रारूप है। इस प्रारूप में प्रायः राजस्थान के राजपूत राज्यों की स्थानीय शैलियों के मूलाधारों, वृत्तियों तथा दिशाओं और लक्ष्यों का विस्तार मिलता है। यह विस्तार वैसे राजपूत चित्रकला शैली से अल्पतः भिन्न अपने स्थानीय परिवेश में व्यक्त हुआ है।

इन राजपूत पहाड़ी राज्यों में गुलेर, कांगड़ा, चांबा, बसोली, नूरपुर, पुँन्छ, कुल्लू, बिलासपुर, जम्मू, गढ़वाल आदि चित्रकला के सिलसिले में उल्लेखनीय हैं। इन राज्यों में चित्रकला स्वतः अपना विस्तार करती हुई अपना स्थान जनसमाज में बनाती हुई, लोकप्रिय रही है। जितना सहयोग राजयीय सत्ता से मिला है लगभग उतना ही सहयोग जन-सामान्य से भी प्राप्त हुआ है।

गुलेर में चित्रकला का विकास अठारहवीं शताब्दी में हुआ है। वैसे गुलेर राज्य की स्थापना कांगड़ा राज्य से

---

१. पहाड़ी मिनियेचर्स पेन्टिग : कार्ल खण्डेलवाला, पृष्ठ ५१।

२. इनका बहतरी व्यक्ति चित्र ब्रिटिश म्युजियम् लन्दन में सुरक्षित है।

पहले सन् १४०५ ई० में हुई।[1] इस राजवंश का सम्बन्ध कोटा राजवंश से रहा है। गुलेर के ही समीप कांगड़ा में चित्रकला का काफी प्रचार रहा है किन्तु डब्ल्यू. जी. आर्चर के अनुसार पहले कांगड़ा को गुलेर पर निर्भर करना पड़ा था।[2] गुलेर कांगड़ा के दक्षिण में व्यास के किनारे का नगर है जिसका कि सम्बन्ध दक्षिणावर्ती भारत से सीधा पड़ता है तथा गुलेर के शासक राजा रूप चन्द्र (सन् १६१०-३५ ई.), राजा मानसिंह (सन् १६३५-६१ ई०) राजा विक्रम सिंह (सन् १६६१-७५ ई.) मुगल सेना के ऊँचे ओहदेदार रहे हैं तथा उनके साथ युद्धों में भाग लेते रहे हैं। राजा दिलीप सिंह (सन् १६९५-१७३० ई.) राजा गोवर्द्धन सिंह (सन् १७३०-७३ ई.), राजा प्रकाश सिंह (सन् १७७३-९० ई.) के समय में गुलेर का विकास हुआ. तथा इन राजाओं के मुगल तथा राजपूत राजाओं के सम्पर्क में रहने के कारण से चित्रकला में सामयिकतानुसार विकास को अवसर मिला। राजा गोवर्द्धन सिंह का घोड़े के साथ अनेक चित्रों में आयाम हुआ है, इसके मूल में राजा का घोड़े के साथ मुगलों पर विजय तथा मुक्ति है। गुलेर में राम कथा का भी चित्रण हुआ है।[3] कृष्ण और राधा पर आधारित चित्र भी हैं।[4] अजीत घोष जब इस शताब्दी के प्रथम चरण में गुलेर गए थे तब उन्होंने हरीपुर में चित्रकला की परम्परा को जीवित पाया था। वहाँ के चित्रकार तब भी चित्रण कर रहे थे।[5] कुछ चित्र शिव-पार्वती विष्णु आदि अन्य देवताओं के उपलब्ध होते हैं। इसके अनन्तर व्यक्ति चित्रणों की एक परम्परा राजा गोवर्द्धन दास के समय से प्राप्त होती है। राजा गोवर्द्धन दास के अनेक चित्र उपलब्ध होते हैं। स्वतन्त्र चित्रों में नायिकाओं की भावजन्य स्थितियों को चित्रित किया गया है। कदली वृक्ष के साथ नायिका[6] कोटा की अनुरूपता को प्रगट करता है। इसी तरह जलाशय के किनारे स्नानातुर नायिका अनेक सहेलियों के साथ में चित्रित चित्र का, कदली का वृक्ष भी उक्त दिशा ही प्रदान करता है।[7] एक अन्य चित्र जिस में विष्णु स्वर्ग में चित्रित हैं, का कदली वृक्ष भी इसी तरह का है।[8] रामायण के चित्रों में लंका के चित्रण में कदली बहुतायत से प्रस्तुत की गई है। यह ठीक है और सही है कि यहाँ की राजपरम्परा का सम्बन्ध कोटा राज्य से रहा है और ऐसा प्रतीत है कि कोटा से यहाँ चित्रकारों और चित्रविधा का आयाम अंशमात्र और प्रभाव रूप में हुआ है। डा. कुमारस्वामी और डब्ल्यू. जी. आर्चर कोटा के चित्रों की आयाम की चर्चा करते हैं।[9] कुछ चित्रों की रेखाओं को देख ऐसा अनुमान पड़ता है कि मुगल दरबार से मुक्त हुए चित्रकार गुलेर आए हैं।[10] इन चित्रकारों का प्रभाव सन् १७५५ ई. के बाद के उक्त चित्रों पर मिलता है जो कि आगे चल कर गुलेर की शैली में समाहित हो गया।

इस शैली के विधा-गत विश्लेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि चित्रक-प्रभाव वास्तविकता से हट कर है। जमीन से निकलते हुए वृक्ष, झाड़ आदि साफ़-साफ़ चिपकाए हुए से लगते हैं। इसी तरह अन्य वृक्षों के साथ असंगति

---

१. इण्डियन पेन्टिग इन दी पंजाब हिल, आर्चर : पृष्ठ १७।
२. ,, ,, ,, पृष्ठ १७।
३. इंडियन पेन्टिग इन दी पंजाब हिल, आर्चर, प्लेट ७, ११ से १३।
४. ,, ,, ,, प्लेट १८, १९।
५. ,, ,, ,, प्लेट १८।
६. ,, ,, ,, फिगर ३१, पृष्ठ ३३।
७. ,, ,, ,, फिगर ३०, पृष्ठ ३२।
८. ,, ,, ,, फिगर १७, पृष्ठ २४।
९. इंडियन पेन्टिग इन दी पंजाब हिल, आर्चर, पृष्ठ ३८।
१०. ,, ,, ,, फिगर २८, २९।

है। स्थान दूरी का अनुपातिक क्रम भी ठीक तरह से नहीं रख सके हैं। भवनों को आकार देती हुई रेखाएँ, अनुमान पर आधारित हैं।

कुछ चित्र अवश्य ऐसे बन पड़े हैं जिनका कि समर्थ अस्तित्व गुलेर राज्य की चित्रकला में है। यहाँ की स्थानीय विशेषताओं के साथ, चित्रकारों ने अपने चित्रगत विषयों को प्रस्तुत किया है। नादिर शाह दुर्रानी (सन् १७३९ ई०) और अब्दुल शाह अब्दाली (सन् १७४२ ई०) के इन दो आक्रमणों की व्याघात को दिल्ली और दिल्ली के इर्द-गिर्द के राजा-रईस सहन न कर सके, फलतः उनके रंग और रंजनों के साधन टूट-टूट कर बिखर गए। उनके चित्रकार भी बिखर गए। इन चित्रकारों की जमातें, कांगड़ा घाटी की ओर, पहाड़ी राजपूत राजाओं के यहाँ आश्रय के हेतु पहुँची, जिन्हें कि यहाँ की सुन्दर घाटियाँ, नदी, पहाड़, पर्वत आदि के साथ हिन्दू कथाओं के आधार पर चित्र-रचना की दिशा मिली। बर्फीली चोटियाँ, छनता हुआ पानी, गिरती नम, खिलता तृण पर ओश बिन्दु, का सौन्दर्य इन आयातित चित्रकारों का हुआ। इनके पहले भी चित्रकारी का प्रचार था, किंतु राजा गोवर्द्धन दास के समय में यह व्यापक रूप से विकसित हुआ।

कांगड़ा राज्य में राजा संसार चंद्र (सन् १७७५-१८२३ ई०) द्विदीय के समय में, प्रतिभासम्पन्न अनेक कलाकार चित्रकार कार्यरत थे। इनके समय में जयदेव का गीत-गोविन्द, बिहारी की सतसई, भागवत पुराण, नल दमयंती की कथा, आचार्य केसवदास की रसिकप्रिया, आदि का चित्रविधा में अति सुन्दर ढंग से चित्रख हुआ है। कांगड़ा स्कूल से संदर्भ में सर्वप्रथम जानकारी डॉ० कुमारा स्वामी को सन् १९१० ई० में अमृतसर में प्राप्त हुई।

कांगड़ा के चित्रों में राग-रागिनियों के चित्र कम प्राप्त होते हैं। नायक-नायिका-भेद बारहमास, षटऋतु का शृंगारपरक चित्रण भी मिलता है। कांगड़ा में शृंगारिक प्रेम की अभिव्यक्ति ईश्वरीय प्रेम से लेकर, सामान्य भोग जन्य वासनासिक्त प्रेम तक यहाँ के चित्रों में, अभिव्यक्त हुई है। स्वर्गीय प्रेम की अनुभूति-जन्य चित्र जिसमें कृष्ण और राधा खिले हुए कमल पर आसीत हैं, राजा इकतारा और कृष्ण मुरली बजाने को हैं, नदी तट पर गोपियाँ, गाएं कृष्ण की प्रतीक्षा में हैं, आदि चित्र देखे जा सकते हैं।[1] इसके दूसरा छोर, प्रेम की लौकिक अनुभूति के सिलसिले में, कृष्ण राधा के स्तनों को मसलते हुए भी चित्रित किए गए हैं।[2] प्रेम के अभिव्यक्ति परक चित्रों में, राधा-कृष्ण का भ्रमण, समीप्यता, आत्मीयता, संरक्षण, एक ही चादर में दोनों का ठंड से बचने का प्रयास करना, आदि अधिकता से चित्रकारों ने चित्र किया है।

आचार्य केसवदास की कृतियों में कविप्रिया, रसिकप्रिया और विज्ञानगीता का चित्रण हुआ है। केसवदास ने कविप्रिया, रायप्रवीन नर्तकी के हेतु सृजित की थी, जिसका कि विषय और वर्णित रूप कांगड़ा के चित्रकारों को रुचिकर रहे हैं। कविप्रिया के साथ ही रसिकप्रिया और विज्ञानगीता भी कांगड़ा के चित्रकारों के चित्रक आधार हुए हैं। केसव की चित्रकारों में बढ़ती हुई ख्याति ने, इन चित्रकारों की रामचंद्रिका की रामकथा पर आधारित चित्र बनाने को प्रेरित किया है।

बिहारलाल की सतसई में वर्णित नायिकाओं का रूप और उनकी दशाओं के प्रति यहाँ के चित्रकार आकर्षित हुए हैं और इन्होंने प्रायः संपूर्ण सतसई का चित्रण किया है। सूरसागर के पदों का चित्रण राजा संसारचंद के दरबार में अधिक हुआ है। सूरदास, केसवदास, बिहारी आदि कवियों ने मानव जीवन के समस्त व्यापार का, जिनका कि संबंध यौवन से है, बहुत ही सूक्ष्म विश्लेषण, काव्य विधा में प्रस्तुत किया है। यौवन-विकार-गत व्यापारों की सूक्ष्मता उम्र. अनुभव, शारीरिक, मानसिक हलचल, स्थिति, दशा और धारणाओं में व्यक्त करती हैं सूरादि के पद शब्द विधा

१. काँगड़ा पेन्टिग आन लव, एम, एस, रंधावा, पृष्ठ २१।
२. „ „ „ „ पृष्ठ १२८ फिगर ७९।

गत सौन्दर्य के बोध के साथ ही सांगीतिकता को भी भरपूर पुष्ट और सौष्ठव रूप में व्यक्त करते हैं, एक एक शब्द विषयगत बिम्ब के अवयवों को व्यक्त करता हुआ, सम्पूर्ण बिम्ब का रंगमय बोध कराता है। चित्रों के विषयों में बिछुड़ते हुए प्रेमी, विरह की वेदना, ठीस, उसकी दशों दशाएँ, और फिर मिलन, मिलन का सुख, विविध रूपों में जैसा कि काव्य विधा में आया है उससे भी कहीं अधिक साकार रूपों में, अनेक आकृतियों में, चित्रकला के माध्यम से तात्कालिक चित्रकारों ने प्रस्तुत किया है। (चित्र फलक-२१ देखिए)। इसमें काव्यगत व्यक्त सांगीतिक परिवेश का भी चित्रकारों ने ध्यान रखा है। कुछ स्वतंत्र चित्रों का तो राग-रागिनियों के संबोधनों के माध्यम से सीधा सांगीतिक परिवेश ही आधार रहा है। इसके अतिरिक्त रसों की अभिव्यक्ति, पूर्ण परिपक्वता का भी, सुचारू से नियोजन है। रंग रसों की सरस अभिव्यक्ति में सहायक सिद्ध हुए है। राधा-कृष्ण के चित्रण के सदर्भ में यहाँ के चित्रकारों ने केवल सूरदास को ही अपना आधार नहीं बनाया है अधिकतर इनका आधार भगवद् पुराण रहा है।

केसवदास की रसिकप्रिया और उनकी इस कृति का आधार युवती की किशोरावस्था से लेकर शादी के कुछ समय बार तक की उम्र है। दूसरे शब्दों में किशोर वय से लेकर माता बनने से पहले तक की स्थिति में नारी के प्रति केसव की लेखनी सजग होकर रही है। इसके उपरान्त की स्थिति पर केसव ने काव्य-सृष्टि की है किन्तु वह अति अल्प रूप में है। रसिकप्रिया के चित्रों के संदर्भ में कुछ चित्र सन् १६०० ई० के लगभग के प्राप्त होते हैं जिनका संदर्भ डा० कुमार स्वामी ने दिया हैं। ये चित्र मेट्रोपोलिटन म्युजियम् में सुरक्षित हैं। इन चित्रों के पूर्व की कथा इस तरह है, कि केसवदास की रसिकप्रिया की वास्तविक प्रिया 'रायप्रवीन' नर्तकी की प्रशंसा बीरबल ने सुनी। अकबर ने ओड़छा नरेश इन्द्रजीत को 'रायप्रवीन' को मुगल दरबार में भेजने के लिए लिखा किन्तु ओड़छा नरेश इन्द्रजीत ने उसे नहीं भेजा। इस पर इन्द्रजीत पर बड़ा जुर्माना हुआ। इसके उपरान्त केसवदास को बीरबल ने मुगल दरबार में बुलवाया। यहाँ पर केसवदास ने रसिकप्रिया के दोहों को सकण्ठ सुनाया। केसवदास की रजा से रायप्रवीन इधर आई। अल्पतम समय में उसने अपनी कला का प्रदर्शन किया। इसके उपरान्त वह वापिस चली गई। ये दोनों चित्र जो अकबर के समय के मिलते हैं, वे इसी समय के हैं। इसके उपरान्त रसिकप्रिया राजपूत चित्रकला शैली में तथा पहाड़ी राजपूत चित्रकला की स्थानीय कलमों में अपनी प्रसिद्धि पा गई। भागवत पुराण के उपरान्त पहाड़ी राजपूत चित्रविधा में तथा राजस्थानी राजपूत चित्रविधा में रसिकप्रिया सर्वाधिक लोकप्रिय चित्रकारों के मध्य चित्रण के हेतु में रही है।

भागवत पुराण में कृष्ण की कथा है। कृष्ण के प्रणय की कथा का काव्य में विकास भारतीय साहित्य के अनुकूल कालिदास आदि कवियों की शृंगारिक परम्परा में हुआ है। गीत-गोविन्द में राधा-कृष्ण की शृंगार भावनाओं का प्रकाशन है। विद्यापति में भी इसी परम्परा को शंकरपार्वती के माध्यम से प्रश्रय मिला हुआ है। सूर-तुलसी के काव्य में औचित्य और मर्यादा का पालन हुआ है, भले हो कहीं-कहीं आध्यात्म आवृत प्रस्तुत हुआ है। रीतिकालीन कवियों में राधा कृष्ण ही प्रधान रूप से रहे हैं। राजदरबारों में, राजाश्रयी कलाओं में, उन्मुक्त शृंगार की धारा में प्रस्तुत हुए हैं, किन्तु ये सभी ललित कलाएँ एक दूसरे से अपना संबंध स्थापित किए हुए व्यक्त हुई हैं। तत्कालीन वातावरण संगीत चित्र और काव्य समान रूप से अनुप्राणित है। कृष्ण के प्रणय की मूल कथा का उद्रेक भागवत पुराण से होता है। इसमें कृष्ण किसी लड़की को लेकर जंगल जाते हैं। वहाँ प्रेम संस्कारों के उपरान्त, उसे वहीं छोड़कर आ जाते हैं। वह कृष्ण को पाने के लिए प्रयत्नशील रहती है।[1] यही, आगे चलकर राधा के रूप में विकसित हुई है। मूल कथा का आधार यही है। संघटनाओं का विस्तार होता है।

चित्रकारों ने साधारणत: नायिका भेद में, अभिसारिका, उत्तसा और विप्रलब्धा नायिकाओं का चित्रण विशेष रूप से किया है। इन चित्रों में कहीं-कहीं स्वाभाविकता का ह्रास भी मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि

---

१. दी लव ऑफ कृष्णा : डब्ल्यू० जी० आर्चर, पृष्ठ ७२।

चित्रकार को चित्र की योजना में कल्पना के साथ ही साथ अति कल्पना का भी सहारा लेना पड़ा है। यह इसलिए भी कथ्य है कि कहीं नायिका के चतुर्दिक, रागिनी के अनुकूल प्रकृति को चित्रित किया है और कहीं जंगल के झाड़-झोंके सभी विलीन कर दिए हैं। सिक्ख काल के परवर्ती कांगड़ा कलम में बहुविधि संभोगीय विधा को चित्रित किया है।[1] काम विधा की दृष्टि से बहुत दुरुस्त और सही हो सकते हैं किन्तु सौन्दर्य का अभाव है। इस तरह का चित्रण परवर्ती राजाओं की वासनात्मक उत्प्रेरणा के लिए चित्रकारों ने चित्रित किए हैं।

आकृतियों के सिलसिले में गुलेर की आकृतियाँ कांगड़ा से कुछ बड़ी हैं। गुलेर का एक होली लीला का चित्र है। इसमें मानव आकृतियाँ ऊँची पूरी हैं। कृष्ण के गोपों की पिचकारियों से रंग निकलकर गोपियों के सिर के समीप पहुँचता है, किन्तु किसी भी गोपी के ऊपर एक भी छींटा नहीं पड़ा है।[2] कांगड़ा की मानव आकृति प्रायः इसी तरह की है। रंगों का प्रयोग नर्म विधा सूचक हैं। यहाँ की नारी आकृति क्षीण, कृशकाय, लम्बी, मुग्धकारी है। भवनों के चित्रण में अधिकांश भवन भारतीय पहाड़ी वास्तुकला के ही अनुरूप है। परवर्ती चित्रों में भवनों की आकृति में मुगल वास्तुकला की कुछ झलक मिलने लगती है। यहाँ की लम्बी मानवाकृति के सम्बन्ध में भी मुगल-आकृति की अनुरूपकता की जा सकती है किन्तु ऐसा है नहीं। कांगड़ा कलम के वृक्ष वास्तविकता के सर्वाधिक अति निकट हैं।

रागमाला और नायिका भेद के चित्रण में समानता प्रतिलक्षित होती है, क्योंकि नायिका भेद और रागमाला दोनों ही मानव जीवन की, सामान्य स्त्री-पुरुषों की सूक्ष्म अनुभूतियों को आधार मान कर प्रस्तुत किए हुए हैं। ये अनुभूतियाँ अधिकतर नायक और नायिका के रूप में, राधा-कृष्ण के रूप में प्रतीकात्मक पद्धति में प्रस्तुत हुए हैं। राजपूत चित्रकला शैली में यह वैशिष्ट विशेष निखार के साथ स्पष्ट ज्ञात होता है। यही स्वरूप आगे आदर्श रूप में परिणत होकर ईश्वरीय प्रेम में परिणत हो जाता है। इसका दूसरा पक्ष यह भी है कि चित्रों में तथा काव्य में यही प्रेम की अनुभूति-जन्य-संघटनाएँ, असामाजिक हो गई हैं।

अन्तप्रभावों की दृष्टि से रंधावा द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थ 'कांगड़ा पेन्टिग आन लव' के एक चित्र में तीन नारी आकृतियाँ हैं।[3] यह मूलतः कांगड़ा शैली का है। इस चित्र में सभी नारी आकृतियों में नाक माथे से सपाट होकर नीचे उतरती है जो कि पर्सियन चित्रों में, मालवा-नसीरुद्दीन के समय के चित्रों में, हुमायूँ कालीन चित्रों में तथा जहांगीर के समय के कुछ चित्रों में, इस तरह का नासिका का रूप प्रस्तुत है। बनावट में समानता है। इसके अतिरिक्त मोर के ससानांतर नृत्य रत नायिका प्रेम की आकांक्षा करती हुई कमोदिनी रागिनी की प्रतीक है। इस आकृति के वस्त्रों में, मुगलिया छींट का पायजामा तथा पूरी बाहों का, छींट का जामा धारण किए हैं। कानों के ऊपर बालों पर झूलने वाला मुसलमानी कर्ण-कुण्डल तीनों नारी आकृतियों में दिखाया है। भवन का शिल्प शुद्ध भारतीय है। केले के झाड़ के पत्ते भी चित्रित किए हैं। एक नारी आकृति फूलमाला हाथ में लिए हुए इस तरह प्रतीत होती है जैसे किसी नायक की प्रतीक्षारत, उसे माला पहनाने के लिए आतुर है। तृतीय नारी आकृति सज्जित होने के लिए बालों को चयित कर रही है। कुछ चित्रों में पहाडी राजपूत चित्रकला के चित्रकारों ने राजपूत चित्रकला शैली के चित्रों की पद्धति एवं वृत्तियों का अनुसरण किया है। इन दोनों स्थानों की चित्रकला में मूलतः समय का ही भेद है। मानवाकृति और प्राकृतिक परिवेश भी अल्पान्तर और अल्पसाम्य में चित्रित हैं। चार्ल्स टेरी ने अपने ग्रन्थ 'इंडियन पेन्टिग' में राजपूत पेन्टिग के अन्तर्गत सभी पहाड़ी राजपूत कला शैली की स्थानीय कलमों को समाविष्ट किया है। यह बात भी रही है कि मान्य विद्वान का दृष्टिकोण अल्पतः स्थूल रहा है क्यों कि उक्त ग्रन्थ में राजपूत शैली के चित्रों में जोधपुर, अजमेर जैसी स्थानीय रूपों

१, पहाड़ी मिनियेचर्स पेन्टिग, कार्ल खण्डेवाला, पृष्ठ ४६।

२. „ „ „ „ „ पृष्ठ २४५।

३. कांगड़ा पेन्टिग आन लव : एम. एस. रंधावा, पृष्ठ ७०, फिगर : ३७।

को स्थान नहीं मिल सका है। इस उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि कलात्मक प्रवृत्तियाँ राजपूत चित्रकला शैली की प्रवृत्तियों से भिन्न नहीं हैं। इसके समानान्तर दूसरा यह कि काव्य का आधार लेकर राजपूत चित्रकला के समान ही सापेक्ष चित्रण कराया है। कहीं-कहीं इन प्रवृत्तियो के चित्रण में वह लालित्य नहीं आ सका है जो कि जयपुर आदि शैली में है। स्पष्टता से यह है कि जयपुर या अन्य राजा नरेशों के यहाँ संगीतज्ञ भी सभासद रहा करते थे जिनसे कि कवियों चित्रकारों का मेल रहना स्वाभाविक है। यही सामान्य ज्ञान पहाड़ी राजपूत राज्यों के चित्रकारों में, न्यून है, जिससे कि यथार्थ वातावरण की सृष्टि करने में चित्र समर्थ नहीं हो सके हैं। उदाहरण के लिए निम्न संदर्भित ग्रन्थ का चित्र क्रम ६ ले लीजिए। इसमें नायिका तानपूरे को सुर में कर रही है। तानपूरा गोदी में रखा है और तानपूरे का शीर्षदण्ड सिर से कुछ ऊँचा है, जबकि यथार्थ में तानपूरा सिर से लगभग २० इंच ऊपर रहता है। इसका दूसरा कारण चित्रकार की चित्रकलागत असमर्थता भी हो सकती है। इसी ग्रन्थ में २६ पृष्ठ पर क्र. ६ चित्र है जिसमें यथार्थ स्थिति का उल्लंघन किया है। इसमें राधा, कृष्ण का मुख दर्पण में देख रही है। राधा के बाजु से कृष्ण की स्थिति है जबकि दर्पण में मुख नीचे ऊपर चित्रित है। इसी ग्रन्थ में चित्र सं० ४७ की नारी आकृति पुरुषाकृति से अनुपातिक क्रम में ठिगनी है। इस तरह चित्र संख्या क्रम ५५, ६२ में भी है। चित्र संख्या क्रम ५६, ५७, ६४, १११ में नायिका हुक्का पीती हुई चित्रित की गई है। यह मुगल दरबार से आए चित्रकारों की कृपा का फल है।[1]

रंधावा के ग्रन्थ का फिगर ७४, (पृष्ठ-१२३) में, पानी से बचते हुए राधा-कृष्ण को चित्रित करना चाहा है। बादल है, बिजली है, आश्रय को भागती बगुल पंक्ति है। पेड़ की खोह में छिपे ग्वाले हैं, साथ ही राधा-कृष्ण एक ही कंबल में छिपे खड़े हैं। पास ही में अन्य गोपी इन्हें देख रही है। इस सबके साथ वर्षा की एक भी बूंद चित्रित नहीं की गई है, न ही बरसे हुए पानी के कार्य चिन्ह ही दर्शाए हैं। पानी से बचाव को अन्य सर्वोत्तम चित्र पंजाब संग्रहालय पटियाला में संरक्षित है। उक्त ग्रन्थ के पृष्ठ १८१ पर चित्रित है। वर्षा की बूंदों के बचाव के लिए गायों ने सिरों को नीचे झुका रखा है जो कि यथार्थ स्वाभाविक है। पृष्ठ १४६ के चित्र में राधा-कृष्ण एक छतरी के नीचे चित्रित किए हैं।

श्रृंगार की शास्त्रीय परम्परा में नायिकाओं के चार भेद किए हैं। पद्मिनी, चित्रणी, शंखणी, हस्थिनी है। इन सब भेदों में पद्मनी का चरित्र सर्वश्रेष्ठ होता है तथा वह औरतों में सर्वोत्तम होती है। मलिक मुहम्मद जायसी ने पदमावत में 'पद्मिनी' को ही श्रेष्ठ नायिका के रूप में चित्रित किया है। पद्मनी को कमल से विशेष अनुराग रहता है। इस नायिका के बाल, नेत्र, गर्दन और अंगुलियाँ विशेष लम्बी होती है। दांत, माथा, सीना और नाभि भाग हल्का छोटा होता है। मुख चन्द्र के समान होता है। उसकी देह की उठान हंस के समान होती है। मुख्य भोजन दुग्ध तथा फूल पत्ती की शौकीन होती है। इसके सोलहवें वर्ष में सोलहवों रूप निखर उठते हैं। यह सभी गुण नीचे संदर्भित रंगीन चित्र में प्रतिलक्षित होते हैं।[2] चित्र की बाहरी सीमा काली है जिसमें सुनहली बेल बनी है। इसके भीतर हल्के लाल रंग में चोकोर सीमा आयतों तक रंगित हैं जिसे कि सफेद पट्टी से गोल आयताकार में रूपायित किया है। इसके मध्य कमल, रंग-रेखाओं के समान परिधान वाली उक्त नायिका फूले, फूलों का चयन कर रही हैं। बासंतिक वातावरण है। हथेली पर मेंहदी, अंगूठी, छल्ली, कंगन, चूड़ी, बाजूबंद, कर्णफूल, शीशफूल, नथ, कण्ठमाल, वक्षमाल, मोतीमाल, चंद्रहार उसके आभूषण है। स्वर्णिम ओढ़नी स्वेत और स्वेत-सब्ज रंग पुष्पों को उभार देता प्रतीत होता है।

एक दूसरे चित्र में, चाँदनी रात में कमल से खिले तालाब के किनारे, राधा-कृष्ण के ओठों का रस पान करते हुए आलिंगन बद्ध-चित्रित किए हैं।[3] अभिसारिका के चित्रण में लंहगा को नारंगी लाल रंग में, ब्लाउज हल्का लाल

---

१. कांगड़ा पेन्टिग आन लव : एम. एस. रंधावा।

२. कांगड़ा पेन्टिग आन लव : एम. एस. रंधावा पृष्ठ १४६।

३. " " " पृष्ठ १५७।

तथा ओढ़नी नीले रंग की, सर्पादि, पैरों में स्लीपर, मुख हाथ-हथेली तथा पाँव की दीप्ति प्रखर चित्रित की है।[1] यह चित्र श्रीमती सुमति मुकर्जी बम्बई, के पास सुरक्षित है। बिहारी का दोहा है—

छिनक चलत ठठकत छिनक, भुज प्रीतम गल प्रीतम गल डार।
चढ़त अटा देखति घटा, बिज्जु छटा सी नार॥

इसमें चित्रकार ने नायिका का चित्र स्थिर रखा है।[2] बिजली विहीन बादल चित्रित किए हैं। चेहरों के रंग के समान हैं, सपाट हैं। मोर का चित्रण स्थिर है। दोहा में बिजली जैसी गति है वह चित्रण में उपलब्ध नहीं होती है। दोहा के भाव को वहन करने में चित्र असमर्थ सा है। इसी तरह एक दूसरा दोहा लीजिए, दोहा इस तरह है—

लपटानी अति प्रेम सों, दै उर उरज उतंग।
धरी एक लौं छुटे हुँ घर, रही लगी सी अंग॥

इसके चित्रण में अंशतः कवि की भावनाओं को पाठक तक पहुँचाने में चित्रकार सफलता के निकट है।[3] बिहारी के दोहों का चित्रण कुछ अच्छा भी बन पड़ा है।

केसव के पदों को पहले चित्र के उपरले सीमा बंध के नीचे लिखा है फिर चित्रण है। पद इस तरह है,

आवत देखि लिए उठि आगे ह्वै केसव आपनो आसन दीनौ।
आप ही पानि पखारि भले जल, पानी को भाजन ल्याइ नवीनौ।
बिरा बनाए के आगे धरे जबि, ही कर कोमल बीजन लीन्हों।
बांह गही हृदयें कह्यो हंसि, ये तो इतौ उपराध न कीनौ॥

इसमें केवल अन्तिम डेढ़ पंक्ति का चित्रण है, जबकि चित्र में सम्पूर्ण लिखा हुआ है।[4] ऊपर की ढाई पंक्ति केवल प्रेक्षक के अनुमान के लिए छोड़ दी है। भूषण के सवैये भी यहाँ कांगड़ा कलम में चित्रित मिलते हैं।[5] सूरदास के कुछ पद जैसे कि अनेक बिम्ब लिए होते हैं उसी तरह अनेक बिम्बों को दर्शाते हुए चित्र भी बने हैं। उदाहरण के लिए सूर का एक पद जो कि इस तरह है—

नहि पहरू जीया, अपने तुमहि पहिराऊं।
तुमहि माननी होय बैठि हौ, दु पईया लागि मनाऊं।
तुम जाय दुरो कुँज कुटी में, मैं फैंटि पकरि गहि लाऊं।
घूंघट खोल प्रान प्यारी को गरै बांह लगाऊं।
तुम राधा हूं माधौ ही माधौ विपरीत गत उपजाऊं।
तिहारे शीश पर बैनी गुथूं, हम सिर मुकुट धराऊं।
सूरदास प्रभु होत राधिका-राधा नंद छौना कहाऊं॥

इस पद की विशेषता यह है कि इस चित्र में पद के अनेक छोटे बिम्बों के ही सदृश्य अनेक सापेक्ष स्थिति बोधक चित्रों को समावेश किया है।[6] यह चित्र मूल रूप में हीरा माणिक-संग्रह, एलाईस एण्ड नलसी संग्रहालय, न्यूयार्क

---

१. „ „ „ पृष्ठ १६०।
२. „ „ „ पृष्ठ १७६।
३. कांगड़ा पेन्टिग आन लव : एम. एस. रंधावा पृष्ठ २१।
४. „ „ „ पृष्ठ १५५।
५. „ „ „ पृष्ठ १८७।
६. राजपूत पेन्टिग : चार्ल्स टेरी पृष्ठ २७।

में है। इस तरह की विधा कुल्लू नूरपुर आदि के चित्रों में अधिक है। मूलतः इस तरह के मेवाड़ शैली में सत्रहवीं शताब्दी में चित्रित हुए हैं।

बसोली का श्रेयस रूप गजेन्द्रपाल (१५३०-७० ई. सन्) के समय से प्रारम्भ होता है। इसके अनन्तर राजा किसन पाल (सन् १५७०-९५ ई.) 'केहरपाल (सन् १५९५-९८ ई.), राजा भूपत पाल (सन् १५९८-१६३५ ई.) राजासंग्राम पाल (सन १६३५-७३ ई.), राजा हिंडनपाल (सन् १६७३ ई.), राजा कृपाल पाल (सन् १६७८-९३ ई.) राजा धीरज पाल (सन् १६९३-१७२५ ई.), राजा मेदनी पाल (सन् १७२५-३६ ई.), राजा जित पाल या अजीत पाल (सन् १७३६-५७), राजा अमृतपाल (सन् १७५७-७६ ई.) राजा विजयपाल (सन् १७७६-१८०६ ई.), राजा महेन्द्र पाल (सन् १८०६-१८१३ ई.) राजा भूपेन्द्र पाल (सन् १८१३-३४ ई.), राजा कल्याण पाल (सन् १८३४-५७ ई.) तक है। राजा कल्याण पाल का जन्म ही १८३४ में हुआ था अतएव राज्य जम्मू के राजा हरिसिंह के मातहत चला गया। बसोली राज्य का आरम्भ रावी के दाहिने तट पर संग्राम पाल के समय से हुआ यहाँ की प्राप्त चित्र कला में स्थानीय विशेषताएँ मुखर हुई हैं, उनका अपना रूप हैं। फिर भी यहाँ के राजाओं के व्यक्ति चित्र कांगड़ा शैली के बने हैं। इस आशय के कुछ चित्र एम. एस. रंधावा ने रूपलेखा में प्रस्तुत किए हैं।[1] रंधावा का कथन है कि गुलेर में जिस कांगड़ा शैली का विकास हुआ उसका उत्साह पूर्वक बसोली में परिचालन हुआ।[2] अजीत घोष बसोली चित्रकला का आरम्भ सोलहवीं शताब्दी. से मानते हैं।[3] किन्तु रंधावा के अनुसार यह ठीक नहीं है।[4] यहाँ देवीदास चित्रकार द्वारा चित्रित भानुदत्त की रसमंजरी का चित्रण राजा कृपाल पाल के समय का मिलता है। इसमें प्रयुक्त रंग गहरे हैं। वास्तु-शिल्प में शाहजहाँ कालीन शिल्प की आवृत्ति प्रतीत होती है। आकृतियाँ प्रायः पूर्णांकार में भावों का द्योतन करने में समर्थ होती हैं। इसकी मूल कृति भारत कला भवन में सुरक्षित है। इसके कुछ चित्र विक्टोरिया एण्ड अलवर्ट म्यूजियम लंदन में है। रसमंजरी का चित्रण काव्य को चित्र का मूल आधार मानकर हुआ है। इसके अतिरिक्त स्थानीय संस्कृति भी चित्रों में देखने को मिलती है।[5] इसमें संभवतया राजा बैठा गम्वपान कर रहा है। पीछे चंवर धारी चंवर डुला रहा है। ढोल बजाने वाला डोल बजा रहा है। चित्र का तीन चौथाई भाग ढोल बजाने वाला घेरे है।

बसोली या अन्य पहाड़ी राज्यों में प्राप्त होने वाले चित्रों के सिलसिले में उन्हें शैलीगत ग्रहण करने की कठिनाई उपस्थित होती है। बसोली में प्राप्त होने वाले चित्र बसोली कलम के ही होने चाहिए यह बात नहीं है, क्योंकि इधर के राज्य का आपस में शादी सम्बन्धों का तांता लग रहा है कि जिससे कि एक स्थान के चित्रों का दूसरे स्थान पर पहुँच जाना असंगत प्रतीत नहीं लगता है। फिर भी अधिकांश चित्र बसोली विधा के आधार पर पहिचाने जा सकते हैं। राजा कृपाल पाल के उपरान्त बसोली कला का सुदृढ़ विकास आरम्भ होता है। रसमंजरी के पहले के चित्रों का किसी तरह का इतिहास अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है, इसलिए कृपाल पाल के समय से ही चित्रकला का आरम्भ मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। रसमंजरी से इतर चित्रों में राधा-कृष्ण, राग-माला, गीत गोविन्द, रामायण आदि का चित्रण है। कृष्ण के चित्रण में नील वर्ण श्यामल कांति वाला रंग सभी चित्रों में प्रयुक्त किया है। कमल, पुष्प और पौधे, अलंकृत रूप में आए हैं। वृक्ष चित्र की पृष्ठभूमि से प्रायः जमीन से ही उठते हुए दिखाए गए हैं,

---

१. रूपरेखा वेल्यूम ग४ नं० १ और ३, पृष्ठ ५ से ९ तक प्रस्तुत है।
२. „ „ कांगड़ा स्टाइल-डेवलपड इन गुलेर, वाज़ आलसो एक्टिवली प्रेक्टिस्ड एट बसौली पृष्ठ ६।
३. रूपम नं० ३५ फिगर १ से ५ तक।
४. पहाड़ी मि नियेचर्स पेन्टिग : एव. एस. रंधावा : पृष्ठ-६७।
५. टेजर्स आफ एसिया : पेन्टिग आफ इंडिया पृष्ठ १६४।

जो कि उपरली सीमा तक पहुँचते-पहुँचते समाप्त हो जाते हैं।[1] गद्दे गलीचे ऐसा प्रतीत होता है जैसे मुगल दरबार से उठकर आए हों। कुछ चित्रों में शाहजहाँ कालीन वास्तु-शिल्प परिलक्षित होता है।[2] आँखों का चित्रण किन्हीं चित्रों में किसनगढ़ से मेल खाता हुआ, कानों तक पहुँचता है। चित्रों में कौमार्य और कैशोर्य का अभाव है। कमल और कमल का रंग जमीन को छूता बिखरा रहता है। यह रंग प्राय: हर चित्र में मिलता है। दानलीला और अभिसारिका नायिका की पुरुष आकृतियाँ मुगलों की तरह लम्बी तथा डील-डौल वैसे ही प्रतीत होते हैं।[3] यहाँ की चित्रकला में अकबर-कालीन और जहाँगीर कलीन कला के किसी तरह के अंश गोचर नहीं होते। राजपूत चित्रकला शैली में भी यह संस्कृति गोचर नहीं होती है। शाहजहाँ के उपरान्त औरंगजेब के समय की चित्रकला ने बसोली को प्रभावित किया है। दान-लीला, कृष्ण और राधा के साथ, विद्यापति की श्रृंगारसिक्त पदावलियों का चित्रण हुआ है। कृपाल पाल के उपरान्त धीरजपाल तक नायक-नायिका भेद के चित्रण की प्रचुरता रही है। इस काल के इन चित्रणों को रसमंजरी में समाहित कर लिया जाता है। गीत गोविन्द का चित्रण मेदनीपाल के समय में सन् १७३० ई. के लगभग हुआ है। मेदनीपाल के समय से गीत गोविन्द के चित्रण की परम्परा का परिचलन हुआ तो अजीतपाल के समय तक प्रमुखता से चलता रहा। इन सारे चित्रों में राधा-कृष्ण का एक चित्र बहुत ही अच्छा बन पड़ा है।[4] अजीत पाल के समय में रामायण का चित्रण हुआ है, जो कि लाहौर के संग्रहालय में है[5]। इसका अभी प्रकाशन नहीं हुआ है। अमृत पाल के समय में राजनैतिक प्रगति के साथ ही साथ चित्रकला में भी प्रगति रही है। अमृतपाल की शादी जम्मू और काश्मीर के राजा रणजीतदेव की पुत्री से होने से बसोली का महत्व साधारणत: ही बढ़ गया था। अमृतपाल के उपरान्त बसोली का ह्रास सभी तरह से प्रारम्भ हो गया था। ह्रासोपरान्त बसोली के कलाकार चांबा आदि जगहों पर चले गए।

बसोली और काँगड़ा के बीच में चांबा की स्थिति है। चांबा का बसोली और कांगड़ा राज्य से अधिक कोई अन्तर न होने पर भी, यहाँ की अल्पकालीन चित्रकला की अपनी अलग विशेषताएँ हैं। चांबा की चित्रकला का अस्तित्व आज भी चांबा के रंग महल में सुरक्षित है। हालांकि यह भवन भी शनैः शनैः भूमिसात होता जा रहा है किन्तु उसका जो भी भाग शेष है, उनके कमरे, छत, झरोखे, उस महल के भव्य अतीत की कथा कहने में समर्थ प्रतीत होते हैं। रंग महल की स्थिति प्रकृति के रमणीय परिवेश में है। चांबा कलम का आरम्भ राजा उमेदसिंह (सन् १७४८-६४ ई.) से, रंगमहल के निर्माण कार्य से होता है। इसके उपरांत राजा जीत सिंह (सन् १७६४ ई०) ने चित्रकला के प्रति दिल-चस्पी दिखाई। जीत सिंह ने स्थानीय कलाकार को भी कार्य रत रखने के अतिरिक्त कुछ कलाकारों को चांबा के बाहर से भी बुलाया जिसका कि स्पष्ट प्रभाव वस्त्र और वास्तु-शिल्प के चित्रण में देखा जा सकता है। वे चित्रकार शायद मुगल दरबार से प्रभावित रहे हैं[6]। चांबा कलम की विशेषता यहाँ के प्रकृति चित्रण की यथार्थता में है,[7] जोकि उल्लेखनीय है।

रंगमहल के चित्रों में रामायण, महाभारत, भागवत, दुर्गा-सप्तसती, शिव-पार्वती नायिका-भेद आदि की प्रमुखता

---

१. „ „ „ पृष्ठ १६६।
२. „ „ „ चित्र क्रमांक १७, १६, १३ इस सिलसिले में देखे जा सकते हैं।
३. ट्रेजर्स ऑफ एसिया : पेन्टिंग आफ़ इंडिया : चित्र क्रमांक प्लेट २३, २४।
४. आर्ट ऑफ इंडिया एण्ड पाकिस्तान : प्लेट १०१ : (१६५०)।
५.
६. मास्टर पीसेस आफ राजपूत पेन्टिंग : ओ. सी. गांगूली प्लेट २४।
७. " " " प्लेट २५ अ, और ब।

है। यहाँ के चित्रों में अलंकरण की प्रवृत्ति अधिकता से प्रगट हुई है। सीमा बंध फूल, पत्ती, लता, पत्रादि से परिवेष्ठित हैं।

पुन्छ है तो छोटी अल्पकालिक रियासत किन्तु यहाँ के चित्रों में स्थानीय विशेषताएँ प्रबल हैं। विशेष कर प्राकृतिक परिवेश चित्रों को, वैविध्य में, पृथक् कलम का द्योतन करता है। सन् १७८० ई० के लगभग का अभिसारिका का चित्र बहुचर्चित एवं बहु-प्रस्तुत है। इसमें अभिसारिका नायिका जा रही है। पैरों के लगभग सर्प लिपट रहे हैं, तथा जा भी रहे हैं। पायल छूट कर जमीन पर पड़ी है। बादल-बिजली है। ऊँचे झाड़ हैं दोनों ही ओर उनकी घनी पंक्तियाँ हैं। मध्य की भूमि सपाट है। वातावरण जलहीन लगता है। नायिका पीछे की ओर देखती हुई आगे को बढ़ रही है। इसके अतिरिक्त नायिका-भेद मिलता है। नायिका-भेद में प्रायः राजा ही नायिकाओं के मध्य चित्रित है। चित्रों में व्यक्त वातावरण जो कि नायिकाओं और राजा रूपी नायक को चित्रित करता है, ऐश्वर्य पूर्ण है। साकी, सुरा, सुराही, सभी कुछ वातावरण से स्पष्ट गोचर होता है। शासक अनेक जगहों पर नृत्यांगनाओं के मध्य चित्रित किया गया है[२] जिसकी कि भूमिका रीतिकालीन अन्य राजाओं के ही सदृश्य है। महाभारत के भी चित्र उपलब्ध होते हैं।[३] पुंछ के चित्रों में व्यक्त वातावरण में बर्फ का चित्रांकन हुआ है। पहाड़ी चित्रों में पुंछ में प्रस्तुत चित्रों में बर्फ को सर्वाधिक स्थान मिला है[४]।

बसोली और गुलेर के पास ही त्रिकोण शीर्ष पश्चिम में नूरपुर की स्थिति है यहाँ की चित्रकला यहाँ के घमथल मन्दिर में सुरक्षित है। इस मन्दिर में बना एक भित्तिचित्र जहाँगीर के समय का स्वामी नारायण का है, जिसमें कि जहाँगीर स्वामी नारायण की यौगिक शक्ति को जाँचने के लिए विष पिला रहा है।[५] चित्र में प्रयुक्त रंग व्यवस्था गहरी है। रेखाएँ कहीं कहीं भारी हो गई हैं। चित्र में कोई ६ व्यक्ति हैं, जिसमें स्वामी के एक साथी की आकृति आधी है जो कि जगह विभाजन के न्यून ज्ञान की सूचक है। भानुदत्त की रसमंजरी यहाँ के चित्रकारों के मध्य विशेष रूप से प्रचलित रही है। इसका चित्रण हुआ है किन्तु वह बसोली के सदृश्य नहीं है। यह अन्तर निम्न संदर्भित चित्रों के मिलान से स्पष्ट हो जाता है।[६] यहाँ चित्र विधागत अपरिपक्व है। यहाँ की महिलाएँ हुक्का सेवन करती हुई अन्य पहाड़ी चित्रों की तरह चित्रित हुई हैं। वर्षा आदि का प्रभाव के यथार्थता से बहुत दूर केवल सुझाव-वत चित्रित है। वास्तु का चित्रण शाहजहाँ कालीन प्रतीत होती है।[७] यहाँ के चित्रों में नायिका भेद, बारहमासा, रसमंजरी, रागमाला, राधा-कृष्ण तथा अल्पतः व्यक्ति चित्र उपलब्ध होते हैं। व्यक्ति चित्रों में राजा टेहड़ी सिंह (सन् १७४२-६७ ई) का, १७५० ई. का चित्र राजा वीर सिंह (सन् १७८९-१८४६ ई.) के चित्र उल्लेखनीय है। यहाँ के अधिकांश चित्रकला व्यवसायियों के हाथ में जा चुके हैं, कुछ चित्रों का संग्रह रा. सं. नई दिल्ली में है, कुछ कार्ल खण्डेलवाला के संग्रहालय में है।

नूरपुर राजपूतों की छावनी था। इसका पुराना नाम धरमेरी है। राजा वासु ने सन् १५८० ई. में नूरपुर का किला बनवाया। इस मंदिर में तत्कालीन मूर्ति और चित्रकला सुरक्षित है। यहाँ की कला की प्रगति सन् १६१९ ई. जगतसिंह के समय से होती है। राजा वीरसिंह (सन् १७८९-१८४६ ई.) यहाँ के अन्तिम शासक रहे हैं। इनके उपरांत

---

१. इंडियन पेन्टिग इन पंजाब हिल : डब्ल्यू. जी. आर्चर, प्लेट ५९।
२. „ „ „ प्लेट ६६, ६७, ६९।
३. „ „ „ प्लेट ६३।
४. इंडियन पेन्टिग इन पंजाब हिल : डब्ल्यू जी आर्चर : पृष्ठ ७०।
५. इंडियन मिनियेचर्स : ग्राफिक सोसायटी : न्यूयार्क : प्लेट ६५ और ७२।
६. „ „ „ प्लेट ७१।
७. मार्ग-८वाँ १९५५ : नूरपुर पेन्टिग (रंधावा और आर्चर) पृष्ठ ११।

यह राज्य पंजाब के राजा रणजीतसिंह के शासन में चला गया। इसके बाद यहाँ पर चित्रकला का कार्य होता रहा है।

सतलुज के बाएं किनारे बिलासपुर सन् १६४५ ई. में स्वतन्त्र राज्य सत्ता में आया और सन् १८१५ तक स्वतन्त्र सत्ता में रहा। इस लम्बे समय में इस राज्य की प्रगति देवीचंद (सन् १७४१-१७७८ ई.) के समय में हुई। चित्रकला के सम्बन्ध में सर्वप्रथम स्वेतोस्लाव रोरिक और कार्ल खण्डेलवाला ने प्रकाश डाला। इन्होंने देवी चंद के समय के चित्रों को खोजा। इस समय के चित्रों में भागवत पुराण के चित्रों का संग्रह रोरिक ने किया। बिलासपुर राज्य का महत्व कश्मीर के रास्ते में पड़ने वाले पहले राज्य के रूप में रहा है। यहाँ के चित्रों में भागवत पुराण, गीत गोविन्द, सतसई, बारहमासा, रागमाला, प्रधान रूप से चित्रित हुई है।

बिलासपुर कलम का स्वतन्त्र अस्तित्व देवी चंद के उपरान्त देखने में नहीं आता है। देवी चंद के बाद के चित्र ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे कि यहाँ की कलम पड़ोसी कलमों से आक्रान्त होकर रह गई है। बिलासपुर कलम के दो चित्र निम्न संदर्भ में प्रस्तुत हैं। यहाँ के चित्रों में पहाड़ी परिवेश बहुत ही अच्छा बन पडा है।[1]

गढ़वाल शैली में सर्वप्राचीन दो चित्र मिलते हैं। एक चित्र में राजा किसी फटे-पुराने कपड़ों वाले पुरुष पर बाण चला रहा है तथा चित्र की दूसरी ओर आकाश में पंखधारी बालक दीप्ति-भय-प्रभा चित्रित, राजा को आश्व त कर रहा है। दूसरे चित्र में राजा अपने सेवकों के साथ जंगल में बैठा हुआ है। इसमें दो शेर और एक बकरा भी चित्रित हैं। ये दोनों ही चित्र प्रतीक विधा में हैं। प्रथम का आशय यह है कि राजा अपने राज्य से गरीबी को समूल नष्ट करना चाहते हैं तथा दूसरे का आशय सद्भावना, शान्ति और न्याय है। यह चित्र राजा फतेशाह सन् १६८४-१७१६ के समय का है।

गढ़वाल के सन्दर्भ में यहाँ की राजधानी (सन् १४७३-१४९८ ई. में) बलभद्र शाह के समय में श्रीनगर को बनाया। इस नयी राजधानी के निर्माण में बाहर से शिल्पी और कलाकारों को बुलाया। आगे चलकर सुदर्शन शाह (सन् १८१५-१८५९ ई.) ने इस नगर से राजधानी को उठाकर टिहरी में प्रतिष्ठित की। टिहरी नगर का नया निर्माण हुआ जहाँ कि उपलब्ध चित्रकला का संरक्षण हुआ। यहाँ के कवि, लेखक-कलाकार तथा चित्रकार भोलाराम के पदार्थों के फलस्वरूप, गढ़वाल अधिकतर कला सम्पन्न हुआ। भोलाराम कवि तथा चित्रकार होने के साथ ही चित्रकला संग्राहक भी था। इसके पास चित्रों के संग्रह में सन् १७५० से लेकर १८३३ ई. के विभिन्न कलाकारों की कृतियाँ सुरक्षित हैं।

गढ़वाल की चित्रकला पर कांगड़ा, गुलेर और औरंगजेब के समय की मुगल कला का विन्यास और प्रभ.व है। यहाँ कृष्ण राधा, गीत-गोविन्द, बिहारी सतसई, यादव महिला हरण, राजाओं के चित्र, प्रकृति चित्र, नायक-नायिका भेद आदि का चित्रण प्रधान रूप से हुआ है। गढ़वाल शैली में बाजबहादुर और रूपमती के चित्र में बाजबहादुर का पहिनावा राजपूती है।[2] इसी मूल प्रति कस्तूरा भाई लाल अहमदाबाद के पास है। यहाँ के समस्त चित्रों एवं चित्रकारों में भोलाराम चित्रकार का व्यक्तित्व छाया हुआ है। गढ़वाल कलम में भोलाराम का नाम सर्वोत्तम चित्रकार के रूप में जाना जाता है।

पहाड़ी राजाओं के सम्बन्ध मुगल दरबारों से बहुत अच्छे रहे हैं। श्रीमौर के राजा ने शाहजहाँ की राजकुमारी जहांनारा को भेंट भेजी थी। यह ऐतिहासिक घटना है। ये राजा बराबर अपने शासन में बादशाहों को अनुपम भेंटे भेजते थे एवं उनसे प्राप्त भी करते थे। इसी तरह का एक संदर्भ उपर्लिखित श्री मौर के राजा का है।[3] इसका आशय यही है कि यहाँ के राजा-नरेश उन्मुक्त वातावरण का सदा ही अनुभव करते रहे हैं।

---

१. ट्रेजर्स आफ एसिया : इंडिया पेन्टिग : पृष्ठ १८६।
२. पहाड़ी मिनियेचर्स पेन्टिग : कार्ल खण्डेलवाला : पृष्ठ २१४।
३. जर्नल आफ पंजाब हिस्टारीकल सोसायटी डब्ल्यू २, पृष्ठ ८७।

राजपूत पहाड़ी चित्र विधा में हास्यपरक वातावरणों की अनुपम सृष्टि हुई है। अठारहवीं शता. के उत्तरार्द्ध का एक चित्र कार्ल खण्डेलवाला के निजी संग्रहालय में है। इसमें अफीम सेवन का लाभ चित्रित किया है। चित्र व्यवस्था इस तरह है कि एक समूह ने अफीम खाकर एक चूहे के विरुद्ध लड़ाई छेड़ दी है। सभी अपने-अपने मोर्चे सम्हाले चतुर्दिक खड़े हैं, चूहा बीच के घेरे में भाग रहा है। कुछ पदाती सैनिक दौड़ते चले आ रहे हैं, कुछ सैनिक घोड़ों को बेसुमार तेजी से दौड़ाते हुए, चूहे के प्रति युद्ध में सम्मिलित होने आ रहे हैं। कुछ सैनिक सतर्क खड़े मोर्चा लेने का मशविदा तैयार कर रहे हैं कि किस तरह चूहे पर आक्रमण, इस घेरे में करना चाहिए। कोई अफीम खाए सैनिक, इस चूहा-युद्ध-भूमि में, ढाल-तलवार के निसक्त हाथों से छूट कर गिर जाने पर स्वयं भी औंधा गिरा पड़ा है, साफा पगड़ी खुल चुकी है कोई सैनिक दोनों हाथ उठाकर, युद्ध की विभीषिका से बचने के लिए, युद्ध को तत्काल बन्द करने के लिए शत्रु को प्रबल देखकर कह रहा है। खैर:,

राजपूत पहाड़ी चित्रकारों के प्राय: जो विषय अधिक लोकप्रिय रहे हैं, वे इस तरह हैं। मक्खन चोरी, कालिया दर्शन, ब्रह्मा और बछड़े, गोवर्द्धन पर्वत का धारण, दावानल आचमन, युवा कृष्ण और बंशी, चीर हरण, दान लीला, फूललीला होली लीला, हिन्डोल लीला, गोधूलि बेला, मथुरा की ब्राह्मण पत्नी, दूधाधारी, लीला हाव, वर्षा-विहार, ताम्बूल सेवन, बलराम, सुदामा, जमुना, द्वारकापुरी का जाना, महाभारत, कृष्ण अन्त, अर्जुन का यादव स्त्रियों का लाना, बीच-मार्ग में स्थानीय आक्रमण, रुक्मणी शती आदि इसी कृष्ण कथा का अन्त है। टिहरी गढ़वाल दरबार में 'रुकमणी परिणय' चित्र माला के रूप में चित्रित हुई है। इसके अनन्तर शिव, पार्वती, गणेश, विष्णु, लक्ष्मी ब्रह्मा आदि देवताओं के अनेक वृत्त जैसे नटराज शिव, पार्वती विवाह, शिव परिवार, नांदी सहित शिव आदि है। अन्य विषयों में नरसिंह विष्णु, समुद्र मंथन, गजलक्ष्मी, गजेन्द्रमोक्ष है। महाभारत से किरातार्जुन चित्रित है। रामायण, अनिरुद्ध-ऊषा, मालती माधव, सोनी महिवाल, लैला-मजनू, शशि पुन्नह, नल-दमयन्ती, माधवानल, कामकंदला, बाजबहादुर और रूपमती, कालिदास के काव्य के नायक-नायिकाएँ, लोक कथाएँ, हमीर हठ आदि चित्रित हुए हैं। व्यक्ति चित्र, पशु-पक्षी बारहमासा, षट् ऋतु का प्रधान चित्रण है।

राजपूत पहाड़ी चित्रों में व्यवहृत रंग सूची इस तरह है—बादामी (गुलाबी का एक प्रकार है), कारी-काला (काजल से बनता है), नीला (गहर जल की आभा युक्त) आसमानी, उड़ा (ब्राउन पेल), गेरु (हल्का सुनहली पीला), हरा, अब्रेरी (आम्र रंग का), घूमरा, सोना, खारी, नारंगी, हरनुजी (बैंगनी का आभासित रंग), बैंगनी, गुलाबी, लाल, सिन्दूरी, ईट रंग, नसवारी, महोवरी, संदला, सीपिया (पेल ग्रे) चाँदी, सुपेदा, कर्पूरी, उसमती, वसंती (पीला) आदि प्रधान रहे हैं।

इन चित्रों में स्यालकोट का हाथ का बना हुआ कागज व्यवहार में लाया गया है। इसे स्यालकोटी कहते हैं। स्यालकोटी के उपरान्त संगनेरी और काश्मीरी कागजों का दूसरे-तीसरे नम्बर पर उपयोग हुआ है। चित्र निर्माण की स्थिति में सर्वप्रथम आकृतियों की रेखाओं का अंकन किया जाता था। इसके उपरान्त रंगों का प्रयोग सीमा बंध तथा उसको फिर अंतिम श्रेष्ठ स्वरूप प्रदान किया जाता था। सोना और चाँदी के रंगों का प्रयोग इसके बाद में होता था जबकि चित्र पूरी तरह से श्रेष्ठता स्थापित कर लेता था। स्वर्ण रंग खास तौर से पगड़ी, अलंकार, सिंहासन तथा मीनाकारी के कार्यों में व्यवहृत हुआ है। चाँदी का उपयोग वस्त्रों की सजावट के रूप में होता था।

राजपूत और मुगल शैली के आदान-प्रदान के सिलसिले में बेसिल ग्रे की कल्पना है कि मुगल दरबार में राजपूत कलाकार पहुँचे होंगे और वहाँ पर उन्होंने मिनियेचर्स कला का अध्ययन किया होगा जो कि वस्तुत: पर्सियाँ में विकसित हुई रही है। ऐसे कलाकार बेसिल ग्रे के शब्दों में 'मस्ट हेव रिटर्न टू देयर होमस' अर्थात् निश्चित ही अपने घरों को कलाविद होकर वापिस लौटे होंगे।[1] बेसिल ग्रे ऐसा कहते हुए राजस्थान के राज्यों की पूर्व-कला-सांस्कृतिक विकास को

१. राजपूत पेन्टिग : हेरमन ग्वेट्ज : पृष्ठ ४-८।

ध्यान में नहीं रख सके हैं। मालवा मेवाड़ चावण्डा आदि में १४वीं और १५वीं शताब्दी के चित्र मिलते हैं। चित्तौड़ में कीर्ति स्तम्भ मण्डन की प्ररचना, जो कि ११वीं शता. में तैयार हुआ है, कला गत विकास और परिमार्जित स्वरूप का प्रतीक है। चित्र कला की प्रगति और विकास को देखा जाय तो राजस्थान की चित्रकला के उपरान्त मुगल कला का आयाम है। सन् १५५६ ई. अकबर के आरम्भ तक मुगल सत्ता स्वयं ही व्यस्त रही है, इसके उपरान्त १३७० ई. तक अकबर को १५ वर्ष शान्ति में लगे, तब कहीं अकबर ने कलाओं की ओर ध्यान दिया है। सन् १५७० ई. में फतेहपुर सीकरी में चित्रशाला आरम्भ की है, तब से मुगल कलम का वास्तविक विकास आरम्भ होता है। इसके पूर्व राजपूतों ने मुगल के लोहे पर लोहा (खनकाया) बजाया है, उनकी तलवार पर तलवार दी है, उन्हें कला और संस्कृति नहीं।

हेरमन ग्वेट्ज़ ने निम्न संदभित ग्रन्थ के ५४ और ५७ पृष्ठ पर इस बात को बहुत ही ज़ोरदार शब्दों में प्रगट किया है कि राजपूत चित्रकला, गुजराती और मुगल रूपाकृतियों का परिवर्धित और संशोधित प्रारूप है।[1] इसे नई राजपूत कला की संज्ञा से अभिहित किया है। इसके साथ भी ऊपर वाला तर्क लागू होता है, तथा साथ में ग्वेट्ज़ के गुजराती या जैन चित्रकला के परिवर्धित स्वरूप के विचार से, अंशतः विचारणीय केवल इसलिए है कि मेवाड़-मारवाड़ का गुजरात से गहरा संबंध रहा है। आबू और रनकपुर जैन संस्कृति के केन्द्र रहे हैं। इसके समानांतर ही चित्तौड़गढ़, रणथंभौर, आबू, चंपानेर के दुर्गों ने हिन्दू संस्कृति का सकट काल में संरक्षण किया। नई राजपूत कला की संज्ञा हेरमन ग्वेट्ज, १७वीं शता० के बाद के चित्रण को देना चाहते तो यह एक तरह से काल बिभाजन की प्रक्रिया कही जा सकती थी, किन्तु इस तरह का कोई संकेत नहीं दिया है। वास्तविकता के विचार से नई राजपूत कला का संबोधन, उचित भी नहीं है क्यों कि ऐसी कोई चित्रों के इतिहास में सीमा रेखा नहीं खींची जा सकती है जिसमें कि इस रीतिकालीन और पूर्व रीतिकालीन युगों के, राजपूत चित्रकला शैली चित्रों का नया और पुराना, अलग-अलग ढंग का अस्तित्व स्वीकारा जाय। राजपूत चित्रकला शैली में काव्य साहित्य के सापेक्ष चित्रण का बाहुल्य इसके प्रारंभ से लेकर ही मिलता है। यही प्रवृत्तियाँ मूर्तिकला में भी मिलती हैं, जिसके माध्यम से राजपूत कला के समवेत स्वरूप को देखा जा सकता है। यही प्रवृत्तियाँ ग्राम इतर पड़ौसी चित्र शैलियों एवं उनकी स्थानीय कलमों में भी, राजपूत चित्रकला शैली के ही समान वेग और गति से, मुखरित हुई हैं।

राजपूत पहाड़ी कलम की स्थानीय शैलियों में जम्मू, बसोली, चम्बा, नूरपुर, कांगड़ा, कुल्लू, मण्डी, बिलासपुर, गढ़वाल आदि अधिकांश का, विकास सत्रहवीं शता० से प्रारंभ होकर अठारवीं शता० के उत्तरार्द्ध में और, उन्नीसवीं शता० में विकसित हुई है। इन पहाड़ियों पर बसे, विस्तृत फैले राज्यों की स्वच्छंद उन्मुक्त परिवेशिकता में नृत्य और गान की स्थानीय परम्पराएँ बहुत रही हैं, जो कि चित्र शैलियों में राधा के साथ कृष्ण के नाच गानों के विविध आयोजनों तक, प्रस्तुत हुई हैं। कांगड़ा शैली पर, मुगल दरबार का प्रभाव, परवर्ती काल में प्रतिलक्षित होता है। वास्तु शिल्प का प्रभाव शाहजहाँ के उपरान्त चाम्बा, नूरपुर, बसोली में आया है। गुलेर के चित्रों में कोटा कलम की अभिरुचि वृक्षों आदि के चित्रण में उपस्थित है, विशेष कर कदली के वृक्षों की आवृत्ति में स्पष्टता गोचर होती है। इसी तरह मालवा के १४वीं शता० और १५ वीं शताब्दी की चित्र विधा, माण्डो में बाजबहादुर की सत्ता सन् १५६१ ई० के पतन के उपरान्त बिखर का चावण्डा, मेवाड़, ओड़छा में समानरूप से वहाँ के चित्रों में देखी जा सकती है। औरंगजेब के काल में, मुगल दरबार के चित्रकार, राजश्रेय के टूटने से, राजपूत पहाड़ी राज्यों में गुलेर, गढ़वाल, कुल्लू कांगड़ा तथा राजस्थान के जयपुर, बीकानेर, अलवर आदि राज्यों में आजीविका के हेतु बिखरते हैं। कालांतर में इन चित्रकारों की रूपाकृतियाँ स्थानीय चित्र कला में प्रकट हुई हैं।

राजपूत चित्रकला शैली ने मुगल कलम को वृत्तियों और दिशाओं के दृष्टिकोण से सीधा प्रभावित किया

---

१. दी आर्ट एण्ड आर्केटेचर ऑफ बीकानेर स्टेट, पृष्ठ ५४-५७, ग्वेट्ज।

है। रज्मनामा, का चित्रण इसी प्रक्रिया के बोध को प्रगट करता है। इसके पूर्व मालवा, बीजापुर आदि में क्रमशः हिमाइत-नामा, नजूम-अल-उलूम, चित्रित हो चुका था। यही स्थिति गुजरात जैन चित्रकला में कई सदियों पूर्व देखी जा सकती है। इस प्रवृत्ति का सीधा अर्थ यह है कि जो स्थिति और भावाभिव्यंजना कवि शब्दों के माध्यम से प्रगट करता है, इसके पठन श्रवन और मनन से सहृदय बोध ग्रहण कर वस्तु-निसृत रस को अंगीकार करता है, किन्तु वही काव्य सापेक्ष चित्रण के उपरान्त दर्शन मात्र से प्रेक्षक में वही भाव व रस सत्ता को अंगीकार कराने की सामग्री प्रदान करता है। सापेक्ष चित्रण संप्रेषणीयता की दृष्टि से काव्य साहित्य या संगीत से एक कदम आगे के ठहरते हैं। काव्य या संगीत रूप की उस स्थिति को पैदा करते हैं, जब कि चित्रकला में वह मौजूद रहता है। ठीक इस तथ्य को समझते हुए जैनाचार्य हेमचन्द्र सूरी, एक योगी, कोशकार, महाकवि, कुशल अध्यापक व बहुमुखी प्रतिभा संपन्न व्यक्ति ने गुजरात में कुमारपाल के सत्तारूढ़ होने के उपरान्त १२वीं शदाब्दी में जैनमत की विचारधारा के साथ कला संस्कृति का योग प्रदान करने का सफल प्रयास किया था। यह प्रक्रिया इसके पहले भी अजंता, बाघ, मदनपुर के गुफा चित्रों में उपलब्ध है। एक प्रकार चित्र भाव प्रकाशन का वह माध्यम है जो सर्वजनीन, सार्वभौमिक और सार्वकालिक है।

इस विवेच्य विधा में चित्र स्वतन्त्र और काव्य संप्रेषण में सहायक, संगीत की राग-रागिनियों के बोध का सहज प्रकाशन करते हैं।

चतुर्थ खण्ड

अध्याय 1

उपसंहार

मानव के प्रारंभिक विकास के समय के साथ इस शोध प्रबन्ध का विषय प्रारंभ होता है। सौन्दर्य की सत्ता किसी न किसी मात्रों में वस्तु में है, प्रकृति में है। आदि मानव जिसके प्रति आकृष्ट रहा है। सौन्दर्य के प्रति आकर्षण के पूर्व सौन्दर्य की सत्ता मानव में भी है। अतएव कला का उदय मानव की आदिम अवस्था में ही, मानव के स्वभावगत मूल प्रवृत्तियों से हुआ है। कला सौन्दर्य की प्रतीक है। सौन्दर्य प्रकृति में है और मनुष्य के मन में भी। सौन्दर्य की अनुभूति व्यक्तिगत और समाज सापेक्ष होती है। सौन्दर्य का बोध किसी विशेष भाव की अनुभूति से प्रारंभ होता है। वह वस्तु जो विशेष भाव को जागृत करती है, कलाकृति होती है। किसी भी वस्तु को कला की सीमा में तब तक नहीं स्वीकारा जा सकता है, जब तक कि विषयगत वस्तु भावात्मय रूप से प्रभावित नहीं करती है। वस्तु (कलाकृति) का जन्म सृजेता या कलाकार की कल्पना में होता है। तदनंतर कलाकार उस कल्पना का निरूपण शब्द, वाणी, लय, गति, रंग रूपादि के माध्यम से प्रस्तुत करता है। माध्यम वह बीच की शक्ति है जो कि सहृदय को वस्तु के स्वरूप की संवेदना तक ले जाता है। कला अभिव्यक्तिगत पूर्णता की अपेक्षा रखती है। विभिन्न माध्यम इस पूर्णता के पूरक हैं। काव्य, संगीत, नृत्य, चित्र, मूर्ति, वास्तु आदि माध्यमों में अभिव्यक्तिगत आत्यांतिकता ही कला है।

चित्रकला का प्रारंभिक स्वरूप प्रागैतिहासिक काल से ही उपलब्ध होता है। इस सिलसिले में स्पेन: अल्ता-मायरा का सांड, रीछ, फ्रान्स : फोन्ट-डी गोमे का हिरन, भारत: आदमपुर का सुअर और शिकारी बहुचर्चित है। चित्र के आदि स्रोत की धार्मिक परिकल्पना, भारतीय काव्य साहित्य में नग्नजीत और ऋषि नारायण के माध्यम से व्यक्त है। वास्तव में गुफा-चित्रकार और शिलाश्रित चित्रकार ही आविर्भाविक हैं। मोहनजोदड़ों की सभ्यता में मानव के घुमक्कड़ जीवन का अंत हो गया था। इस सभ्यता में वास्तु, मूर्ति, चित्र, नृत्य, संगीत आदि समान रूप से व्याप्त रहा है। इस युग के कलाकार ने अहिंसक वन्य पशुओं को अवलंबन के रूप में, स्वतंत्र विषय के रूप में, एवं सज्जापरक ज्यामितिक विधा में, वस्तु में प्रगट किया है। कलाकार ने जगत के आत्म-रहित-यथार्थ रूपों को जैसा देखा है, प्रस्तुत किया है। कला के प्रति इनका दृष्टिकोण मनोरंजन का प्रतीत होता है। वैदिकयुग में कला का संबंध धार्मिक संविधानों से जुड़ा हुआ मिलता है। रामायण में राम "वैहारिकाव्यं शिल्पानां ज्ञाता" थे, अर्थात् कला आत्मा रहित शिल्प की श्रेणी में थी। अयोध्या, जनकपुर आदि उस युग के कला केन्द्र थे। ये केन्द्र प्रायः राजाओं की छत्रछाया में पलते-पनपते थे। बुद्धकाल तक चित्रकला, जहाँ धार्मिक विधानों के साथ राजकीय पुरुषों से संबंधित थी, वह धीरे-धीरे नागरिक जीवन में प्रवेश कर रही थी। मौर्यकाल में कला का राजकीय स्वरूप अति प्राञ्जल था। इसी के उपरान्त साँची, भरहुत के रूपों में निखार आया। अजंता अपनी छवि पर मुस्करा उठा। इनकी खूबसूरती, ताजगी, सजीवता और भावों की अभिव्यक्ति अनोखी है। विक्रमादित्यीय-लौह-लाट, देवगढ़ का मंदिर, कुर्किहारी की धातु प्रतिमाएँ, नैपुण्य के प्रतीक है।

छठी शताब्दी तक कला की विभिन्न शैलियाँ, कला की अभिव्यक्ति में गोचर होने लगी थी। प्रधानता पट-चित्र, भित्तिचित्र, ज्यामितिक-सज्जा-चित्र, स्थानीय चित्र, रेखाचित्र हैं। गुप्त साम्राज्य के बाद राजपूत कला का प्रारंभ होता है।

राजपूत कला से आशय उस कला से है जिसका कि आविर्भाव न केवल राजस्थान से संबंधित है अपितु राज-पूत राजा नरेशों की छत्रछाया में उद्भूत होकर, पल्लवित हुआ है। राजपूत कला की परिसीमा में वास्तु (मंदिर, महल, अट्टालिकाएँ), मूर्ति, चित्र, संगीत, काव्य आदि आते हैं। संगीत और काव्य केवल वह, जो राजपूत राजाओं के आश्रय में

प्रणीत हुआ है एवं जिनकी प्रवृत्तियाँ और दिशाएँ, राजपूत संस्कृति से मेल खाती हैं। राजपूत चित्रकला शैली के संबोधन से, स्पष्ट आशय उस चित्रकला से हैं जिसकी सीमा-परिसीमा और स्वरूप प्रथम खण्ड के अध्याय दो में चर्चित है। इस अध्याय में राजपूतों के बाह्य परवेश का संश्लेषण प्रस्तुत किया है। उनकी वेश-भूषा, सज्जा, अलंकार आदि का प्रतिष्ठापन करते हुए राजपूत चित्रकला में व्यवहृत रूप को उरेहा है, जिससे कि प्राप्त राजपूत संस्कृति और राजपूत चित्रकला शैली की समानता स्पष्ट गोचर होने लगती है। राजपूत राजाओं के आधारों में ललितकलाओं के प्रति एकान्वित प्रेम रहा है जो कि उनके समय के चित्रों एवं और काव्यों में मिलता है। काव्य संगीत की मधुर राग-रागिनियों में निबद्ध होकर प्रस्तुत हुआ है तथा चित्रकला, काव्य और संगीत की गरिमा लेकर, रागमाला, नायिका-भेद, बारहमासा, गगऋतु वर्णन, आदि में व्यक्त है। रामायण, महाभारत, भागवत-पुराण, मार्कण्डेय पुराण, देवी भागवत, देवी महात्म्य षट् आदि दैविक कथाओं को राजपूत शैली का चित्रकार, आधार बना कर चित्रित करता है। सम सामयिक कवियों की रचनाओं को लेकर, उनकी कथाओं को लेकर रमणीक विधा में, लोक रुचि के अनुकूल उन्हें चित्रित किया है। सूर और रीतिकालीन कवियों के दोहों, कवितों और छंदों को, उनके बिम्बों के सहित कागज की पृष्ठभूमि पर प्रस्तुत किया है। प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा के कथानकों के मार्मिक अंशों को चित्रित किया है, जिनमें पद्मावत, मालती-माधव, सोहनी-महिवाल, शशि-पुन्नाह, लैला-मंजनू, चौर पंचाशिका, रस-मंजरी प्रमुख रूप में हैं।

राजपूत चित्रकला का वह भी पूर्व रूप है जो कि राजपूत मंदिरों और मूर्तियों में उपलब्ध होता है और आगे चल कर वही राजपूत चित्रकला में चित्रित भी हुआ है। उदाहरण के बतौर केकिण्ड का हस्तिमुद्ध, किराडू का रथ व अश्वयुद्ध, जांजगीर का राम द्वारा खर्जूर वृक्ष भेदन, मूर्तियों में व्यक्त सज्जा, अलंकरण, रूपाकृति और उनकी प्रवृत्ति, विवेच्य चित्रकला में देखी जा सकती है। ग्वालियर मानमंदिर के चित्र, वैराट उद्यान भवन के भित्ति चित्र, अम्बर की छतरियों की छतों के चित्र, आदि में राजपूतों नरेशों की अभिरुचियों के परिचायक हैं। पंद्रहवी, सोलहवीं शताब्दी में राजपूत राजा नरेशों के यहाँ सामंत-अमीर-उमरावों के यहाँ, चित्रकला का विकास द्रुतगति से हुआ। इस विकास में स्थान गत विशेषता का समावेश होता रहा है जो कि आधुनिक युग में समीक्षा की दृष्टि से स्थानीय परिवेशिकताकी संज्ञा से अभिहित करते हैं, तथा इन्हीं आधारों पर स्थानीय कलम का संबोधन करते हैं। राजपूत चित्रकला शैली के स्थानीय रूप तत्कालीन राज्यांतर्गत केन्द्रों में विकसित हुए तथा किन्हीं-किन्हीं का विस्तार भी हुआ है। जैसे मालवा की स्थानीय चित्रगत विधा, मेवाड़, चावण्डा, ओड़छा, के चित्रों में परिलक्षित होती है। किसनगढ़ के प्रारंभिक चित्रों में जोधपुर शैली का प्रभाव है। नागौर पर मारवाड़ शैली-प्रभाव देखा जा सकता है। इसी तरह मेवाड़ के चित्रों में किसनगढ़ की मुखाकृति झलकती है। यह भी देखा जा सकता सकता है कि औरंगजेब के समय में मुगल दरबार के टूटने से अलवर, बीकानेर, प्रायः दरबारी चित्रकारों से भर गए। इसी तरह जोथपुर की आकृतियाँ बाद में, औरंगजेब के समय के लगभग से लम्बी हो गई हैं। जैसलमेर की आकृतियाँ भी लम्बी हैं किन्तु इन्हें किसी तरह के प्रभावों में नहीं गिना जा सकता है, गो कि यहाँ की मानवाकृति साधारण से लम्बी प्रतीत होती है, यह जैसलमेर का स्थानीय गुण है। इसी परह जयपुर की नारी आकृति के सिलसिले में भी कहा जा सकता है, वह साधारणतः छोटी है। जोधपुर की नारी की आकृति ठगनी प्रतीत होती है, किन्तु जयपुर की नारी आकृति पुरुष का कद सामान्य होगे के कारण, आनुपातिक-क्रम में आती है, जबकि किसनगढ़ को नारी आकृति लम्बी छरहरी होते हुए भी पुरुष के साथ मेल खाती है। राजपूत चित्रकला गत आकृतियाँ जो पूर्व वय को प्रगट करती हैं, भारती नारी की गरिमा को बोध बहन करती है, जो कि अपने आप में वैशिष्ट्य के साथ, भारतीय चित्रकला की महती उपलब्धि है। स्थानीय शैलियों का स्वरूप अंकित करते हुए, इन स्थानीय विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। राग-माला, नायकनायिका भेद, बारहमासा, षट् ऋतु, सूर, केसव, बिहारी की पृष्ठ-भूमि और पदों की अवतारणा करते हुए चित्रकारों ने उन्मुक्त शृंगारिक वातावरण का भोग किया है। इसमें तत्कालीन सम-सामयिकता ही प्रगट हुई है।

मध्ययुगीन सांस्कृतिक और सामाजिक परिस्थितियों ने अपने सम-सामयिक कला-साहित्य को गति, प्रेरणा और दिशा दी है। इस्लामी आक्रान्ताओं की मूर्ति-भंजक-प्रथा ने राजस्थान तथा निकटवर्ती प्रदेशों में मूर्ति निर्माण की गति में बाधा पहुँचाई है। राजा-महाराजाओं का समय कला साहित्य के विकास की और आधातित युद्धों के कारण उतना स्वतंत्र रूप से नहीं गया है जितना कि दक्षिण के राजाओं का गया है। फिर भी राजपूत राजा नरेशों का जीवन धर्म और भारतीय कला संस्कृति के लिए ही रहा है, यह मुक्त काण्ड से स्वीकार है। राजपूतों की मुसलमानों के युद्धों में, हार कारणों में योग्य संचालकों, आधुनिकतम हथियारों का अभाव प्रतीत होता है। राजपूत राजा नरेश, अपनी मनोवृत्ति से कभी भी पराजित नहीं हुए। लड़ना उनका जीवन था, और उसे वे अंततः स्वीकार किए रहे। यह बात कुछ दूसरी हो गई कि बाद में इस्लामी सत्ता के लिए अपने बलिदान करते रहे। सामान्य जनता की उपेक्षा के मूल में तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था रही है जिसने कि सामान्य जनता को कभी-कभी स्वतंत्र रूप से सोचने का अवसर नहीं दिया। राजपूत राजाओं के समय में कुछ अधिक प्राप्त थे किन्तु मुसलमानों की जागीरदारी की प्रथा में, उनके वे स्वायत्तीय अधिकार छीन लिए गए।

अधिकार छिन जाने के उपरान्त सामान्य जनता राजनीतिक परिवर्तनों के प्रति उदासीन हो गई। इस तरह तीन-चौथाई आबादी राजनैतिक चेतना से मुक्त होकर मूक-दर्शक की भाँति राजनैतिक उत्थान-पतन, बनते-बिगड़ते साम्राज्यों के परिवर्तन देखती रही। मूक पशुवत नादिरशाह और अब्दाली की तलवार तले गर्दन करती रही। राष्ट्रीय गौरव की भावना का अर्थ यदि कहीं था तो वह तत्कालीन राज्य विशेष की सीमा तक व्याप्त था। शिक्षा प्रायः थी। नारी तथा पुरुष वर्ग शिक्षित था। कर्मकार वर्ग के संबंध में नहीं कहा जा सकता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सामान्य सामाजिक थे। क्षत्रिय, राजकुलों और राजसत्ताओं से संबंधित राजपूत की संज्ञा से अभिहित थे। नारी समाज कलाविद था। नारी सम्माननीय और पूज्य थी। यह स्पष्ट है कि राजस्थान में अधिकांश युद्ध नारी के लिए लड़े गए। यौन पवित्रता उनके जीवन और मरण का प्रश्न रहा करता था। काव्य साहित्य और चित्रकला आदि में नारी का जो भोग्या रूप मिलता है, वह संभवतः निम्न वर्ग का रहा है और विशेष कर इन्हीं रक्षिताओं की बढ़ने वाली पीढ़ियों का रहा हैं। नारी का जो सम्मान राजपूतों की तलवार के साए में मिला है, वह विश्व के इतिहास की एक चरम अनोखी घटना है। एक नारी के सुहाग और उसकी पवित्रता की रक्षा के लिए नगर-का-नगर, देश-का-देश धूल-धूसरित हो गया। अगणित नारियों, कुमारियों ने ज्वालाओं का संबल ग्रहण किया। राजस्थान की नारियाँ देश का गौरव थीं। शृंगार और लालित्य उनके जीवन में था। प्रेम की उत्कट भावना उनके हृदयों में व्याप्त रही है। प्रेम के लिए उन्होंने जीवन जिया है, जिससे कि कई मुसलमान कवि भी प्रभावित हुए हैं, इन नारियों की गौरवगाथा, महाकाव्यों में प्रस्तुत की है। वैश्यों में जैनों की स्थिति संदिग्ध रही है। जिसके सिलसिले में कुछ भी जोर देकर नहीं कहा जा सकता है। ब्राह्मण वर्ग के प्रति इतिहास और सामाजिक प्रकरण मौन से हैं। अंशतः उनके विदुषी आदि होने के उल्लेख हैं, चरित्र हीन होने के नहीं। न ही ब्राह्मण कुमारियों, स्त्रियों को किसी सभा, सम्मेलन या मन्दिर में जाने की मनाही हीं की गई है।

नाथों, सिद्धों, सहजयानियों आदि पंथों के चक्कर में जो निम्नवर्गीय सामान्य जनता थी, उसकी स्थिति दयनीय थी। माँस, मदिरा, मैथुन का मुक्त आचार इनमें चलता था। इसके प्रति साधुओं ने, मुनियों ने, सन्तों ने चेतावनियाँ दी हैं तथा समाज के इस वर्ग को सुधारना चाहा है। यह स्मरण रखना चाहिए कि यह वर्ग सनातन धर्म के प्रति आस्थावान न था और यही कारण है कि इस्लाम के धर्म परिवर्तनों के दौर में ये ही निचले वर्ग, अधिकतर उनके धर्म में दीक्षित हो गए। काश्मीर, उत्तर भारत की जो नारी के प्रति धारणा थी वह दामोदर गुप्त, क्षेमेन्द्र और आनंदगिरि की कृतियों से व्यक्त होती है। ऐसी स्थिति सभी जगहों में, सभी वर्गों में नहीं रही है, ऐसा मान लेना चाहिए और यह सही भी है। इसका स्पष्टीकरण ऊपर किया जा चुका है। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि राजस्थान के

राजपूत समाज ने नारी की शक्ति रूप में पूजा की है, मां के रूप में उसका वंदन किया है। वीरांगना के रूप में उसकी तलवार का लोहा माना है, तथा निर्देशक के रूप में उसका स्वागत किया है।

कलाओं का आचार्यों द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण और विशेष कर ललितकलाओं में समानाधिकरण-तत्व पर विचार प्रथम खण्ड के चतुर्थ अध्याय में किया गया है। पाश्चात्य आचार्यों ने इस पर चर्चा की है। प्लेटो के लिए कला और ललित कला जैसी कोई वस्तु नहीं है।[1] तथा कला दर्पण से अतिरिक्त कुछ नहीं है।[2] प्लेटो के लिए दर्शन की सीमा के भीतर कला मात्र अनुकृति है। कला के प्रति प्लेटो द्वारा अपनाया गया दृष्टिकोण एक राजनैतिक सुधारक का दृष्टिकोण है। अरस्तु 'अनुकरण' को सभी ललित कलाओं में समानाधिकरण कर्त्ता मानते हैं। अरस्तु के अनुसार संगीत, चित्र, नृत्य, काव्यादि समस्त ललितकाओं का मूलाधार अनुकरण ही है। प्लाटिनस रूपाकृतियों में समान रूप से ईश्वरीय सौन्दर्य का प्रकाश देखता है। एक्वीनास सौन्दर्य के मूल तत्वों में पूर्णतः, अनुपात और स्पष्टता को नैतिकता के आवरण में स्वीकारता है। लाईबनीज सौन्दर्य को व्यक्तिगत रुचि और इच्छा से भी प्रबल मानता है जिसका कि प्रतिरूपण आगे चल कर बामगार्टेन और कान्ट ने किया है। ह्यूम के अनुसार कृतियों में व्याप्त सौन्दर्य विदग्धता की तरह अवर्णनीय है। कान्ट ने ललित कलाओं का वर्गीकरण किया है। उसके अनुसार सौन्दर्य इन सभी ललित कला रूपों में समानाधिकरण का कार्य करता है। ललित कलाओं का वर्गीकरण स्थूल-सूक्ष्म और व्यापकता के आधार पर किया है। काण्ट के अनुसार कला एक ऐसी सार्वजनीन वस्तु है जो न तर्क पर आश्रित है और न वस्तु मूलक ही है, वस्तुतः वह रूपात्मक है।

लेसिंग माध्यम को कलागत अभिव्यक्ति में बाधक नहीं मानते[3], वस्तुतः उनकी विशिष्ट क्षण के चित्रित करने की क्रिया को प्रस्तुत करते हैं जो कि पिछले और आगे आने वालों का संकेत दे सकता है।[4] गेटे सौन्दर्य के मूल में प्रेम की सत्ता को स्वीकारते हैं[5] जो कि उनके फाउस्ट में है। अतएव प्रेम या राग भी समानाधिकरण का तत्व सिद्ध होता है। यह स्थूल प्रेम परम सत्य की ओर उन्मुख रहता हैं। गेटे का सौन्दर्य समस्त जगत में व्याप्त है जिसे आत्मा का चैतन्य ग्रहण करता है। हम्बोल्ट के अनुसार कला, कल्पना के माध्यम से प्रकृति का निरूपण करती है।[6] दूसरे शब्दों में कल्पना समानाधिकरण कर्ता कहा है। हीगेल आत्म चेतन के निकटता के आधार को बल देते हैं। हीगेल के लिए सौन्दर्य की स्थिति, ईश्वर और वस्तु से समन्वित भावना की अभिव्यक्ति में है। इस तरह सौन्दर्य की समाहिति सत्य में अर्थात् सौन्दर्य और सत्य हीगेल के मत से एक ही वस्तु, अलपतः चेतन के भेद से हैं। निष्कर्षतः हीगेल के अनुसार चेतन का व्यक्त रूप ही सौन्दर्य है।[7] शोपेनहोवर प्रत्ययों के पूर्ण प्रकाशन को कला की श्रेष्ठता का द्योतक कहता है।[8] इच्छा की प्रतिच्छाया कलाओं में व्याप्त है जिसकी पूर्णतः संगीत में स्वीकारता है।[9] नीत्से ने कलाकार

१. "दी टर्मस आर्ट एण्ड फाइन आर्ट डिड नाट एक्जिस्ट फार प्लेटो यन दी सैंस इन विच वी यूज़ देम टू-डे." ए हि. ऑफ ए., के. ई गिलबर्ट, पृष्ठ-१९।
२. "आर्ट नो लेश, नो मोर देन मिरर" वही ग्रन्थ, पृष्ठ-२८।
३. "मीडियम्स मस्ट नाट ट्रेस पास" ए हि० आफ ए० पृष्ठ–३०५, गिलबर्ट।
४. "वट दे मे लुक ईच अदर : दी प्रेगनेंट मूमेंट एण्ड डायनामिक डिस्क्रपसन"
ए० हिस्ट्री आफ एसथेटिक—के० ई० गिलबर्ट, पृष्ठ–३०६।
५. 'लव क्रियेटस ब्यूटी" ,, ,, पृष्ठ—३५३।
६. "आर्ट इज दी रिप्रिजेंटेशन आफ नेचर थ्रू इमेजिनेशन" ए० हि० आफ ए० के० ई० गिलबर्ट, पृष्ठ—३५५।
७. ए हिस्ट्री आफ एस्थेटिक्स, ,, पृष्ठ—४४०।
८. ,, ,, ,, पृष्ठ—४६९।
९. ,, ,, ,, पृष्ठ—४७१।

की सत्ता को सर्वशक्तिमान कहा है। वस्तुतः नीत्से के लिए कवि या कलाकार वस्तु के सौन्दर्य का उद्बोधक है। इन सब आधारों के लिए क्रोचे सहजानुभूति की बात करता है। क्रोचे के अनुसार कला का मूल तत्व तादात्म भाव उत्पन्न करना है जो कि सभी ललित कलाओं में कम-अधिक प्रभावोत्पादकता में विद्यमान रहता है। कलाओं के वर्गीकरण में क्रोचे के अनुसार कोई तात्विक भिन्नता नहीं है, केवल बाह्य भेद हैं। शैसलर और वेरोन समस्त पूर्वकालीन सौन्दर्य की समीक्षा प्रस्तुत करते हैं। वाल्टर पेटर समस्त वस्तु में रूप को देखते हैं।

भारतीय आचार्यों ने काव्य के अतिरिक्त कलाओं को ६४ कलाओं में परिगणित किया है। स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद कृत काव्य और कला तथा अन्य निबंध की भूमिका में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने हीगेल के मत पर जो टिप्पणी दी है उससे ध्वनित होता है कि आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी की अभिव्यक्ति में सौन्दर्य की अभिव्यंजना ही समानाधिकरण कर्ता है।[1] प्रसाद के शब्दों से भी कुछ ऐसा ही व्यक्त होता है।[2] रवीन्द्र के अनुसार कला में मनुष्य बाह्यवस्तुओं की नहीं अपितु स्वानुभूति की अभिव्यक्ति करता है जो कि सभी में समान रूप से विद्यमान होती है।

अंततः सौन्दर्य और उससे अभिप्रेत आनंद सभी ललितकलाओं में समानाधिकरण कर्ता हैं।

काव्य से सौन्दर्य और आनंद अभिप्रेत है। इसी तरह चित्रकला से भी सौन्दर्य और आनंद अभिप्रेत है। तुलसी के काव्य का सौन्दर्यानंद राजपूत चित्रकला शैली के स्थानीय रूपों में, चित्रकारों की रम्य-प्रस्तुति में द्विगुणित होकर प्रस्फुटित हुआ है जिसमें एक ओर भक्ति भावना से निसृत रमणीक रस की अनुभूति सहृदय भक्त को होती है, दूसरी ओर वस्तु की चित्रित स्थिति की सहज संप्रेषणीयता, प्रेक्षक के इन्द्रिय बोधों पर आवृत्त हो जाती है। तुलसी की नारी : सीता, जगत जननी के दैव्य-गौरव में, चित्रकार के अप्रतिम सौन्दर्य में, भक्त प्रेक्षक को, जीवन और जगत के बोझिल बोध से, समस्त व्यापारों में व्याप्त राग द्वेष से, पूर्वा-पर स्थितियों से, मुक्त कर, मधुर-रस, भक्ति रस, रमणीक रस के आस्वाद्य की स्थिति में पहुँचाती है। राजपूत कलम में—बीकानेर शैली में चित्रित नारी आकृति से अभिप्रेत सौन्दर्य और आनंद प्रेक्षक में भावात्मक संवेदना को उद्भूत कर, उसे पूर्ण रसदशा को पहुँचाने में पूर्ण समर्थ है (चित्र फलक—२२ देखिए) तुलसी और राजपूत चित्रकला के मूल में, वे सारी स्थितियाँ और वातावरण एवं कथागत प्रवृत्तिगत–धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक स्रोत किसी न किसी रूप में विद्यमान रहे हैं, यही इन दोनों के मध्य समानताओं और प्रभावों का निष्कर्ष है।

सूर का काव्य, उनकी राधा तथा राधा के पांचों रूप, सांगीतिक लय के अनुरूप ही राजपूत चित्र कला शैली में नायक-नायिका भेद, बारहमासा, रास-लीला, कृष्ण-लीला, बाल-लीला के रूप में अभिव्यक्त हुए हैं। प्रायः चित्रकारों का आधार सूर सागर कम रहा है, भागवद-पुराण अधिक रहा हैं। राधा का नारी-सौन्दर्य जिसका कि अनुभव सूर ने अपने चक्षु से जगत के सामान्य व्यापारों के मध्य किया था। बालक कृष्ण के चित्रण में सूर के आत्म-जीवन की अतृप्त भावना उदात्त होकर प्लावित हो गई है। जीवन का समस्त सार, संगीत की मधुर लहरियों में, सूर की तन्मय आत्मविभोर स्थिति में, विभिन्न राग-रागिनियों के माध्यम से व्यक्त हुआ। यदि देखा जाए तो एक ओर राधा के सौन्दर्य का चित्रण, समस्त राजपूत चित्रकला शैली के, राजपूत-पहाड़ी राज्यों की चित्रकला शैली के, चित्रकार युगों तक करते रहे, किन्तु जितने विविध रूप सूरदास ने कृष्ण और राधा को प्रदान किये, उन सब के बराबर ये समस्त चित्रकार नहीं दे सके हैं। दोनों के मूलाधार एक ही हैं। प्राय प्रेरणा स्रोत भी वही है। सूर अपनी व्यक्त स्थिति में परम महान हैं। सूरदास के जीवन और कार्य को देखकर कर्नाटक संगीत का महान गायक त्यागराज का स्मरण हो आता है जिसने रामकथा पर, तमिल भाषा में अठारह हजार गेय पदों की बंदिश प्रस्तुत की है। साधारणतः

१. काव्य और कला तथा अन्य निबंध : जयशंकर प्रसादः पृष्ठ—२१।
२. ,, ,, ,, ,, ,, पृष्ठ—४३।

एक व्यक्ति त्यागराज की केवल कुछ ही (सौ के भीतर) बंदिशों को हृदयंम कर पाता है।

कवि केसवदास, आचार्य, पण्डित, सलाहकार, कुशल नीतिज्ञ, अपने समय के विख्यात कवि थे, इसके साथ कवि केसव कला रसिक और प्रेमी तो थे ही पर समयानुकूल नीति बदल कर चलने में पटु, तत्कालीन सामंतवादी प्रकृति के कामी-लोलुप पुरुष थे। कवि केसवदास की यह अन्तिम प्रवृत्ति 'कवि केसव' को काव्य की प्रेरणा जीवन के अन्तिम क्षण तक देती रही। यही एक मूल कारण भी है कि केसव की कृतियाँ सर्वाधिक चित्रित हुई हैं और रचनाकाल के तत्काल बाद से ही, उनका चित्रण व्यापक रूप से राजपूत चित्रकला शैली, राजपूत पहाड़ी राज्यों की चित्रकला में, होने लग गया था। इतना व्यापक अल्पकालिक विस्तार हिन्दी के किसी अन्य कवि को प्राप्त नहीं हुआ है।

बिहारी भी केसवदास की परम्परा के कवि हैं, केवल श्रृंगारिक दृष्टि में। नारी के प्रति दोनों का दृष्टिकोण एक ही जैसा रहा है। दृष्टिकोण से आशय नारी के प्रति सामंतवादी प्रकृति का होना है। बिहारी ने सतसई के दोहों में कम से कम शब्दों में, मुगल मिनियेचर्स की तरह जो कि मुश्किल से कोट के बटन के बराबर होते थे, जिसमें मानव की उर्ध्व आकृति गत समस्त सौन्दर्य निहित होता था, जीवन गत प्रेम-मय व्यापारों को निहित किया है। साधारणतः इस तरह के मुगल चित्र, अपने छोटे-छोटे रूपों में आज भी अपने पूर्व सौन्दर्य को यथावत व्यक्त करने में समर्थ हैं। सतसई के दोहे आज भी उतने ही दिलचस्प हैं। इस तरह के अति-लघु-चित्र जो कि प्रायः बाद में राजस्थान में भी बने हैं। इनमें समाहार शक्ति है। बिहारी चित्र विधा के अनुरागी थे जिसकी अभिव्यक्ति दोहों में है। चित्र जगत के सामान्य व्यापार का प्रतिरूपण दोहों में हुआ है। इनके दोहों ने अनेकों चित्रकारों को समान रूप से जीवन की दिशा और गति दी है।

बिहारी और देव को लेकर बहुत समय तक आधुनिक काल के आदि आलोचकों में भिड़न्त रही है जो कि इन दोनों महाकवियों में अनेक स्तरों पर समानता की प्रतीक है। देव ने प्रकृति को आलंबन रूप में प्रकट किया है तथा बुद्धि के चमत्कारों पर विश्वास न करते हुए जीवन और जगत के समस्त व्यापारों की भावाभिव्यंजना अपने अनेक काव्य ग्रन्थों में प्रकट की है। देव के काव्य में व्यक्त, देव का जीवन और जगत के प्रति दृष्टिकोण भोगवादी रहने के साथ ही, अपनी आब और मर्यादा को बनाए रखना चाहा है। संगीत का ज्ञान इनके काव्य में मधुर शब्दावली के रूप में सर्वत्र व्याप्त है। कुछ अंशों में देव का दृष्टिकोण केसव और बिहारी से भिन्न नहीं था।

मध्यकाल में सामंतीय जीवन पद्धति रही है। बादशाह के अनुकूल जीवन का नियंत्रण होता था। राजा के अनुकूल नगर, भवन और समाज के साँचे बनते थे। किसनगढ़ का राजा सामंतसिंह धार्मिक था, इसलिए अधिकतर राज्य में धर्म की सत्ता व्याप्त थी। इस युग के राजाओं के भोग विलास और वैभव के अलग मानदण्ड थे। इन्हीं मानदण्डों को कवियों और चित्रकारों ने अपने काव्य और चित्रों में प्रधानता से व्यक्त किया है। राजाओं की रक्षिताएँ, उनकी क्रीड़ा और व्रीड़ा, कवियों का काव्य विषय और चित्रकारों का चित्र विषय होता था। नर्तकी गाती और नाचती थी। तबलिया तबला बजाता था। उसके रसिक गण मधुमक्खी की तरह उसके चतुर्दिक चिपके होते थे। बिहारी के दोहों में, चित्रकारों के चित्रों में, एक नायिका और अनेक रसिक हैं या एक नायक है और अनेक नायिकाएँ हैं। संगीत की स्वर लहरी और उसके प्रारूप को कवि ने पद्यबद्ध किया तो चित्रकार ने उस पद्य को रूपाकृति दी। राजा-महाराजा, सामंत-अमीर-उमराव, कवि, चित्रकार सभी की प्रेरणा भूमि नारी और नारी थी। वह कवि ही क्या जिसने नायिका भेद न बनाया भले ही नकल करके रख दिया हो, वह चित्रकार ही क्या जिसने नायिका भेद चित्रित नहीं किया, और वह राजा-महाराजा ही क्या, जिसने अपने रनिवास में जीवित-नायिकाओं का संग्रह नही किया। सभी एक घाट पानी पीते थे। कोई गहरे में घुस कर पीता था, कोई किनारे से तसल्लों कर लेता था। इन कवियों में, चित्रकारों में किसी की राधा, कृष्ण की थी, किसी की राधा पराई थी और किसी की बाजारू थी। लेकिन राधा का रूप सब के पास था। इसके

बगैर न तो कोई कवि, कवि ही था और न तो कोई चित्रकार चित्रकार ही था।

कुल मिला कर इन कवियों, चित्रकारों, सामाजिकों, राजा-रईसों के जीवन के कुछ क्षरण ईश्वर भक्ति के होते थे और कुछ क्षरण श्रृंगारपरक होते थे। कुछ शैव थे, कुछ वैष्णव थे। निश्चित रूप से राजपूत राजा धर्म के प्रति आस्थावान थे। सामाजिक भी अपने घोर पसीने की कमाई का आधा भाग जिजिया में देकर भी परम प्रसन्न थे। उनका धर्म नहीं डोला, आस्था नहीं डोली। यदि विचलित हुए हैं तो निम्न असंतुष्ट कर्मकर-वर्ग। भक्त सामाजिकों ने भक्ति रस, मधुर रस रमणीय रस का अमृत पान किया और विषमताओं की अनेक सदियाँ हँसते-हँसते बिता दी। चित्रकारों ने अपना महत योग दिया। प्राप्त काव्याधरों पर सभी तरह के चित्र बनाए। इस सृजन की परम्परा मे लोकरुचि कुछ हल्की हो गई गोया कुछ क्षणों के लिए चित्रकार भी उदात्तकला गत सृजन के स्तर से हट कर काम-प्रेरक स्थितियों की अवतारणाएँ चित्रों में व्यक्त करने लगा। राधा-कृष्ण सामान्य प्रेमी और प्रेमिका के रूप में प्रस्तुत होने लगे। स्थानीय सामंत, राजा, रईस का परिवेश के रूप में चित्रित होने लगा। बसंत रागनी के चित्रण की तरह, ताली-थपकी दे कर मुरली हाथ में ले बागों के चौराहों पर, गोपी रूप नर्तकियों के मध्य नाचने लगे। नारी के संग संभोगीय स्थितियों में नायिका भेद के माध्यम से आने लगे जिसका आगे चल कर कोई अन्त न हुआ, अपितु इसके चलते रहने के साथ ही, अलग से परिष्कृत रूप भी सामने आए।

राजपूत चित्रकला के समानान्तर ही कुछ समय बाद सोलहवीं शताब्दी के तृतीय चरण से मुगल कला शैली का प्रारंभ होता है। दक्षिण पश्चिम में जैन चित्रकला का विकास, विस्तार धर्म के आधार पर नवीं शताब्दी से ही चर्म, काष्ठ आदि पर, मिलने लगता है। दक्षिण में बीजापुर के आदिलशाह घराने में बीजापुर शैली का प्रारंभ युसुफ आदिलशाह (सन् १४९० ई०) से ही प्रारंभ हो जाता है। उत्तर भारत में राजपूत पहाड़ी राज्यों में चित्रकला का प्रसार सोलहवीं शताब्दी के बाद ही प्रारंभ होता है। जम्मू और कश्मीर के सिलसिले में और भारत की चित्रकला शैलियों के सिलसिले में लामा तारानाथ का कथन दशवीं शताब्दी से ही चित्रकला का द्योतन करता है। राजपूत कला स्वयं हर्ष के उपारान्त से विकसित प्रारंभ करती है और राजपूत राज्यों, उनकी संस्कृति और रहन-सहन, सभ्यता के साथ विकास पाती जाती है जिसे कि समय-समय पर बनने वाले, मंदिर, राजभवन, छतरियाँ, किले की दीवाले, इनकी भित्तियों पर प्रस्तुत चित्र, आदि इसके प्रतीक है।

भारत की अपेक्षा पाश्चात्य जगत में सभी ललित कलाओं को एक दृष्टि से विचारा गया है। उनका सूक्ष्म वर्गीकरण किया गया है, तथा पारस्परिक समानान्तरताओं का विश्लेषण किया है। समय-समय पर पड़ने वाले राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक प्रभावों को समान रूप से सभी कलाओं में आंका गया है। इसके अतिरिक्त आर्थिक और नैतिक दृष्टिकोणों पर भी परखा गया है। पाश्चात्य साहित्य में काव्य का वर्गीकरण का आधार वस्तु में व्याप्त स्थूल से सूक्ष्म माध्यम और इसके अतिरिक्त अभिव्यक्तिगत अभिव्यंजना में सौन्दर्य और आनंद की अनुभूति है, जिस पर कहीं-कहीं दर्शन हावी हो गया है और कहीं-कहीं उसकी लौकिक सत्ताएँ, पर उसका वास्तविक रूप यही है।

सभी ललितकलाओं का उन्मेष एक ही मिट्टी से होता है, केवल माध्यम का भेद है। जीव-जगत के समस्त व्यापार इन कलाओं के वास्तविक आधार हैं, यही उन्हें गति, दिशा और और रूप देते हैं, यही कलाकार की कल्पना में प्रबलता से जन्म लेकर माध्यम की निपुणता और कौशल से कलाकृति के रूप से अभिव्यक्त होते हैं।

अध्याय-२

निष्कर्ष

मानव के विकास में चित्रकला का आयाम, अति प्रागैतिहासिक काल में, उसकी मूल तथा आदिम वृत्तियों के साथ ही हुआ है। अभिव्यक्ति मानव की वृत्ति है, काव्य, संगीत आदि माध्यम है। अभिव्यक्तिगत अभिव्यंजना में सौन्दर्य और आनद निहित है जो कि सभी ललित कलाओं में उपलब्ध होता है। कलाकृति अनिवार्य रूप से सहृदय को प्रभावित करती है। साधारण प्रेक्षक (चित्र) कलाकृति से काव्यादि की रसानुभूति की तरह रस ग्रहण करता है। कलाओं के वर्गीकरण में स्थूल से सूक्ष्म की ओर गतिमान दृष्टिकोण सर्वाधिक समीचीन है। इस तरह चित्रकला काव्य और संगीत के उपरान्त स्थान पाती है। मूर्ति और वास्तु, चित्रकला के बाद में क्रमशः आते हैं। इन सभी कलाओं का जन्म सृजेता या कलाकार की कल्पना में होता है जो कि शब्द, वाणी, लय, गति, रंग रूपादि के माध्यम से व्यक्त होती है। इनकी आधार भूमि एक ही है।

चित्रविधा में एक सत्य बहुत आगे यह होता है कि कलाकार रंग प्रकृति से ग्रहण करता है। प्रकृति कलाकार के रंगों का आदि स्रोत है जो कि एक गुफा-चित्रकार के लिए भी वही थी और आज आधुनिक चित्रकार के लिए भी वही है, उसम रंगों में कोई बदलावट नहीं है। आल्तामायरा के साँड में भी वही रंग है जो आज के चित्रकार के हो सकते हैं। इस तरह चित्रकला में एक स्थायी स्थिरता है। दूसरा यह कि चित्रकला सभी युगों के व्यक्तियों को आकृष्ट कर भावों को संप्रेषित करने की क्षमता रखती है। चित्रकला ही एक ऐसी कला है जो सर्वजनीन है, सर्वकालिक और सार्वभौमिक है। वास्तविक कलाकृति सभी युगों के सहृदयों को अनिवार्यतः प्रभावित किए बगैर नहीं रहती है।

चित्रकला समाज सापेक्ष है, इससे हटकर उसकी स्थिति नहीं हो सकती है। समाज की मुख्य प्रवृत्तियाँ चित्र कला के माध्यम से प्रगट होती हैं। प्रारंभ में चित्रकला सांकेतिक थी जो कि आगे चल कर वस्तु प्रधान हो गई। गुप्त युग तक चित्रकला पूर्ण रूपों में समाज का द्योतन करने में समर्थ है। राजपूत युग की चित्रकला धार्मिक और यथार्थ रूपों को प्रमुखता से प्रगट करती है। संगीत की लयात्मकता और काव्य की वस्तु सत्ता इसका अपना वैशिष्ट्य है जो कि विश्व की चित्रकला के इतिहास में दुर्लभ है।

सामाजिक वस्तुस्थितियों को, परिवेशों को यथावत ग्रहण किया है। काव्य के समानान्तर ही इस समय की चित्रकला में, एक जैसी प्रवृत्तियाँ लक्ष्य और उद्देश्य व्यक्त हुए हैं। राजा-महाराजा, सामंत-अमीर-उमराव और रईसों ने काव्य के काव्य प्रणेताओं को, चित्रकला के सृजेताओं को, आश्रय दिया, उन्हें गति दी तथा उनकी कृतियों का संरक्षण किया। संगीतज्ञों की भी यही स्थिति थी। एक ही परिवेश में प्रायः कवि, गायक और चित्रकार एकत्र हुए हैं। एक दूसरे की कला के प्रति इन्होंने अपनी अभिरुचियाँ न केवल प्रगट की हैं अपितु उन्हें आत्मसात किया है। इनके द्वारा प्रणीत काव्य साहित्य, सांगीतिक बंदिशे, चित्रित चित्र इस सत्य के साक्षी हैं। सूरदास और महाकवि देव-स्वर-सिद्ध संगीतज्ञ थे। तुलसी के सोहरे, मंगलगीति, आज भी बुन्देलखण्ड, बघेलखण्ड, उत्तराखण्ड में नारी के कण्ठों की धरोवर है जो कि अनेक पीढ़ियों से उनमें चली आ रही है—यह तुलसी के लय ज्ञान का परिचायक है। संगीत की बंदिशों के पद साहित्यिक ही हैं। बिहारी संगीत के ज्ञाता अवश्य थे। इस समय के चित्रों में दोनों ही कलाओं की श्रेयस परिणति विद्यमान हैं। ते कलाएँ समान रूप से समाराताएँ रखती हुई, परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करतीं हुई, प्रस्तुत हुई हैं।

कुल मिलाकर ऐसा प्रतीत होता है कि जिन बिम्बों को काव्य में प्रस्तुत किया है, चित्रकला के माध्यम से प्रस्तुत होकर वे बिम्ब और भी सहज, सरल और संप्रेषणीय हो गए हैं। इस तरह से ये दोनों विधाएँ, एक दूसरे का बोध और स्वरूपों को विस्तार करने में सहायक हुई हैं। किन्हीं रूपों को ग्रहण कर चित्रकला निश्चित रूप से तत्कालनी कवियों से प्रभावित हुई है तथा सूर और तुलसी की अपेक्षा केसव, बिहारी और देव प्रभावित हुए हैं। रीतिकालीन और भी कवि अंशतः प्रभावित हैं, उनके पदों का, दोहों का, चित्रण हुआ है, पर वह बहुत ही अल्प रूप में है, उनका भी उल्लेख है। यह शोध-प्रबंध प्रधान रूप से इन पांच कवियों के परिप्रेक्ष्य को प्रस्तुत करता है।

संदर्भ ग्रन्थ

अष्टछाप	प्रभु दयाल मीत्तल।
अभिज्ञान शाकुन्तलम्	कालिदास।
अपभ्रंश काव्य त्रयी	लालचंद्र भगवान गांधी
अकबर दी ग्रेट मुगल	ऐमी वेलेज़।
अरस्तू का काव्यशास्त्र	डॉ. नगेन्द्र।
आचार्य केसवदास	हीरालाल दीक्षित।
आर्ट आफ चन्देलस	ए. गोस्वामी।
आर्ट आफ इंडिया थ्रू दी एजेज़	स्टेला क्रैमरिश।
आर्ट आफ पल्लवज़ भाग-२	ओ. सी. गांगूली।
आर्टस एण्ड क्राफ्ट आफ इंडिया एण्ड सीलोन	ए. के. कुमारस्वामी।
आर्ट एण्ड पर्सनाल्टी एण्ड अदर ऐजेज़	एफ. सी. डावर।
इंडियन आर्ट	के. भरथ अइयर।
,, आर्किटेक्चर	पर्सीब्राउन।
,, पेन्टिग	फिलिप रौगोन।
,, ,,	पेरी टिनसे।
,, ,, इन बूंदी एण्ड कोटा	डब्ल्यू. जी. आर्चर।
,, ,, अण्डर मुगल रूल्स	पर्सीब्राउन।
,, ,, इन दी पंजाब हिल	डब्ल्यू जी. आर्चर।
,, ड्राइंग	एम. सी. क्लार्क।
,, मिनियेचर्स पेन्टिग	राबर्ट टेरिफ।
,, एस्थेटिक्स, खण्ड-१	के. सी. पाण्डेय।
इन्ट्रोडक्सन टू इंडियन आर्ट	ए. के. कुमारस्वामी।
ए हिस्ट्री आफ एस्थेटिक्स	के. ई. गिल्बर्ट।
,, ,, ,,	बी. बोसांके।
एस्थेटिक	बी. क्रोचे।
एन इन्ट्रोडक्सन टू एस्थेटिक	कैरिट।
ऐक्सकेवेशन आफ हरप्पा	मैके।
कबीर ग्रन्थावली	डा. श्याम सुन्दर दास।
कस्टम एण्ड मोड	हेरमन ग्वेट्ज।
कविवर बिहारी	मिश्र बन्धु।
,, ,, और उनका युग	डा. रणवीर सिन्हा।
काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध	जयशंकर प्रसाद।

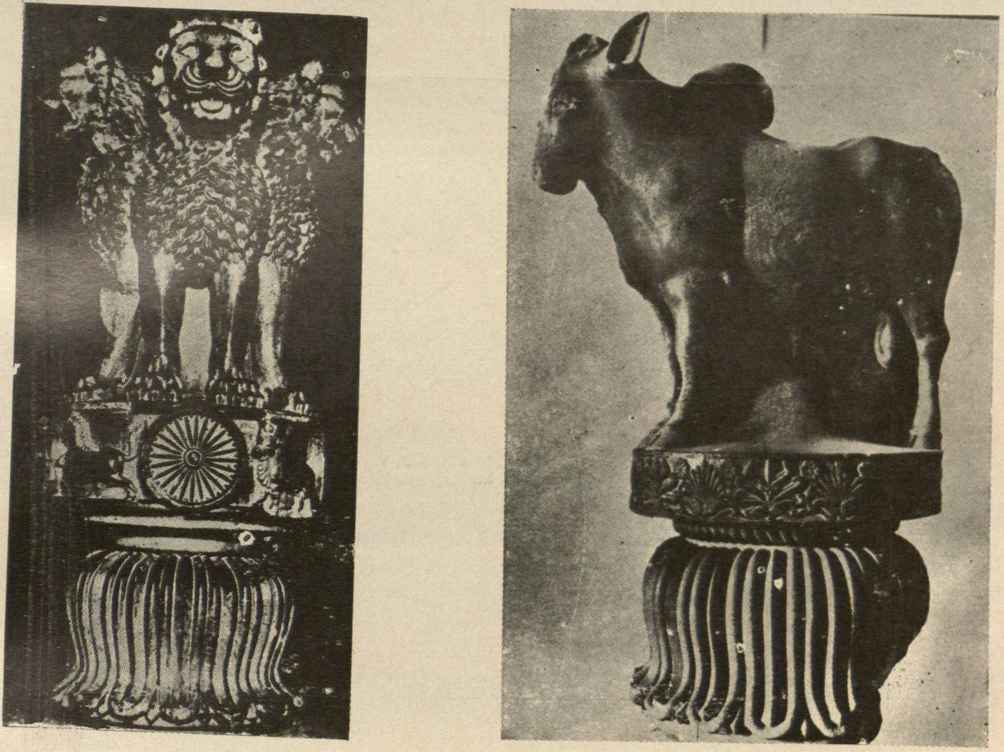
काव्य सूत्र	वामन ।
काव्य दर्पण	विश्वनाथ ।
,, ,,	रामदहिन मिश्र ।
कांगड़ा पेन्टिग आन लव	एम. एस. रंधावा ।
क्रिटिक आफ जजमेन्ट	काण्ट ।
केम पेन्टिग टू कामिक स्तूप	होगबेन ।
किसन गढ़ पेन्टिग	ललित कला ऐकाडेमी, नई दिल्ली ।
गोरखबानी	सं. डा. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ।
चाचनामा	फ्रेइन वेग ।
चिन्तामणि	आचार्य रामचंद्र शुक्ल ।
चित्रावली	उस्मान कवि, सं. जगमोहन शर्मा ।
जहांगीर्स इंडिया	मोरेलैंड ।
जर्नल आफ पंजाब हिस्टारिकल सोसायटी	वेल्यूम्-२ ।
जायसी	माताप्रसाद गुप्त ।
पर्सनाल्टी	रवीन्द्र नाथ टैगोर ।
पहाड़ी मिनियेचर्स पेन्टिग	कार्ल खण्डेलवाला ।
प्रि-हिस्टारिक पेन्टिग	बैंडरिक ।
प्रि-सिविलाईजेशन आफ इंडस वेली	दीक्षित ।
पेन्टिग आफ वेस्टर्न इंडिया	नारमन ब्राउन ।
फिरिस्ता	ब्रिग्स ।
बिहारी	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
बूंदी पेन्टिग	ललित कला ।
बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म (एन इंट्रोडक्सन टू)	बी. भट्टाचार्य ।
भक्तमाल	नाभादास ।
भारत की चित्रकला	रायकृष्ण दास ।
,, ,, ,,	चमनलाल मेहता ।
,, का इतिहास	सर एच. एम. इलियट ।
,, शिल्प	विमलकुमार दत्त ।
भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा	डॉ. नगेन्द्र ।
,, वास्तु शास्त्र	डॉ. द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल ।
,, संस्कृति का प्रवाह	इन्द्र विद्यावाचस्पति ।
,, इतिहास का सर्वेक्षण	के. एम. पाणिक्कर ।
,, संस्कृति का विकास	मथुरा लाल शर्मा ।
,, इतिहास का उन्मीलन ।	जयचन्द्र विद्यालंकार ।
मध्यप्रदेश संदेश	४-६-१६६५ ।
मध्यकालीन धर्म साधना	डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ।

मध्य कालीन भारतीय संस्कृति	ओझा ।
महाभारत	गोरखपुर ।
मास्टर पीसेज आफ राजपूत पेन्टिंग	ओ. सी. गांगूली ।
मार्ग	मार्च १९५९ ।
माडर्न आर्ट एण्ड दी न्यु पोस्ट	जेम्स थार्सले ।
मेघदूत	कालिदास ।
मेडिवल इंडिया	लेनपूल ।
,, ,, इंडिया अण्डर मुहम्मडन रूल्स	स्टेनली लेनपूल ।
मिनियेचर्स इंडियाने	वेनेजिया ।
,, पेन्टिंग	मोती चन्द्र खजांची ।
,, ,, फ्राम वेस्टर्न इंडिया	डॉ. मोती चन्द्र ।
देव दर्शन	हरिदयाल सिंह ।
,, रत्नावली	कविकिंकर
,, और उनकी कविता	डॉ. नगेन्द्र ।
दीप शिखा	महादेवी ।
दी ओल्डेस्ट राजास, देअर पेन्टिंग—	जैन भण्डार ।
दी ग्रास रूट आफ आर्ट	हरवर्ड रीड ।
,, इंडस्ट्रयल आर्ट आफ इंडिया पार्ट—१	ए. वर्डवुड ।
,, टाइम्स आफ इंडिया—वार्षिक	१९६१ ।
,, आर्ट एण्ड आक्टेक्ट आफ बीकानेर स्टेट	हेरमन ग्वेट्ज ।
,, फिलासफी आफ एस्थेटिक प्लेज़र	पंचपगेश ।
,, हेरिटेज आफ इंडियन आर्ट	वासुदेव शरण अग्रवाल ।
,, लव आफ कृष्णा	डब्ल्यू जी आर्चर ।
,, कृष्णा लीजेण्ड इन पहाड़ी पेन्टिंग	एम. एस. रंधावा ।
,, आर्ट एण्ड कल्चर आफ इंडिया	राधाकमल मुकर्जी ।
,, वैदिक रज	रमेश मजूमदार ।
तुलसी रसायन	डॉ. भगीरथ मिश्र ।
तुलसी	माताप्रसाद गुप्त ।
धम्मपद	जरावल ।
नाथ संप्रदाय	डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ।
नाट्य शास्त्र	भरत मुनि ।
न्यूयार्क टाइम्स	७-११-१९५४ ।
ट्रेजर्स आफ एशिया : इंडियन पेन्टिंग	संपादित ।
डी आर्ट एबाउट जान मिरो—ऐसे	हेमिग्वजे ।
रस सिद्धांत	डॉ. नगेन्द ।
,, ,, स्वरूप और विश्लेषण	डॉ. आनन्द प्रकाश दीक्षित ।

रस सिद्धान्त विमर्श	डॉ. वाटवे।
रस तरंगिणी	भानुदत्त।
रघुवंश	कालिदास।
रागमाला मिनियेचर्स	स्टूके एण्ड खण्डेलवाल।
,, ,,	मोती चंद्र खजांची।
रीतिकाल की भूमिका	डा. नगेन्द्र।
रीतिकालीन कवियों की प्रेम अभिव्यंजना	डॉ. बच्चनसिंह।
राजस्थान का इतिहास	टाड।
,, की कला	रामगोपाल विजयवर्गीय।
राजपूत पेन्टिंग	माण्टेगोमरी।
रूपलेखा	२ फरवरी, १९५०।
रेलीजस पालिसी आफ दी मुगल	श्रीराम शर्मा।
लाइफ आफ़ अलेक्जेण्डर	प्लुटार्च।
,, ,,	एत्र रेडयस।
वार्षिकी	राजस्थान ललितकला एकाडेमी।
बूंदी पेन्टिंग	ललितकला एकाडेमी नई दिल्ली।
विब्लीओथेक्यु-नेशनाले	अराबे।
बक्रोक्ति	कुन्तक।
विष्णु धर्मोत्तर पुराण	क्रेमरिश, कलकत्ता तथा प्रिय बाला शाह।
संगीत परिजात	महापण्डित अहोबल: हाथरस।
सूरदास	ब्रजेश्वर वर्मा।
सूर साहित्य	डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी।
,, सागर	आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी।
,, और उनका साहित्य	डा. हरिवंश शर्मा।
सूरदास	आचार्य रामचन्द शुक्ल।
साहित्य दर्पण	विश्वनाथ।
सृजन	राजस्थान ललितकला एकाडेमी।
संस्कृत बुद्धिस्ट लिटरेचर आफ नेपाल	राय डेविडस।
सेन्स आफ ब्यूटी	जार्ज सांत्यायन।
शंकर विजय	आनन्दगिरि।
सिद्ध साहित्य	डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी।
हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास	डा. नगेन्द्र।
,, ,, का वैज्ञानिक इतिहास	डा. गणपति चन्द गुप्त।
,, ,, का इतिहास	डा. श्यामसुन्दर दास।
हिन्दी काव्य धारा	महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन।
,, साहित्य का आदिकाल	डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी।
हिस्ट्री आफ ड्रामा	कीथ।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ : पंक्ति	अशुद्ध		शुद्ध
९ : १३	अलकरों	:	अलंकारों
१६ : २४	खिखुनिया	:	लिखुनियां
१६ : २४	मेलदरिया	:	भेलदरिया
३३ : ११	अरभिक	:	आरंभिक
४० : २४	ध्वरवतरि	:	धनवंतरि
६१ : १४	रग	:	रग
७९ : ३२	सवेक्षण	:	सर्वेक्षण
८७ : ११	अतिरिवत	:	अतिरिक्त
९६ : १६	परम्बरागत	:	परम्परागत
९६ : १७	पद	:	पर
९८ : ३४	इस्लामिका	:	इस्लामिक
१११ : ३२	सस्लेषण	:	संश्लेषण
१२९ : ३४	सुभत	:	सुमत
१४० : २६	तवरत्र	:	नवरत्न
१४५ : १२	लोधन	:	लोचन
१५१ : १८	दिए	:	हिए
१५५ : २	क	:	के
१६० : १	लोटते	:	लौटते
१७९ : १०	ाजस	:	जिस
२०७ : ६	निबेचित	:	निवेदित
२१५ : ३०	नेशनल	:	आर्कालाजीकल
२२५ : ३३	,,	:	,,
२४६ : २७	पगलभा	:	प्रगलभा
२५६ : १२	बेदा	:	बेंदा
२५६ : २९	तालनेल	:	तालमेल
२५६ : ३४	मर्सीब्राउन	:	पर्सीब्राउन
२५८ : ५	भारतीन	:	भारतीय
२५९ : २३	शता	:	शता०
२६४ : ३३	खण्डेवाला	:	खण्डेलवाला



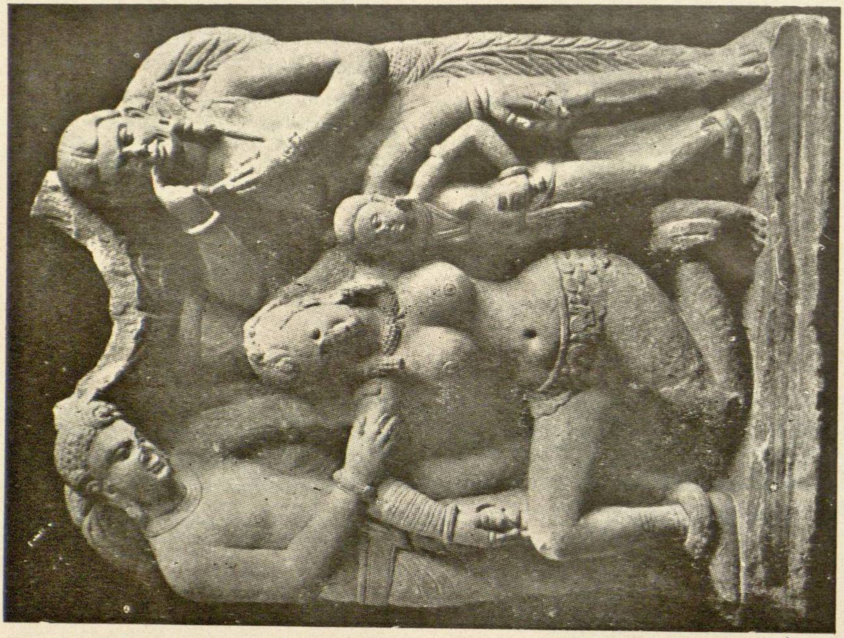
चित्र १



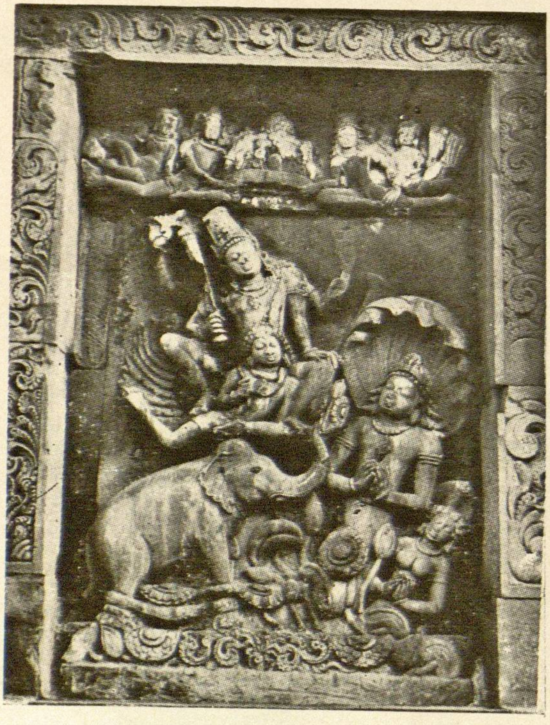
चित्र २



चित्र ३



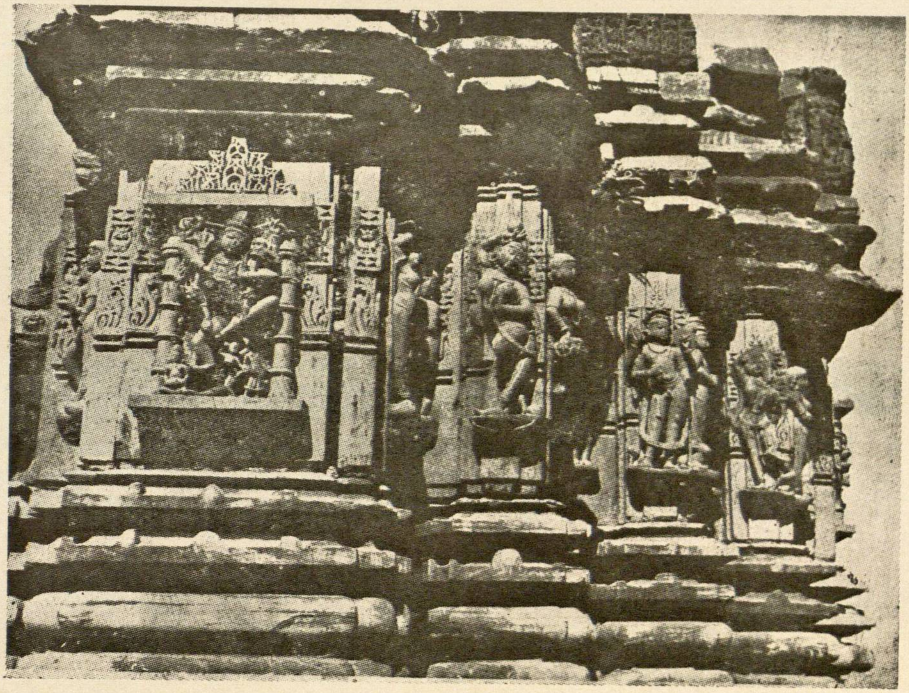
चित्र ४



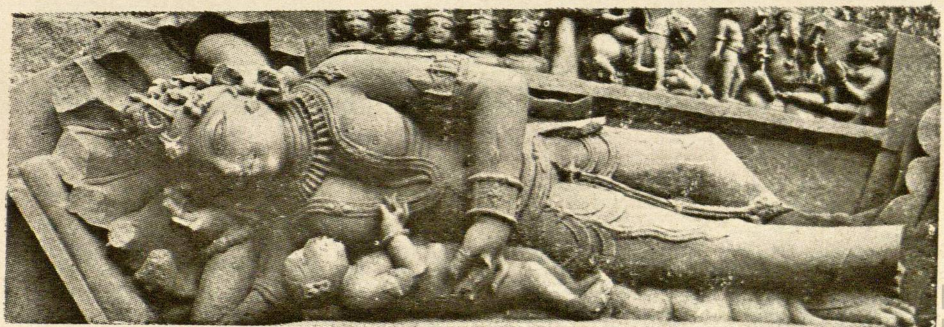
चित्र ५



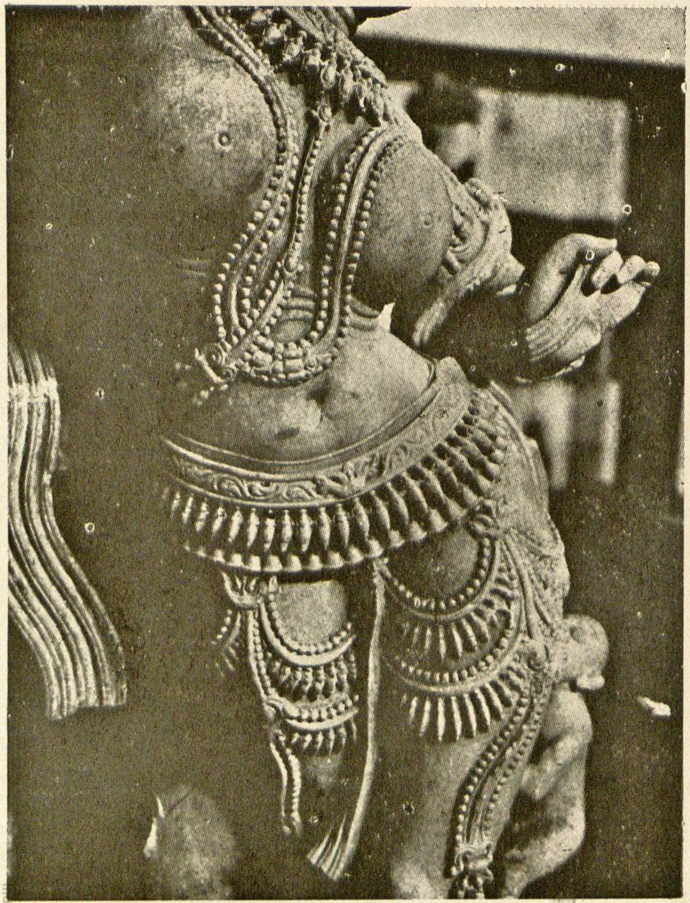
चित्र ६



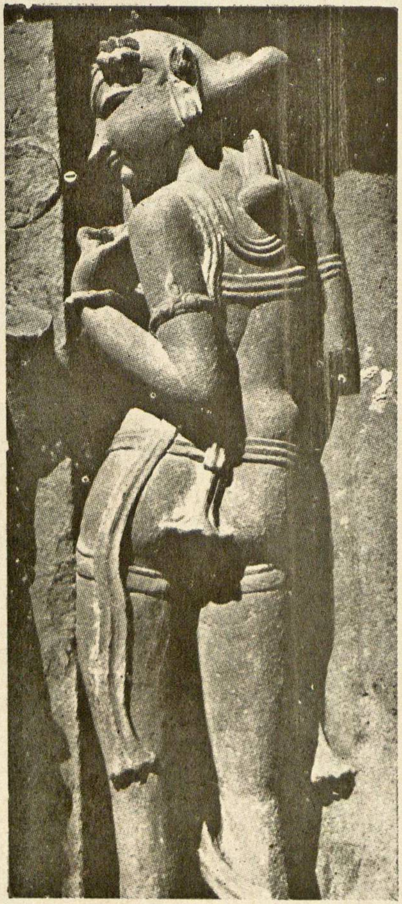
चित्र ७



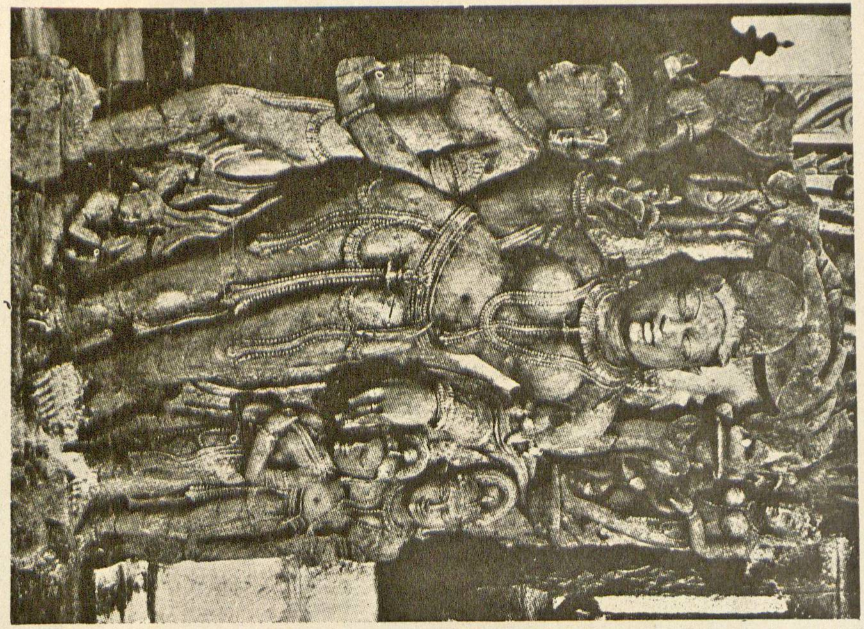
चित्र ८



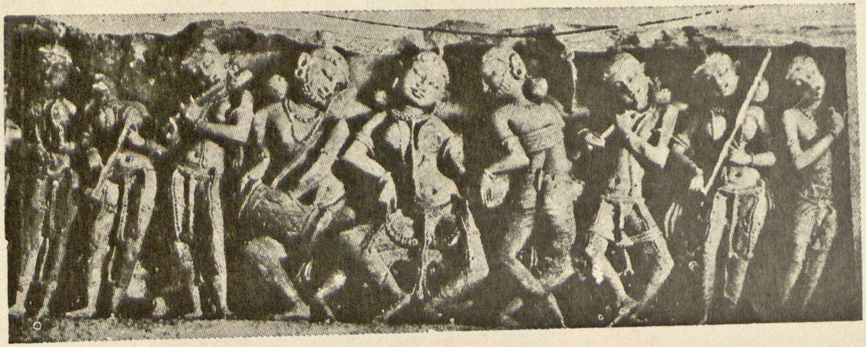
चित्र १०



चित्र ९



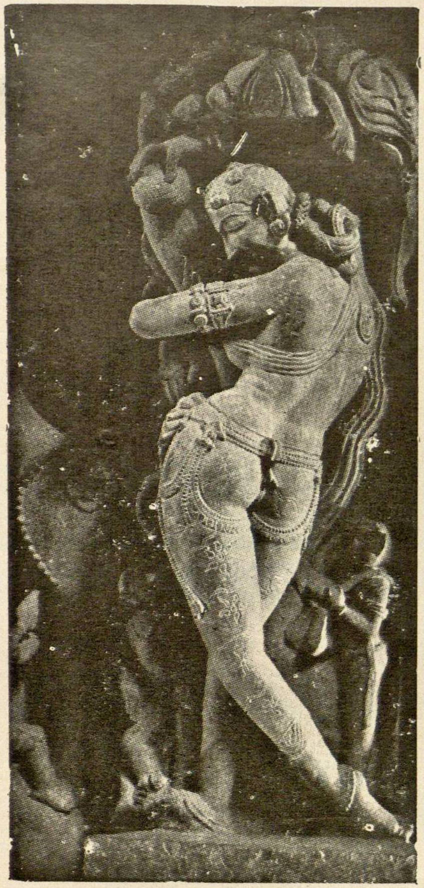
चित्र ११



चित्र १२



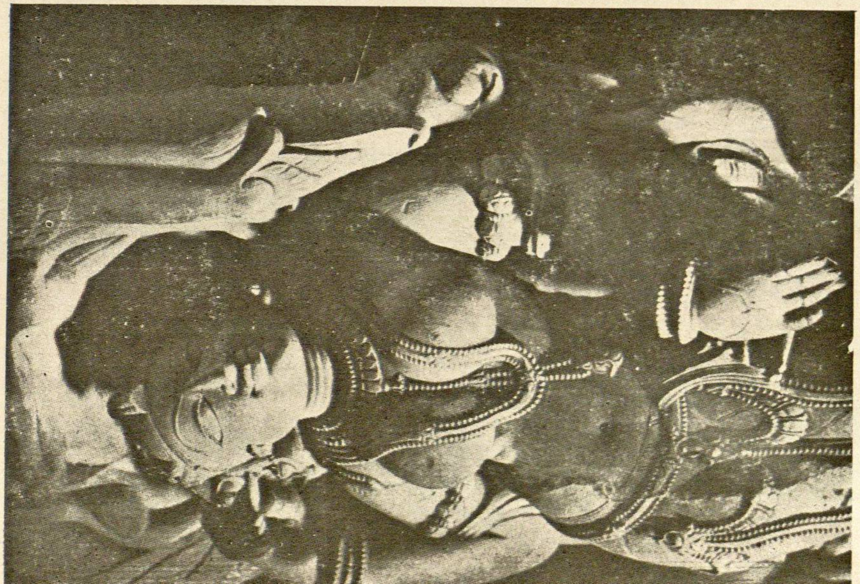
चित्र १३



चित्र १४



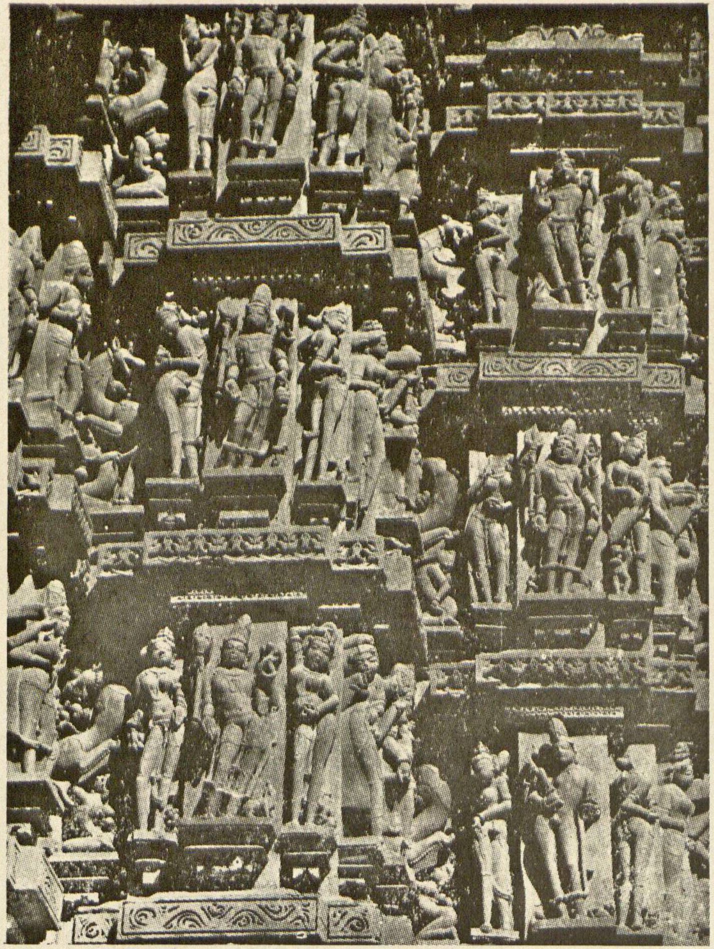
चित्र १५



चित्र १६



चित्र १८



चित्र १७

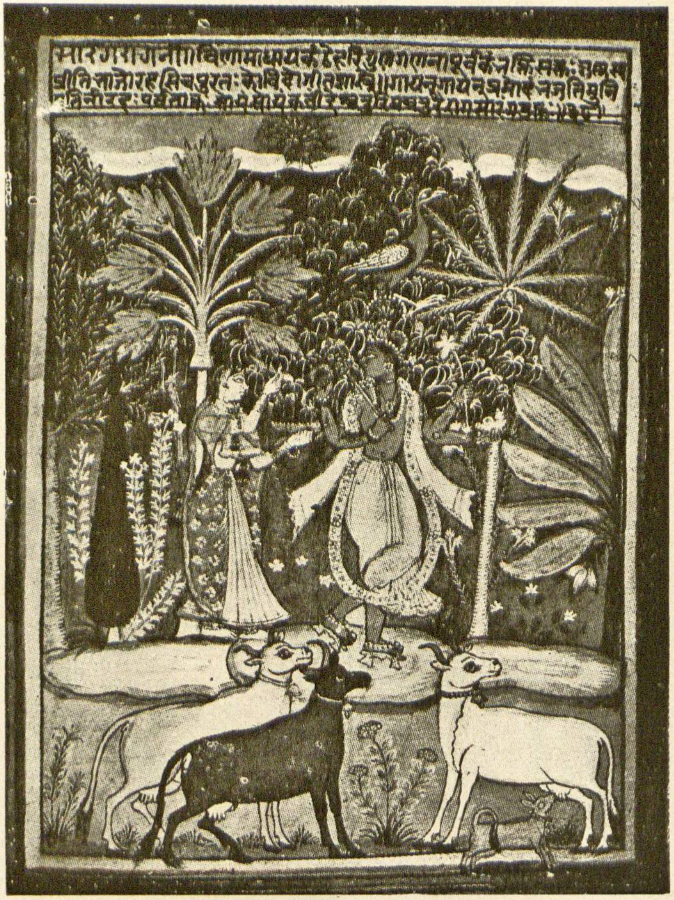




चित्र २०



चित्र २१



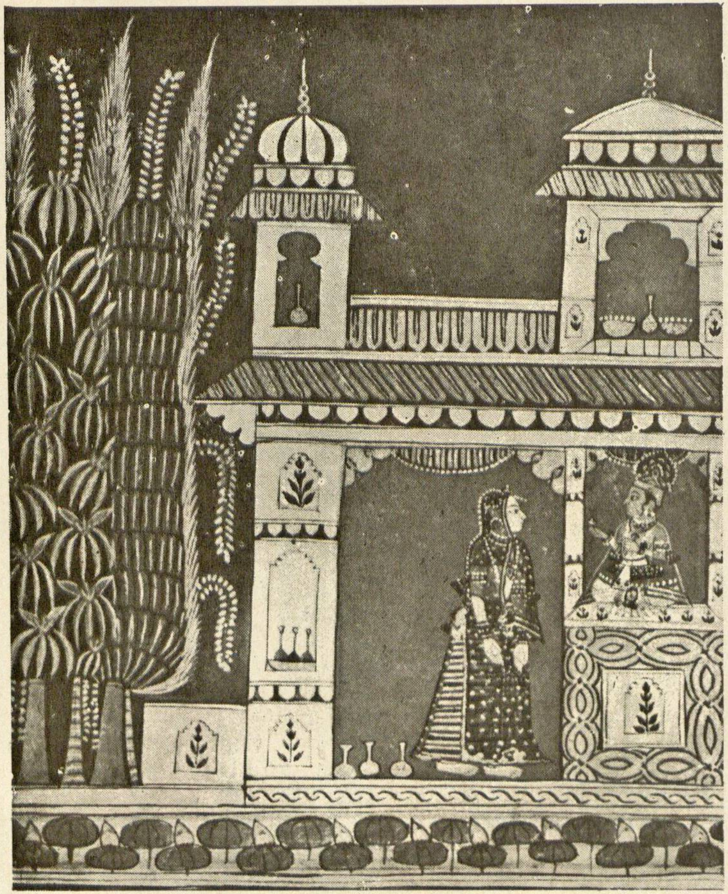
चित्र २३



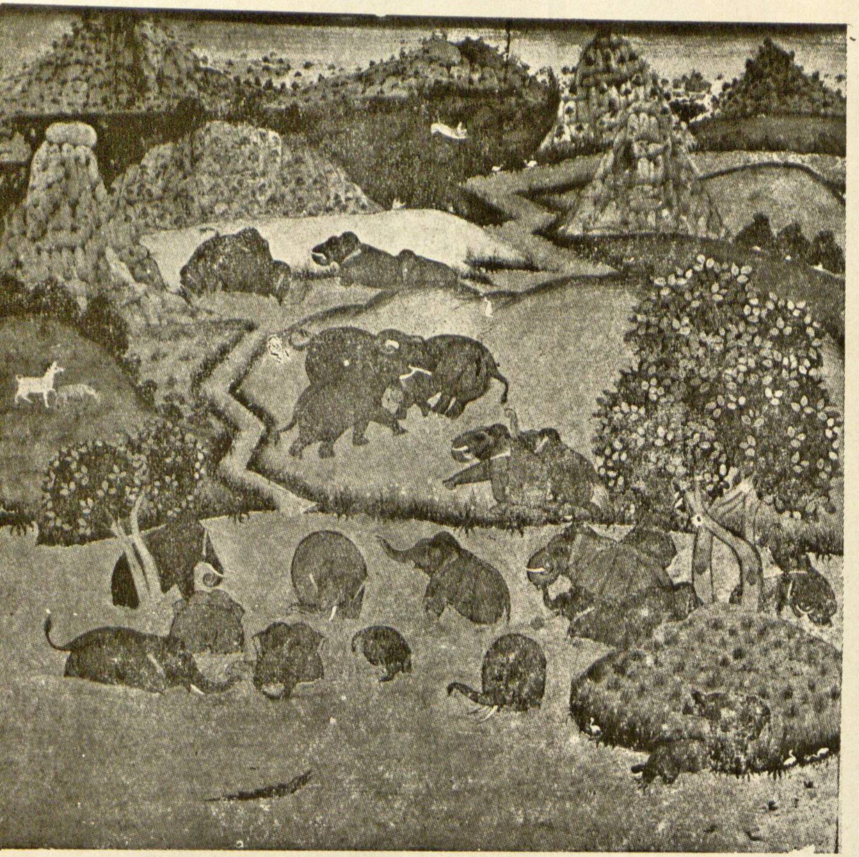
चित्र २२



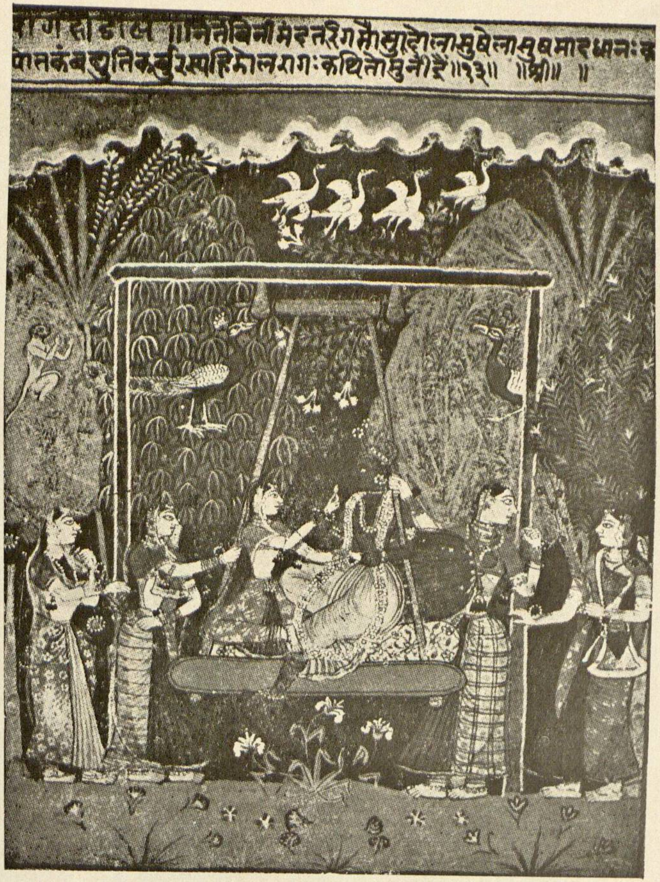
चित्र २५



चित्र २४



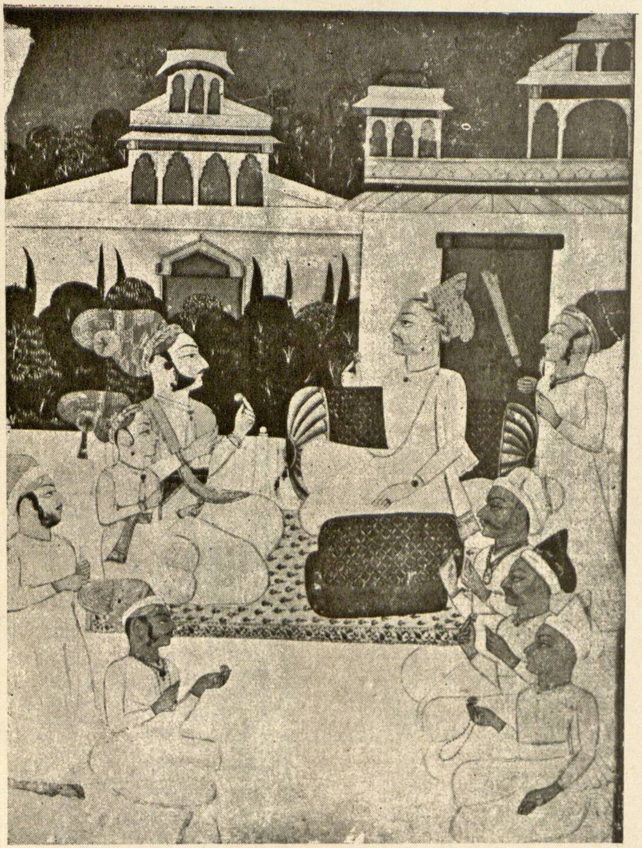
चित्र २७



चित्र २३



चित्र २६



चित्र २८